॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला २०५

नैषधमहाकाव्यम्

'जीवातु' 'मणिप्रभा' व्याख्याद्वयोपेतम्

(सर्ग १-५)



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक व विक्रेता
पत्रमञ्जूषा-संख्या ११३८
के० ३७/१३०, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१ ००१ (भारत)

॥श्रीः॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

२०५



महाकवि श्रीहर्षप्रणीतं

नैषधमहाकाव्यम्

महोपाध्याय– श्रीमल्लिनाथकृत 'जीवातु' व्याख्यायुत–
'मणिप्रभा' हिन्दी व्याख्योपेतम्

हिन्दीव्याख्याकार:–
व्याकरण–साहित्याचार्य–साहित्यरत्न–रिसर्चस्कालर–मिश्रोपाह्व
पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री

प्राक्कथनलेखक:–
पण्डित श्री त्रिभुवनप्रसाद उपाध्याय एम०एम०
प्रिंसिपल–गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
पत्रमंञ्जूषा–संख्या ११३८
के० ३७/१३०, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)

प्रकाशक

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

पत्रमंञ्जूषा संख्या ११३८

के० ३७/१३० गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी--२२१००१

फोन : ३३३५०८

सप्तम् संस्करण सन् १९८३ ई०

वि० सं० २०४० (पुनः मुद्रित १९९९ ई०)

मूल्य : सम्पूर्ण १–२ भाग रू० ३००–००

प्रथम सर्ग २०–००, १–३ सर्ग ४०–००

१–५ सर्ग ५०–००, १–६ सर्ग १००–००

१०वाँ सर्ग २०–००, १०–११ सर्ग ३०–००

पूर्वार्द्ध १५०–००, उत्तरार्द्ध १५०–००

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय

कचौड़ी गली

वाराणसी–२२१००१

मुद्रक–चारू प्रिन्टर्स, वाराणसी

प्राक्कथन

श्री त्रिभुवनप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

प्राधानाचार्य—

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी

संस्कृत संसार की सर्वप्रथम भाषा है, इसका साहित्य सुन्दर एवं समृद्ध है। पहले गृहे गृहे और जने जने इसका प्रचार था तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में इसका व्यवहार होता था। बाद में कालक्रम से समाज की रुचि में विविध परिवर्तन हुये, जिसके कारण शिथिलता आने से इसकी प्रगति मन्द पड़ने लगी और निकट अतीत में विदेशी शासन के समय तो इसकी घोर उपेक्षा हुई। किन्तु अब स्वतन्त्र भारत के सुप्रभात में जनता तथा शासन दोनों ही का आकर्षण इस ओर बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में संस्कृत के उत्तमोत्तम ग्रन्थों को सरल संस्कृत तथा राष्ट्रभाषा के माध्यम से जनसम्पर्क में लाना संस्कृत के विद्वानों का प्रधान कर्तव्य है। अतः श्रीहर्ष जैसे महान् दार्शनिक कवि की रमणीय रचना 'नैषध' को राष्ट्रभाषा में अनूदित करने का पं० हरगोविन्द शास्त्री जी का उपक्रम बहुत ही स्तुत्य है। इनकी अनुवाद-भाषा बड़ी ही रोचक मोहक तथा मूल भावों के अभिव्यञ्जन में पूर्ण क्षम है। मेरा विश्वास है कि संस्कृत के जिज्ञासु इस कृति का पूरा आदर कर अनुवादक को उत्साहित करेंगे, जिससे उनकी प्रौढ़ लेखनी से संस्कृत के अधिकाधिक ग्रन्थ राष्ट्रभाषा में अनूदित होकर जनजिज्ञासा की तृप्ति और देश का महान् मंगल कर सकेंगे।

दिनांक २१–१–५४ त्रि० प्र० उपाध्याय

सम्मतिपत्र

आचार्य श्री बदरीनाथ शुक्ल

कुलपति—

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं का शिरोमुकुट, समग्र उदात्त और उज्ज्वल विचारों की मनोरम मजूषा तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की कमनीय कुंजिका है। यही कारण है कि अनेक शताब्दियों से अनादृत एवं उपेक्षित होने पर भी इसमें मधुरता और ओजस्विता अब भी ज्यों की त्यों बनी है किन्तु यह सन्तोष की बात है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' की जिस नीति ने इसे जनता से दूर कर दिया था उसी के आधार पर भारत की स्वतन्त्रता के समुन्मेष के साथ ही जनता की रुचि में संस्कृत की उन्मुखता पुनः अभिवृद्ध होने लगी है। अतः संस्कृत के प्रचार में अवांछनीय मन्दता आ जाने के कारण संस्कृत में निहित जो ज्ञान-विज्ञान समाज को दुष्प्राप्य हो गये हैं उन्हें अब हिन्दी के माध्यम से जनता के बीच प्रसारित करना संस्कृत के विद्वानों का समयोचित धर्म हो गया है। मैं पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री जी को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपनी सिद्ध लेखनी से एक ग्रन्थ को हिन्दी में अनूदित करने का प्रयास किया है कि जिसमें भारत के आदर्श नरेश नल और आदर्श नारी दमयन्ती का पावन चरित्र दार्शनिक शिरोमणि महाकवि श्रीहर्ष द्वारा उच्चतम चोटी की काव्यकला में वर्णित हुआ है जिसके परिचय तथा अनुकरण से मनुष्य कृतार्थ हो सकता है। अनुवाद की भाषा बड़ी मंजुल और प्रांजल है तथा अध्येता को कवि के वास्तविक अभिप्राय के अत्यन्त निकट पहुँचाने की पूरी क्षमता रखती है। मेरा विश्वास है कि यह अनुवाद संस्कृतप्रेमी जनों को आवर्जित कर पर्याप्त प्रसार प्राप्त करेगा जिससे प्रकाशक और अनुवादक उत्साहित हो संस्कृत साहित्य की अन्य कृतियों को भी हिन्दी द्वारा जनता को हृदयंगम कराकर मानवता के मंगलमय विकास में पूर्ण सहयोग कर सकेंगे।

बदरीनाथ शुक्ल

भूमिका

काव्यप्रयोजन—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

पुरुषार्थ चतुष्टयको प्राप्तकरना प्राणिमात्रका उद्देश्य होता है। उसके लिए योगसाधन, तपश्चरण, देवाराधन, तन्त्र-मन्त्रोपासना, आदि विविध उपाय शास्त्रोंमें अनेकत्र वर्णित हैं, और उन्हें प्राय: कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति क्लेशादि सहन करके ही प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उत्तम काव्यके सेवनसे साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति भी सुखपूर्वक उक्त उद्देश्यकी पूर्ति कर सकता है' जैसा कि साहित्यदर्पणकारने कहा है—

'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव .... (सा० द० ११२)

भामहने सत्यकाव्यको पुरुषार्थचतुष्टयप्राप्तिके साथ-साथ कलाओंमें विचक्षणता, प्रीति तथा कीर्तिका साधक कहा है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीतिं कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥' (काव्यालङ्कार १।२)

इतना ही नहीं, काव्यसे कालिदासादिके समान यश, राजराजेश्वर श्रीहर्षादिसे कविश्रेष्ठ बाणादिके समान अर्थलाभ, सूर्यस्तुतिद्वारा मयूरादिके समान कुष्ठादिमहारोगनिवृत्ति, तत्काल ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्दलाभ तथा स्त्रीवत् सदुपदेशादिलाभ भी सम्भव है, जैसा कि मम्मटाचार्यने कहा है—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥'

रुद्रटने तो काव्यको समस्त अभिमतको देनेवाला कहा है—

'अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
स्वरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥' (काव्याल०१।८)

राजानक कुन्तकने तो काव्यको पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्तिसे भी अधिक आनन्दप्रद कहा है—

'चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥' (विक्रोक्तिजीवित)

यही कारण है कि कष्टप्रद योग-तपश्चर्यादि साधनोंका त्याग कर सुखसाध्य काव्य-

सेवनके द्वारा ही चरमोद्देश्यप्राप्ति करनेके लिए लोगों की प्रवृत्ति होती है, जैसा कि आचार्य भामहने कहा है—

'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥' (काव्यालङ्कार ५।३)

राजाजनक कुन्तल ने भी अन्य शास्त्रोंको कड़वी दवाके सामान तथा काव्यको मधुर दवाके समान अविवेकरूपी रोगका नाशक कहा है—

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥ (वक्रोक्तिजीवित)

नैषधचरितकी काव्यश्रेष्ठता—

म० म० पं० शिवदत्त शर्माके कथनानुसार पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा द्वारा प्रकाशित काव्यमालाके मुद्रणके पूर्व 'रघुवंश, किरातार्जुनीय, कुमारसम्भव, शिशुपालवध और नैषधाचरित इन पाँच ही काव्योंका पठन-पाठन प्रचलित था । कुछ विद्वानोंका मत है कि—'लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी' नामसे प्रसिद्ध छः काव्योंका अध्ययनाध्यापन प्रचलित था। लघुत्रयीमें 'रघुवंश, कुमारसम्भव तथा मेघदूत' और 'बृहत्त्रयीमें' 'किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित' की गणना है । इनमेंसे प्रथम 'लघुत्रयी' संज्ञक तीन काव्य महाकवि कालिदासके तथा 'बृहत्त्रयी' संज्ञक काव्योंमें 'किरातार्जुनीय' शिशुपालवध तथा नैषधचरित' महाकाव्य क्रमशः महाकवि भारवि, माघ तथा श्रीहर्षद्वारा विरचित हैं । इन तीनों महाकवियोंमें विद्वानोंने श्रीहर्षको ही सर्वश्रेष्ठ माना है—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥' इति ।
'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ? ॥' इति ।

उक्त प्रथम पद्यमें माघमें उपमादि गुणत्रयका अस्तित्व कहनेसे माघकी श्रेष्ठता कहकर द्वितीय पद्यमें श्रीहर्षकी सर्वश्रेष्ठता स्पष्टरूपमें प्रतिपादित की गई है ।

श्रीहर्षका जीवनचरित—

महाकवि श्रीहर्षके पिताका नाम 'श्रीहीर' तथा माताका नाम मामल्लदेवी' था । इसे स्वयं श्रीहर्षने नैषधचरितके प्रत्येक सर्गके अन्तिम श्लोकके पूर्वार्द्धमें स्पष्ट कहा है—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।'

कतिपय विद्वान् 'माम + अल्लदेवी' ऐसा पदच्छेद करके इनकी माताका नाम 'अल्लदेवी' था, ऐसा कहते हैं । किन्तु अन्य विद्वानोंका मत है कि 'वातापि' के निकट

'मामल्लपुर' नामका नगर ही श्रीहर्षकविकी माताका निवासस्थान था और उसी आधारपर इनका नाम 'मामल्लदेवी' हुआ।

'श्रीहीर' बहुत ही विशिष्ट विद्वान् थे। ये काशीके राजा 'विजयचन्द्र' की राजसभाके प्रधान पण्डित थे। कहा जाता है कि इनको राजाके समक्ष एक पण्डितने शास्त्रार्थमें पराजित किया। उक्त पण्डितके नामके विषयमें एकमत न होनेपर भी 'चाण्डू' पण्डितकी स्वकृत टीकाके आरम्भमें लिखी गयी—'प्रथमं तावत्कविजिगीषुकथायां स्वपितृपरिभावुकमुदयनमत्यमर्षणतया कटाक्षयंस्तद्ग्रन्थग्रन्थीनुद्ग्रन्थयितुं खण्डनं प्रारिप्सुश्चतुर्विधपुरुषार्थैरभिमानवधीयं मानसमेकतानतां निनाय।' पंक्तियोंसे श्रीहर्षके पिता 'श्रीहीर' को पराजित करने वाले मैथिल नैयायिक प्रसिद्ध विद्वान् 'उदयनाचार्य' ही थे, इसमें सन्देहका कोई स्थान नहीं रहता। अस्तु, राजसभामें पराजित श्रीहीर' ने सुपुत्र श्रीहर्षसे कहा कि 'पुत्र! यदि तुम सुपुत्र हो तो मेरे विजेताको पराजित कर मेरा मनस्ताप दूर करना।' 'श्रीहर्ष' ने भी पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य कर सद्गुरुसे तर्क, न्याय, व्याकरण, ज्यौतिष, वेदान्तादिदर्शन, योगशास्त्र एवं मन्त्रशास्त्रका सम्यक् प्रकार से अध्ययन कर 'चिन्तामणि'[1] मन्त्रका अनन्यमनस्क हो एक वर्ष तक जप करने से प्रत्यक्ष हुई त्रिपुरादेवी के वरदानसे ऐसी विद्वत्ता प्राप्त की कि इनके कथनको कोई विद्वान् समझ ही नहीं पाता था। यह देख श्रीहर्षने आराधनासे त्रिपुरादेवीका पुनः साक्षात्कार कर कहा कि—मातः! आपके वरप्रदानसे प्राप्त मेरा प्रखरतम पाण्डित्य भी सदोष ही रहा, क्योंकि मेरे कथनको कोई विद्वान् समझता ही नहीं, अत एव ऐसा वरदान दीजिये जिससे मेरे

---

१. 'चिन्तामणि' मन्त्रका स्वरूप यह है—
'अवामावामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद् द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिद्ध्यतु स ते॥
(१४।८५)

२. 'चिन्तामणि' मन्त्रका महत्त्व कविने स्वयं इन शब्दोंमें कहा है—
'सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्र'चिन्तामणिः'॥
पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगंभावुक हंसेन मालं-
क्षर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मति न्यस्य मय्येव भक्तः।
संप्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्य॥'
(१४।८६—८७)

कथनको विद्वान् लोग समझने लगें। यह सुन देवीने कहा कि—आधी रातमें गीले वस्त्रको मस्तकपर रखना तथा मट्ठा पीना, जिससे कफबाहुल्य होकर जाड्यबुद्धि होनेपर तुम्हारे कथनको लोग समझने लगेंगे। श्रीहर्षने वैसा ही किया और उनके कथनको विद्वान् लोग समझने लगे। तदनन्तर इन्होंने 'खण्डनखण्डखाद्य' आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की, जैसा कि नैषधचरितके चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, नवम, द्वादश, सप्तदश तथा अष्टादश सर्गोंके अन्तमें क्रमशः स्थैर्यविचारप्रकरण, श्रीविजयप्रशस्ति, खण्डनखण्डखाद्य, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, अर्णववर्णन, नवसाहसाङ्कचरित, छिन्दप्रशस्ति तथा शिवशक्तिसिद्धि ग्रन्थोंके नामोंका इन्होंने स्वयमेव उल्लेख किया है। इस प्रकार अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर श्रीहर्ष कन्नौजके अधिपतिके यहाँ पहुँचे। उनका आगमन सुनकर विद्वद्गुणग्राही राजाने मन्त्री, सभापण्डित आदिके साथ नगरके बाहर जाकर उनकी अगवानी करके यथोचित सत्कार किया। राजाकी गुणप्रियतासे अतिशय हर्षित श्रीहर्षने राजाकी स्तुति करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

'गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च माऽस्मिन्नृपे कुरुत काममियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विषये स्मरः स्त्रीरस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः॥'

और उच्चस्वरसे विस्तृत व्याख्यान किया। यह सुन इनकी विद्वत्तासे समस्त सभासदोंके सहित राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हो गये। तदनन्तर श्रीहर्षने अपने पिताके विजेता उदयनाचार्यको लक्ष्य कर कटाक्ष करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

'साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वाऽस्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥'

यह सुन श्रीहीरविजयी पण्डितने उनके प्रखर पाण्डित्यको देखकर कहा कि—'भारती सिद्ध वादिगजकेसरी विद्वद्वर! आपके समान कोई भी विद्वान् नहीं है, फिर अधिक कहाँसे हो सकता है? क्योंकि—

'हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्धता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहङ्कृते हुङ्कृते॥'

यह सुनकर श्रीहर्षका क्रोध शान्त हो गया। राजाने भी 'श्रीहीर' विजयी पण्डितकृत अवसरोचित श्रीहर्ष-स्तुति की श्लाघा करते हुए दोनों विद्वानोंमें परस्पर स्नेहपूर्वक आलिङ्गन कराकर राजभवनमें ले जाकर दोनोंका ही समुचित सत्कार किया और श्रीहर्षको एक लक्ष सुवर्णमुद्रायें दीं।

नैषधचरितकी रचना—

इस प्रकार पिताके विजयीका मानमर्दन कर श्रीहर्षने वहीं राजसभाके सदस्य होकर रहते हुए राजाज्ञासे इस 'नैषधचरित' नामक महाकाव्यकी रचना कर राजाको दिखलाया। इसे देख प्रसन्न राजाने कहा कि—'कश्मीर जाकर इस महाकाव्यको सरस्वतीके हाथमें दीजिये। वहाँपर साक्षात् निवास करती हुई सरस्वती हाथमें दिये हुए दोषरहित ग्रन्थका शिरः कम्पनपूर्वक अभिनन्दन करती हैं और इसके विपरीत दोषयुक्त ग्रन्थको कूड़े कत्वारके समान फेंक देती हैं। इस प्रकार सरस्वतीसे अभिनन्दित ग्रन्थका वहाँके राजासे प्रमाणपत्र लाइये।' ऐसा कहकर और बैल-ऊँट आदिपर समुचितपाथेय तथा धन लदवाकर उन्होंने श्रीहर्षको कश्मीर भेजा।

कश्मीरमें नैषधचरितका परीक्षण—

वर्तमान समयके समान रेल आदि साधनोंका अभाव होनेसे बहुत दिनोंके बाद श्रीहर्षने कश्मीर पहुँचकर वहाँके राजपण्डितोंको अपना महाकाव्य दिखलाया तथा उसे सरस्वतीके हाथमें रखा। सरस्वतीने पुस्तकको दूर फेंक दिया। यह देख श्रीहर्षने सरस्वतीसे आक्षेपपूर्वक कहा कि 'मेरी पुस्तकको साधारण पुस्तकके समान दूषित समझकर तुमने क्यों अनादृत किया? इसमें कौन-सा दोष है।' श्रीहर्षकी आक्षेपपूर्ण बात सुन सरस्वती देवी ने कहा कि—'तुमने अपने इस ग्रन्थमें—

'देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्॥'

इस पद्यके द्वारा मुझे विष्णुकी पत्नी कहकर लोकप्रसिद्ध मेरे कन्यात्वका लोप किया है। इसी दोषके कारण मैंने पुस्तकको फेंक दिया है, क्योंकि—अग्नि, धूर्त, रोग, मृत्यु और मर्मभाषणकर्ता; ये पाँच योगियोंको भी उद्विग्न कर देते हैं।[1]

यह सुन महापुराणोंके विशेषज्ञ श्रीहर्षने हँसते हुए कहा—'दूसरे जन्ममें तुमने विष्णु-भगवान्‌को पतिरूपमें स्वीकार नहीं किया था क्या? लोकमें भी तुम्हें लोग 'विष्णुपत्नी' नहीं कहते हैं क्या? तब मेरे सत्य कहनेपर व्यर्थ ही क्रुद्ध होकर तुम मेरी पुस्तकको क्यों सदोष कह रही हो?' श्रीहर्षोक्त उक्त वचनको सुनकर सरस्वतीने पुस्तकको पुनः हाथमें लेकर उसकी प्रशंसा की। तदनन्तर श्रीहर्षने वहाँके राजसभासद पण्डितोंको सरस्वत्यनु-मोदित उक्त पुस्तक देकर कहा कि—'सरस्वती देवीने आपलोगोंके समक्ष इस पुस्तककी प्रशंसा की है, अत एव आपलोग यहाँके राजा 'माधवदेव' को यह पुस्तक दिखलाकर "यह रचना शुद्ध है" ऐसा राजलेख 'काशिराज' जयन्तचन्द्र' के लिए मुझे दें।' परन्तु पण्डितोंमें दूसरे किसी नये पण्डितके प्रति स्वभावसे ही असूया होती है, इस लोकनियमसे

---

१. 'पावको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभाषकः।
योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगकारकाः॥' इति।

आबद्ध उन राजसभापण्डितोंने श्रीहर्षकृत सरस्वत्यभिनन्दित पुस्तक कश्मीरनरेश 'माधवदेव'को नहीं दिखलायी और परिणामस्वरूप राजा जयन्तचन्द्रके लिए पुस्तकके शुद्ध होनेका राजमुद्रा-मुद्रित लेख भी श्रीहर्षको नहीं प्राप्त हुआ। क्रमशः दिन, सप्ताह, पक्ष और मास व्यतीत होते गये। राजा जयन्तचन्द्रसे प्राप्त समस्त धन समाप्त हो चुका, वाहन, बैल, ऊँट आदि के साथ बर्तन भी श्रीहर्षको बेचने पड़े।

एक समय नदीतटपर पानी भरनेके लिए दो दासियाँ गयीं। संयोगवश उन दोनोंमें 'पहले मैं पानीका घड़ा भरूँगी' इस प्रसङ्गको लेकर परस्पर कहासुनी' गाली गलौज होते-होते मारपीट हो गयी, फलतः दोनोंके शिर तक फूट गये। अपने-अपने पक्षको पुष्ट करती हुई दोनों दासियोंने राजदरबारमें जाकर मुकदमा किया और राजाके प्रत्यक्षद्रष्टा साक्षी माँगनेपर दोनोंने कहा कि एक विदेशी ब्राह्मण नदीतटपर बैठा था, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वहाँ नहीं था। राजाज्ञासे राजपुरुष नदीतटपर जाकर ब्राह्मणको साथ ले आये। वस्तुतः ये ब्राह्मणदेव अन्य कोई नहीं, महाकवि श्रीहर्ष ही थे। दोनों दासियोंके विवादके विषयमें पूछनेपर श्रीहर्षने कहा—'राजन्! परदेशी होनेके कारण मैं इनके किसी शब्दका भी अर्थ नहीं समझ सका। हाँ, इन दोनोंने जो कुछ एक दूसरेके प्रति कहा या किया, उसे मैं आनुपूर्वी कह सकता हूँ।' ऐसा कहकर श्रीहर्षने राजाज्ञा होनेपर दोनों दासियोंकी परस्परोक्त उक्ति प्रत्युक्तिको अनुपूर्वशः यथावत् कह दिया श्रीहर्षकी धारणाशक्तिसे आश्चर्यचकित राजाने दासीद्वयके विवादका निर्णय कर उन्हें विदा किया तथा साष्टाङ्ग प्रणाम कर श्रीहर्षसे उनका परिचय पूछा। उन्होंने काशीसे यात्रा करनेसे लेकर अब तकके सम्पूर्ण वृत्तान्तको राजासे कह सुनाया। यह सुन अपनी सभाके पण्डितों की श्रीहर्षके प्रति की गयी असूयासे अत्यन्त दुखित राजाने सभापण्डितोंको बुलाकर उन्हें धिक्कारते हुए कहा—'मूर्खो! ऐसे परमविद्वान्के साथ स्नेह करनेके बदले असूया करनेवाले तुमलोगोंको धिक्कार है। अब तुम लोग अपने-अपने घरपर ले जाकर इस महात्माका सत्कार करो।' यह सुन श्रीहर्षने नैषधचरितकी प्रशस्तिमें पठित निम्नलिखित श्लोकको पढ़ा—

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी
　　कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
　　किमस्या नाम स्यादरसपुरुषाराधनरसैः॥' (प्रशस्ति १)

यह सुनकर अपने निन्दित कर्मसे अतिशय लज्जित 'राजसभापण्डितोंने अपने-अपने घरपर श्रीहर्षको लेजाकर आदर सत्कारसे सन्तुष्ट किया। तदनन्तर कश्मीराधीश 'माधवदेव'ने भी उनका सत्कार कर ग्रन्थकी शुद्धताका राजमुद्राप्रमाणित लेख देकर उन्हें विदा किया। उसे लेकर वे काशी लौटे तथा राजा जयन्तचन्द्रको लेख दिया और तबसे इस 'नैषधचरित' का प्रचार हुआ।

श्रीहर्ष का वैराग्य एवं संन्यास ग्रहण—

तदनन्तर काशीराज जयन्तचन्द्रके 'पद्माकर' नामक प्रधान मन्त्रीने परमविलासवती एवं राजनीतिनिपुणा 'सूहवदेवी' नामकी विधवा शालापति पत्नीको कुमारपालके घर लाकर सोमनाथकी यात्रा कर जयन्तचन्द्रकी भोगपत्नी बनवाया। वह अपनेको लोकमें 'कलाभारती' प्रसिद्ध करती थी और श्रीहर्ष भी 'नरभारती' कहे जाते थे। यह उस मत्सरिणीको असह्य था। एक समय उसने आदरके साथ श्रीहर्षको बुलाकर 'आप कौन हैं ?" ऐसा प्रश्न किया। उसके प्रत्युत्तरमें श्रीहर्षके अपनेको 'कलासर्वज्ञ' कहने पर उसने कहा कि 'जूता पहनाओ'। उसका अभिप्राय यह था कि यदि ये ब्राह्मण होनेके कारण 'मैं नहीं जानता हूँ' कहते हैं तब ये 'कलासर्वज्ञ' नहीं सिद्ध होते। श्रीहर्षने उसकी बातको स्वीकार कर वृक्षोंके वल्कल आदिसे जूता बनाकर उसे पहना तो दिया, किन्तु राजासे उसकी इस कुचेष्टाको कहकर अत्यन्त खिन्न हो गङ्गातटपर जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

जयन्तचन्द्रका इतिवृत्त—

इसी बीच राजाकी अभिषिक्त देवीमें एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'मेघचन्द्र' था और 'सूहवदेवी'से भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो मेधावी तो था, परन्तु अत्यन्त दुर्विनीत था। दोनोंके युवावस्था प्राप्त करने पर राजाने अपने 'विद्याधर' नामक मन्त्रीसे पूछा कि 'किसे राज्य देना चाहिये ?" विद्याधरने कुलीन एवं सत्पुत्र मेघचन्द्रको राज्य देनेके लिए अपनी सम्मति दी और 'सूहवदेवी'के दुर्विनीत पुत्रको राज्य देनेके इच्छुक राजाओंको यथाकथञ्चित् मेघचन्द्रको राज्य देनेके लिए राजी कर लिया। यह देखकर क्रुद्ध हुई सूहवदेवीने अपने विश्वासपात्र प्रधान दूतोंको भेजकर तक्षशिलाधीश्वर 'सुरत्राण'को काशीपर चढ़ाई करनेके लिए तैयार किया। 'प्रत्येक पड़ावपर सवालाख स्वर्णमुद्रा व्यय करता हुआ वह काशीपर चढ़ाई करनेके लिए चल पड़ा है' यह गुप्तचरोंसे ज्ञात कर मन्त्री विद्याधरने 'सूहवदेवी'कृत विरोधको राजासे निवेदन किया, किन्तु राजाने 'वह मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करेगी' कहकर उसे फटकार दिया।

राजाकी मूर्खतासे राजभक्त मन्त्री चिन्तित हो विधिको प्रतिकूल मानकर सोचने लगा कि राज्यभ्रंश होनेके पहले मर जाना अच्छा है। यह सोचकर उसने राजासे कहा—'प्रभो ! यदि आज्ञा हो तो मैं गङ्गाजीमें डूबकर प्राणत्याग कर दूँ।" अपने प्रत्येक काममें उसे कण्टकभूत मानकर राजाने भी सहर्ष आज्ञा दे दी। मन्त्रीने सोचा—हितवचनोंको नहीं सुनना, दुर्नीतिमें प्रवृत्त होना, प्रिय लोगोंमें भी दोष देखना, अपने गुरुजनोंका अपमान करना, ये सब मृत्युके पूर्वरूप राजामें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अत एव इनकी मृत्यु अब आसन्न है। यह सोच सब धातुओंको सुवर्ण बनानेवाले जिस 'पारस' पत्थरके प्रभावसे ८८०० ब्राह्मणोंको प्रतिदिन भोजन देनेके कारण 'लघुयुधिष्ठिर' उपाधिसे वह मन्त्री लोकप्रसिद्ध था, चिन्तामणिविनायकके प्रसादसे प्राप्त उस पत्थरको लेकर गङ्गाजलमें

प्रवेशकर उसने ब्राह्मणको सङ्कल्पपूर्वक दान दे दिया, किन्तु हतभाग्य उस ब्राह्मणने 'तुम्हें धिक्कार है, जो मुझ ब्राह्मणको बुलाकर दानमें पत्थर दे रहे हो' ऐसा कहकर उस अमूल्य पत्थरको गङ्गाजीमें फेंक दिया और घर चला गया। इधर मन्त्रीने गङ्गाजीमें डूबकर प्राणत्याग कर दिया। उधर तक्षशिलाधीश्वर 'सुरत्राण' ने काशी पहुँचकर उसे नष्ट भ्रष्ट कर दिया एवं यवनोंने नगरीको खूब लूटा। राजा मारा गया या उसका क्या हुआ, कुछ पता नहीं चला। यह ईसवीय सन् १३४८ में राजशेखरसूरिरचित प्रबन्धकोष में 'श्रीहर्ष-विद्याधरजयन्तचन्द्रप्रबन्ध'से ज्ञात होता है।

जयन्तचन्द्रका समय—

प्राचीन लेखमालाके २२ वें लेखके संवत् १२४३ (ईसवीय सन् ११८३) आषाढ़ शुक्ल सप्तमी रविवारको लिखित दानपत्रसे जयन्तचन्द्रका वंशक्रम इस प्रकार ज्ञात होता है,

यशोविग्रह
|
महीचन्द्र
|
श्रीचन्द्रदेव
|
मदनपाल
|
गोविन्दचन्द्र
|
विजयचन्द्र
|
जयन्तचन्द्र

इनमें यशोविग्रहके पौत्र 'श्रीचन्द्रदेव' ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) तथा काशीपर विजय प्राप्त की थी, तथा २२ वें लेखमें जयन्तचन्द्रके यौवराज्यदानपत्रमें संवत् १२२५ (ईसवीय सन् ११६९) लिखा है।

इस प्रकार जयन्तचन्द्रके राज्यकालके अनुसार महाकवि श्रीहर्षका समय भी बारहवीं शताब्दी ही निश्चित होता है। अत एव जयन्तचन्द्रके पिता विजयचन्द्रके वर्णनस्वरूप ग्रन्थकी चर्चा श्रीहर्ष कविने नैषधचरित[1]में की है। श्रीहर्षके समयके विषयमें विविध मतोंमें उपस्थित विसंवादोंका प्रदर्शन कर उनका खण्डन करते हुए डाक्टर बूलर साहबके उस व्याख्यानसे भी इसका समर्थन होता है, जो 'रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई ब्रांच' (Royal Asiatic Society, Bombay Branch) नामकी विद्वत्सभाद्वारा सन् १८७५ ई० में प्रकाशित प्रबोधनग्रन्थ मुद्रित हुआ है।

---

१. तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमत्यद्भुतः।' (५।१३८ का उत्तरार्द्ध)

नल-दमयन्तीकी मूलकथा

महाभारतके वनपर्वमें नल-दमयन्तीकी कथा आयी है। उसके अनुसार भी इन्द्रादि चारों देवोंने दमयन्तीके पास नलको दूत बनाकर भेजा था। निष्कपट भावसे कार्य करनेपर भी असफल होकर उनके लौटनेपर वे नलरूप धारण कर स्वयंवर में गये और दमयन्तीकी स्तुतिद्वारा प्रसन्न होकर नलके लिए आठ[1] वर दिये। स्वर्ग को जाते समय कलिको देवोंने बहुत समझाया, परन्तु वह नलको राज्यभ्रष्ट करनेके लिए द्वापरको सहायक बनानेकी शर्त कर[2] निषध देशमें गया। बारह वर्षके बाद नलको मूत्रत्यागके बाद आचमन कर बिना पैर धोये ही सन्ध्योपासन करते देख (उन्हें अशुचि देख) अवसरका लाभ उठाकर वह उनमें प्रवेश कर गया[3]। द्यूतमें अपने भाई पुष्करसे पराजित होकर वनमें जाते हुए नलने दमयन्तीका त्याग कर दिया। और चार वर्षके बाद पुनः दोनोंका समागम हुआ[4]। इस कथामें केवल इतिवृत्तमात्रका वर्णन है, किन्तु नैषधचरितमें श्रीहर्षने उस कथाभागका बहुत ही रोचक एवं सरस शैलीमें इस प्रकार वर्णन किया है कि वह सजीव हो गया है। इतना ही नहीं, कहीं कहीं उस कथाभागको स्वरचित कल्पनाका पुट देकर विशेषतया सजाकर उसमें चार चाँद लगा दिये है, जिनमें-से नलके द्वारा पकड़े गये हंसका करुण क्रन्दन आदि मुख्य हैं।

'सोमदेवभट्ट' विरचित 'कथासरित्सागर' के अनुसार सबसे पहले हंसको दमयन्ती ने अपना दुपट्टा फेंककर पकड़ा तब उसने कहा कि तुम मुझे छोड़ दो, मैं कामवत् सुंदर

---

१. प्रहृष्टमनसस्तेऽपि नलायाष्टौ वरान् ददुः। प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे शक्रो गतिमनुत्तमाम् ॥
अग्निरात्मभवं प्रादाद्यत्र वाञ्छति नैषधः। लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ॥
यमस्त्वन्नरस प्रादाद्धर्मे च परमां स्थितिम्। अपाम्पतिरपाम्भावं यत्र वाञ्छति नैषधः ॥
स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे ते मिथुन ददुः। वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिव गताः ॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १३।६१७—६२०)

२. ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत्। संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ! ॥
भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते। त्वमप्यक्षान् समाविश्य साहाय्य कर्तुमर्हसि
एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह। आजगाम कलिस्तत्र यत्र राजा स नैषधः ॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व ३१।६३१ ६३३)

३. स नित्यमन्तरं प्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम्। अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम् ॥
कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्त नैषधः। अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत् ॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १४।६३३ ६३५)

४. स चतुर्थे ततो वर्षे सङ्गम्य सह भार्यया। सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान् परमां मुदम् ॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १६।८३३)

निषधराज नलसे तुम्हारे सौन्दर्यका वर्णन कर तुम्हारा पति होनेके लिए निवेदन करूँगा। यह सुन दमयन्तीके हाथसे मुक्ति प्राप्त कर हंस निषधदेशमें जाकर सरोवरपर स्थित नलके पास पहुँचा। वहाँपर भी नलने उसे अपना दुपट्टा फेंककर पकड़ा, तब उस हंसने कहा कि पतिरूपमें तुम्हें चाहनेवाली भीमकुमारी दमयन्ती का सन्देश लेकर मैं आया हूँ, अतः तुम मुझे छोड़ दो। हर्षप्रद यह हंसोक्त वचन सुनकर नलसे मुक्त हंस पुनः दमयन्तीके पास जाकर नलसे दी गई स्वीकृतिका सुसंवाद कहकर अभिमत स्थानको चला गया और दमयन्तीने माताके द्वारा यह समाचार पिताको सुनाया। तदनुसार पिता भीमने भी स्वयंवरके निमित्त राजाओंके पास निमन्त्रणपत्र भेजे। नारदसे दमयन्तीके लोकोत्तर सौन्दर्य तथा स्वयंवरका समाचार पाकर इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम तथा वायु, ये पाँच लोकपाल नलके समीप गये और अदृश्य होनेकी शक्ति देकर उनको दूत बनाकर दमयन्ती-के पास भेजा। नलने भी दमयन्तीके पास जाकर देवोंका सन्देश कहते हुए उक्त पाँच देवोंमें-से किसी एक देवको पतिरूपमें वरण करनेके लिए कहा, किन्तु दमयन्तीका नलको ही वरण करनेका निर्णय मालूम कर नलने अपना परिचय दिया और उन पाँच देवोंके पास वापस आकर यथातथा सब बातोंको कह दिया। उनके इस वञ्चनारहित सत्यवचनसे प्रसन्न देवोंने अपनेको नलका वशवर्ती होनेका वरदान दिया। तदनन्तर नलके निषध देशको वापस लौटनेपर वे इन्द्रादि पाँचों लोकपाल नलका रूप धारण कर स्वयंवर में पहुँचे। इधर अपने भाईसे स्वयंवरागत राजाओं का परिचय पाकर क्रमशः उन्हें छोड़ती हुई दमयन्तीने आगे जाकर एक साथ बैठे हुए छः नलोंको देखा तथा उन देवताओंको स्तुतिसे प्रसन्न कर नलके गलेमें वरणमाला पहना दी।

दमयन्तीके साथ विधिवत् विवाह संस्कार सम्पन्न होनेपर नल वहाँपर एक सप्ताह ठहरनेके बाद दमयन्तीको साथ लेकर अपने देशको लौटे। इधर दमयन्ती-स्वयंवरमें द्वापरके साथ आता हुआ कलि देवोंसे नलके दमयन्तीद्वारा वरे जानेका समाचार सुन उन्हें परस्पर वियुक्त करनेकी प्रतिज्ञा कर नलकी राजधानीमें पहुँचा और नलका छिद्रान्वेषण करता हुआ रहने लगा।

बारह वर्षके उपरान्त मद्यपान करनेके कारण बिना सन्ध्योपासन तथा पादप्रक्षालन किये ही सोए हुए नलके शरीरमें कलिने प्रवेश किया, जिसके प्रभावसे नल दुराचारमें प्रवृत्त रहने लगे। इत्यादि।

इस प्रकार महाभारत तथा कथासरित्सागरके कथांशके साथ प्रकृत नैषधचरितके कथांशका सामञ्जस्य करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्षने महाभारतके आधारपर ही इस महाकाव्यकी रचना की है।

—:०:—

१. कथासरित्सागरके नवम 'अलङ्कारवती' लम्बकके छठे तरङ्गमें श्लोक २३७–४१६।

श्रीहर्षका पाण्डित्य

पहले लिखा जा चुका है कि श्रीहर्षने खण्डनखण्डखाद्य आदि अपने ग्रन्थोंकी रचना की। उनमेंसे एकमात्र 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थ ही इनके पाण्डित्यप्राचुर्य-प्रदर्शनके लिए पर्याप्त है। इसमें ग्रन्थकारने अपने प्रखर पाण्डित्यसे अनेकविध तर्कों तथा प्रयुक्तियोंके द्वारा बड़े उत्तम ढंगसे अद्वैत मतका प्रतिपादन किया है, जिसको देखकर विद्वानोंको इनके पाण्डित्यप्राचुर्यकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी ही पड़ती है। अपने इस अद्वैतकी झलक श्रीहर्षने नैषधचरितमें भी अद्वैततत्त्व इव सत्त्वतरेऽपि लोकः (१३ ६५) इत्यादि वचनोंद्वारा प्रदर्शित की है।

षष्ठ सर्गको तो स्वयं श्रीहर्षने ही 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थका सहोदर कहा है। यथा—

'षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात्क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद्भास्वरः।' (६।११३ का उत्तरार्द्ध)

न्यायशास्त्रके मुख्याचार्य गोतमको भी इन्होंने नैषधचरितमें

'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेत्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥' (१७।७४)

कहकर आड़े हाथों लिया है। सप्तदश सर्गमें चार्वाक मतका अत्यन्त कटुसत्य प्रामाणिक एवं विस्तृत समीक्षण श्रीहर्षकी दार्शनिकताका अकाट्य प्रमाण है। वैशेषिक दर्शनका नामान्तर 'उलूक दर्शन' भी है, इसे श्रीहर्षने बड़ी युक्तिसे प्रतिपादित किया है—

'ध्वान्तस्य वामोरु! विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥' (२२।३५)

अन्य कवियोंने प्रायः अपनी विद्वत्ताके प्रदर्शनार्थ ऋतु, प्रभात, चन्द्र आदिका वर्णन अपनी रचनाओं में अप्रासङ्गिक या अत्यधिक रूपमें किया है, किन्तु श्रीहर्षने ऐसा वर्णन कहीं नहीं किया है। जहाँ कहीं भी उन्होंने मूलकथासे पृथक् स्वतन्त्र कथाकी कल्पना की है, वह वहाँपर मशीनके पुर्जेके समान ठीक-ठीक बैठ जाती है और ऐसा आभास होता है कि इसके बिना रचना अधूरी एवं बेकार थी। उदाहरणार्थ नलके पास हंस पहले नलको काटकर (१।१२५) अनन्तर कुछ फटकारकर (१।१३०-१३३) भी अपनेको छुड़ानेके लिए प्रयत्न करता है, किन्तु असफल होकर करुण-क्रन्दन (१।१३५-१४२) करने लगता है और दयार्द्र नलसे मुक्ति पाकर वहीं वह अपनी भूल स्वीकार करता हुआ (२।८-९) अप्रिय भाषणजन्यदोष को प्रत्युपकार द्वारा दूर करने का वचन देता है तथा उसे दैवप्रतिपादित माननेके लिए दीनतापूर्वक विविध प्रकारसे अनुरोध करता है (२ १० १५)। इसके प्रतिकूल जब वही हंस दमयन्तीके पास पहुँचता है तो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अनेक प्रकारसे आत्म-श्लाघा करता हुआ नलके प्रति दमयन्तीको

आकृष्ट करनेके उद्देश्यसे बार-बार उनका प्रसङ्ग लाकर उनकी अत्यन्त स्तुति इस प्रकार करता है कि दमयन्तीको यह लेशमात्र भी आभास न होने पावे कि इसे नलने भेजा है तथा इस चातुर्यपूर्ण रहस्यको वह तब तक छिपा रखता है, जब तक दमयन्तीके हृदयको अच्छी तरह ठोंक ठोंकर नलके प्रति आकृष्ट होनेका दृढ निश्चय नहीं कर लेता है। यहाँपर हंसके चातुर्यका दिग्दर्शनमात्र करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। देखिये—हंस किस चातुर्यसे श्लेष द्वारा उनके प्रति दमयन्तीको आकृष्ट करता है। वह कहता है कि—'मुझ स्वर्गीय हंसको पकड़नेके लिए 'विरलोदय नर'के एकमात्र स्वभोगभाग्यके अतिरिक्त कोई जाल आदि समर्थ नहीं हो सकता'।

'बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषः स्यात्।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य॥' (३।२०)

यहाँपर उसने 'विरलोदय, नर' इन दो शब्दोंसे नलका स्पष्ट सङ्केत किया है आगे वह दमयन्तीके 'का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा। (३.५९) अपने मनोरथगत नलको ओर श्लेषद्वारा सङ्केत करने पर उसके नलविषयक अर्थको समझ कर भी स्पष्ट करनेके लिए कहता है—चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेके समान आप जिसे प्राप्त करनेके लिए अधिक आदरिणी हों, उसे क्या मैं उस प्रकार सुननेका अधिकारी नहीं हूँ, जिस प्रकार वेदवचनको सुननेका अधिकारी शूद्र नहीं होता (३।६२)। आगे उसके मनोरथको पूरा करनेमें अपनेको सर्वथा समर्थ बतलाता हुआ वहीं हंस विश्वकी किसी भी वस्तुको यहाँ तक कि लङ्काको भी देनेमें अपनेको समर्थ कहता है, जिसका उत्तर कुलीना दमयन्ती स्पष्टरूपसे न देकर श्लेषद्वारा ही नलको पानेकी इच्छा पुनः प्रकट करती है—

'इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम्॥' (३।६७)

यहाँपर कुलाङ्गनोचित शीलका पूर्णरूपेण पालन करते हुए श्रीहर्षने भारतीय संस्कृतिके परमोच्चादर्शको स्थापित किया है। इसी कारण अन्तमें विवश होकर हंसको हाँ' नलके साथ तुम विवाह करना चाहती हो' कहना पड़ा है (३।७९)। और आगे चलकर वह पुनः पुनः नलके लिये दमयन्तीसे दृढ़ निश्चय कराकर ही 'वे भी तुम्हें चाहते हैं और उन्होंने ही तुम्हारे पास मुझे भेजा है' इत्यादि कहते हुए अपना वास्तविक रूप दमयन्तीके समक्ष व्यक्त करता है।

सभी लोग कुश तथा जल लेकर सङ्कल्पपूर्वक दान देते तथा लेते देखे जाते हैं। देखिये महाकवि श्रीहर्षने दानवीर नलके मुखसे उक्त प्रकरणको लेकर कितनी सूक्ष्मदर्शिताके साथ दानका महत्त्व कहलवाया है। दानके स्वरूप विविध प्रकारसे कहते हुए नल कहते हैं कि—'कुश-जलयुक्त दान करनेका विधान यह सूचित करता है कि याचकके लिए केवल धनमात्र ही नहीं, अपितु प्राणोंको भी तृणके समान दान कर देना चाहिये।'

'अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥' (५।८६)

नलने अपने दूतकर्मको अत्यन्त साङ्गोपाङ्ग निभाया है । अपने कार्यमें कुछ विलम्ब होता हुआ देखकर वे बहुत ही खिन्न होते हुए सोचते हैं कि मेरे मार्गको देखनेवाले इन्द्रके नेत्रोंको वज्रने बनाया है । शीघ्र करने योग्य कार्य में भी विलम्ब करनेवाले मुझको धिक्कार है, जिसमें दूसरेके दूतकार्य करनेका साधारण गुण भी नहीं है—

इयच्चिरस्यावदधन्ति मत्पथे किमिन्द्रनेत्राण्यशनिर्न निर्ममौ ।
धिगस्तु मां सत्वरकार्यमन्थरं स्थितः परप्रेष्यगुणोऽपि यत्र न ॥' (९।२१)

यहाँ पर नलने निष्कपट भावसे अपने दूतकर्मकी सिद्धिके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करनेमें लेशमात्र भी कमी नहीं की है और अन्ततक उसकी सफलताके लिए प्रयत्नशील रहे हैं और इनके इसी निष्कपटभावने इन्हें पुण्यश्लोक बनाया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

स्वयंवरमें जिस क्रमसे सब द्वीप तथा राजाओंका वर्णन महाकवि श्रीहर्षने किया है, वह समस्त समुद्र, वृक्ष, देव आदि विष्णुपुराणके द्वितीय अंशके तृतीय अध्यायमें स्पष्ट वर्णित हैं । वहाँ पर शाकद्वीपके वर्णन-प्रसङ्गमें वहाँके अधिपतिका नाम 'भव्य' कहा गया है और अपनी कृति नैषधचरितमें इयने 'हव्य' को शाकद्वीपका अधिपति कहा है (११।३७) सम्भव है वह नामभेद पाठान्तर आदि किसी कारणसे हो । उस द्वीपवर्णनसे महाकविके पौराणिक ज्ञानकी पुनः परिपुष्टि होती है ।

राजाओंके वर्णन-प्रसङ्गमें सरस्वतीमुखसे काशीनरेशका वर्णन कराते हुए महाकविने 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' वचनका अत्यन्त उत्तमयुक्तिसे समर्थन किया है । आपके मतमें भूभागके किसी तीर्थविशेषमें तपस्या करनेवालोंको स्वर्गप्राप्ति होती है, और यह काशीपुरी पृथ्वीपर नहीं है (किन्तु पौराणिक वचनोंके अनुसार शंकर भगवान् के त्रिशूलके ऊपर बसी है); और यहाँपर निवास करना स्वर्गमें निवास करना है, अत एव उस पवित्र तीर्थमें शरीर त्याग करनेवाले प्राणियोंको स्वर्गसे भी श्रेष्ठ मुक्ति मिलती है । अन्यथा यदि उन्हें स्वर्ग ही प्राप्त हो तो उनके हर्षका कोई कारण ही नहीं होता, क्योंकि वे तो स्वर्गरूप काशीमें पहले निवास करते ही थे । कविके शब्दोंमें इस प्रसङ्गको देखिये—

'वाराणसी निवसते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः ।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात्परं पदमुदेतु मुदेतु कीदृक् ? ॥' (११।११६)

नलके पाण्डित्य-प्रदर्शन-प्रसङ्ग में स्थान-स्थान पर श्लेषका वर्णन आ चुका है, किन्तु इन्द्रादि चारो देवोंके साथ नलका तथा नलके साथ इन्द्रादि चारों देवोंका एक साथ वर्णन करके महाकविने जो श्लेषोक्तिचातुर्य का प्रदर्शन किया है, वहाँ उनके पाण्डित्यका निष्कर्ष है । आगे चलकर अन्तमें—

'देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ।
नायं नलः खलु तवास्ति महानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ॥' (१३।३४)

इस एक ही श्लोकसे पञ्च नलोंके वर्णनसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच ही स्वयंवरमें स्वयं पधारकर साक्षात् सरस्वती देवीने यह राजवर्णन किया है।

महाकविने स्वयम्वरमें आयी हुई सरस्वती देवीके प्रसङ्गका जो वर्णन (१०।७४-७८) किया है, उसमें उनका बहुश्रुतत्व स्पष्ट प्रतिभासित होता है।

आगे चलकर बारातका वर्णन भी महाकविने सूक्ष्मदर्शनपूर्वक बड़ा रोचक किया है। वर्तमान समयमें भी साधारण कोटिके लोगोंकी बारातमें बारातियोंकी ओरसे जो शान दिखलायी जाती है, बात-बातमें हँसी-मजाक चलता है उससे सभी परिचित हैं, तो फिर परमैश्वर्यशाली नैषधकी बारातमें जिसमें नट, विट, विदूषक आदि हास्योपजीवियोंसे लेकर बड़े-बड़े चतुर राजगण भी सम्मिलित हुए थे, उसमें हास तथा शानशौकत की क्यों कमी होती ? कन्याके पिता भीम बार-बार आप्त राजाओंको यथासमय शुभ मुहूर्तमें शीघ्र कार्य होनेके लिए दूतरूपमें भेजते हैं, किन्तु बारातियोंका मानो उधर ध्यान ही नहीं जाता, वे अपनी शानमें मस्त होकर धीरे-धीरे चल रहे हैं, तथा अनेक बार दूतरूपमें भीमप्रेषित आप्त राजाओं तथा उनके सहचरोंसे नलकी सेना बहुत बढ़ गयी। यथा—

'विदर्भराजः क्षितिपाननुक्षणं शुभक्षणासन्नतरत्वसत्वरः।
विदेश दूतान् पथि यान्यथोत्तरं चमूममुष्योपचिकाय तच्चयः॥' (१६।५)

जब सामान्य वर्गके भी कन्यापिता आदि बारातियोंके आदर-सत्कार एवं भोजनादिमें यथासम्भव किसी प्रकार की कमी नहीं होने देते, तब भला कुण्डिनपुराधीश राजा भीमके यहाँ नल-जैसे वरके बारातियोंके भोजनादिमें किस वस्तुकी कमी थी तथा ऐसे वर्णनकी उपेक्षा भी महाकवि श्रीहर्षको कैसे सह्य हो सकती थी। बारातियोंके विविध भोज्यपदार्थोंके वर्णन प्रसङ्गमें कल्पना विचक्षण श्रीहर्ष घी के विषयमें कहते हैं कि—यद्यपि मर्त्यलोकवासियों ने अमृतपान नहीं किया है, तथापि घी अमृतसे अधिक स्वादिष्ट है ऐसा अनुमान होता है; क्योंकि अमृतभोजी यज्ञोंमें जले (दूषित) हुए गन्धवाले भी जिस घीकी लालसा करते हैं। यथा—

'यदल्पपीता वसुधालयैः सुधा तदप्यदः स्वादु ततोऽनुमीयते।
अपि क्रतूद्बुधदग्धगन्धिने स्पृहां यदस्मै दधते सुधान्धसः॥' (१६।७१)

वाह ! क्या ही सुन्दर हृदयहारिणी कल्पना है, यहाँ गागरमें सागर ही भर दिया गया है।

परिहासप्रियता—

मैं पहले लिख चुका हूँ कि बारातियोंके बात-बातमें परिहासपूर्ण व्यवहार देखे जाते हैं, उसे यहाँपर कविने दमयन्तीके भाई दम अर्थात् नलके छोटे सालेके द्वारा नाना प्रकारसे कराया है। और इतना ही नहीं, राजाओंसे भरी स्वयंवर सभामें भी दमयन्ती-दासियों के द्वारा दमयन्ती-निरस्त राजाओंको लक्ष्यकर कैसा उपहास कराया है, देखिये ! सरस्वतीदेवी स्वयम्बरमें आये हुए राजाओंका परिचय दे रही हैं, उसी प्रसङ्ग में

जब एक राजाका परिचय दे रही थीं, उसी बीच में दमयन्तीके हृद्गत अभिप्रायको जानने-वाली सखीने सरस्वती देवीको पानका बीड़ा देते हुए कहा कि इस राजाका वर्णन करते करते आपका मुख थक गया होगा, इस बीड़ेसे उसे दूर कर लें अर्थात् जिसे स्वामिनी नहीं चाहतीं उनका वर्णन करना व्यर्थ है, अतएव पानका बीड़ा चबाने के बहाने उसे समाप्त करें—

'विधाय ताम्बूलपुटीं कराङ्कगां बभाण ताम्बूलकरङ्कवाहिनी।
दमस्वसुर्भावमवेत्य भारती नयानया वक्त्रपरिश्रमं शमम्॥' (११।७६)

आगे चलकर बारातियोंके भोजन करने के पश्चात् मुखशुद्धयर्थं वैसी सुपारी दी गयी जो विच्छूके आकारकी थी अतः उसे लेते ही बारातियोंने बिच्छू समझकर तुरत फेंक दिया और यह देख वहाँपर उपस्थित दमपक्षीय हँस पड़े—

'मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगैरथोज्झि पर्णालिरवेत्य वृश्चिकम्।
दमार्पितान्तर्मुखवासनिर्मितं भयाविलै-स्वभ्रमहासिताखिलैः॥' (१६।१०९)

बारातियोंके साथ दासियों, सखियों या वाराङ्गनाओं और छोटे साले दमका परिहास करने मात्रसे ही कविको सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने राजा भीम तकको इधर घसीटा। जब सब बाराती भोजन करके निवृत्त हो मुखशुद्धयर्थ सुपारी, पान आदि भी ले चुके, तब उन्हें उपहार देते समय स्वयं राजा भीम भी एक नकली तथा एक असली दो दो रत्न अपनी हथेलीपर रखकर बारातियोंसे कहने लगे कि इन दोनों रत्नों-से जो रत्न आपको पसन्द हो, उसे आप लेलें, किन्तु अनभिज्ञताके कारण जब बाराती नकली रत्नको पसन्द करने लगे, तब मधुर स्मित करते हुए वे दोनों ही रत्न बारातियोंको दे दिये—

'अमीषु तथ्यानृतरत्नजातयोर्विदर्भराट् चारुनिनान्तचारुणोः।
स्वयं गृहाणैकमिहेत्युदीर्य तद् द्वयं ददौ शेषजिघृक्षवे हसन्॥' (१६।११०)

कविलोग प्रायः अपनी रचनाओंमें शृङ्गाररसकी भरमार कर देते हैं, क्योंकि उनकी उसीमें विशेष भक्ति होती है, किन्तु महाकवि श्रीहर्षने शृङ्गारके वर्णनके साथ अन्य रसोंका भी यथास्थान पर्याप्त वर्णन किया है। हंसकृत क्रन्दन एवं दमयन्तीका विरह वर्णन आदि करुणरसके गणनीय उदाहरण हैं। देखिये, श्रीहर्षने भयानक तथा करुणरसका एक ही साथ कैसा सुन्दर चित्रण किया है—

'एतद्भीतारिनारीगिरिगुहविगलद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोद्भिन्नचन्द्रा।
आक्रन्दद्भूरि यस्सयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च॥' (१२।२८)

विवाहका दिन निश्चित हो जानेपर भीम अपनी सहधर्मिणीसे घरका समस्त वैवाहिक कार्य करनेके लिये कहकर स्वयं बाहरके कार्यका भार ग्रहणकर मरकसे इसकी श्रीमत्ताले

बाहर आते हैं कि उन्हें विशेष बात करनेका मानो अवसर ही नहीं है। ठीक ही है, विवाह-समयके निर्णीत होनेपर जो महान् उत्तरदायित्वपूर्ण भार कन्यापिताके ऊपर आ जाता है, उसे भुक्तभोगी या सहृदय ही कोई व्यक्ति समझ सकता है। राजाधिराज होते हुए भी भीमको कितनी चिन्ता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण कविने बहुत सुन्दर चित्रित किया है। योग्य वर-वरणका सुसमाचार सुनाकर वे सहधर्मिणी महारानीसे कहते हैं कि—'विवाह मङ्गल योग्य स्त्री-सम्बन्धी कार्योंको तुम स्त्रियाँ करो तथा हमलोग श्रौत-स्मार्त विधियोंको करते हैं' ऐसा कहकर उत्तर या स्वीकृति पाये विना ही झट बाहर आ जाते हैं—

'सृजन्तु पाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः।
श्रुतिस्मृतीनान्तु वयं विदध्महे विधीनिति स्माह च निर्ययौ च सः॥' (१५।७)

तथा महारानीके आज्ञानुसार विविध प्रकारके पकवानोंको बनानेमें निपुणतमा पुरन्ध्रियाँ भी तुरन्त अपने-अपने कार्योंका निपुणतापूर्वक आरम्भ कर देती हैं—

'काचित्तदाऽऽलेपनदानमण्डिता कमप्यहङ्कारमगात्पुरस्कृता।
अलम्भि तुङ्गासनसन्निवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयाऽऽदरः॥' (१५।१२)

साथ ही राजमहल तथा नगरकी सजावट होने लगती हैं। कपड़ेको काटकर तथा उन्हें उन्हीं सुगन्धि द्रव्योंसे सुवासितकर बनाये गये असमायिक फूलोंकी मालाओंके आधिक्यसे मार्ग चँदवासे आच्छादित की तरह दीखने लगे। उन कपड़ोंके असामयिक फूलोंकी सुगन्धको और कोई तो क्या, सौरभके पारखी भ्रमर भी नहीं पहचान सके और उन्हें सच्चा फूल समझकर सौरभलोभसे संभवतः आकृष्ट होने लगे—

'पथामनीयन्त तथाऽधिवासनान्मधुव्रतानामपि दत्तविभ्रमाः।
वितानतामातपनिर्भयास्तदा पटाच्छिदाऽकालिकपुष्पजाः स्रजः॥' (१५।१४)

विवाहार्थ वधू-वरका मण्डन तथा विवाहविधिका वर्णन नैषधकारने कुमारसंभवके पार्वती शङ्करके समान ही किया है, किन्तु नैषधका वर्णन अत्युदात्त विस्तृत एवं सरस है। कुमारसम्भवमें मण्डनके उपरान्त पार्वतीके दर्पण देखनेका वर्णन इस प्रकार है—

'क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयाव भौ दर्पणमादधाना॥' (७।२६)

तथा नैषध में यही वर्णन निम्नांकित है—

'मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले बभौ निजास्यप्रतिबिम्बदर्शिनी।
विधोरदूरं स्वमुखं विधाय सा निरूपयन्तीव विशेषमेतयोः॥
जितस्तदास्येन कलानिधिर्दधे द्विचन्द्रधीसाक्षिकमायकायताम्।
तथापि जिग्ये युगपत्सखीयुगप्रदर्शितादर्शवहूभविष्णुता॥
किमालियुग्मार्पितदर्पणद्वये तदास्यमेकं बहु चान्यदम्बुजम्।
हिमेषु निर्वाप्य निशासमाधिभिस्तदास्यसालोक्यमितं व्यलोक्यत॥
(१५।५०-५२)

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंके उस वर्णनमें जहाँ पार्वती स्वयं दर्पण लेकर अपने मण्डन-विधिके बाद अपना सौन्दर्य निरीक्षण कर रही है, वहाँ दमयन्तीको एक ही नहीं, किन्तु दो-दो सखियाँ दर्पण दिखला रही हैं। इत्यादि वर्णनश्रेष्ठता स्पष्टतः प्रतिभासित होती है।

आगे और देखिये, कुमारसम्भव तथा नैषधचरितमें पतिके कहनेपर वधुओंके ध्रुवदर्शन करनेका क्रमशः इस प्रकार वर्णन है।

'ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठ कथमप्युवाच ॥' (७।८५)
'ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्य पत्याऽभिदधे विदर्भजा।
किमस्य न स्यादणिमाद्विसाद्विकस्तथापि तथ्यो महिमागमोदितः ॥' (१५।३८)

आगे चलकर विवाहके अनन्तर पुत्री तथा दामादको विदा कर उन्हें कुछ दूर पहुँचाकर वापस लौटते हुए राजा भीमने दमयन्तीके लिये सामयिक उपदेश दिया है, वह नारीजनोंके लिए अक्षरशः पालनीय है। वे सजलनयन होते हुए दमयन्तीसे कहते हैं कि-'हे पुत्रि! अपना अर्थात् तुम्हारा पुण्य ही तुम्हारा पिता है, सहनशीलता ही आपत्ति-विनाश करनेवाली है, मनस्तुष्टि ही सारी सम्पत्ति है और ये नल ही तुम्हारे सब कुछ हैं, इसके अतिरिक्त मैं तुम्हारा कोई नहीं हूँ'—

'पिताऽऽत्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि! न कोऽपि तेऽहमित्युदश्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम् ॥' (१६।११७)

विवाहोत्तर पति ही नारीका सर्वस्व है, ऐसा कहकर महाकविने थोड़े शब्दोंमें ही भारतीय संस्कृतिका महत्तम आदर्श प्रदर्शित किया है।

बारातके वापस लौटनेपर कन्यापक्षवालोंने बारातियोंका कैसा आदर-सत्कार किया और कौन-सा कार्य किस प्रकार हुआ, यह जाननेके लिए वरपक्षके गृहस्थित स्वजन बहुत उत्कण्ठित रहते हैं, साथ ही बारातियोंको भी अपने घरका समाचार जाननेकी उत्कण्ठा रहती है और जब दोनोंका प्रथम मिलन होता है तब वे परस्परमें एक दूसरेके द्वारा संक्षेपतः समाचार कहते-सुनते आगे बढ़ते हैं। यहाँ भी नलके विवाह करके वापस लौटनेपर राजधानीमें नियुक्त मन्त्री आदि नवदम्पतिकी अगवानी करने आते हैं तो परस्पर में एक दूसरेका समाचार संक्षेपमें सुनते हुए राजधानीमें प्रवेश करते हैं—

'कियदपि कथयन् स्ववृत्तजातं श्रवणकुतूहलचञ्चलेषु तेषु।
कियदपि निजदेशवृत्तमेभ्यः श्रवणपथे स नयन् पुरीं विवेश ॥' (१६।१२४)

नलके राजधानीमें लौट जानेके बाद स्वर्गको वापस जाते हुए इन्द्रादि देवताओंसे कलि आदि का साक्षात्कार होता है, उसमें कलिके सहचरोंका कविने ऐसा वर्णन किया है कि उनका स्वरूप ही पाठकोंके समक्ष दृष्टिगोचर सा होने लगता है। उनमें लोभका कितना मार्मिक वर्णन है—

'दैन्यस्तम्भमया नित्यमत्याहारामयाविन।

सुञ्जानजनसाकूदपश्या यस्यानुजीविनः ॥' (१६।२५)

आगे चलकर महाकविने कलिके मुखसे तात्कालिक धर्माचरणका वर्णन कराकर जो नग्नस्वरूप उपस्थित किया हैं, वह भी कम महत्त्वास्पद नहीं है। उसका इन्द्रादिदेवोंने युक्तिपूर्वक बहुत ही उत्तम ढंगसे खण्डन करते हुए धर्मका मण्डन किया है। किन्तु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि जितने सबल शब्दोंमें धर्मका खण्डन किया गया है, उतने सबल शब्दोंमें मण्डन नहीं है।

अष्टादश सर्गमें नवदम्पतिकी रतिका वर्णन श्रीहर्षकी कामशास्त्रकी पारदर्शिता प्रकट करता है। उन्नीसवें सर्ग में प्राबोधिक वैतालिकमुखसे किया गया प्रभात-वर्णन बहुत ही हृदयहारी है। महाकविने नारीहृदयकी मृदुता तथा पुरुषहृदयकी कठोरताका कितना सुन्दर कल्पना द्वारा चित्रण किया है। वह कहते हैं कि पतिरूप चन्द्रके सर्वथा अस्त होनेके पहले नहीं, किन्तु उसके क्षीणकाय (निष्प्रभ) होनेके पहले ही चन्द्रप्रिया तारायें तथा रात्रि नष्ट हो गयी, यह उन परमसती लोगोंके लिये सर्वथा उचित ही है; किन्तु अपनी ऐसी प्रियाओं के नष्ट हो जानेपर भी चन्द्रमा जो मलिनकान्ति होकर स्थित है, शीघ्र मरा नहीं अतएव ज्ञात होता है कि इसका हृदय पत्थर का है—

'उडुपरिषदः किं नार्हत्वं ? निशः किमु नौचिती ?
पतिरिह न यत्ताभ्यां दृष्टो गणेयरुची गणः।
स्फुटमुडुपतेराश्मं वक्षः स्फुरन्मलिनाश्मन—
च्छवि यदनयोर्विच्छेदेऽपि मृतं बत न द्रुतम् ॥' (१९।१९)

श्रीहर्षका महावैयाकरणत्व—

श्रीहर्ष महावैयाकरण थे यह उनके तत्तत्स्थलोंमें दिये गये पद्यों एवं पदोंके द्वारा स्पष्ट हो जाता है। एतदर्थं यद्यपि बहुतसे उदाहरण इस ग्रन्थसे उपस्थित किये जा सकते हैं तथापि दिग्दर्शनार्थं निम्नलिखित केवल दो पद्य ही उद्धृत किये जाते हैं—

'क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता सा व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥' (३।२३)

उक्त पद्यमें हंसमुखसे नलका वर्णन कराते हुए कविने 'अपदं न प्रयुञ्जीत' 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते' इन वैयाकरणसम्मत सिद्धान्तोंकी ओर संकेत किया है—

'स्वं नैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरिति नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमभवत्त दुष्टं ताहक्कृतव्याकरणः पुनः रुः ॥' (१०।१३६)

यहाँपर महावैयाकरण श्रीहर्षने इन्द्रादिके नलका रूप धारणकर स्वयम्वरमें आनेके प्रसङ्गका वर्णन करते हुए 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) का संकेत किया है।

बीसवें सर्गके वर्णनसे श्रीहर्षका परमवैष्णव होना भी सिद्ध होता है। उन्होंने नलकृत

पूजाप्रकरणको लेकर जो वर्णन किया है, उसमें विष्णुके वर्णनकी ही प्रधानता दी है। उसी प्रसङ्गमें नामकीर्तनका माहात्म्य कहते हुए वे वर्णन करते है कि—हे विष्णो! नरकनाशक आपके नामका जो लोग लीलापूर्वक भी उच्चारण करते हैं, उन्हींसे नरकको डरना उचित हैं, वे लोग भला नरकसे क्यों डरें—

'लीलायाऽपि तव नाम जना ये गृह्णते नरकनाशकरस्य
तेभ्य एव नरकैरुचिता भीस्ते तु बिभ्यतु कथं नरकेभ्यः॥' (२१।९७)

आगे चलकर स्मरणमाहात्म्यका वर्णन कर (२१।९९) पुनः रामनाम कीर्तनके महत्त्वका विशेषरूपसे वर्णन करते हैं। वे कहते हैं—'हम जैसे साधारण ज्ञानी लोगोंके लिये सब नामोंमें विशेषभाव (समानता) रहनेपर भी हमें आपका 'राम'नाम ही गुणोंका स्थान प्रतीत होता हैं, यदि ऐसा नहीं था तो तीन जन्मों (बलराम, परशुराम तथा दशरथतनय राम) में आपने 'राम नामको क्यों स्वीकार किया?'—

'अस्मदाद्यविषयेपि विशेषे रामनाम तव धाम गुणानाम्।
अन्वबन्धि भवतैव तु कस्मादन्यथा ननु जनुस्त्रितयेऽपि॥' (२१।९०)

अन्तमें भक्तिभरित हृदय नल कहते हैं कि—हे भगवान्! संसार ही आपका स्वरूप है और आपने ही संसारको रचा है, अत एव आपके आश्चर्यजनक ऐश्वर्यको छोटे-से हृदयमें कितना ग्रहण करूँ, क्योंकि दरिद्र व्यक्ति सुमेरु पर्वतको पाकर भी फटे चिथड़ेमें कितना सोना बाँधता है—

'विश्वरूप! कृतविश्व! कियत्ते वैभवाद्भुतमणौ हृदि कुर्वे।
हेम नह्यति कियन्निजचीरे काञ्चनाद्रिमधिगत्य 'दरिद्रः॥' (२१।१०३)

श्रीहर्ष जिसका वर्णन करने लगते हैं, उसके वर्णनसे मानो थकते ही नहीं। इस इक्कीसवें सर्गमें दमयन्तीके पाससे नलके उठनेसे लेकर द्वारपर चिरकालसे प्रतीक्षा करते हुए राजाओंको दर्शन देने, उनसे उपहार ग्रहण करते हुए स्नानगृहमें आकर सविधि स्नान करनेके पश्चात् देव-पूजागृहमें उपस्थित होने, वहाँपर स्थापित देवपूजा सामग्रियोंका तथा विधिपूर्वक पञ्चदेव पूजनोपरान्त पुरुषसूक्त पाठ, मन्त्र जप, विष्णुस्तुति आदिका सविस्तर वणन किया है। आगे चलकर सन्ध्याकालके आसन्न होनेपर चक्रवाकवधूके आसन्न भावी विरहसे दयार्द्र प्रियतमा दमयन्तीके कहनेपर सायं सन्ध्योपासनसे निवृत्त हो क्रमशः सायंकाल, अन्धकार एवं चन्द्रमाका वर्णन स्वयं करते हैं तथा दमयन्तीसे भी चन्द्र वर्णन करानेके अनन्तर पुनः स्वयं चन्द्रवर्णन करने लगते हैं। इससे स्पष्ट विदित होता कि महाकवि श्रीहर्षका कल्पनाकोष बहुत विशाल एवं क्षयरहित है। जैसा मैंने ऊपर कहा हैं कि ये एक ही पदार्थका वर्णन बार-बार करके भी थकते नहीं, किन्तु कहीं भी ऐसे बार-बार वर्णनोंके प्रसङ्गमें किसी भी कल्पनाको ये दुहराते नहीं, प्रत्युत उत्तरोत्तर अभिनव कल्पना मात्राओंसे उसे अधिकाधिक सजाते ही जाते हैं। उदाहरणार्थ अनेक स्थलोंमें दम-

यन्तीके वर्णनका प्रसङ्ग आया है, किन्तु पाठकको समस्त वर्णन सर्वथा नूतन एवं महत्त्वपूर्ण ही प्रतीत होता है। महाकवि द्वारा स्थान-स्थानपर 'बहुल, अमा, पञ्चाग्य द्विजराज आदि शब्दों का नया-नया अर्थ करना उसकी परिष्कृति बुद्धिका विशद दिग्दर्शन है।'

रसादिनिरूपण

इस नैषधचरितमें प्रधानतया शृङ्गाररसका तथा गौणतया अन्यरसोंका वर्णन है। शृङ्गाररसमें भी विप्रलम्भ शृङ्गार तथा सम्भोग शृङ्गार-दोनों ही का पर्याप्त मात्रामें वर्णन किया गया है। पाञ्चाल्यादि रीतियोंमें से इस ग्रन्थमें वैदर्भीरीतिका प्राधान्य है। इस बात का महाकवि हर्षने स्वयं स्पष्ट संकेत किया है—

'धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥' (३।११६)

'गुणानामास्थानी नृपतिलक ! नारीति विदितां
रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं
परीरम्भक्रीडाचरणशरणामन्वहमहम् ॥' (१४।८८)

अलङ्कारोंमें श्लेष यमक अनुप्रासालंकारों की सर्वत्र भरमार है, इनके अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, उपमा, दृष्टान्त, निदर्शना आदि अलङ्कार भी विविध स्थलोंमें मिलते हैं। अतिशयोक्ति वर्णनमें तो श्रीहर्षने कमाल कर दिया है। कामपीडिता विरहिणी दमयन्तीकी विरहावस्थाका वर्णन करते श्रीहर्ष कहते हैं कि—कामाग्निसे दीपित दमयन्तीके बहुत-से ताजे कमलों को हृदयपर रखनेके लिये पुनः पुनः ग्रहण किया, किन्तु हृदय तक पहुँचनेके पूर्व ही उष्णतम श्वाससे मर्मर (अधसुखे) हुए उनको आधे मार्गसे ही वापस फेंक दिया—

'स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम्।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥' (४।२९)

नल इन्द्रादिके दूत बनकर भीमकन्याके अन्तःपुरमें अलक्षित ही पहुँच गये है। वहाँ पर नलकी छायाको मणिकुट्टिमादिमें देखकर दो सखियाँ दोनों ओरसे बाँह फैलाए हुए उन्हें पकड़नेके लिए आती हैं, किन्तु वे उन्हें पकड़ नहीं पा रही हैं क्योंकि उन दोनोंके स्तन

---

१. 'विरहिभिर्बहु मानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममा कृता ॥'
'मोहाय देवाप्सरसां विमुक्तास्ताराः शराः पुष्पशरेण शङ्के।
पञ्चास्यवत्पञ्चशरस्य नाम्नि प्रपञ्चवाची खलु पञ्चशब्दः ॥
'सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय वधाय विनिर्मितः।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतिः ॥'
(क्रमशः १।५७, २२।१९, ४।७२)

इतने उन्नत हैं कि दोनोंके स्तन परस्परमें सट जाते हैं और अलक्षित नल उनके बीचमें आजाते हैं। इस प्रकार उनके शरीरस्पर्शका अनुभवकर वे आत्मनिन्दा करते हैं और वे दोनों पुरुषशरीरके स्पर्श होनेसे रोमाञ्चित हो जाती हैं—

'मौलस्य शोकेऽभिमुखागताभ्यां भसुं निपीड्य स्तनसान्तराभ्याम्।
स्वाङ्गान्यपेतो विजगौ स पश्चात्पुमङ्गसङ्गोत्पुलके पुनस्ते॥' (६।२१)

उपजाति, वंशस्थ, बसन्ततिलका, वैताळीय, रथोद्धता, हरिणी, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा आदि १९ छन्दोंमें इस ग्रन्थकी रचना की गयी है। श्रीहर्षने इस महाकाव्यमें नलके चरितका पूर्णतः वर्णन नहीं किया है, अत एव कतिपय विद्वानोंका मत है कि महाकाव्यको प्रायः शतपरिमित सर्गोंमें ग्रन्थकारने पूरा किया होगा, किन्तु अद्यावधि इस महाकाव्यमें वर्णित कथाभागके आगे श्रीहर्षकृत कोई कथाभाग नलका उपलब्ध नहीं हो सका है, अत एव नारायण भट्टके इस कथन को सत्य मानना पड़ता है कि महाभारतादिमें वर्णित नलके अग्रिम चरित नीरस एवं नायकके उदयाभाव वर्णन करने से रसभङ्गकारक था, अतएव सहृदयाह्लादोत्पादन ही काव्यका मुख्य उद्देश्य होनेसे महाकवि श्रीहर्षने इस महाकाव्यमें उनके शेष चरितका वर्णन नहीं किया है।[1]

श्रीहर्षके निवासादिके सम्बन्धमें विविध मत—

कतिपय विद्वान् श्रीहर्षको कन्नौजके अधीश्वर जयन्तचन्द्रके राजसभापण्डित होनेसे कन्नौजका निवासी मानते हैं। कन्नौज (कान्यकुब्ज) के राजाका आश्रित होना श्रीहर्षने स्वयं स्पष्ट कहा है—

'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा-
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतमुदे तस्याभ्युदीयादियम्॥' (प्रशस्ति ४)

तथा कुछ विद्वान् गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति तथा नवसाहसाङ्कचरितके इनकी रचना होने एवं नैषधचरित के वर्णनके आधारसे इन्हें बङ्गदेशज मानते हैं। तथा कुछ विद्वान् श्रीहर्षकी 'कश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यधद्भिर्महाकाव्ये.........(१६।१३०)' उक्तिके आधारपर इन्हें कश्मीरी मानते हैं। किन्तु राजशेखरसूरिकृत प्रबन्धकोशके पूर्वोद्धृत वचनके आधार पर इनका काश्मीरी होना सिद्ध नहीं होता।

जैसा कि पहले कहा गया है 'कान्यकुब्जाधीश्वर जयन्तचन्द्रके सभापण्डित श्रीहर्षने

---

१. 'आनन्दपदेन तुष्टयेऽस्तु इत्याशिषा च ग्रन्थसमाप्तिं द्योतयति। महाभारतादौ वर्णितस्याप्युत्तरनलचरित्रस्य सनीरसत्वान्नायकानुदयवर्णनेन रसभङ्गसद्भावाच्च काव्यस्य च सहृदयाह्लादनफलत्वाच्चाग्रोत्तरचरित्रं श्रीहर्षेण न वर्णितमित्यादि ज्ञातव्यम्।' (२२।१४८ प्रकाशव्याख्या)

राजाकी आज्ञासे नैषधचरितकी रचना की और उनके आदेशसे ही कश्मीर जाकर इस महाकाव्यको वहाँ सरस्वती देवीके हाथमें रखकर उसके अभिनन्दन करने पर वहाँके तात्कालिक राजा माधवदेव से ग्रन्थका सरस्वत्यभिनन्दित होनेका राजमुद्राङ्कित लेख प्राप्त कर काशी लौटे और उक्त राजमुद्राङ्कित लेख राजा जयन्तचन्द्रको दिया तबसे यह महाकाव्य लोकप्रसिद्ध हुआ'। अब यहाँ पर यह सन्देह होता है कि श्रीहर्ष २२ सर्गान्त इस महाकाव्यको लिखनेके उपरांत यदि कश्मीर गये तो 'कश्मीरैर्महिते······(१६।१३०)" यह वचन मध्यमें किस प्रकार आया ? अतएव ज्ञात होता है कि कश्मीरसे ग्रन्थकी प्रामाणिकता सिद्ध होनेके उपरान्त श्रीहर्षने सर्गके अन्तमें 'श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटा······ सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥' १-१ श्लोक ग्रन्थमें जोड़ दिया है। वास्तविकता क्या है ? सम्भव है भावी इतिहासकार इसका अनुसन्धानकर जनताके समक्ष उपस्थित करेंगे।

नैषधचरितकी टीकाएं—

म० म० पं० शिवदत्तशर्मा महोदयने नैषधचरितकी प्रस्तावनामें इसके निम्नलिखित २३ टीकाकारोंके नाम लिखे हैं—१. आनन्दराजानक, २. ईशानदेव, ३. उदयनाचार्य, ४. गोपीनाथ, ५. चाण्डू पण्डित, ६. चारित्रवर्धन, ७. जिनराज, ८. नरहरि (या-नरसिंह), ९. नारायणभट्ट, १०. भगीरथ, ११. भरतमल्लिक (या-भरतसेन), १२. भवदत्त, १३. मथुरानाथ, १४. म० म० मल्लिनाथ, १५. महादेव विद्यावागीश, १६. रामचन्द्रशेष, १७. वंशीवदन शर्मा, १८. विद्याधर, १९. विद्यारण्य योगी, २० विश्वेश्वराचार्य, २१. श्रीदत्त, २२. श्रीनाथ और २३. सदानन्द। उक्त शर्माजीने इन टीकाकारोंके रचित ग्रन्थों तथा टीकाओंके नाम भी लिखे हैं, उसे जिज्ञासुओंको वहीं देखना चाहिये। उन टीकाओंमें म० म० नारायण भट्ट रचित 'नैषधप्रकाश' तथा म० म० मल्लिनाथ रचित 'जीवातु' नामकी टीकाओंको विद्वानोंने सर्वश्रेष्ठ माना है। 'नैषधप्रकाश' टीका ही 'नारायणी' नामान्तरसे भी प्रसिद्ध है। इन दो टीकाओंमें नारायणी टीका अत्यधिक विस्तृत एवं खण्डान्वय मुखसे लिखी गयी है और 'जीवातु' टीका सम्प्रति प्रचलित दण्डान्वय प्रणालीसे लिखी गयी है, इसी लिए सुरभारतीके अन्यतम सेवक एवं प्रायः सहस्र आर्ष संस्कृत ग्रन्थोंके मुद्रक तथा प्रकाशक स्वनामधन्य गोलोकवासी श्रीमान् श्रेष्ठिवर्य श्री हरिदास जी गुप्त के सुपुत्र बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त महोदयने इस नैषधचरित महाकाव्यकी 'जीवातु' टीकाको वर्तमानमें राष्ट्रभाषा हिन्दीका युग होनेसे हिन्दी अनुवादके सहित प्रकाशित करनेका निर्णय किया। किन्तु प्रयत्न करने पर भी अन्तिम सर्गकी 'जीवातु' टीका नहीं उपलब्ध हो सकी, अतएव इस २२ वें सर्गमें 'नैषध-प्रकाश' टीका ही दी गयी है।

'मणिप्रभा' हिन्दी टीका—

उक्त निर्णय करनेके अनुसार, प्रकाशक महोदयने इस महाकाव्यका हिन्दी अनुवाद करनेका भार मुझे सौंपा। कार्याधिक्य रहनेपर भी मैंने उनके सौजन्यपूर्ण व्यवहार एवं

अपने साथ निकट सम्बन्धसे विवश होकर इसे स्वीकार कर लिया। अब यह गुरुतर भार मेरे कन्धोंपर आया, तब मैंने सोचा एवं प्रकाशक महोदयके साथ विमर्श भी किया कि मूल श्लोकोंके साथ म० म० मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीका तो मुद्रित हो ही रही है, अत एव यदि 'नैषधप्रकाश' (नारायणी) टीकाका आश्रय लेकर हिन्दी अनुवाद किया जाय तो विद्वानों तथा विशेषतः नैषधपिपठिषु छात्रोंको दोनों टीकाओंमें आये हुए विषयोंका ज्ञान हो जायगा और प्रायः प्रत्येक श्लोक, पाद एवं शब्दमें नैषधमें अर्थबाहुल्य है यह भी सर्वसाधारणके समक्ष आकर ग्रन्थगौरव सुरक्षित रहेगा। इसी विचार के आधार पर मैंने 'मणिप्रभा' नामक हिन्दी टीका लिखना आरम्भ कर दिया। 'नैषधप्रकाश' तथा 'जीवातु' टीकाओंके अनुसार मूल श्लोकोंमें अनेकत्र पाठभेद हैं, अतः मैंने 'जीवातु' टीकाके अनुसार पाठ मानकर ही हिन्दी टीकामें पहले 'जीवातु' के अनुसार तथा बादमें 'नैषध-प्रकाश' के अनुसार विविधार्थोंको लिखा है। जहाँ पर पाठभेदके कारण सर्वथा अर्थभिन्नताका अवसर आया है वहाँपर 'जीवातु' के अनुसार ही पहला अर्थ लिखा गया है और पाठान्तरमें द्वितीय अर्थ। इन अनेक अर्थोंको बार-बार आद्यन्त लिखने से ग्रन्थका आकार ड्योढ़ा दूना हो जाता, अतएव पक्षान्तरीय अर्थको कोष्ठकमें लिख दिया गया है और यही कारण है कि कई स्थलोंमें हिन्दी कुछ क्लिष्ट हो गयीं है और कथाक्रमको विच्छिन्न करती-सी प्रतीत होती है। इस दोषको दूर करनेके लिए ही प्रायः सभी स्थलोंमें श्लोकोंके मूल अर्थ करनेके उपरान्त [ ] ऐसे कोष्ठकके भीतर पूरे श्लोकका विशद आशय विशुद्ध हिन्दीमें स्पष्ट कर दिया गया है और अनेक स्थलोंमें गुरुपरम्परागत अभिप्रायोंको भी लिखकर ग्रन्थकी ग्रन्थियोंको सुलझानेका यथासम्भव प्रयत्न किया गया है, क्योंकि ग्रन्थकारने कतिपय स्थलोंमें जान-बूझकर स्वयमेव ग्रन्थियोंको प्रयत्नपूर्वक रखनेको लिखकर अपनेको बुद्धिमान मानकर पढ़नेका प्रत्यन करते हुए तथा श्रद्धापूर्वक गुरुसेवासे ही उन ग्रन्थियोंको समझकर इस महाकव्यके रसका आनन्द लेनेके लिये कहा है—

'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखं व्यासज्जनं सज्जनः॥' (प्रशस्ति ३)

श्रीहर्षके पौराणिक ज्ञानके विषयमें हम पहले ही लिख चुके हैं। अनेक स्थलोंमें उन्होंने पौराणिक विषयोंका वर्णन किया है, उनकी भी तत्तत्स्थलोंमें पौराणिक कथाएँ लिख दी गयी हैं।

मल्लिनाथने बहुतसे श्लोकोंकी व्याख्या संक्षेप मानकर नहीं की है, उन श्लोकोंका भी 'नैषधप्रकाश' व्याख्याके सहित हिन्दी अनुवाद तत्तत्स्थलोंमें कोष्ठकमें लिखा गया है। प्रत्येक सर्गकी कथाका सारांश संक्षिप्त रूपसे विषयसूचीमें लिखा गया है। श्रीहर्षके बहुतसे सूक्तिपद कण्ठस्थ करने योग्य हैं, लोकोक्तियाँ भी पर्याप्त मात्रामें विद्यमान हैं। सर्वसुविधा के लिए इन्हें भी संगृहीत कर दिया गया है। मूल तथा प्रक्षिप्त श्लोकोंकी अकारादिक्रमसे

सूची भी ग्रन्थान्तमें दी गयी है। इस प्रकार इस ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर एवं सरल बनानेका यथाशक्य प्रयत्न किया गया हैं। आशा एवं पूर्ण विश्वास है कि इससे सर्वसाधारण पाठकवृन्दको अवश्य लाभ एवं सरलता होगी।

आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम भगवान् विश्वनाथ एवं अन्य गुरुवर्गोंके साथ इस ग्रन्थके हमारे अन्यतम गुरु स्व० म० श्री ६ देवीप्रसादजी शुक्ल कविचक्रवर्ती तथा स्व० म० म० श्री ६ माधव भाण्डारी महोदयके चरणकमलमें श्रद्धाञ्जलि प्रणाम करता हुआ उनका आभार मानता हूँ, जिनकी चरणानुकम्पासे मैं इस सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यकी 'मणिप्रभा' नामकी हिंदी टीका लिखनेमें समर्थ हुआ, तथा म० म० पं० शिवदत्तशर्मा, पं० बलदेवजी उपाध्याय एम० ए० और श्रेष्ठिवर्य कन्हैयालालजी पोद्दार महोदयोंका भी बहुत आभार मानता हूँ जिनके प्रस्तावना तथा इतिहास ग्रन्थोंकी सहायतासे मैंने इसकी यह भूमिका लिखी हैं।

राजकीय संस्कृत कालेज काशीके प्रधानाचार्य माननीय श्री पं० त्रिभुवनप्रसादजी उपाध्याय एम० ए० आचार्य प्राधानाध्यापक श्री बदरीनाथजी शुक्ल, एम० ए० महोदयोंका तो मैं अतिशय आभारी हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थका क्रमशः प्राक्कथन तथा सम्मति लिखनेकी कृपा की है।

अन्तमें इन इस ग्रन्थके प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज के प्रधानाध्यक्ष गोलोकवासी माननीय श्रीयुत हरिदास जी गुप्त के पुत्र बाबू जयकृष्णदासजी गुप्तको विशेष धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने आशातीत विलम्ब होने तथा ग्रन्थके आकारके अत्यधिक बढ़ जानेपर भी अपने लाभकी ओर विशेष ध्यान न देकर इस ग्रन्थको सर्वसाधारणको सुलभ मूल्यमें देनेके विचार से प्रकाशित कर संस्कृत वाङ्मयकी सेवाका महान् आदर्श उपस्थित किया है। अन्यान्य भी मेरे जिन मित्रवर्योंने मेरे बाहर रहनेसे प्रूफसंशोधनादि कार्यद्वारा इसे पूर्ण करनेमें योग दिया हैं उनको भी मैं साभार अनेकशः धन्यवाद देता हूँ।

अन्तिम निवेदन—

इस महाकाव्यके अनुवाद कार्यको गुरुत्तर भार मानते हुए सहृदय विद्वानों एवं प्रिय छात्रोंसे भी मेरा विनम्र निवेदन है कि इस ग्रन्थको भी मेरे अनूदित अमरकोष, रघुवंश महाकाव्य तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंके समान ही अपनाकर मुझे पुनः अन्य ग्रन्थोंको लिखनेके लिए उत्साहित करनेकी कृपा करें। साथ ही मानव सुलभ दोषवश यदि कहीं त्रुटि दृष्टिगोचर हो, उसे मुझे सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे आग्रिम संस्करणमें उसको दूर कर दिया जावे। इति शम्।

वाराणसी
महाशिवरात्रि सं० २०१०

विबुधविधेयः
हरगोविन्द शास्त्री

॥ रसो वै ब्रह्म ॥

नैषधमहाकाव्यम्

जीवातु-मणिप्रभा-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतम्

प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः [1]कथां तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि ।
नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलस्स राशिरासीन्महसा महोज्ज्वलः ॥ १ ॥

अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च 'काव्यालापांश्च वर्जयेदि'ति तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थविघ्नपरिसमाप्तिहेतोः आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि'त्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य इतिवृत्तरूपं मङ्गलं वस्तु निर्दिशति—निपीयेति । यस्य क्षितिरक्षिणः क्ष्मापालस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानम् । निपीय नितरामास्वाद्य पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यबादेशः न तु पिबतेः 'न ल्यपी'ति प्रतिषेधादीत्वासम्भवात् । बुधास्तज्ज्ञाः सुराश्च ज्ञातृचान्द्रसुरा बुधा' इति क्षीरस्वामी । सुधामपि तथा यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं सितातपत्रीकृतमित्यर्थः, तत् कृताविति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । कीर्तिमण्डलं येन सः । महसां तेजसां राशिः रविरिवेति भावः । महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानो नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः । 'मह- उद्धव उत्सव इत्यमरः । स नलः आसीत् । अत्र नले महसां राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः । तदुक्तं दर्पणे 'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति । "आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा । व्यतिरेक" इति मिथोऽपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते इति च । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं, 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरावि'ति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

---

[1] 'कथाः' इति पाठांतरम् ।

शिवाशिवतनूजोऽपि त्रिलोकीशिवकारकः ।
वक्रतुण्डोऽपि सुमुखो यस्तं वन्दे गणाधिपम् ॥ १ ॥
जगतां व्यवहारस्य याऽस्ति हेतुः सनातनी ।
सारदां शारदाम्भोजवक्त्रां वन्देऽस्मि शारदाम् ॥ २ ॥
हृषद्वरमयचिन्तामण्योराद्यं[1] न कामये जातु ।
याचेऽन्त्यं[2] वाक्सेवालभ्यं सज्ज्ञानदं सततम् ॥ ३ ॥
लोकनाथं पूर्णचन्द्रं [3]श्रीत्रिवेदिमहाशयौ ।
शब्दशास्त्रगुरून् वन्दे भक्तिनम्रस्तदङ्घ्रिषु ॥ ४ ॥
[4]देवीप्रसादमाधवपदपोतामाश्रयामि सदा ।
काव्यार्णवे विहर्तुमथ [5]चिन्तामणिश्च समवाप्तम् ॥ ५ ॥
'आरा'मण्डल 'केसठ'वास्तव्यो 'मूर्ति' गर्भभवः ।
'हरगोविन्दः शास्त्री' 'रामस्वार्थी' स्मजन्माहम् ॥ ६ ॥
कुर्वे 'नैषध'व्याख्यां स्वराष्ट्रभाषामयीमधुना ।
एषा मुदेऽस्तु सुधियां सान्तेवसतां सदा लोके ॥ ७ ॥

जिस पृथ्वीपालक (राजा) (नल] की कथाओंका सम्यक् प्रकारसे पानकर विद्वान् लोग [या—अमृतभोजी देवता लोग) अमृतका वैसा (नलकी कथाके समान) आदर नहीं करते हैं, (अपने) कीर्तिसमूहकी श्वेतच्छत्र बनाये हुए तथा नित्य उत्सववाले वे तेजोराशि अर्थात् महातेजस्वी नल हुए। अथवा—जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर (वृष्ट्यादिके द्वारा) पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले देव अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते······। अथवा—जिसकी कथाका······देव सुधामय अर्थात् चन्द्रमामें भी वैसा आदर नहीं करते······। अथवा······जिसकी कथाका······पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले अर्थात् राजा लोग तथा बुध अर्थात् देवलोग अमृतका भी वैसा—आदर नहीं करते। अथवा—जिसकी कथाका······(फणामण्डलपर पृथ्वीको धारण करने) पृथ्वी-रक्षक होनेसे अमृत तथा नल कथाके (एवं अमृतभोजी तारतम्यके) ज्ञाता शेष तक्षकादि नाग लोग अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते······। अथवा—क्षितिः+अक्षिणः' पदच्छेद

---

१. 'चिन्तामणि' संज्ञकप्रस्तर—नैषधीय (१४।८५) 'चिन्तामणि'मन्त्रयोः।

२. नैषध एव श्रीहर्षकविनोक्तं (१४।८५) 'चिन्तामणि' संज्ञकं मन्त्रम्।

३. श्रीपूज्यपाद पं० देवनारायणत्रिवेदि—(महाशयभीनाम्नाख्यात) श्री पं० रामयत्नशर्मपाठिनौ।

४. कविचक्रवर्तिमहामहोपाध्याय-श्री पं० देवीप्रसादशुक्लः, महामहोपाध्यायो दाक्षिणात्यो विद्वान् श्री पं० माधवशास्त्री भाण्डारी च (मत्काव्यपाठयितारौ)।

५. नैषधचरितकाव्यार्णवात्चतुर्दशसर्गीयपञ्चाशीतिकोक्तं चिन्तामणिमन्त्रम्।

करके) जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर (स्थित व्यक्ति-विशेष के) कलि (कलिजन्य-दोष) का नाश होता है तथा जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर बुध (विद्वान्, या देव) अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते......। अथवा-अक्षी अर्थात् द्यूतक्रीडारत जिस नलकी पृथ्वी (राज्य) है और जिसकी कथाका......(इससे द्यूतव्यसनी नलको राज्य होनेसे इनकी आश्चर्यजनिका अलौकिकी शक्ति व्यक्त होती है) उत्तरार्द्धका व्याख्यान्तर—अथवा—जिस नलमें अत्यधिक उज्ज्वल गुणविशिष्ट शृङ्गार रस है, अथवा—जिस (नल) में दमन्तीका उत्कृष्ट शृङ्गार रस अत्यधिक है, ऐसे तेजोराशि (अथवा—सूर्यके समान स्थित) चतुर्दिग्व्यापी कीर्तिमण्डलको श्वेतच्छत्र बनाये हुए वे नल थे [राजा नलका द्यूतव्यसनी होना आगेके कथा-भागमें यद्यपि नहीं वर्णित है, तथापि महाभारतादिमें द्यूतव्यसनके कारण ही इनके राज्यच्युत होनेका वर्णन मिलता है। नलकी कथाको अमृताधिक मधुर होनेसे तथा अधिक शृङ्गार-रसपूर्ण होनेसे इन्द्रादि देवोंको त्यागकर नलमें ही दमयन्तीका अनुराग होना उचित ही था। 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥' उक्तिके अनुसार नल-कथाकीर्तनको कलि का नाशक होना सुप्रसिद्ध है। यहाँ पर शिष्टाचारानुसार किसी विशिष्ट देवतादिका नमस्कारादि रूप मङ्गल नहीं किया गया है, किन्तु पूर्वोक्त 'कर्कोटकस्य......' तथा 'पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥' वचनों के अनुसार नल-कथाके कीर्तनको ही विशिष्ट वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलचरणरूपमें श्रीहर्षमहाकविने माना है। कुछ विद्वान् इसे अभीष्ट देव रघुनाथजीका सबीज नमस्कारात्मकरूप मङ्गल मानते हैं। इस नैषधचरित महाकाव्यमें धीरललित राजा नल नायक हैं तथा सम्भोग और विप्रलम्भरूप द्विविध शृङ्गाररस अङ्गी है और अन्य करुणादि रस उसके अङ्ग हैं] ॥ १ ॥

रसैः कथा यस्य [१]सुधावधीरिणी नलस्य भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

इममेवार्थमन्यथा आह-रसैरिति। यस्य नलस्य कथा रसैः स्वादैः, 'रसो गन्धो रसः स्वादे' इति विश्वः। सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, ताच्छील्ये णिनिः। भूर्जाया यस्य स भूपतिरित्यर्थः। 'जायाया निङ्' इति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेशः। स नलः गुणैः शौर्यदाक्षिण्यादिभिः। अद्भुतः लोकातिशयमाहात्म्येत्यर्थः अभूत्। कथम्भूतः सुवर्णदण्डम् एकं सितातपत्रञ्च ते कृते इत्यद्भुत् तत्कृतावितिं ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः। इह कीर्तेः सितातपत्रत्वरूपेण पूर्वोक्तमपि

१. 'सुधावधीर' इति पाठान्तरम्।

सुवर्णदण्डवैशिष्ट्यात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः। अत्रापि पूर्ववत् व्यतिरेकरूपकयोः समष्टिः ॥ २ ॥

जिस (नल) की कथा (शृङ्गारादि नव) रसोंसे (केवल मधुर रसवाले, या—मधुरादि छः रसोंवाले) अमृतको तिरस्कृत करनेवाली है अर्थात् अमृतसे भी श्रेष्ठ है, सुवर्णका दण्ड तथा एक श्वेतच्छत्र बने हुए हैं, जलते हुए प्रताप-समूह तथा कीर्ति-समूह जिसके ऐसे (अतएव, शौर्यादि या-सन्धि विग्रहादि छः) गुणोंसे आश्चर्यकारक वे राजा नल थे। अथवा—जिसकी कथारसोंसे (सुधाकी अवधि अमृतकी सीमा अर्थात् श्रेष्ठतम) अमृत को हीन करनेवाली थी। अथवा—जिसकी कथा रसोंसे सुधावधि अर्थात् अमृतकी सीमा थी। अथवा—जिसकी कथा रसोंसे पुण्यसञ्चारिणी बुद्धिवाली, नित्य रणतत्पर तथा भूस्वामिनी थी, (इन तीनों विशेषणोंसे कथामें मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति तथा प्रभुशक्तिका होना सूचित होता है।) अथवा—जिसकी कथा 'इ' अर्थात् काम की भूमि अर्थात् अभिलाषोत्पादिनी तथा एक श्वेतच्छत्र बने हैं—जलते हुए (तीव्रतम) अर्थात् शत्रुओंको असह्य प्रताप-समूह तथा कीर्ति-समूह जिससे (या-जिसके), ऐसे गुणाद्भुत वे (प्रसिद्धतम) राजा नल थे। [शृङ्गारादि नव रसोंवाली नल-कथा का एकमात्र मधुर रसवाली (या-मधुरादि षड्रसोंवाली) सुधाको पराजितकर तिरस्कृत करना उचित ही है। प्रतापका तप्तसुवण के समान तथा कीर्ति-समूहका श्वेत वणन होने से यहाँपर उन्हें क्रमशः सुवर्णदण्ड तथा श्वेतच्छत्र बनाया गया है। राजाका सुवर्ण दण्डयुक्त एक श्वेतच्छत्र होनेसे अन्य राजाओंका नलके लिए करदाता होना सूचित होता हैं। जलते हुए नलप्रताप-समूहका एक सुवर्णदण्ड बननेपर उस प्रतापसमूहका सङ्कुचित होना ध्वनित होता है, अत एव 'सुवर्णदण्ड' शब्दका ब्राह्मणादि वर्णोंका सुन्दर शासन अर्थ करके परिहार करना उत्तम पक्ष है] ॥ २ ॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा[1]।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥ ३ ॥

सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत्। यस्य नलस्य कथा स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः। सती जगल्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षाः 'देहधात्वम्बुपारदा' इति रसपर्याये विश्वः। पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति, सा कथा आविलां कलुषामपि सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवल स्वकीर्त्तनपरामेवेति भावः। मद्गिरं मम वाचं कथं न पवित्रयिष्यति ? अपि तु पवित्रां करिष्यत्यस्त्येवेत्यर्थः। तथा चोक्तं 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥' इति। या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा कीर्त्तनात्

१. 'यत्कथा' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।

तेति कैमुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्-'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया॥' इति॥३॥

जिस (नल) की कथा इस (कलि) युगमें संसारको पवित्र (निर्दोष) करती है, वह नलकथा मलिन भी स्वसेविनी कलुष अर्थात् दोषयुक्त मेरी वाणीको शृङ्गारादि रसोंसे धोये हुए के समान क्यों नहीं पवित्र (दोषहीन, पक्षा०—स्वच्छ) करेगी? अर्थात् अवश्य करेगी। [जिस प्रकार जलसे धोयी हुई कोई वस्तु स्वच्छ एवं निर्दोष हो जाती है, उसी प्रकार नलकथा 'कर्कोटकस्य नागस्य·······' इत्यादि वचनोंके अनुसार मलिन भी स्वसेविनी मेरी वाणीको अवश्यमेव निर्दोष करेगी, इसी कारण मैं श्रीहर्षकवि अन्य कथाओं का छोड़कर नल-कथाका ही वर्णन करता हूँ]॥३॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतस्स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्॥४॥

अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह—अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्म्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश'इत्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः। बोधः, अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानं प्रचारणम् अध्यापन शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणः आचरणविशेषैरित्यर्थः। 'उपाधिर्धर्म्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे' इति विश्वः। चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं 'स्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावो वक्तव्य, इति स्त्रियाः पुंवद्भावः। 'संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः चतुर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम्। चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च। तदुक्तम् 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति॥४॥

(द्वितीय श्लोकमें नलको 'गुणाद्भुत' कहा गया है, उसीका यहाँ प्रतिपादन करते हैं—) अध्ययन, अर्थज्ञान, तदनुसार आचरण तथा प्रचार अर्थात् ब्राह्मणोंको द्रव्यादि देकर शिष्योंको अध्यापन कराना—इन प्रकारोंसे चार दशाओंको करते हुए इस नलने स्वयं चौदह विद्याओंमें चतुर्दशत्व क्यों किया? यह मैं नहीं जानता। [जो विद्याएँ स्वयं चौदह थीं उनको चतुर्दशत्व करना पिष्टपेषणके समान निरर्थक है। अथवा चौदह विद्याओं में से प्रत्येको अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण तथा प्रचाररूप दशाओंसे (१४×४=५६) छप्पन करना चाहिए था, फिर चतुर्दशत्व अर्थात् चौदह ही क्यों किया? इस प्रकार विरोध-द्वयका परिहार 'चौदह विद्याओंको चार दशाओं (अवस्थाओं) वाली किया' अर्थ द्वारा करना चाहिए। नल चौदहों विद्याओंके अध्यक्ष, ज्ञाता, आचरणकर्ता तथा प्रचारक थे। क्षत्रियको अध्यापनका निषेध होनेसे विद्वान् ब्राह्मणको धनादि देकर शिष्याध्यापन करानेसे दोषाभाव समझना चाहिये)॥४॥

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताऽष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥ ५ ॥

अथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याः सन्तीत्याह–अमुष्येति। अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्तकी जिह्वाग्रसञ्चारिणीत्यर्थः। विद्या पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते, रसनाग्रवर्तित्वधर्मादिति भावः। त्रयीव त्रिवेदीव 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी'त्यमरः। अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः। ज्यौतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैरि'त्युक्तानां षण्णां मधुराम्ललवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्त्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीयव्युत्पत्तिविशेषेणेति यावत् विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवानां द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा। जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशतास् अगाहत अभजत। पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानाम् उपवणानुलक्षणसमतारूपत्रैविध्येन त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः। प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः। 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृता' इति। अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्याय विश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः। त्रय्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम्। उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः॥ ५ ॥

इस (नल) के जिह्वाग्रपर सदा नृत्य अर्थात् निवास करनेवाली विद्याने (व्याकरणादि छः) अङ्गोंसे गुणा करनेपर विस्तारको प्राप्त (ऋक्–यजुः सामवेदरूप) त्रयीके समान मानो अठारह द्वीपोंकी विजयलक्ष्मीको अलग-अलग जीतनेकी इच्छासे अठारह संख्यात्व को प्राप्त कर लिया है। (अथवा—इस नलके रसनाग्रपर नृत्य करनेवाली जो बुद्धि है, वह·····। अर्थात् इनकी बुद्धिने अठारह संख्यात्वको इस लिए प्राप्त किया है कि मैं अठारह द्वीपोंकी नलकृत जयश्रीको पृथक् पृथक् जीत लूँ। जिस प्रकार कोई नर्तकी शिर-हाथ आदि छः अङ्गों, ग्रीवा-बाहु आदि छः प्रत्यङ्गों तथा भ्रू-नेत्रादि छः उपाङ्गोंसे विस्तारको प्राप्तकर अष्टादश संख्यावाली हो जाती है। अथवा—नलने अठारह द्वीपोंको जीतकर अठारह जयश्रियोंको प्राप्त कर लिया है, अत एव मैं भी अठारह द्वीपों की जयश्रीको जीत लूँ, इस भावनासे इनको उक्तरूपा विद्याने भी अठारह संख्याको प्राप्त कर लिया। अथवा—नल पाकशास्त्रके महापण्डित थे, अतः इनकी पाकशास्त्र विद्याने 'मधुर–अम्ल–लवण–कटु–कषाय और तिक्त रूप छः रसोंके न्यून–अधिक और समरूप प्रकार त्रयसे (६ × ३=१८) विस्तार को प्राप्तकर अठारह संख्याको प्राप्त कर लिया है, यथा—मधुर द्रव्य में दूसरे मधुर द्रव्यको न्यूनमात्रामें तिक्त द्रव्यमें अधिक मात्रा में और अम्ल

(खट्टे) द्रव्यमें सममात्रामें प्रक्षेप करनेसे एक मधुर द्रव्यके तीन भेद होते हैं, इसी प्रकार ६ द्रव्योंमें न्यून, अधिक और सम मात्रामें द्रव्यान्तर डालनेसे १८ भेद हो जाते हैं। अथवा—टूँड़वाले जौ-गेहूँ आदि, फली (छीमी) वाले मटर आदि, कण्टकवाले चना आदि—ये तीन प्रकारके धान्य, भूचर-जलचर तथा खेचर जीवोंके त्रिविध माँस, अम्लादि पूर्वोक्त ६ रस और कन्द-मूल-फल-नाल-पत्र-पुष्परूपमें ६ प्रकारके शाक (३ + ३ + ६ + ६ = १८) इस प्रकारसे विस्तारको प्राप्तकर पाकशास्त्रके महापण्डित इस नल की रसनाग्रनर्तकी विद्याने अठारह द्वीपोंकी जयलक्ष्मी को पृथक् पृथक् जीतनेके लिए मानो अठारह संख्याको प्राप्त किया है। अथवा—दूध-दही[1] आदिके अङ्गगुणोंसे विस्तारको प्राप्त, नलकी रसनाग्र-नर्तकी पाकशास्त्रविद्याने…… । अथवा—द्यूतव्यसनी होने से बहुत बोलने वाले नलकी रसनाग्रनर्तकी द्यूतविद्या दुआ-तिया-चौका-पञ्जा तथा चार उद्गीयक (२ + ३ + ४ + ५ + ४ = १८) रूप गुणोंसे विस्तारको प्राप्त अठारह द्वीपोंकी जयश्री……… । अथवा—त्रयीका उद्धाररूप, अथर्ववेद व्याकरण आदि ६ वेदाङ्ग, गुग अर्थात् आठ अप्रधान पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्र-आयुर्वेद-गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र; तथा ऋक्-यजुः साम-वेद (१ + ६ + ८ + ३ = १८) इन अङ्गगुणोंसे विस्तारको प्राप्त इस नलकी जिह्वाग्र, नर्तकी विद्या…… । पूर्वश्लोकोक्त १४ विद्या तथा आयुर्वेद; धनुर्वेद-गान्धर्ववेद और अर्थ-शास्त्र (१४ + ४ = १८) ये अठारह विद्याएँ नलके जिह्वाग्रपर सर्वदा निवास करती थीं और उन्होंने अठारहों द्वीपोंको भी जीत लिया था, इस प्रकार नल परस्परविरोधिनी श्री और सरस्वती दोनों के आश्रय थे] ॥ ५ ॥

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम् ।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥ ६ ॥

अथास्य देवांशत्वमाह—दिगीशेति । दिशामीशा दिगीशाः दिक्पाला इन्द्रादयः तेषां वृन्दं समूहः तस्य मात्राभिः अंशैः विभूतिरुद्भवः यस्य तथाभूतः तथा च 'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः' इति । 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति च स्मृतिः। दिशाम् ईशिता ईश्वरः स नलः शास्त्राणि दिशामिति च बहुवचननिर्देशात् इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम् अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते । कामम् इच्छां मदनञ्च मदनस्य प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं

---

१. तदुक्तम्—'दुग्धं दधि नवनीतं घोलवने तक्रमस्तुयुगम् ।
मध्वाटविकद्वविध्यं विदलान्नन्चेति विज्ञेयम् ॥
कन्दो मूलं शाखा पुष्पं पत्रं फलञ्चेति ।
अष्टादशकं मांसं भक्ष्याण्युक्तानि गिरिश्रुतया ॥' इति ।

कन्दर्पदहनकारिणीञ्चेत्यर्थः । कामप्रसरावरोधिनीमिति पाठे कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धीति तथैवार्थः । निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं दिग्गीशेश्वरीशप्रभवत्वं तस्य वोधिकां ज्ञापिकाम् अत्र 'तृजकाभ्यां कर्त्तरी'ति कृद्योगसमासस्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः 'तत्प्रयोजक' इत्यादि सूत्रकारप्रयोगदर्शनादिति बोध्यम् । द्वयाधिकां तृतीयामित्यर्थः, दृशं नेत्रं बभार दध्रे । एतेन तस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वं व्यज्यते । शास्त्राणि दृशमिति उद्देश्यविधेयरूपकर्मद्वयम् । अवतरेत्यत्राप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन 'सुपसुपे'ति समासः, न तूपपदात् प्रत्ययोत्पत्तिः । अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्तरूपकम् ॥ ६ ॥

(इन्द्रादि) दिक्पाल–समूहके अंशसे विभूतिवाले तथा आठ दिशाओंके स्वामी उस नलने काम (कामदेव, पक्षा० = इच्छा) की प्रवलताको रोकनेवाले तथा अपनेको त्रिनेत्र शिवके अवतारका बोध करानेवाले दो से अधिक शास्त्ररूप तृतीय नेत्रको धारण किया । [राजा नल सम्पूर्ण दिशाओंके शासक थे और इन्द्रादि दिक्पाल १–१ दिशाके ही शासक थे, अत एव इन्द्रादिसे इस नलकी विभूति अधिक थी, अथवा–वचनके[1] अनुसार राजा नल समस्त दिक्पालोंके अंशसे ऐश्वयवान् थे, ऐसे वे शास्त्ररूप तृतीय नेत्रको ग्रहणकर इच्छाकी प्रवलता अर्थात मनको शास्त्रविरुद्ध कार्यमें प्रवृत्त होनेसे वैसे रोकते थे, जैसे त्रिनेत्र शङ्कर भगवान्ने तृतीयनेत्रसे कामदेवकी प्रबलताको रोका था । इस प्रकार नल शास्त्रज्ञान द्वारा कामप्राबल्य को रोककर अपनेको शङ्करका अवतार बतला रहे थे । नल शास्त्रज्ञ होनेसे शास्त्रविरुद्ध कार्य करनेसे अपनी इच्छाको सर्वदा रोके रहते थे] ॥ ६ ॥

पदैश्चतुर्भिस्सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ? ।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥ ७ ॥

अथास्य प्रभावं दर्शयति–पदैरिति । अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्मे वृषरूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः–'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः, स्थिरीकृते निश्चलीकृते इति यावत, के जनाः तपः चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं का कथा ज्ञानादीनमिति भावः, न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्व एव तपश्चेरुरित्यर्थः । यत् यतः अधर्मोऽपि का कथा अन्येषामित्यपिशब्दार्थः, कृशः, दुर्बलः सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थः, भुवं स्पृशन् कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादंशेनेति भावः। तपस्वितां तापसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनौ तपस्विना'विति विश्वः । दधौ धारयामास । अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत् । किमुत अन्य इति कैमुत्यन्यायादर्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

---

१. तदुक्तम्—'सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ इति (मनु० ५।९६)

इस (नल) के द्वारा सत्ययुगमें (सत्व, अचौर्य, शम, दमरूप, या–तप, दान, यज्ञ, ज्ञानरूप) चार चरणोंसे पुण्यके स्थिर किये जाने पर किसने तपश्चर्या को ग्रहण नहीं किया ? अर्थात् सभीने तपश्चर्याको ग्रहण किया । (अधिक क्या ?) एक पैर पर स्थित होकर, अथवा—एक पैरकी कनिष्ठा (सबसे छोटी) अङ्गुलिसे पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ (अतएव) दुर्बल अधर्मने भी तपस्विताको ग्रहण किया अर्थात् तपस्वी हो गया । [सत्ययुगमें उत्पन्न राजा नलने पुण्यको चारों चरणोंसे स्थिर कर दिया था, अतः उस समय सभी लोग तपश्चर्यामें संलग्न थे । यही नहीं, किन्तु धर्मविरोधी अधर्म भी एक चरणसे पृथ्वी पर वास करता हुआ अतिशय दुबल होकर तपस्वी बन गया था । यहाँ पर सत्ययुगमें धर्म की स्थिति चारों चरणोंसे रहनेपर भी अधर्मकी स्थिति एक चरणमें रहती है, और वह अधर्म अत्यन्त क्षीण रहता है । लोकमें भी कोई तपस्वी एक चरणसे, या—एक चरणकी कनिष्ठा अङ्गुलिसे पृथ्वीका स्पर्श करता हुआ तपश्चर्या करता है तो वह अत्यन्त दुर्बल हो जाता है । 'अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि । प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिराः ॥' इस वचनमें सत्ययुगादिक्रमसे नल, रामचन्द्र तथा युधिष्ठिर का वर्णन होनेसे नलकी स्थिति सत्ययुगमें ही सिद्ध होती है, तथापि कतिपय विद्वान् उनकी स्थिति त्रेतायुगमें मानते हैं, तदनुसार इस श्लोकका अर्थ ऐसा करना चाहिये—इस नल के द्वारा त्रेतायुगमें सुकृति अर्थात् धर्मके चार चरणों द्वारा स्थित किये जानेपर…… । अथवा—त्रेतायुगमें भी चार चरणोंसे स्थितकर धर्मके सत्ययुग किये जानेपर अर्थात् त्रेतायुगमें भी सत्ययुगके समान धर्मकी स्थिरता करने पर…… । प्रथम अर्थ पक्षमें 'सुकृति' शब्दके षष्ठीमें 'सुकृतेः' पाठ मानकर 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' वार्तिकसे विसर्गका पाक्षिक लोप करने पर भी उक्त अर्थकी तथा 'सुकृते, स्थिरीकृते' ऐसे सप्तम्यन्त श्लेषकी अनुपपत्ति होनेसे उक्त अर्थके लिये जो 'प्रकाश' कारने 'सुकृतेः' ऐसे सविसर्ग पाठ माना है, वह चिन्त्य है] ॥ ७ ॥

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति–यदित्यादिभिः । अस्य नलस्य यात्रासु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'सप्तम्युपमाने' त्यादिना बहुव्रीहिः । मञ्जुशब्दादिमनिच् प्रत्ययः । यत् रजः धूलिः, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भावः । सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे तद्वासिनीति भावः । अङ्कतां कलङ्कत्वं दधाति । अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः ॥८॥

इस (नल) की (दिग्विजय–सम्बन्धिनी) यात्राओंमें, दीप्यमान प्रतापाग्निके धुएं के समान सुन्दर और वहाँसे जाकर अमृत-समुद्र अर्थात् क्षीरसागरमें गिरी हुई एवं (गिरनेसे) कीचड़ होती हुई, सेनासे उड़ी हुई धूल चन्द्रमामें कलङ्क हो रही है । (अथवा—अमृतके

समुद्र चन्द्रमामें कलंक हो रही है)। [जब राजा नल दिग्विजयके लिए सेना लेकर यात्रा करते हैं, तब इनकी सेनासे जो धूल उड़ती है, वही क्षीरसमुद्रमें गिरकर-कीचड़ बन जाती है और वहाँसे उत्पन्न चंद्रमामें कीचड़ लग जानेसे वही कलंकरूपसे प्रतीत होती है। इससें राजा नलकी सेनाका अत्यधिक होना तथा समुद्रपर्यन्त विजयी होना सूचित होता है]॥८॥

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ॥ ९ ॥

स्फुरदिति। सङ्गरे युद्धे शतात् परे परश्शताः शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत्, पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः पारस्करादित्वात् सुडागमश्च। परे शत्रवः स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्निस्वनौ चापघोषौ इन्द्रचापगर्जिते—यस्य यत्र वा तथोक्तः स नल एव घनः मेघः तस्य आशुगानां शराणाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगौ वायुविशिखावि'त्यमरः। तथा व्ययितस्य निर्वापितस्य विपूर्वाद्यतेः कर्मणि क्तः। निजस्य तेजःशिखिनः प्रतापाग्नेः अङ्गारमिव अयशः अपकीर्त्तिं वितेनुः विस्तारितवन्तः। पराजिता इति भावः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः॥ ९॥

शताधिक शत्रुओंने युद्धमें प्रकाशमान धनुषके टंकारवाले (या—......टंकारको विस्तृत करनेवाले) उस नलके अत्यधिक बाणोंकी असह्य वर्षासे बुझी हुई अपने (शत्रुओंके) तेजरूप अग्निके अङ्गारके समान अयशको फैला दिया। [नल युद्धमें प्रकाशमान धनुषका टंकार करते हुए मेघके समान बाणोंको बरसाते थे, उस बाणवृष्टिसे शताधिक नलशत्रुओंकी प्रतापाग्नि बुझ गयी और उनके कृष्णवर्ण अङ्गारके समान अयश फैल गये। अत्यधिक वृष्टिसे अग्निका बुझना और सर्वत्र उसके काले-काले अङ्गारोंका फैलना उचित ही है। नलने युद्धमें शताधिक शत्रुओंको जीतकर उनकी प्रतापाग्निको बुझा दिया था]॥ ९॥

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद् भुवः।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः॥ १०॥

अनल्पेति : राज्ञः प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघः शत्रुघातीत्यर्थः 'राजघ उपसंख्यानमि'ति निपातः। नलः अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् उज्ज्वलाः तैःनिजप्रतापैः कोषदण्डसमुत्थतेजोभिः 'स प्रतापःप्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजमि'त्यमरः। ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिक्रम्य क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वादिति भावः। जयाय सृष्टया सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरितिशेषः। नीराजनया आरार्तिकया रराज शुशुभे दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः। केचित्तुनिजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया जयार्थंयेवेत्यर्थः। नीराजनया आरा-

तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज। तत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीराजनया भूदेवता नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। इति व्याचक्षते। तन्न समीचीनम्, निजप्रतापैरस्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिकरण्यासङ्गतेरिति ॥ १० ॥

(क्षुद्र प्राणियोंको नहीं, किन्तु महाप्रतापी एवं शूरवीर) राजाओंको मारनेवाले तथा बहुतसे जलाये गये शत्रुनगरोंवाली अग्निके समान उद्दीप्त अपने प्रतापोंसे प्रकाशमान भूमण्डलको प्रदक्षिणा कर स्थित ये (नल) विजयके लिये (पुरोहितोंके द्वारा) की गयी नीराजना अर्थात् आरतीसे शोभते थे [1] अथवा—उक्तरूप अपने प्रतापों से मानों विजय के लिये रचित आरती (पक्षा०—नीराजना=राजाओंका अभाव अर्थात् नाश करने) से प्रकाशमान भूमण्डलकी प्रदक्षिणा कर शोभते थे। अथवा—'प्रदक्षिणी, कृर्ता अजया, आय=प्रदक्षिणीकृत्यजयाय' ऐसा पदच्छेदकर अधिक दक्षिणाशील, अनुचरोंवाले कृतकर्मा, विपक्ष राजहन्ता वे नल लक्ष्मीके द्वारा विष्णुके लिए रचित आरतीसे शोभित होते थे। शेष अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये। इस पक्षमें नलके अनुचर प्रदक्षिण (अधिक दक्षिणा देनेवाले अर्थात् वदान्य) थे और नल उनसे युक्त होनेसे 'प्रदक्षिणी' (वदान्यतम अर्थात् अत्यधिक दानशील थे। अथवा—अधिक दक्षिणावाले ज्योतिष्टोमादि यज्ञकर्ता होनेसे नल 'प्रदक्षिणी' थे। राजाके सर्वदेवांशभूत होने के कारण विष्णुरूप भी होनेसे लक्ष्मीके द्वारा आरती करना उचित ही है]॥ १० ॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः॥ ११ ॥

निवारिता इति। तेन नलेन अखिले समग्रे महीतले न सन्ति ईतयः अतिवृष्टयादयः यत्र तत् निरीति, तस्य भावः तम् ईतिराहित्यमित्यर्थः। ईतयश्चोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः'॥ इति। गमिते प्रापिते सति निवारिताः स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः। अतिवृष्टयः नास्ति अन्यः संश्रयः आश्रयः यासां तथाभूताः सत्यः प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः तासां दृशः नयनानि न तत्यजुः। नूनं मन्ये इत्यर्थः। उत्प्रेक्षावाचकमिदं, तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश' इति। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरिति भावः॥ ११ ॥

(अतिवृष्टि आदि छः) ईतियोंसे रहित सम्पूर्ण भूतलपर उस (नल) के द्वारा रोकी

---

[1] दिग्विजय करते हुए भूमण्डलकी प्रदक्षिणा कर लौटे हुए विजयी नल पुरोहितोंके आरती करनेसे शोभित होते थे।

गयी अतिवृष्टियोंने मानो अन्यत्र आश्रय नहीं पाकर शत्रुभूत राजाओंकी मृगनयनियोंकी दृष्टियों (नेत्रों) को नहीं छोड़ा [राजा नलके राज्यमें कहीं भी अतिवृष्टि आदि ईति नहीं होती थी, अत एव पृथ्वीपर कहीं भी आश्रय नहीं मिलनेसे इन्होंने शत्रुओंकी रानियों के नेत्रका आश्रय लिया अर्थात् नलने शत्रुओंको मारा, अत एव उनकी स्त्रियाँ बहुत रोती थीं। लोकमें भी किसीके द्वारा निकाला गया कोई व्यक्ति उसके शत्रुके पास जाकर आश्रय पाता है, तथा अतिवृष्टिरूप स्त्रियोंके लिए मृगनयनियोंकी दृष्टि रूप स्त्रियोंके पास आश्रय पाना उचित ही है ॥ ११ ॥

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी ॥ १२ ॥

सितांश्विति । महान् असिरेव वेमा वायदण्डः 'पुंसि वेमा वायदण्ड' इत्यमरः । तस्य सहकृत्वरी सहकारिणी 'सहे चे'ति करोतेः क्वनिप्प्रत्ययः । 'वनो र चे'ति ङीप् रश्च । तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां यद्वा स नल एव भटः वीरः तस्य चातुरी चतुरता नैपुण्यमिति यावत् एव तुरी वयनसाधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः । 'माकु' इति प्रसिद्धा, रण एव अङ्गणं चत्वरं तस्मिन् सितांशुवर्णैः शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नलस्य गुणैः शौर्यादिभिः तन्तुभिश्च दिश एव अङ्गनाः तासाम् अङ्गाभरणम् अङ्गभूषणम् । 'अङ्गावरणमि'ति पाठे अङ्गाच्छादनं बहुं यश एव पटः वसनं तं वयति स्म ततान । साङ्गरूपकमलङ्कारः । संग्रामे तथा नैपुण्यमनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिशो यशसा प्रपूरिता इति भावः ॥ १२ ॥

उस (नल) के योद्धाओंकी (या—उस प्रसिद्ध नलके योद्धाओंकी) चतुरतारूपिणी तथा विशाल तलवाररूपिणी वेमाका साथ करनेवाली तुरी संग्रामाङ्गणमें चन्द्रवत् स्वच्छ नलके गुणों (पक्षा०—सूतों) से दिशारूपिणी स्त्रियों को ढकनेवाले यशोरूपी बड़े कपड़े को बुनती थी। [नलके योद्धाओंकी चतुरतासे संग्राममें तलवारोंके प्रहारसे शत्रु मरते थे तो नलका यश दिगन्ततक फैलता था] ॥ १२ ॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ॥ १३ ॥

प्रतीपेति । प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः विरुद्धधर्मैः असमानाधिकरणधर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भिया भयेनेव हेतुना भेत्तृता स्वाश्रयभेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः । उज्झिता त्यक्ता किम् ? यद् यस्मात् स नलः ओजसा तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रं सूर्यं जयतीति तथाभूतः । अत्र यः खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः । तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक् चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृक् । 'राजानश्चारचक्षुष' इति, 'चारैः पश्यन्ति राजान' इति च नीतिशास्त्रम् । अत्रापि यो विचारदृक् स कथं

चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। अवर्त्तत आसीत्। अपिर्विरोधे। सूर्य्यतेजसं चारदृशञ्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजापादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः। अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः॥ १३॥

विरोधी राजाओं के समान परस्पर विरोधी स्वभावोंने भी उस नलके भयसे भेदभाव को छोड़ दिया क्या! जो नल अमित्रजित (शत्रुओंको जीतनेवाले) होकर भी मित्र जित् (मित्रोंको जीतनेवाले, विरोध परिहार पक्षमें—अपने प्रतापसे सूर्यको जीतनेवाले) थे तथा चारदृक् (गुप्तचरोंके द्वारा कार्यकलापको देखनेवाले) होकर भी विचारदृक् (गुप्तचरोंके द्वारा नहीं देखनेवाले, विरोध परिहार पक्षमें—विचारसे देखनेवाले अर्थात् विचारपूर्वक कार्य करनेवाले) थे। [जो नल मित्रजित् थे, उनका अमित्रजित (मित्रजित् नहीं) होना तथा जो चारदृक् थे, उनका विचारदृक् (चारदृक् नहीं) होना अर्थ करके विरोध आता है, अतः उसका परिहार 'जो नल प्रभावसे सूर्यको जीतनेवाले थे वे शत्रुओं को भी जीतनेवाले थे और जो चारदृक् (दूतोंके द्वारा कार्योंको देखनेवाले) थे वे विचारदृक् (विचारपूर्वक कार्योंको देखनेवाले) थे, अर्थ करना चाहिये]॥ १३॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि॥१४॥

तदिति। तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः, तथा नलस्य यशः तस्य स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा कुरुते विवेचयतीत्यर्थः, विधिः तदा-तदा परिवेषः परिधिः 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एवं कैतवं छलं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलनाम् अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति अधिकाक्षरवर्जनार्थंलेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्त्तिप्रतापौ इति तात्पर्य्यम्। अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृतं प्रतिषिद्ध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति'रिति। प्राचीनास्तु परिवेषमिषेण सूर्यचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा। सा गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः॥ १४॥

'उस नलके प्रताप तथा यशके रहनेपर ये दोनों (सूर्य तथा चन्द्रमा) व्यर्थ हैं, इस प्रकार ब्रह्मा मनमें जब-जब विचारते हैं, तब-तब सूर्य तथा चन्द्रमाके परिवेष (कभी-कभी सूर्य तथा चन्द्रमामें दृष्टिगोचर होने वाला गोलाकार घेरा) के छलसे (व्यर्थतासूचक) कुण्डलना बना देते हैं। [लोकमें भी कोई व्यर्थ वस्तु लिखी जाती है तो उसको चारों ओरसे घेर देते हैं। नलके प्रताप तथा यशको सूर्य-चन्द्राधिक समझकर सृष्टिकर्ता ब्रह्माको, सूर्य चन्द्रको घेरकर व्यर्थ माननेकी उत्प्रेक्षा की गयी है॥ १४॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः॥ १५॥

अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति–अथमिति विभज्येति च। अल्पितः अल्पीकृतः निर्जित इति यावत्, दानशौण्डत्वादिति भावः, कल्पपादपः कल्पतरुः वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतः स नृपः दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्यः प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः। वयं दरिद्रः अभाववानिति यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतीं दीप्यमानामिति यावत्, वेधसः इयं वैधसीं तां लिपिं मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान्। विधातुर्लिपौ सामान्यतः दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्रः, पापदरिद्रः, ज्ञानदरिद्र इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

(अब नलकी दानवीरताका वर्णन करते हैं) 'यह दरिद्र होगा' इस प्रकार याचक लोगोंके ललाटमें लिखे गये ब्रह्माक्षरको, (याचनासे भी अधिक दान देनेके कारण) कल्प वृक्षको भी तुच्छ करनेवाले राजा नलने उन याचकोंकी दरिद्रताको दरिद्रता करके व्यर्थ नहीं किया, (अथवा—व्यर्थ नहीं किया ? अर्थात् व्यर्थ कर ही दिया)। [राजा नल याचककी अभिलाषासे भी अधिक दान देनेवाले थे, अत एव उनके राज्य में कोई भी दरिद्र नहीं था] ॥ १५ ॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराश्शिरस्स्थितम् ॥ १६ ॥

विभज्येति। मेरुः हेमाद्रिः विभज्य विभक्तीकृत्य अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः न कृतः। अर्थिने देयमिति 'देये त्रा च' इति सातिप्रत्ययः। सिन्धुः समुद्रः उत्सर्गजलानां व्ययैः दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृतः इति यत् तत् तस्मात् तेन नलेन द्विफालबद्धाः द्वयोः फालयोः शिरःपार्श्वयोः बद्धा रचिता इति यावत्, फलतेर्विशरणार्थे अप्प्रत्ययः। विलासिनां पुंसां सीमन्तितशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफालबद्धत्वमिति भावः, द्विधा विभक्ता इति यावत्। चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुह' इत्यमरः। शिरःस्थितं मस्तकघृतमिति भावः, निजं स्वीयम् अयशोयुगम् अपकीर्त्तिद्वयं पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः। अमानि केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति अमन्यत इत्यर्थः। अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णनं कविसमयसिद्धम् 'तथा च मालिन्यं व्योम्नि पापे' इत्यादि। उद्देश्यविधेयरूपं कर्मद्वयम्। केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अयशोरूपणमिति व्यस्तरूपकम् ॥ १६ ॥

प्रकारान्तरसे अधिक दानवीरताका पुनः वर्णन करते हैं—'जो मैंने सुमेरु पर्वतको विभक्तकर याचकोंके लिए नहीं दे दिया और दानके संकल्पजलसे समुद्रको मरु-

स्थल नहीं बना दिया' इस प्रकारके दोनों ओरके काकपक्ष (बँधे हुए केशकलाप) रूप मेरे दो अपयश शिरपर स्थित हैं ऐसा उस नलने माना। [अपयशका काला एवं शिर पर स्थित होना लोकप्रसिद्ध है। दो काकपक्षको उक्तरूप दो अपयश होनेकी कल्पना की गयी है॥ १६॥

अजस्रमभ्या¹समुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥ १७॥

अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—अजस्रमिति। दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः पटीयान् समर्थतरः अयं देवो राजा सूर्यश्च 'देवः सूर्ये यमे राज्ञी'ति विश्वः। अजस्रं सततम् अभ्यासं सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति निपातः। कविना काव्य शास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण न बुधेन विदुषा धर्मशास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन च समं सह मुदैव आनन्देनैव न तु दुःखेनेत्येवकारार्थः समयं नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिपादनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भावञ्च दधौ धारयामास। अत्र श्लेषालङ्कारः॥ १७॥

बुद्धिमान्, सूर्यतुल्य तेजस्वी राजा नल निरन्तर अभ्यास करनेवाले कवि तथा पंडित (काव्यरचयिता तथा व्याकरणज्ञाता) के साथ हर्षपूर्वक समयको व्यतीत करते हुए प्रतिदिन समृद्धिको उस प्रकार प्राप्त कर रहे थे, जिस प्रकार निरन्तर समीपमें स्थित शुक्र तथा बुध नामक ग्रहद्वयके साथ समयको व्यतीत करते हुए तेजस्वी सूर्य प्रतिदिन उदयको प्राप्त करते हैं। [सूर्यके समीपमें शुक्र तथा बुध ग्रहका सर्वदा रहना ज्योतिःशास्त्र में वर्णित है]॥ १७॥

अधो विधानात् कमलप्रवालयोश्शिरस्सु दानादखिलक्षमाभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥ १८॥

अध इति। कमलप्रवालयोः पद्मपल्लवयोः कर्मभूतयोः अधोविधानात् अधः करणात् न्यक्करणादिति यावत्। तथा अखिलानां सर्वेषां क्ष्माभुजां प्रतिकूलवर्तिनां राज्ञां शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् उर्ध्व-स्थितञ्च पुरा भवति भविष्यतीत्यर्थः 'यावत् पुरानिपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयो-गात् भविष्यदर्थे लट्। इति इदं मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम्? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि'ति सामुद्रिकाः। सौन्दर्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः॥१८॥

(अब सामुद्रिक लक्षणका वर्णन करते हैं—) यह (नल चरण) कमल तथा प्रवाल (मूँगा, या नवपल्लवको) को नीचा करनेसे और समस्त राजाओंके शिरपर रखे जानेसे

---

१. 'मभ्याश—' इति पाठान्तरम्।

ऊपर (उन्नत) होगा' यह विचारकर ब्रह्माने इस (नल) के चरणको (जन्मकालसे) पहले ऊर्ध्वगामिनी रेखासे चिह्नित कर दिया है क्या ? (अथवा—"' पहले ऊपर होगा' यह विचारकर"') । [नलके चरणमें सामुद्रिक लक्षणके अनुसार शुभसूचक ऊपरकी ओर जाने वाली रेखाएँ थीं] ॥ १८ ॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥१९॥

अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति-जगदित्यादिभिः । अयं नलः शैशवशेषवान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः । जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः । कोषं धनजातम् अक्षयं प्रणीतवान् कृतवान् । अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः वसन्त इत्यर्थः । वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आलिङ्गत् संश्लिष्टवत् । उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

(अब यौवनावस्थाके आरम्भ होनेका वर्णन करते हैं—) बाल्यावस्था शेष (समाप्त) है जिसकी ऐसे अर्थात् सोलह वर्षकी अवस्थावाले इस नलने संसारकी विजय तथा उससे कोष (खजाने) को अक्षय कर दिया, अनन्तर इनके शरीरको युवावस्थाने इस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार वनको कामदेवका मित्र अर्थात् वसन्त ऋतु प्राप्त करता है । (बाल्यावस्था पूरी होते-होते ही नलने संसार पर विजय प्राप्त कर राज्यको निःसपत्न बना लिया तथा उस विजयसे कोषको भी भरपूर कर लिया, वास्तविकमें जगद्विजय करना ही इनका मुख्य लक्ष्य था, कोषपूर्ति करना तो आनुषङ्गिक कार्य था, क्योंकि इनकी दानवीरता तथा कोषका भरपूर रहना पहले ही कहा जा चुका है । युवावस्थाके आरम्भ होनेसे शरीर सौन्दर्यकी वृद्धि होना सूचित होता है) ॥ १९ ॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ? ।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥ २० ॥

अधारीति । तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा 'घृणा जुगुप्सा कृपयोरिति विश्वः । अधारि धृता पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शयः पाणिः 'पञ्चशाखः शयः पाणि'रित्यमरः । तस्य छाया तच्छयच्छायं 'विभाषे'त्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम् । तस्य लवो लेशोऽपि क्व ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः । शरदि भवः शारदः शरत्कालीन इत्यर्थः सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽणप्रत्ययः । पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः । 'पार्वणे'ति पाठान्तरं कालाट्ठञ् 'नस्तद्धित' इति टिलोपः । स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः । तस्य नलस्य यद् आस्यं मुखं यस्य दासे कैङ्कर्येऽपि अधिकारितां न गतः न प्राप्तः एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्यं व्यज्यते । अत्र अङ्घ्र्यादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः अलङ्कारः ॥ २० ॥

(अब नलकी शरीरशोभाका वर्णन आरम्भ करते हैं—) उस (नल) के चरणने पद्मोंमें घृणा (या दया) की, (क्योंकि उनमें पद अर्थात् नल-चरणसे) (या—नल-चरणकी) शोभा थी या—वे पद्म नलचरणमें रेखारूपमें स्थित थे, अतः 'इन पद्मोंने मुझसे शोभा प्राप्त की है। इस कारण मदपेक्षा हीनश्री इनके साथ मुझे स्पर्द्धा करना उचित नहीं है यह समझकर नल-चरणने पद्मोंमें घृणा की, या—'ये पद्म रेखारूपमें मुझमें ही स्थित अर्थात् मेरे ही आश्रित हैं' यह समझकर नल-चरणने पद्मोंपर दया की (अपनेसे हीनके साथ घृणा करना तथा अपने आश्रितपर दया करना नल—चरणके लिए उचित ही था)। पल्लवमें उस (नल) के हाथकी कान्तिका लेश (थोड़ा-सा अंश) भी कहाँ था ? अर्थात् नहीं था, (क्योंकि वह पल्लव (नल चरणके लेश अर्थात् अल्पतमांशवाला) था, अत एव जिस पल्लवमें नल-चरणका लेश था वह भला इनके हाथकी कान्तिके लेशवाला कैसे हो सकता था ? अर्थात् हीनाङ्ग चरणका लेशवाला श्रेष्ठाङ्ग हाथकी कान्तिका लेशवाला कदापि नहीं होता)। तथा शरत्कालीन पूर्णिमाका चन्द्रमा उस (नल) के मुखके दासत्वका अधिकारी भी नहीं हुआ (भला नलके मुखकी समता कैसे करता ? क्योंकि चन्द्रमा शरत्काल एवं पूर्णिमाके योगसे रमणीय हुआ था, वह भी केवल एक दिनके लिए और वह सोलह ही कलाओंसे पूर्ण था, किन्तु नल-मुख स्वतः एवं बिना किसीके योग (सहायता) से सर्वदाके लिए रमणीय एवं चौंसठ कलाओंसे युक्त है, अतः उस हीन चन्द्रमा का श्रेष्ठतम नल मुखकी समानता करना तो असम्भव ही था, उसे नलके दासत्वके योग्य भी नहीं होना उचित ही था (क्योंकि रमणीयतम नायकके लिए रमणीय ही दासका होना उचित होता है)। [नलके चरण कमलसे, हाथ नवपल्लवसे तथा मुख शरत्कालीन पूर्णिमाके चन्द्रमासे भी अत्यधिक सुन्दर थे] ॥ २० ॥

किमस्य रोम्णां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ? ॥२१॥

किमिति। विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कपटेन व्याजेन कोटिभिः कोटिसंख्याभिः लेखाभिः न अजीगणत् न गणितवान् किम् ? अपितु गणितवाने-वेत्यर्थः तथा जगत्कृता, स्रष्ट्रा विधिनेत्यर्थः। रोम्णां कूपाः विवराणि तेषाम् ओघः समूह एव मिषं व्याजः तस्मात्। दूषणानां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता वर्त्तुलरेखाः न कृताः किम् ? अपि तु कृता एवेत्यर्थः। अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति भावः। अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपट-मिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे गुणगणनालेखात्वदूषणशून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्न-वोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

ब्रह्माने रोमोंके कपट (बहाने) से साढ़े तीन करोड़ रेखाओंसे इस (नल) के गुणों को नहीं गिना क्या ? अर्थात् अवश्य ही गिना, और जगत्स्रष्टिकर्ता ब्रह्माने साढ़े तीन करोड़ रोमकूपोंके कपटसे इस (नल) के दोषाभावके बिन्दुओंको नहीं किया क्या ? अर्थात्

अवश्य ही किया। [अत्यधिक संख्यावाली वस्तुओंको गिनते समय विस्मरण नहीं होनेके लिए रेखाओं द्वारा गिनना तथा अभावसूचक स्थानों पर गोलाकार शून्यविन्दुओंको रखना लोकव्यवहारमें भी देखा जाता है, अतएव नलके शरीरमें ये रोग नहीं हैं, किन्तु इन नलके गुण हैं तथा ये रोमकूप नहीं हैं, किन्तु दोषाभावसूचक शून्य-बिन्दु हैं। नलमें बहुसंख्यक गुण थे तथा दोष कोई भी नहीं था। 'तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे।' इस वचनके अनुसार मानव-शरीरमें साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं तथा 'रोमैकैककं कूपके पार्थिवानाम्' इस कथनके अनुसार राजाका प्रत्येक रोम एक-एक रोमकूपमें होता है] ॥ २१ ॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कवा[१]टदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

अमुष्येति। अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने शत्रुदुर्गभञ्जने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः। दीर्घञ्च पीनञ्च तयोर्भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्वमित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः। उरसः वक्षस श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या तत्र अरिदुर्गलुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमरः। स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता अपघृष्यत्वं तिर्य्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः। गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम्? ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम्। तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकः शब्दः इव शब्दोऽपि तादृशः' इति। 'दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति भावः ॥ २२ ॥

इस (नल) के बाहुद्वयने शत्रुओंके दुर्गों (किलों) को लूटनेमें मानों आगल (किवाड़की किल्ली) की विशालता तथा स्थूलताको प्राप्त कर लिया तथा वक्षःस्थलकी शोभाने मानों (शत्रुओंके) नगरद्वारपर स्फुरित होते हुए किवाड़की दुर्धर्षता एवं विशालता को प्राप्त कर लिया। [नलके बाहुद्वय आगलके समान लम्बे एवं मोटे थे तथा छाती किवाड़के समान विशाल चौड़ी एवं कठोर थी। इससे नलका आजानुबाहु एवं विशाल वक्षस्थल वाला होना सूचित होता है] ॥ २२ ॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः।
अतद्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥ २३॥

स्वकेलीति। स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत्र स्मितं मन्दहसितं तेन निर्जितः तिरस्कृतः इंदुश्चन्द्रः येन तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन निर्जितशीतांशुमयूखस्येति भावः। निजांशः स्वावयवः याहक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं

१. —कपाट—' इति पाठान्तरम्।

येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्युयी तस्य। जित्वरं जयशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचरं स्याज्जगदि'ति विश्वः। प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेषः। अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्यप्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे–'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

अपनी क्रीडाके लेशमात्र स्मितसे चन्द्रमाको निन्दित करनेवाले तथा अपने अवयवभूत नेत्रसे कमलशोभाको तिरस्कृत करनेवाले नलमुखकी उपमा उन दोनों (चन्द्रमा तथा कमल) की शोभाको जीतनेवाले दूसरे किसी वस्त्वन्तरसे शून्य संसारमें नहीं थी। [नलके मुखने अपनी क्रीड़ापूर्वक मन्द मुस्कानसे चन्द्रमाको जीत लिया तथा उस मुखके एक भाग (नेत्र) ने कमलशोभाको जीत लिया, अतएव उस नलके मुखकी उपमा संसार भरमें कोई नहीं थी, क्योंकि उस प्रकारसे नलमुखके द्वारा जगत् में सर्वसुन्दर चन्द्रमा तथा कमल पराजित हो चुके थे और दूसरी कोई सुन्दर वस्तु उन (चन्द्रमा तथा कमल) को जीतनेवाली जगत् में थी ही नहीं, जिसके साथ नल-मुखकी उपमा दी जाय। उपमेय की अपेक्षा उपमान पदार्थके श्रेष्ठ होनेपर उपमा दी जाती है, और ऐसा कोई पदार्थ था नहीं, जो नल-मुखसे अधिक सुन्दर होकर उपमान हो सके, अतएव नल-मुख अनुपम था] ॥ २२ ॥

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी[1] तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

उक्तार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह–सरोरुहमिति। तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं तर्जितं न्यक्कृतम्। स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः परम् अन्यत् आम्यामिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः। अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः अत्यन्ताभाव इत्यर्थः। सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम्। अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

(पुनः उसी बातको प्रकारान्तरसे कहते हैं—) कमलको उस (नल) के मुखने ही जीत लिया था चन्द्रमाकी शोभाओंको (नलकी मुस्कानने ही जीत लिया (अतः कमल तथा चन्द्रमासे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ कहाँसे मिले ? अर्थात् कोई पदार्थ सुन्दर नहीं है) आश्चर्य है कि उस (नल) के मुखकी उपमाकी बड़ी भारी कमी पड़ गयी ॥ २४ ॥

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैस्स्वयञ्चमर्येव तुलाभिलाषिणः।
अनागसे शंसति वालचापलं पुनःपुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

स्वबालेति। चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहैव

1. 'महीयसाद्' इति पाठान्तरम्।

तुलाभिलाषिणःसादृश्यकाङ्क्षिणः स्ववालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनायासे अनपराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः। क्वचित्तद्भावे नञ्समासो दृश्यते। पुनः पुनः पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनमेव छलं तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यम् अथ च शिशुचापल्यं शंसति कथयति बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः। '¹अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस्य बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्य-स्थापनं स्यादपह्नुतिरि'ति ॥ २५ ॥

उस (नल) के मस्तकके केशोंके साथ समताको चाहने वाले अपने बाल (केश) समूहके अपराधाभावके लिए चमरी गाय ही बार-बार पूँछ को हिलानेके कपटसे बालकी चपलता को कहती है। [चमरी गायके बाल अर्थात् केश नलके शिरके बालोंके साथ समानता चाहते थे, किन्तु तुच्छ होकर श्रेष्ठ नल-शिरःस्थ बालके साथ समता करना उनका बड़ा अपराध है, इसलिये चमरी गाय बार-बार पूँछको हिलाकर नलसे मानों यह कह रही है कि उन्होंने बाल (बच्चे) की चपलता की है, अत एव बच्चेके चपलता करने पर उसका अपराध नहीं मानना चाहिये। लोकमें भी बच्चेके अपराध करने पर उसकी माता बच्चेकी चपलता कहकर उसके अपराधको क्षमा करनेके लिए प्रार्थना करती है। नलके मस्तकके केश चमरी गायके केशसमूहसे भी सुन्दर एवं मृदु थे] ॥ २५ ॥

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥ २६ ॥

महीभृत इति। तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया च निजस्य चित्तस्य तं नलं प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत्त्रयीभुवां त्रिभुवनवर्तिनीनां नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथविभ्रमः अयं मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत्। अत्र श्लेषसङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः ॥ २६ ॥

उस राजा (नल) की कामदेव-कान्तिसे तथा उस (नल) के प्रति अभिलाष होनेसे लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंकी उस (नल) के विषयमें दो प्रकारका विभ्रम (विशिष्ट भ्रान्ति, पक्षा०—विलास) हुआ। [सुन्दरियोंको कामदेवकी शोभा होनेसे नलमें 'यह कामदेव है' ऐसा विशिष्ट भ्रम हुआ तथा उनके प्रति कामाभिलाष होनेसे कटाक्षादिरूप विलास हुआ। लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको विभ्रम होना सामान्य रूपसे कहनेके कारण पतिव्रता स्त्रियोंको नलके प्रति कामाभिलाष नहीं होने पर भी कोई दोष नहीं होता, अथवा—'लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको कामदेवकान्तिसे ही उस राजा नलमें कामदेव का विशिष्ट भ्रम

१. 'अत्र पुच्छविलोलनच्छलशब्देनापह्नुता बालबालयोरभेदाध्यवसायेन बालचापलत्वारोपादपह्नवभेदः' इति जीवातुः इति म० म० शिवदत्तशर्माणः।

हुआ तथा पतिव्रताओंके अतिरिक्त स्त्रियोंके चित्तमें नलके प्रति कामाभिलाष होनेसे विलास हुआ' ऐसा अर्थ कर उक्त दोषका निराकरण करना चाहिए। नल कामदेवके समान सुन्दर थे] ॥ २६ ॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय त यस्त्रिदशीभिरर्जितः।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥ २७ ॥

निमीलनेति। त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा निर्निमेषयेत्यर्थः। दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः। यः अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः कृतः अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिःस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते प्रकटयन्ति। तासां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २७ ॥

देवाङ्गनाओंने निमेषरहित दृष्टिसे उस (नल) को अच्छी तरह देखकर जिस अभ्यासाधिक्यको सम्यक् प्रकारसे प्राप्त किया, उस अभ्यासाधिक्यको वे (देवाङ्गनाएँ) अब भी निमेषरहित नेत्रोंसे प्रकट करती हैं [देवाङ्गनाओंके स्वतःसिद्ध निमेषाभावकी नलदर्शनके अभ्यासाधिक्यसे उत्पन्न होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है। अधिक अभ्यस्त कार्यका बहुत समय के बाद भी विस्मरण नहीं होना स्वभावसिद्ध है] ॥ २७ ॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम्।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२८॥

अद इति। चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पन्नग्य इत्यर्थः। अदः इदं नोऽस्माकं दृशोश्चक्षुषोर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः। अत एव फलाढ्यजीवितं सफलजीवितम्। न वीक्षते इत्यवीक्षि, अत्रोभयोस्ताच्छील्ये णिनिः। तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि तददर्शीत्यर्थः। अत एव अफलञ्च, इति हेतोः। तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥२८॥

'हमलोगोंके ये दोनों नेत्र उस (नलके चरित आदि) को सुनकर सफल जीवनवाले हो गये किन्तु उस (नल) को देख नहीं सके' इस प्रकार चक्षुःश्रवा (सांपों) की प्रियायें अर्थात् नागाङ्गनाएँ हृदयसे क्रमशः अपने दोनों नेत्रोंकी प्रशंसा तथा निन्दा करती हैं। (नागाङ्गनायें नेत्रोंसे ही सुननेके कारण नलचरितको सुनकर अपने नेत्रोंकी हृदयसे प्रशंसा करती हैं और स्वयं पातालमें रहनेके कारण मर्त्यलोकवासी नलको नहीं देखनेसे उन नेत्रोंकी निन्दा भी करती हैं) ॥ २८ ॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥ २९ ॥

विलोकयन्तीभिरिति। अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं

नै० ४

तत्र भावनायामिति भावः। निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभिः उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्शने निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि अन्तरायलवांऽपि न अलम्भि न प्राप्तः। 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति मुमागमः। मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्ट्वा अदृगोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ २९॥

सतत भावनावश नेत्रोंको बन्द करनेपर भी इस नलको देखती हुई मत्याङ्गनाओं (मृत्युलोकवासी सुन्दरियों) ने इस (नल) को देखनेके विषयमें निमेषकृत (पलक गिरनेसे) लेशमात्र भी विघ्नको नहीं प्राप्त किया। [मानवी स्त्रियाँ निरन्तर नलकी ही भावना करती थीं, अतएव वे पलक गिरनेसे नेत्रोंके वन्द होनेपर भी सतत भावनावश नलको देखती ही थीं, इस प्रकारसे उनकी पलक गिरनेसे भी नलको देखनेमें लेशमात्र भी विघ्न नहीं हुआ]॥ २२॥

न का निशि स्वप्नगत ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम्?।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम्?॥३०॥

नेति। का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः। का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः। का च रते सुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्ता यया तथाभूता 'धवः प्रियः पतिर्भर्ते'त्यमरः। स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः तं वा न चकार? अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ ३०॥

(अब पतिव्रताओंको छोड़कर अन्य मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा स्त्रियोंका नलसे अनुराग कहते हैं—) किस (मुग्धा) स्त्रीने स्वप्नमें प्राप्त नलको नहीं देखा? अर्थात् सबने देखा, किस (मध्या) स्त्रीने गोत्रस्खलन (पतिके नामके स्थानपर भ्रमवश पुरुषान्तरका नामोच्चारण होने) में नलके प्रति नहीं कहा अर्थात् सबने अपने पतिका नाम लेनेकी इच्छा रहते हुए भी निरन्तर नलकी भावना करते रहनेसे नलके ही नामका उच्चारण किया और नलरूपसे पतिका ध्यान करनेवाली किस (प्रगल्भा) स्त्रीने रतिकाल में अपने में कामकी उत्पत्ति (रति) नहीं की? अर्थात् सबने की॥ ३०॥

प्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः?॥ ३१॥

प्रियेति। तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा प्रिया सौन्दर्येण अहमस्य नलस्य योग्या अनुरूपा इति धियेति शेषः स्वम् आत्मानं श्लाघयन्तमित्यर्थः। ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः। गृहीतः दर्पणः भैमीं भीमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः। विहाय विनेत्यर्थः कया सुरूपया शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्या अपदर्पया दर्पशून्यया सत्या

श्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीमसः मलदूषितः 'मलीमसस्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमि'त्यमरः । न कृतः ? अपि तु सर्वथैव कृत इत्यर्थः । सौन्दर्य्यगर्विताः सर्वा एव भैमीव्यतिरिक्ताः कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कदुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः ॥ ३१ ॥

(अब अन्य स्त्रियोंको नलके अयोग्य बतलाते हुये दमयन्तीका प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं—) नलको (चित्रमें) देखकर 'शोभासे मैं इस (नल) के योग्य हूँ' (ऐसा मनमें विचारकर) अपनेको देखनेके लिये हाथमें पकड़े गये दर्पणको, दमयन्तीके अतिरिक्त सौन्दर्याभिमानरहित किस सुंदरीने श्वाससे मलिन नहीं कर दिया ? अर्थात् सभीने किया। [सुन्दरियोंने नलको चित्रमें देखकर 'उनके योग्य मैं भी सुन्दरी हूँ ! ऐसा सोचकर हाथमें दर्पण ग्रहण किया, किन्तु दर्पणोंमें अपने सौन्दर्यको नलसे तुच्छ देखकर उनका पूर्वाभिमान नष्ट हो गया तथा दमयन्तीके अतिरिक्त खेदसे श्वास लेती हुई सभी सुन्दरियोंने उस दर्पणको मैला कर दिया] ॥ ३१ ॥

यथोह्यमानः खलु [1]भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥ ३२ ॥

एवमस्यालौकिकसौन्दर्यद्योतनाय स्त्रीमात्रस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति—यथेति । मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत् भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः । उह्यमानः नीयमानः, वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम् । अनलावरुद्धम् अग्निपरिवेष्टितं विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य बाणासुरस्येत्यर्थः । पत्तनं शोणितपुरमिति यावत् । प्रसह्यसहसा तथा वेशितः खलुप्रवेशित एव, 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागतं हरिः' । उषाहरणे विष्णुपुराणात् । तथा नलावरुद्धं नलासक्तं विदर्भजायाः दमयन्त्या मनः भोगभोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः, वयसा यौवनेन उह्यमानः परैस्तर्क्यमाणः उहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक् । वेशितः प्रवेशितः । भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरि'त्यमरः । पुरा उषानाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्धं दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरीं चित्रलेखामवदत् । स च योगबलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकायां प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसा समानीय तथा समगमयत् । कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्णः प्रद्युम्नबलरामाभ्यां बहुभिर्बलैश्च गत्वा बाणनगरमरौत्सीदिति कथा अत्रानुसन्धेया[2] । अत्र यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः । तदनुप्राणिता उपमा च

---

१. 'भोगिभोजिना' इति पाठान्तरम् ।

२. अत्र म० म० शिवदत्तशर्माणः—'अत्र यथोह्यमानो मनोनल इति शब्दश्लेषः । अन्यत्रार्थश्लेषः । श्लिष्टविशेषणा चेयमुपमा । सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयो-

सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषां सङ्करः ॥ ३२ ॥

(अब नलमें दमयन्तीके मनोभिलाषका वर्णन करते हैं—) जिस प्रकार सर्पभक्षी पक्षी अर्थात् गरुड़से ढोया जाता हुआ प्रद्युम्न बलपूर्वक विरोचन-पौत्र (अर्थात् वलि-पुत्र = बाणासुर) के अग्निसे व्याप्त (शोणितपुर नामक) नगरमें प्रविष्ट हुआ था, उसी प्रकार भोग-विलासकारी यौवन अवस्थासे प्राप्त कामदेव (कथाप्रसङ्गोंमें तथा वन्दिचारणादिके मुखसे सुने गये एवं चित्रादिमें देखे गये) नलसे आक्रान्त अर्थात् आकृष्ट दमयन्तीके मनमें प्रविष्ट हुआ ॥ ३२ ॥

पौराणिक कथा—वलिपुत्र बाणासुरकी पुत्री 'उषा' ने स्वप्नमें प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको देखकर जागनेके बाद स्वप्नवृत्तान्तको 'चित्रलेखा' नामकी अपनी सखीसे कहा। योगपण्डिता चित्रलेखाने उसी रातको योगबलसे द्वारकापुरीमें जाकर सोते हुए अनिरुद्धको लाकर उसके साथ सङ्गम करा दिया। कुछ समयके बाद नारद मुनिसे बाणासुरके द्वारा अनिरुद्धके रोके जाने का समाचार पाकर अनिरुद्धको छुड़ानेके लिए बलराम तथा प्रद्युम्नके साथ श्रीकृष्ण भगवान् गरुड़पर चढ़कर शोणितपुर नामक बाणासुरकी अग्निपरिवेष्टित नगरीमें गये। यह कथा विष्णुपुराणमें है।

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते ।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना[1] मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥ ३३ ॥

इह विरहिणां चक्षुःप्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरागस्याप्युपलक्षणमतस्तत्पूर्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयामवस्थामाह—नृप इत्यादि। सा भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। निजरूपसम्पदां स्वलावण्यसम्पत्तीनामनुरूपे बहुशः 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्यामि'त्यपादानार्थे शस्प्रत्ययः। श्रुतिं श्रवणं गते एतेन श्रवणानुराग उक्तः, तस्मिन् नृपे नले मनोभवाज्ञाया एवं वशंवदम् एकस्यैव विधेये शिवभागवतवत् समासः 'प्रियंवशे वदः खच्' 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना तस्य मुम्। मनो विशिष्य दिदेश अस्येदमिति निश्चित्यातिससर्जेत्यर्थः, तद्गुणश्रवणात्तदासक्तचित्तासीदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

राजाधिराज भीमकी पुत्री (दमयन्ती) ने (चारण-बन्दी आदिके मुखसे एवं कथादि प्रसङ्गमें अनेक बार सुने गये तथा अपनी रूप-सम्पत्तिके योग्य उस राजा (नल) में मनको विशेषरूपसे कामाज्ञाका वशंवद बना दिया अर्थात् दमयन्तीका मन उक्तरूप नलमें कामके वशीभूत हो गया ॥ ३३ ॥

उपासनामेत्य पितुस्स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ॥ ३४ ॥

[illegible] इति जीवातुः, इत्याहुः।

१. '—नन्दिनी'। इति पाठान्तरम्।

अथास्याः श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति—उपासनामित्यादि। सा भैमी दिने दिने प्रतिदिनं 'नित्यवीप्सयोरि'ति वीप्सायां द्विर्भावः। वन्दिनां स्तुतिपाठकानामवसरेषु पितुरुपासनां सेवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दिषु भूपतीन् प्रति भूपतीनुद्दिश्य पठत्सु सत्स्विति शेषः। नलं शृण्वती नलं रज्यते स्म रक्ताऽभूदित्यर्थः। रञ्जेर्दैवादिकाल्लट्। अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः। जनेः कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना च्लेश्चिणादेशः। नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः॥ ३४॥

(अब चार (१।३४–३७) श्लोकोंमें दमयन्तीके नल-विषयक श्रवणानुराग नामक सात्त्विक भावका वर्णन करते हैं—) वह दमयन्ती पिताकी सेवामें उपस्थित होकर प्रतिदिन बन्दियोंके (नृपस्तुतिके) अवसरोंमें अनुरक्त होती थीं तथा उनके प्रत्येक राजाओंकी स्तुति करते रहनेपर नल (की स्तुति) को सुनती हुई (हर्षाधिक्यके कारण रोमाञ्चयुक्त हो जाती थी ॥ ३४ ॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥ ३५ ॥

कथेति। मिथोऽन्योऽन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेषु विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेषु सखीमुखान्नलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सति 'नलः पोटगले राज्ञी'ति विश्वः। अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्य्यान्तरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि। 'भुवो भावे' लङ्। अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः॥ ३५॥

आपसमें बातचीतके अवसरोंपर सखीके मुखसे तृण-(नरसल) के विषयमें भी 'नल' का नाम सुनकर कृशाङ्गी (वह दमयन्ती) तत्काल अन्य कथा (या—कार्य) छोड़कर ('यह सखी मेरे प्रियतम 'नल' की चर्चा कर रही है' ऐसा जानकर) उस कथाको सुनने में कानोंको सावधान कर लेती थी अर्थात् उस सखी-वर्णित नल-चर्चाको ही सावधान होकर सुनने लगती थी ॥ ३५ ॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥ ३६ ॥

स्मरादिति। परासोर्मृतात् अत एवानिमेषलोचनान्निश्चलाक्षाद्देवादिति च गम्यते। उभयथापि भयहेतूक्तिः। तस्माद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरेति तत्सदृशं निदर्शयेत्याह सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोगकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्'। अभ्यषेचयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः। स च

नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नल उदाहृतेऽनुतर्ष श्रृणोतीति रागातिरेकोक्तिः। 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम् ॥ २६ ॥

'मरे हुए (अत एव) निमेष-हीन नेत्रवाले कामदेव से मैं डरती हूँ, इस कारण दूसरा उदाहरण दो' ऐसा कहकर उस दमयन्ती ने तरुणकी प्रशंसा करते हुए (सखी, या-वंदी) लोगों के द्वारा कामदेवके स्थानपर नलको अभिषिक्त कराया। [कामदेव देवता होनेसे निमेषहीन हैं, उसे यहाँ मरा हुआ कहकर निमेष-हीन होने तथा उससे डरनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है. क्योंकि मरें हुए व्यक्तिका नेत्र भी निमेष-हीन हो जाता है तथा उससे लोग डरते भी हैं। अथ च—जब कोई राजा आदि विशिष्ट व्यक्ति मर जाता है, तब उसके स्थानपर नये विशिष्ट व्यक्तिका अभिषेक कर स्थापित किया जाता है, यहाँ मृत कामदेवके स्थानपर नलको अभिषिक्त कर स्थापित किया गया है। किसी तरुणकी प्रशंसा करते हुए लोग जब सुंदरतामें उसके साथ कामदेवकी उपमा देते थे, तब वह दमयन्ती उक्त प्रकारसे डरनेकी बात कहती थी और वे लोग कामदेवके समान दूसरे किसीके नहीं होनेसे उस युवकके साथ नलकी उपमा देते थे] ॥ २६ ॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथा[1]मथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥३७॥

नलस्येति। निषधेभ्य आगता दूताः सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, बन्दिनः स्तावकाः चारणा देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य गुणान् पृष्टाः पृच्छतेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः। अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्ति-कथां नलस्य यशःकथामृतं निपीय नितरां श्रुत्वेत्यर्थः। चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या भृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ततो लटः शानजादेशः। तदा तस्थे स्थितं तिष्ठतेर्भावे लिट्। अयञ्च दूतादिष्वप्रधानेन गुणकी-र्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभावः ॥ ३७ ॥

निषध देशसे आये हुए दूतों, ब्राह्मणों, वंदियों तथा चारणोंसे वह दमयन्ती (उस देशका राजा कौन है ? प्रजापालन कैसा करता है ? उसमें कौन-कौन गुण हैं ? इत्यादि) बहानेसे नलके गुणोंको पूछती थी (इसके बाद उनसे वर्णित) नलकी कीर्ति-कथा (पाठा० कीर्ति-अमृत) को अच्छी तरह पानकर अर्थात् सुनकर (ऐसे अत्यधिक सद्गुणोंसे युक्त राजा नलको मैं किस प्रकार प्राप्तकर सकूँगी ? इस भावनासे) चिरकालतक उदासीन रहती थी [अथवा—(ऐसे अत्यधिक सद्गुणसम्पन्न राजा नलके प्रति मेरा अनुराग हुआ है, अत एव उन्हें पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगी, इस भावनासे] चिरकालतक आनन्दित होती थी। इस अर्थमें 'तस्थे+अविमनायमानया, पदच्छेद करना चाहिये] ॥ ३७ ॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि।

---

१. '—सुधा—' इति पाठान्तरम्।

इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः, अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागश्चास्या दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह—प्रियमिति। सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत्। समाहारो द्विगुरेकवचनम्। तस्य जयिनी लोकत्रयजित्वरी श्रीः शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रियं प्रियाञ्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। लिखेत्युक्तौ कारुतरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं रूपसाम्यापादनम् ईक्षते स्म ॥ ३८ ॥

(अब दर्शनानुरागके वर्णन प्रसङ्गमें प्रतिकृति—दर्शनका वर्णन करते हैं—) वह दमयन्ती, 'लोकत्रय विजयिनी सुन्दरतावाले किसी प्रिय तथा प्रिया अर्थात् स्त्री पुरुषको विलासगृहकी दिवालपर लिखो' ऐसा कहनेपर चित्रकारसे लिखे गये अपने तथा नलके रूप साम्यको देखती थी। [उक्त कथनसे पुरुषोंमें नलकी तथा स्त्रियोंमें दमयन्तीकी सुन्दरताका तीनों लोकोंमें सर्वाधिक श्रेष्ठ होना सूचित होता है] ॥ ३८॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥ ३९ ॥

मनोरथेनेति। मनोरथेन संकल्पेन स्वपतीकृतं स्वभर्तृकृतं नलम् अभूततद्भावे च्वौ दीर्घः। स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती। तथा हि सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भावः। अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३९ ॥

सोती हुई वह दमयन्ती अभिलाषके द्वारा अपने पति बनाये गये नलको किस रातमें नहीं देखती थी? अर्थात् प्रत्येक रातमें वह नलको स्वप्नमें देखती थी, क्योंकि स्वप्न पहले नहीं देखे गये पदार्थको भी पूर्वजन्मकी भावनासे मनुष्यको दिखला देता है। [यद्यपि दमयन्तीने नलको पूर्व श्लोक (१।३८) के अनुसार चित्रादिमें देखा था तथापि प्रत्यक्षमें नहीं देखने के कारण इस श्लोकके उत्तरार्द्धके साथ कोई विरोध नहीं होता] ॥ ३९ ॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपतिः ॥ ४० ॥

निमीलितादिति। निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान्मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौनेन व्यापारराहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टब्धात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः। हृदो हृदयादपि सङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छती'त्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम्। अदर्शनं चात्र मनसे बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्य

ज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव। तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह कदाप्यवीक्षित इति। अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः, महद्रहस्यमतिगोप्यं वस्तु स महीपतिर्नलः। अस्यां भैम्या अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। तथा काचिच्चेटी कस्यैचित्कामिन्यै कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः॥ ४०॥

निद्राने बन्द हुए नेत्रद्वयसे तथा बाह्येन्द्रिय (नेत्रद्वय, या—अन्यान्य नेत्र–कर्णादि इन्द्रियों) के अपने विषयको ग्रहण करने (देखने या—देखने, सुनने आदि) के मौन होनेसे बन्द अर्थात् अपने विषयोंको सोनेके कारण ग्रहण नहीं करते हुए हृदयसे भी छिपाकर, कभी नहीं देखे गये अतिशय रहस्यरूप प्रसिद्धतम राजा नलको इस दमयन्तीके लिए दिखला दिया। [जिस प्रकार किसी अदृष्टचर अद्भुत रहस्यको कोई आप्त व्यक्ति दूसरोंसे छिपाकर किसी एक आप्ततम व्यक्तिके लिए दिखला देता हैं, या—कोई सुचतुरा दूती किसी प्रियतम नायकको दूसरोंसे छिपाकर नायिकाके लिए दिखला देती है, उसी प्रकार निद्राने भी कभी नहीं देखे गए एवं अतिशय रहस्यभूत उस प्रसिद्धतम राजा नल को उक्तरूप नेत्रद्वय तथा हृदयसे भी छिपाकर दिखला दिया अर्थात् दमयन्ती ने नलको स्वप्नमें देखा, किन्तु उसके नेत्रद्वयको तथा बाह्येन्द्रिय क्रियाशून्य हृदयको भी पता नहीं लगा] (सुषुप्ति अवस्थामें मनके व्यापारशून्य होनेसे दमयन्तीको किस प्रकार ज्ञान हुआ ? इसका उत्तर यह है कि—स्वप्नके पदार्थ बाह्येन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं हैं, अतएव वे बाह्य भी नहीं है, तथा सुखादिके अन्तर्गत नहीं होनेसे आभ्यंतरिक भी नहीं है। कारण अदृष्टसहकृत केवल अविद्यावृत्तिरूप सुषुप्तिके विषय हैं अतएव उस सुषुप्ति अवस्थामें आत्मा का ही दर्शन होता है, क्योंकि आत्मरूपसे सर्वदा स्फुरण होनेमें कोई बाधा नहीं है। अथवा नलमें भी दमयन्तीका अनुराग होनेसे उनकी प्राप्ति के बिना विषयमात्रसे वैराग्य होनेके कारण सुखकी सम्भावना नहीं होती, और सोकर जगनेके बाद मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी मालूम नहीं पड़ा' ऐसे अनुभवके होनेसे नलके दर्शनके बिना दमयन्तीको वैसा अनुभव नहीं हो सकता था अतएव सुषुप्तिके बाद दमयन्तीने 'मेरे मनमें निरतिशयानन्दरूपसे वे नल ही स्फुरित हुए' ऐसा जाना।) [अब इस श्लोकका दूसरा अर्थ करते हैं—निद्राजन्य अज्ञानसे परस्तुतिमें मौन हृदयहीन अर्थात् मूर्खसे और कलियुगके बहिर्भूत, अत्यन्त गोप्य लक्ष्मीवाले तथा मानके योग्य हे नल ! विष्णु–भक्तोंके सहवासवाले, दुःख देनेवाले (दुष्टों) से नहीं देखे गये अर्थात् दुर्जन-संसर्गसे वर्जित (अतएव) नित्य उत्सववाले तुम मेरे पति होवो। पूर्व जन्ममें नल ही दमयन्तीके पति थे, इंद्रादि पति नहीं थे, अतएव इंद्रादिका त्यागकर दमयंतीको नलसे ही उक्तरूप प्रार्थना करना उचित था]॥४०॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे॥ ४१॥

अथास्याश्चिन्ताजागरावाह—अहो इति। हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दितां तां दमयन्तीं प्रति अहोभिर्दिवसैः अतिमहिमा अतिवृद्धिः प्रपेदे तथा तपर्त्तुपूर्त्तावपि-ग्रीष्मान्तेऽपि विभावरीभिर्निशाभिः मेदसां भरा मांसराशयोऽतिवृद्धिरिति यावत्। विभराम्बभूविरे बभ्रिरे, भृञः कर्मणि लिट् आम् प्रत्ययः। अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः। विरहिणां तथा प्रतीयत इत्यविरोधः, एतेनास्या निरन्तरचिन्ता जागरश्च गम्यते। अदोशब्दस्य 'ओदि'ति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः॥

कामपीड़ित उस दमयन्तीके लिए हेमन्त ऋतुमें भी दिन बड़े होने लगे तथा ग्रीष्म ऋतुकी पूर्णता होने पर भी रात्रियाँ बड़ी हो गयीं, यह आश्चर्य है। (हेमन्त ऋतुमें दिन तथा ग्रीष्म ऋतुमें रात्रि यद्यपि छोटी होती थी, तथापि कामपीडित उस दमयन्तीके लिए ये बड़ी प्रतीत होती थीं)॥ ४१॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम्॥४२॥

स्वेत्यादि। अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्येण याः कीर्त्तयः तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्या अन्तः अभ्यन्तरे घटनागुणश्रियं गुम्फनसूत्रधर्मों श्रयन्तं भजन्तं युवधैर्यलोपिनं तरुणचित्तस्थैर्य्यपरिहारिणम् अस्या दमयन्त्या गुणोत्करं सौन्दर्यसन्दोहं लोकादागन्तुकजनात् अशृणोत्। अत्र कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः॥ ४२॥

(अब दमयन्ती विषयक नलानुरागका वर्णन करते हैं—) अपने अर्थात् दमयन्तीके (या—नलके) सौन्दर्य-विषयक कीर्ति-समूहरूप मोतियोंकी मालाके बीचमें (या—नल के मनमें) गुँथनेवाले धागेकी शोभाको प्राप्त करते हुए तथा युवकोंके धैर्यको नष्ट करनेवाले इस दमयन्तीके गुण-समूहको किसी समय नलने भी लोगोंसे सुना। [सौन्दर्यकीर्तिके शुभ्र होनेसे उसमें मोतीकी कल्पना की गयी है। मुक्तामालाको गूँथनेके लिए बीचके धागेके समान जो दमयन्तीके गुण-समूह थे, वे नलके चित्तमें मालाके समान गुम्फित हो गये। नलने दमयन्तीके गुण-समूहको लोगोंसे सुना]॥ ४२॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरश्शरीरशोभाजयजातमत्सरः।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम्॥ ४३॥

अथास्य तस्यां रागोदयं वर्णयति–तमेवेति। ततो गुणश्रवणानन्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्य्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवावसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्त्तया मूर्तिमत्या निजया अमोघशक्त्यैव अकुण्ठितसामर्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा। तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रान्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः। तेन रागोदय उक्तः॥ ४३॥

तदनन्तर (नलको शरीर-शोभाद्वारा अपनी) शरीर-शोभाके जीते जानेसे मात्सर्य-

युक्त कामदेवने उसी अवसरको पाकर शरीरिणी अपनी अमोघ शक्तिके समान उस (दमयन्ती) से नलको जीतना चाहा। [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी प्रबल व्यक्तिसे पराजित होकर उसके साथ द्वेष करता हुआ अवसर पाकर अपनी अमोघ शक्तिसे उसे पराजित करनेकी इच्छा करता है] ॥ ४३ ॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्ष्माभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥ ४४ ॥

अकारीति। तेन क्ष्माभुजा नलेन भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रितः गुणः तदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः श्रुतः इत्यर्थः। करोतेः कर्मणि लुङ्। तस्य नलस्य उच्चधैर्य्यव्ययाय उच्चधैर्य्यनाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि आकर्णं कृष्ट इत्यर्थः। दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः। अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

उस राजा (नल) नें भीमनंदिनी (दमयन्ती) के आश्रित गुणोंको कान तक पहुँचाया अर्थात् दमयन्तीके गुणोंको सुना तथा उस (नल) के अत्यधिक धैर्यको नष्ट करनेके लिए बाण चढ़ाये हुए कामदेवने प्रत्यञ्चाको अपने कानतक खींचा। [दमयन्तीके गुणोंको सुनकर ही कामपीडित नलका धैर्य नष्ट हो गया] ॥ ४४ ॥

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैस्सनाथयन्।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि[1] ॥ ३४ ॥

अमुष्येति। स स्मरः साहसी साहसकरः 'न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यती'ति न्यायादविलम्बो सन्नित्यर्थः अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलस्य जयाय शरासनज्यां निजधनुर्मौर्वीं विशिखैः शरैः सनाथयन् सनाथं कुर्वन् संयोजयन्नित्यर्थः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समासः, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यत' इति स्त्रीलिङ्गत्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप्। तस्य विजयेनार्जितानि सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्यर्थः। अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

उस समय धीर इस (नल) को जीतनेके लिए प्रत्यञ्चाको बाणोंसे युक्त करता हुआ अर्थात् प्रत्यञ्चापर बाणोंको रखता हुआ साहसी (अपनी शक्तिको-वास्तविक बलको बिना जाने महान् धीर नलको जीतनेके लिए उद्यत होनेसे विवेकहीन) कामदेवने तीनों लोकोंको जीतनेसे प्राप्त हुए अपने समस्त यशको सन्देहमें डाल दिया। (कामदेवने तीनों लोकोंको जीतकर जो यशः-समूह पाया है, वह नलको नहीं जीतने पर नष्ट होने

१. '—विजयोर्जितानि' इति पाठः साधीयान्, इति 'प्रकाश'कारः।

जाता, अतएव ऐसे बड़े कामको करनेके लिए उद्यत कामदेवको साहसी कहा गया है, तथा महान् धीर नलको एक बाणसे जीतना सर्वथा असम्भव होनेसे प्रत्यञ्चापर अनेक बाणोंका चढ़ाना कहा गया है) ॥ ४५ ॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्या विधेरबन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकारः फलित इत्याह-अनेनेति । नलेन सह भैमीं घटयिष्यतः योजयिष्यतो विधेर्विधातुरबन्ध्येच्छतया अमोघसंकल्पत्वेन तत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण योऽग्रे वक्ष्यत इति भावः । व्यलासि विलसितं लसतेर्भावे लुङ् । यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य न तु देहवतः मार्गणैर्धैर्यमेव कञ्चुकमस्य नलस्य अभेदि भिन्नं, कर्मणि लुङ् । दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरवन्ध्येच्छात्वं विज्ञायत इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भावः । तत्रानङ्गपौष्पयोः कञ्चुकं भिन्नमिति विरोधः, तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरोधाभासः, स च धैर्यकञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ४६ ॥

जिस कारण वैसा सुप्रसिद्ध एवं दुर्भेद्य इस नलका धैर्यरूपी कवच अनङ्ग (कामदेव, पक्षा०—शरीरशून्य प्रतिभट) के पुष्पमय अर्थात् अतिकोमल बाणोंसे विदीर्ण (नष्ट) हो गया, उस कारण इस (नल) के साथ उस प्रकार (इन्द्रादि दिक्पालोंका त्याग कर) दमयन्तीका सङ्गम करानेवाले भाग्यके सफल मनोरथका ही वह विलास था, ऐसा जान पड़ता है । (अन्यथा महान् शूरवीर नलका धैर्य शरीरहीन प्रतिभट कामदेवके पुष्पमय कोमलतम बाणोंसे कदापि नहीं नष्ट होता अर्थात् दमयन्तीके प्रति अनुरक्त होनेसे कामपीड़ित नलका धैर्य कदापि भग्न नहीं होता, इससे पता चलता है कि भाग्यकी इच्छाको कोई भी नहीं टाल सकता । नल दमयन्तीके गुणोंको सुनकर कामपीड़ित होनेसे अधीर हो गये) ॥ ४१ ॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मना शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥४७॥

अथ विधिमपि जितवतः किं विध्यपेक्षयेत्याशयेनाह—किमिति । किमन्यत् अन्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति भावः । सर्वनीतेरपचारश्च गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम् । पितामहतापिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोः छायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छायतया तनोश्छायाऽनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते 'छाया त्वनातपे कान्ताविति' वैजयन्ती । लङ्घितुं न शशाक इत्यहं शंके, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः । अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्थापत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः । 'एकस्य

वस्तुनो भावाद्यत्र वरत्वन्यथा भवेत् । कैमुत्यन्यायतःसा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' ॥ इति लक्षणात् तनोश्छायेवच्छायेत्युपमा छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः । एतस्मिन्नतयोपजीवनेनालङ्घ्यत्वे तत्तुच्छायतायां हेतुत्वोत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा, सा च शङ्क इति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ॥ ४७ ॥

और क्या ? जिस (कामदेव) के अस्त्रोंसे संतप्त पितामह (ब्रह्मा, पक्षा०—अतिशय वृद्ध, या—पिताके भी पिता) आज भी (शीतल होनेसे) कमलका आश्रय करते हैं, वे नल अपने शरीरकी छाया (शोभा) वाले (या—अपनेसे कम शोभावाले) उस कामदेवको लाँघनेके लिए नहीं समर्थ हो सके, ऐसा मैं मानता हूँ । [जिस कामदेवने अतिशय बूढ़े या अपने पिताके पिताको भी ऐसा संतप्त कर दिया कि बहुत समयके व्यतीत होनेपर भी वे आज भी संतापनिवारक शीतल कमलपर निवास करते हैं, 'वह काम अपने प्रतिद्वन्द्वी नलको नहीं संतप्त करेगा, यह कैसे सम्भव है ? तथा—नलका शरीर अत्यधिक सुन्दर है, और कामदेव नलके शरीरकी परछाईं है, अतएव नल अपने शरीरकी परछाईं रूप कामदेवको नहीं लाँघ सके, अर्थात् नहीं जीत सके, यह उचित ही है, क्योंकि लोकमें भी प्रबलतम भी व्यक्ति अपने शरीरकी परछाईंको कदापि नहीं लाँघ सकता-स्वशरीरच्छाया सबके लिए अनुलङ्घ्य ही रहती है । अथवा—नल अपनेसे कम कांतिवाले कामदेवको नहीं लाँघ (जीत) सके ? अर्थात् जीत ही लिया] ॥ ४७ ॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥ ४८ ॥

उरोभुवेति । सा तन्वी भैमी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रतीर्य्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, वयस्कृतेन नवोपहारेण नूतननिर्म्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुगेन कुचयुगाख्येनेति भावः इत्यतिशयोक्तिः । 'न लोके'त्यादिना कृधो पष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव उपसंख्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम् । जृम्भितं जृम्भणं किमुत्प्रेक्षा सा चोक्तातिशयोक्तिमूलेति संकरः । दमयन्तीकुचकुम्भविभ्रमश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचित्तोऽभूत्यर्थः, तेन मनःसङ्ग उक्तः । ४८ ॥

कृशाङ्गी वह दमयन्ती (अपनी) लज्जारूपिणी नदीके उच्चनम प्रकारको पार कर जो नलके हृदयमें प्रविष्ट हो गयी, वह युवावस्थासे किये गये समीपमें नये मुक्ताहारसे युक्त (या—नवीन उपहार से युक्त) वक्ष स्थलपर उत्पन्न (स्तनरूप) दो कलशोंका प्रभाव था क्या ? (जिस प्रकार कोई दुर्बल व्यक्ति छातीपर दो कलशोंको रखकर उनकी सहायतासे नदीको पार कर अभीष्ट स्थानको पहुँच जाता है, उसी प्रकार मानों कृशाङ्गी दमयन्ती भी युवावस्थासे सम्पादित नये उपहाररूप (या—नवीन मोतियोंकी मालावाले) कलशाकार विशाल स्तनद्वयकी सहायतासे अपनी (या नलकी) लज्जारूपिणी

नदीके उच्चतम प्राकारको (या—लज्जारूपिणी नदीरूप दुर्गको) पारकर नलके हृदयमें प्रविष्ट हो गयी] ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥४९॥

अथास्य जागरावस्थामाह—अपह्नुवानस्येति । निजामधीरतां चपलत्वं जनायापह्नुवानस्यापलपतः 'श्लाघह्नुङ्स्थे'त्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । अस्य नलस्य मनोभुवा कायेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतन्तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि'ति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप् । शशांकेन कोमला रम्या निशा चाबोधि । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि च्लेश्चिणादेशः । तथा शशांकवत्कोमला मृदुल शय्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भावः ॥ ४९ ॥

कामदेवने अन्य लोगोंसे अपनी अधीरताको छिपाते हुए इस नलका जो कुछ किया, उस नलके जागनेको प्रत्यक्ष देखनेवाली रात्रि तथा चन्द्रके समान कोमल शय्या जानती थी ; (अथवा चन्द्रसे मनोहर रात्रि एवं चन्द्रवत् शुभ्र होनेसे कोमल शय्या जानती थी) । [नलकी दमयंती–विरहजन्या अधीरताको दूसरे किसीने तो नहीं पहचाना । वे रातभर जागते हुए शय्यापर लोटते रहते थे] ॥ ४९ ॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥५०॥

ननु किमनेन निबन्धनेन, वाच्यताम्भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह—स्मरेत्यादि भृशं गाढं स्मरोपतप्तः कामसन्तप्तोऽपि प्रभुः समर्थः स नलः विदर्भराजं भीमनृपतिं तनयां दमयन्तीं न अयाचत याचितवान् 'दुहियाची'त्यादिना याचेर्द्विकर्मकता । तथाहि—मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति एतत्त्यागोऽपि वरं मनाक् वरमिति मनागुत्कर्ष इति महोपाध्यायवर्द्धमानः । किन्तु, एकमद्वितीयमयाचितव्रतम् अयाच्ञानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुःसहं याच्ञाया दुःखमित्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥५०॥

उस राजा नलने कामदेवसे अतिशय पीड़ित होकर भी विदर्भनरेश (भीम) से दमयन्तीको नहीं माँगा, क्योंकि मानी लोग प्राणत्याग भले ही कर देते हैं, किन्तु एकमात्र अयाचनाके नियमका त्याग नहीं करते । [अथवा—……मानी लोग सुख तथा प्राणोंका त्याग भले ही कर देते हैं,……। अथवा—मानी लोग प्राणोंका त्याग सुखपूर्वक कर देते हैं, किन्तु अयाचनाके श्रेष्ठ नियमका त्याग नहीं करते] ॥ ५० ॥

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वाससततिं वियोगजाम् ।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥ ५१ ॥

मृषेति। अयं नलो वियोगजां दमयन्तीवियोगजन्यां निःश्वासततिं निःश्वासपरम्परां क्वचित् कुत्रचिद्वस्त्वन्तरे विषये मृषाविषादस्य मिथ्यादुःखस्याभिनयात् छलेन जुगोप संववार। तथा पाण्डुतां विशदतां शरीरपाण्डिमानं च विलेपनस्य चन्दनादधिकः चन्द्रभागः कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका' इत्यमरः। तस्य भावस्तत्ता तस्या विभावनात् कर्पूरभागाधिकतोत्प्रेक्षणादपललाप निह्नुते स्म। [1]अत्राङ्गताभ्यां मृषाविषादचन्द्रभागपाण्डिमभ्यां तद्विरहश्वासपाण्डिम्नोर्निगूहनान्मीलनालंकारः। 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्।' इति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

वे (नल) किसी वस्तुके विषयमें निरर्थक (झूठे ही) विषादके प्रदर्शित करनेसे दमयन्ती-विरहजन्य निःश्वास-समूहको छिपाते थे, तथा चन्दनमें अधिक कर्पूर छोड़नेका बहानाकर अपनी पाण्डुताको छिपाते थे। (अथवा—वे व्यर्थ ही 'शिव' के अभिनयसे दमयन्ती-विरहजन्य......, अर्थात् वास्तविकमें तो दमयन्तीके विरहसे उन्हें अधिक श्वास आते थे, किन्तु श्वास आनेपर 'शिव-शिव' कहकर लोगोंको यह प्रदर्शित करते थे कि 'मैं व्यर्थ ही किसी वस्तुके विषयमें शोक कर रहा हूँ, जो बीत गया, वह पुनः आनेवाला नहीं है'......) ॥ ५१ ॥

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलोकवीक्षिताम्।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पंचममूर्च्छनासु च ॥ ५२ ॥

शशाकेति। अयन्नलोऽलीकवीक्षितां मिथ्यादृष्टां प्रियां दमयन्तीं समाजे सभायामेव यत् बभाषे बभाण, वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः वीणावादैः 'शिल्पमि'ति ठञ्। आलपितासु सुस्वरितासु व्यक्तिं गतास्वित्यर्थः। 'रागव्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात्। पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहादवरोहणम्। मूर्च्छनेत्युच्यते' इति लक्षणात्। पञ्चमग्रहणन्तस्य कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम्। मुमूर्च्छेत्यपि यत्तदुभयम् अनेन प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक। 'अये' इति पाठे विषादे इत्यर्थः। 'अये क्रोधे विषादे चे'ति विश्वः। एतेन ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छावस्थाः सूचिताः ॥ ५२ ॥

इस नलने (भावनावश) मिथ्यादृष्ट प्रिया (दमयन्ती) से जो कहा तथा वीणा बजानेवालोंके पञ्चम स्वरकी मूर्च्छनाओंके अवसरपर समाज (जन-सभा) में ही जो मूर्च्छित हुए, उसे भाग्य ही छिपा सका अर्थात् नलके उक्त भाषण तथा मूर्च्छाको संयोगवश लोग नहीं देख सके। (अथवा—मिथ्यादृष्ट प्रियासे जो नलने 'अये' कहा, उसे वे नहीं छिपा सके ? अर्थात् छिपा ही लिया तथा वीणावादकोंके पञ्चम स्वरकी मूर्च्छनाके

१. अयमंशः म० म० पं०, शिवदत्तशर्मटिप्पण्याधारेण वर्द्धितः।

-समय जो नल दमयंतीके उद्देश्यसे मूर्च्छित हुए, उसे लोगोंने समझा कि वे वीणाके मूर्च्छनानंदजन्य आनंदातिशयसे नेत्रनिमीलनादि कर रहे हैं, अतः उसे भी कोई पहचान नहीं सका। अथवा—उक्त मूर्च्छनाके समयमें समाज ही मूर्च्छित (आनंदातिशयसे तन्मय) हो गया, अतएव अलीकदृष्ट दमयंतीके प्रति किया गया नलोक्त भाषण कोई नहीं सुन सका। [अथवा⋯⋯उक्त मूर्च्छनाकालमें समाज मूर्च्छित हो गया, अतएव वह अलीकदृष्ट-दमयंतीके प्रति किये गये भाषणों को नहीं सुन सका, किंतु उसे वे नल कामदेवसे नहीं छिपा सके अर्थात् कामदेवने तो उनके उक्त भाषणको समझ ही लिया]॥ ५२॥

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥ ५३ ॥

अवापेति। जितेन्द्रियाणां धुर्यग्रे कीर्त्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स भूपतिः नलः तत्र समाजे असंवरे संवरितुमशक्ये संवरणं संवरः शमश्चेत्यपि, न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्रपतां सलज्जताम् अवाप। धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः॥ ५३॥

जितेन्द्रियोंके अग्रणी वे राजा नल उस समाज (जन-समूह) में अगोपनीय काम पराक्रम (कामजन्य पाण्डुतादि विकार) के क्रमशः स्पष्ट हो जाने पर लज्जित हो गये। [लोगोंने धीरे-धीरे नलके कामजन्य विकार को जान लिया]॥ ५३॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः॥ ५४॥

ननु विवेकिनः कुत इदं चापल्यम्? इत्यत आह—अलमिति। युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादयः नलमिदं लीलाभरूपं चापलं निरोद्धुम् 'दुहियाची'त्यादिना रुन्धेर्द्विकर्मकत्वम्। अलं समर्था नाभवन् किल खलु। तथाहि स्मरः कामः। जनमिति शेषः। जनं रत्यां रागे अनिरुद्धं सृजति अनीश्वरमवशं करोति रत्यां रतिदेव्यामनिरुद्धाख्यं कुमारं सृजतीति ध्वनिः। इति यत् अयं सर्गनिसर्गः सृष्टिस्वभाव ईदृशः। 'रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च'। 'अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः। अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सर्वसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ५४॥

ये प्रसिद्ध विवेक आदि गुण नलकी चपलताको नहीं रोक सके, क्योंकि कामदेव रति (अनुराग होनेपर चपलताकी ही सृष्टि करता है, यही सृष्टिका नियम है। अथवा कामदेव रतिकालमें चपलताकी ही सृष्टि करता है अर्थात् रतिकालमें सभी चञ्चल हो जाते हैं, अथवा—कामदेव 'रति' नामकी अपनी प्रियामें 'अनिरुद्ध' नामक पुत्रको ही उत्पन्न करता है, यही सृष्टिका नियम है)। [विवेकादिगुणयुक्त भी नल दमयन्ती विरहजन्य कामपीडासे अतिशय चञ्चल हो गये]॥ ५४॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।
क्षण तदारामविहारकैतवान्निषेवितु देशमियेव निर्जनम् ॥ ५५ ॥

अथास्य मनोरथसिद्धयौपयिकदिव्यहंससंवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति—अनङ्गेति । स नैषधो नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्च्छाप्रलापादिस्मरविकारं विना संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक, तदा आरामविहारकैतवादुपवनविहरणव्याजान्निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः । एतेन चापलाख्ये सञ्चारिणि भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः ॥ ५५ ॥

(अब नलके उपवनगमनका प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं—) जब प्रयत्न करने पर भी वे नल समाज (जन-समूह) में दमयन्ती-विरहजन्य (पाण्डुता, कृशता, निःश्वास आदि) कामचिह्नोंके बिना नहीं रह सके अर्थात् उक्त कामचिह्नोंको लोगोंसे नहीं छिपा सके तब वे उद्यानमें विहार करनेके बहानेसे कुछ समय तक निर्जन देशमें रहनेकी इच्छा किये ॥५५॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवन[१] किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥ ५६ ॥

अथेति । अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सितमत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्मरः स नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वयसा तुल्या वयस्याः स्निग्धाः 'स्निग्धो वयस्यः सवया' इत्यमरः । तैः सह समं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपाराममीक्षिता द्रष्टा तृजन्तमेवैतत् अतएव 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । किलेत्यलीके । निदेशकारिण आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपे त्यादिना चतुर्थी । दिदेश आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

इस (उद्यान–विहारार्थ इच्छा करने) के बाद (कामपीडित होनेपर भी) शरीर-शोभासे कामदेवको भर्त्सित करनेवाले, अपने अर्थात् नलके रहस्य (ये वस्तुतः विहारार्थ उद्यानको नहीं जा रहे हैं, किन्तु कामचिह्नगोपनार्थ जा रहे हैं ऐसे गुप्त विषय को) जाननेवाले मित्रोंके साथ नगरके समीपवर्ती उद्यानके दर्शनेच्छुक उन नलने सवारी (घोड़ा) लानेके लिये भृत्योंको आदेश दिया ॥ ५६ ॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलं खुराञ्चलैः [२]क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥ ५७ ॥

अमी इति । तत आज्ञापनानन्तरं अमी निदेशकारिणः तस्य विभूषितमलङ्कृतं जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणात् चाधिकं 'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः । 'पुरुषहस्तिभ्यामण् चे' त्यणंप्रत्ययः । अजस्रचञ्चलैश्चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैः शफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णीकृतां-

१. 'पुरोपकण्ठं स वनम्' इति पाठान्तरम् । २. 'शोभित—' इति पाठान्तरम्

अश्वशालाभ्यन्तरं 'वाजिशाला तु मन्दुरे'त्यमरः। एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सितं श्वेतमश्वमुपाहरन्नानिन्युरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

तदनन्तर वे नौकर अलङ्कारोंसे विभूषित, श्वेतवर्ण, वेग तथा ऊँचाईमें भी पुरुषसे अधिक और निरन्तर चञ्चल खुराग्रभागोंसे अश्वशाला (घुड़सार) के मध्यभागको चूर्णित करनेवाले घोड़ेको उस नलके लिए लाये ॥ ५७ ॥

अथान्तरेणावटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः।
निगालगाद् देयमणेरिवात्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

अथ सप्तभिः कुलकमाह—अथेत्यादि। अथानयनानन्तरं स नलो हयमारुरोहेत्युत्तरेणान्वयः। कथंभूतमन्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकाख्यमस्तकपृष्ठभाजा 'अवटुर्घाटा कृकाटिके'त्यमरः, अध्वना मार्गेण निगालगाद्गलोद्देशात् 'निगालस्तु गलोद्देश' इत्यमरः देवमणिः आवर्त्तविशेषः, 'निगालजो देवमणिरि'ति लक्षणात्। दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा। निशीथिनीनाथमहःसहोदरैश्चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा। केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं तैर्विराजितम् ॥ ५८ ॥

(अब सात श्लोकों (१।५८-६४) से उक्त घोड़ेका वर्णन करते हैं—) इसके बाद गलप्रदेशस्थ देवमणि (दक्षिणावर्त घूमी हुई बालोंकी भौंरीरूप 'देवमणि' नामक शुभलक्षणसूचक चिह्न विशेष) से कण्ठके बीचमें स्थित गर्दनके ऊपरी प्रदेशकी ओर जाते हुए मार्गसे निकले हुए तथा चन्द्रमाकी किरणोंके समान (उज्ज्वल वर्णवाले) केसर (अयालके) बालोंकी किरणोंसे शोभित (या—पक्षिराज गरुणके समान आचरण करनेवाले) 'घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा आगामी (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिए। [देवमणि कौस्तुभमणि तथा चन्द्रको भी कहते हैं, वे दोनों ही समुद्रसे उत्पन्न हैं, अतएव देवमणिसे उत्पन्न केशरके बालोंका चंद्रसहोदर होना उचित ही है] ॥ ५८ ॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनाद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥ ५९ ॥

अजस्रेति। अजस्रेण भूमीतटकुट्टनेन उद्गतैरुत्थितैः रेणुभिः रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्याध्ययनार्थमभ्यासायागतैरणिमाङ्कितैरणुत्वपरिमाणविशिष्टैर्जनस्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा। चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम्। 'अणुपरिमाणं मन' इति तार्किकाः ॥ ५९ ॥

तीव्र वेगको पढ़नेके लिए आये हुए अणुपरिमाणवाले, लोगोंके मनोंके समान निरन्तर भूतलको चूर्णित करनेसे उत्पन्न हुई धूलियोंके द्वारा चरणोंमें सेवित—(घोड़ेपर वे नल सवार हुए ऐसा अग्रिम (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये)। [उस घोड़ेका वेग मनुष्योंके मनसे भी तीव्र था, अतः वे (लोगोंके मन) उस घोड़ेके पास तीव्र वेगको सीखनेके लिए आकर शिष्यके समान उसके चरणोंकी सेवा करते हैं, ऐसा प्रतीत होता

था, क्योंकि लोगोंके मनका परिमाण भी अणुपरिमित है, वे निरन्तर भूमिपर पैर पटकनेसे सूक्ष्मतम धूलिरूपमें उपस्थित थे। विद्याध्ययनार्थं शिष्यका गुरुके समीप जाकर उसके चरणोंकी सेवा करना उचित ही है। नलके घोड़ेका वेग मनुष्योंके मनके वेगसे भी अधिक तीव्र था]॥ ५९ ॥

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

चलाचलेति । पुनः चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाणघोणतया, 'चरिचलिपदीमामुपसंख्याना'च्चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियामि'त्यमरः । महीभृते नलाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुकमुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते–अलमिति । गिरा उक्त्या अलं, कुतः, अयं नलः स्वयं हयस्याश्वस्य आशयमभिप्रायं वेद वेत्ति किल । 'विदो लटो वे'ति णलादेशः । इति हेतोरिवेत्यनुषङ्गः मौनं तूष्णीम्भावञ्चास्थितं प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धिः ॥ ६० ॥

ओष्ठाग्रकी अत्यन्त चञ्चलतासे अपने वेगके दर्पोंको मानो राजा नलसे कहनेके लिए उत्कण्ठित, किंतु मत कहो, ये नल स्वयं ही घोड़ेके अभिप्रायको जानते हैं' इस कारणसे मानो मौन धारण किये हुए घोड़ेपर वे नल सवार हुए 'ऐसा अग्रिम' (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये ॥ ६० ॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशस्सितम् ।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥ ६१ ॥

महारथस्येति । महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य । 'आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युध्येत यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः॥ इत्युक्तलक्षणस्य रथिकविशेषस्येत्यर्थः अन्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्त्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य, 'हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः । सागरः कार्त्तवीर्य्यश्च षडेते चक्रवर्त्तिनः ॥' इत्यागमात् अन्यत्र चक्रेणैकेव वर्त्तनशीलस्येत्यर्थः । अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षं पचाद्यच्, परेषामनपेक्षं तस्मादुद्वहनादसहायोद्वहनाद्धेतोर्यशःसितं कीर्त्तिविशदम् अत एवानीदृशामीदृशयशोरहितानाम् । 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमि'ति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः । रवेरर्वतामश्वानामन्तर्बलमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवःतेषां मिषाद्धसन्तं हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः । अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात्सापह्नवोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात् । 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः ॥ ६१ ॥

महारथ (दश सहस्र प्रतिभट योद्धाओंके साथ अपने सारथि, अश्व, रथ तथा अपनी रक्षा करते हुए युद्ध करनेवाले) तथा चक्रवर्ती नलके मार्गमें दूसरेकी अपेक्षाके बिना रथको ले जानेसे उत्पन्न यशसे श्वेत वर्ण, (अत एव) दाँतोंकी श्वेत किरणोंके बहाने (कपट) से

विशाल रथवाले तथा एक पहियेवाले सूर्यके 'मार्ग' अर्थात् 'आकाशमें अतद्रूप अर्थात् दूसरे की अपेक्षासे रथको ले जानेवाले हरे रंगवाले उनके घोड़ोंको मुखके भीतरमें हँसते हुए ('घोड़ेपर नल सवार हुए' ऐसा सम्बंध अग्रिम (१।६४) श्लोकसे करना चाहिये)। [बड़े रथवाले तथा एक चक्र (पहिये) वाले सूर्यके मार्गमें उनके घोड़े दूसरोंकी सहायता से रथको ढोते थे, अतएव वे यशःहीन होनेसे हरे रंगके थे, किन्तु महारथ एकचक्रवर्ती (सार्वभौम) नलके मार्गमें यह घोड़ा बिना किसीकी सहायताके रथको ढोता था, अतएव इससे उत्पन्न यशसे मानों यह नलका घोड़ा श्वेतवर्ण था, इसी कारण यह सूर्यके अतद्रूप इन घोड़ोंको दाँतोंकी शुभ्र किरणोंके बहानेसे मानों हँसी उड़ा रहा था] ॥ ६१ ॥

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषी मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।
स्फुटाञ्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥६२॥

सितेति । पुनः कथम्भूतम् ? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चलतामुपेयुषा चञ्चलस्येत्यर्थः पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थबालस्य च मिषेण छलेन चलतश्चामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिह्नुवानं प्रकाशयन्तमिव । अस्वामिनः कथञ्चामरयुग्ममिति भावः । पूर्ववदलङ्कारः ॥

श्वेत कान्तिवाले तथा चञ्चल पूँछ तथा गर्दनके अयालों (बालों) के कपटसे डुलते हुए दो चामरों के चिह्नोंके द्वारा अपने अश्वराजत्वको प्रकट करते हुए—('घोड़ेपर वे नल सवार हुए; ऐसा संबंध अग्रिम (१।६४) श्लोकके साथ करना चाहिए)। [राजाके उभय पार्श्वमें डुलाये जाते हुए श्वेतवर्ण दो चामरोंके समान पूँछ तथा गर्दनके श्वेतवर्ण हिलते हुए घोड़ेके बाल चँवर बन गये थे, जिससे वह अपने को घोड़ोंका राजा अर्थात् श्रेष्ठतम घोड़ा होना प्रगट करता था] ॥ ६२ ॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥ ६३ ॥

अपीति । पुनः कथम्भूतं स्थितम् ? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव निर्जितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गु रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया तन्मिषेणेत्यर्थः । द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्विताभुपेयिवांसं प्राप्तम् । तथा च गम्योत्प्रेक्षेयम् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः ॥ ६३ ॥

वेगके अभियानमें बलात्कारसे जीते गये गरुड़के सर्पभक्षणरूप पुरुषार्थमें भी मुखमें पड़ी हुई लगाम (श्वेतवर्णसर्पाकार) रस्सीसे प्रतिमल्लभावको प्राप्त—('घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा सम्बंध अग्रिम (१।६४) श्लोकसे करना चाहिए)। [इस घोड़ेने तीव्र वेगमें पहले ही गरुड़को बलात्कारपूर्वक पराजित कर दिया था, किंतु गरुड़की 'दूसरी शक्ति सर्पोंको भक्षण करनेमें भी था, उस शक्तिको भी यह घोड़ा मुखमें पड़ी हुई लगामको

सर्पाकार एवं श्वेतवर्ण रस्सीसे मानो गरुड़का प्रतिद्वन्द्वी होकर उन्हें जीत रहा था। घोड़ेके मुखमें पड़ी हुई लगामकी रस्सी दो सर्पोंके समान प्रतीत हो रही थी] ॥ ६३ ॥

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं हरन्तमुच्चैः श्रवसः श्रियं हयम्।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥६४॥

स इति। जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन सः अनल्पलोचनो विशालाक्षः अन्यत्र बहुनेत्रः सहस्राक्ष इति यावत्। क्षितिपाकशासनः क्षितीन्द्रो नलः देवेन्द्रश्च सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवञ्च समुद्रोद्भवञ्च 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः। शीतमहःसहोदरं चन्द्रसवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेकयोनित्वादिति भावः। उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रियं हरन्तं तत्स्वरूपमित्यर्थः, तं हयमारुरोह। अत्रोच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तमिवेत्युपमा। सा च श्लिष्टविशेषणात् सङ्कीर्णेयं क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

सिन्धु देश (पक्षा०—समुद्र) में उत्पन्न (अत एव) चंद्रमा के सहोदर (समान) तथा उच्चैःश्रवाकी शोभाको हरण करते हुए उस (नौकरों द्वारा लाये गये) घोड़ेपर समस्त राजाओंके विजेता तथा विशालनेत्र (या—ज्ञान) वाले (पक्षा०—पर्वतोंके विजेता तथा बहुत अर्थात् सहस्र नेत्रोंवालेसे) पृथ्वीके इन्द्र (पृथ्वीपति) राजा नल सवार हुए। [समुद्रोत्पन्न चंद्रमाके सहोदर उच्चैःश्रवापर सर्वपर्वतविजेता सहस्रनेत्र इन्द्रके समान सिन्धुदेशोत्पन्न, चंद्रमाके समान श्वेतवर्ण उच्चैःश्रवाकी शोभावाले उस घोड़ेपर सर्वनृपतिविजेता विशालनयन भूपति नल सवार हुए] ॥ ६४ ॥

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥६५॥

निजा इति। निजा आत्मीयाः प्रकाशरूपा उज्ज्वलाकारा भास्वररूपाश्च अश्वान्वारयन्तीत्यश्ववाराः अश्वारोहाः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं पद्मरेखाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्तं जवनो जवशीलः 'जुचङ्क्रम्' इत्यादिना युच्। तेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्यातीति तथोक्तं मनुजा मनोर्जाता मनुजा नरास्तेषामीशं राजानञ्च तं नलं तिग्मदीधितिं सूर्यं मयूखा इव अन्वयुः अन्वगच्छन्। यातेर्लिट् झेर्जुसादेशः ॥६५॥

विकसित कमलसे चिह्नित करकमलवाले तथा तीव्र (उच्चैःश्रवानामक) घोड़ेसे चलनेवाले सूर्यके पीछे जिस प्रकार प्रकाशरूप अपने किरण चलते हैं, उसी प्रकार (रेखारूप) विकसित कमलसे चिह्नित कर कमलवाले तथा तीव्र घोड़ेसे चलनेवाले उस मनुजेश्वर (नल) के पीछे अपने घुड़सवार चलने लगे ॥ ६५ ॥

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥६६॥

चलन्निति। वाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितनेपथ्यचारुः 'चारौ दक्षे च

'पेशल' इत्यमरः। स नलो महारथमतिजवं हयमलङ्कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषान्तैरनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः। नगरालयैर्नगरनिवासिभिरित्यर्थः। लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ६६ ॥

तीव्र वेगवाले घोड़ेको (अपनेसे) अलंकृत कर चलते हुए तथा अपने वाहन घोड़ेके योग्य वेषसे सुन्दर उस नलको अतिशय हर्षके कारण निमेषहीन नेत्रके पलकोंवाले अर्थात् हर्षातिशयसे निमेष-हीन होकर नगरवासियोंने देखा ॥ ६६ ॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत पुरुहूतपौरुषः ॥ ६७ ॥

क्षणादिति। अथानन्तरं क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूतपौरुषः इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नलः। प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः शिक्षणीयः जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणादिति क्षणात्ताभिः पूर्वोक्ताभिः जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः सह जनैर्दृश्यमान एवेत्यर्थः। बहिः पुरः पुराद्बहिः स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी। पूर्वं पुरे दृष्टः क्षणादेव पुराद्बहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः ॥

(आह्लादक होनेसे) चन्द्रमाके समान कांतिवाले तथा इन्द्रके समान सामर्थ्यवाले वे नल वायु द्वारा भी अध्ययन किये जाने योग्य वेगवाले अर्थात् अतिशय तीव्रगामी घोड़ेसे नागरिकोंकी दृष्टि-वृष्टिके साथ ही क्षणमात्रमें नगरसे बाहर हो गये ॥ ६७ ॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे।
मृषा मृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥ ६८ ॥

तत इति। ततः पुराद्बहिर्गमनानन्तरं प्रतीच्छ गृहाण प्रहर जहीति भाषिणी भाषमाणे इत्यर्थः। परस्परमन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते 'शल्यं तोमरमि'त्यमरः। नलस्य नासीरगते सेनाप्रवर्त्तिनी 'सेनामुखन्तु नासीरमि'त्यमरः। सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृधं मिथ्यायुद्धं 'युद्धनाटकमित्यर्थः। वितेनतुश्चक्रतुः 'मृधमायोधनं संख्यमि'त्यमरः ॥ ६८ ॥

इस (नलके नगरसे बाहर निकलने) के बाद 'सम्हालो; मारो' ऐसा कहते हुए परस्पर तोमरादि अस्त्रोंको उठाये हुए, नलके सेनामुखमें स्थित घुड़सवारोंके दो दल कौतूहलवश झूठे युद्धका प्रदर्शन करने लगे ॥ ६८ ॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥ ६९ ॥

प्रयातुमिति। इयं धरा भूः समुद्रान्तिकेति भावः। अस्माकं प्रयातुं प्रस्थातुं कियत् पदं गन्तव्यं स्थानं किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः। तस्मादम्भोधिरपि स्थलायतां स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः। 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चेति क्यङ्प्रत्ययः। इती-

वेति । इतीव इति मत्वेत्यर्थः । इतिनैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, अन्यथा पौनरुक्त्यात् । क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा । निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिरोधक्षमं समुद्रच्छादनपर्याप्तं रज उत्थितमुत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः ॥६९॥

'हमलोगोंके चलनेके लिए यह पृथ्वी कितने पैर (कितने कदम) होगी ? अर्थात् अत्यन्त थोड़ी होगी, इससे यह समुद्र भी स्थल बन जाय,' मानो ऐसा विचारकर अपने वेगके अभिमानी घोड़ोंने समुद्रको पूरा करने (सुखाने) में समर्थ धूलिको उड़ाया ॥ ६९ ॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि यस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥७०॥

हरेरिति । यत् खमाकाशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकरात् कन्प्रत्ययः । पदा पादेन 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि'त्यमरः । 'पद्दन्नि'त्यादिना पदादेशः । अक्रामि अलङ्घि, तस्य खस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेषः । हरीणां वाजिनां विष्णूनां चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्व'त्यमरः । उभयत्रापि नोऽस्माकं त्रपेति चेत्यर्थः । गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोगः । अत एव गम्योत्प्रेक्षा । नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तैः हरिभिः अर्द्धे नभसि कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिर्न्यवर्ति निवर्तितम्, भावे लङ् । यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः । एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलङ्घनस्य सम्भवादिति भावः ॥ ७० ॥

हरि (एक विष्णु, पक्षा०—एक घोड़े) के एक पैरने जिस आकाशका आक्रमण किया, उस आकाशको अनेक हरियों (घोड़ों, पक्षा०—अनेक विष्णुओं) के चार पैरोंसे आक्रमण करनेमें लज्जाकी बात है, मानो ऐसा विचारकर आधे-आधे आकाशमें पैरोंको उठाये हुए अधोमुख वे घोड़े (आकाशके आक्रमण करनेसे) निवृत्त हो गये । [लोकमें भी एक व्यक्तिके द्वारा किये गए कामको अनेक व्यक्तियोंके द्वारा करनेपर उन्हें लज्जा होती है और वे इसी कारण अधोमुख होकर उस कार्यको करनेका विचार छोड़ देते हैं] ॥ ७० ॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु [1]श्राद्धतयेव सैन्धवाः ।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ॥७१॥

चमूचरा इति । तस्य नृपस्य चमूचराः सेनाचराः चरेष्टच् सिन्धुदेशभवाः सैन्धवाः अश्वाः, 'हयसैन्धवसप्तय' इत्यमरः । तत्र भव' इत्यण् प्रत्ययः, सत्सम्बंधिनोऽपि सैन्धवा 'तस्येदमि'त्यण् । ते सादिनः अश्वसादिन इत्यर्थः, जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव जैनदर्शनश्रद्धालुतयेवेत्युत्प्रेक्षा 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणि'ति मत्वर्थीयोऽण् प्रत्ययः, तं विहारदेशं सञ्चारभूमिं सुगतालयञ्च 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालय' इति विश्वः । अवाप्य

1. 'श्राद्धतयेव' इति पाठान्तरम् ।

तुरङ्गमान् भूरि बहुलं मण्डलीमपि मण्डलाकारं च अकारयत् अपिशब्दोऽवाप्तिसमुच्चयार्थः। अन्यत्रमण्डलीं मण्डलासनमित्यर्थः। 'बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः ॥ ७१ ॥

उस राजा नलके सेनामें रहनेवाले तथा सिन्धुदेशज घोड़ोंवाले घुड़सवारोंने उस बाहरी क्रीडास्थलको प्राप्तकर बहुत से घोड़ोंको भी (अर्थात् घोड़ोंके साथ स्वयं भी) उस प्रकार मण्डलाकार गति विशेषसे घुमाया अर्थात् गोलाकार मैदानमें घोड़ोको चक्कर कराया, जिस प्रकार 'जिन'के कथनमें श्रद्धाभावसे ही सिन्धुदेशोत्पन्न जिनभक्त विहारस्थान (देव-मंदिर) को प्राप्तकर मण्डली करते हैं अर्थात् मण्डलाकारसे स्थित होते हैं। [जिन भक्त विहार (अपने देवमंदिर) में जाकर मण्डलाकार बैठते हैं या सप्तधान्यमयी मण्डली को कराते हैं, ऐसा उनका सम्प्रदाय है। नलके सैनिक सिंधुदेशज घोड़ोंवाले घुड़सवारों ने घुड़दौड़के मैदानमें जाकर घोड़ोंको (घोड़ोंपर चढ़े रहनेके कारण स्वयं भी) चक्कर, कटवाया अर्थात् गोल मैदानमें घुमाया ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम् ।
इतीव धारामवधीर्य्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥७२॥

द्विषद्भिरिति। अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव पलायमानैरिति भावः। दिशो विलङ्घिताः। अस्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं गोष्पदमकारिगोष्पदमात्रः कृतः, 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणार्थे, इति सुडागमषत्वयोर्निपातः। इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्यसाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः। तुरङ्गमैर्धाराङ्गति जातावेकवचनं पञ्चपि धारा इत्यर्थः। 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्चधारा' इत्यमरः। अवधीर्य्य अनादृत्य मण्डलीक्रियाश्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या मण्डलगत्यैवेत्यर्थः। स्थली अकृत्रिमा भूः 'जानपदे'त्यादिना अकृत्रमार्थे ङीप्, अमण्डि अभूषि। मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्वान्नुमागमः॥

इस (नल) के शत्रु ही (प्राणरक्षार्थं युद्धभूमिसे भागकर) दिशाओंको लाँघ गये हैं तथा यशों (इस नलकी कीर्तियों) ने ही समुद्रको गोष्पद (गौके पैरके गढ्ढे समान अतिशय छोटा) बना दिया है, मानो ऐसा विचारकर घोड़ोंने 'धारा' (आस्कन्दित = सरपट दौड़ना आदि ५ गतिविशेषों) को छोड़कर मण्डली करने (चक्कर काटने) की शोभासे ही पृथ्वीको सुशोभित किया। [इस श्लोकसे नलके शत्रुओंका इनके भयसे भागकर दिशाओंके अन्ततक पहुँचना तथा यशःसमूहका समुद्रके पारतक जाना सूचित होता है। घोड़ोंकी गतियोंके विषयमें विशेष जिज्ञासुओंको अमरकोषकी मत्कृत 'मणिप्रभा' नामक हिन्दी अनुवाद (२।८।४८–४९) में देखना चाहिए] ॥ ७२ ॥

अचीकरच्चारु हयेन का भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः ।

मरुत् किमद्यापि न तासु[1] शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचंक्रमान्॥७३॥

अचीकरदिति। नलश्चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजातपत्रस्य तलस्थले अधःप्रदेशे 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्यमरः। या भ्रमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेर्णौ चङ्। तासु भ्रमीषु विषये मरुत् अद्यापि वातानां समूहो वात्या, 'वातादिभ्यो यः'। अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचंक्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य्य न शिक्षते किमभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा। शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थः वायोरप्यसम्भविता गतीरचीकरदिति भावः॥

नलने अपने छत्रके नीचे घोड़ेसे जिन सुन्दर मण्डलियोंको कराया, वायु आज भी वायु–समूहरूप गोलाकार भ्रमणोंको विस्तृतकर उन मण्डलियोंके विषयमें नहीं सीखता है क्या? अर्थात् बहुत दिन बीत जानेपर आज भी वायु अश्वकृत उन मण्डलियोंको सीखनेका अभ्यास कर ही रहा है, तथापि यथार्थतः उन्हें नहीं सीख सका है। [ग्रीष्म ऋतुमें गोलाकार उड़ते हुए वायु समूह (बवंडर) को यहाँ घोड़ेके मण्डलाकार चक्करके सीखनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है]॥ ५३॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम्॥७९॥

विवेशेति। ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रवालाः पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लव' इत्यमरः। तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रूषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्ति 'छाया स्वनातपे कान्तावि'ति विश्वः। विलासकाननं क्रीडावनम् अन्यत्रबवयोरभेदात् बिलासकानां बिलेशयानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुषुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसान्निधिमब्धिमिव विवेश॥ ७४॥

तदनन्तर राजा नल नवपल्लवोंकी लालिमासे युक्त तथा सघन छायावाले क्रीडोपवनको जाकर शीघ्र धैर्यकी इच्छासे (उस विलासवनमें मुझे धैर्य प्राप्त होगा, इस अभिलाषासे) उस प्रकार प्रविष्ट हुए, जिस प्रकार विष्णु भगवान् विद्रुमकी लालिमासे मिश्रित तथा स्वयं मेघके समान शोभावाले, क्षीरसमुद्रको प्राप्तकर शीघ्र सोनेकी इच्छासे प्रवेश करते हैं; (अथवा—जिस प्रकार सिंह पल्लवोंकी लालिमासे युक्त सघन छायावाले वनको प्राप्तकर शीघ्र सोनेकी इच्छासे प्रवेश करता है)॥ ७४॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे।
न्यवर्त्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः॥ ७५॥

वनान्तेति। अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः। अत एवोपमालङ्कारः। पुरौकसां दृष्टिप्रकरैर्दृष्टिसमूहैः कर्तृभिर्वनान्तपर्यन्तं कानमो-

1. 'ताः सुशिक्षते' इति पाठान्तरम्।

प्रान्तसीमाम् उदकप्रान्तपर्यन्तञ्चेति गम्यते, 'वने सलिलकानने' इत्यमरः। सस्पृहं साभिलाषं यथा उपेत्य गत्वा अथ अनन्तरं क्रमेण तस्मिन् नलं अवतीर्णदृक्पथे अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्तं, भावे लुङ्। यथा बन्धुभिः, 'उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि'त्यागमात्प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्यते तद्वदित्यर्थः॥ ७४॥

(किसी जाते हुए इष्ट बांधवके) पीछे जाते हुए बंधुसमूहके समान नगरवासियोंके नेत्र-समूह (नलको देखनेके लिए) वनतक जाकर क्रमशः उस नलके दृष्टिसे ओझल हो जानेपर लौट आये। [जिस प्रकार कोई इष्ट-बांधव कहीं जाने लगता है तब उसके बन्धु-समूह वनतक पहुँचानेके लिए उसके साथ जाते हैं और उस इष्ट बांधवके दृष्टिसे ओझल हो जाने पर लौट आते हैं, उसी प्रकार नगरवासियोंके नेत्रसमूह भी नलको देखनेके लिए सस्पृह हो वनके समीपतक गये, और नलके दृष्टिसे ओझल (बाहर) हो जानेपर लौट आये अर्थात् जबतक नल वनके पास नहीं पहुँचे थे तबतक नागरिक लोग नलको देखते थे, किन्तु जब वे दृष्टिसे बाहर हो गये, तब नागरिक विवश हो उधर देखना भी छोड़कर लौट गये]॥ ७५॥

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमान वनपालपाणिना व्यलोकयत् काननरामणीयकम्॥ ७६॥

तत इति। ततः वनप्रदेशानन्तरं स जनाधिपो नलः मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सन्दर्शिनीसम्मुखावस्थितवस्तुप्रकाशिकेति यावत् 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः' इति खप्रत्ययान्तो निपातः। तादृशी अङ्गुलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः। काननरामणीयकं वनरामणीयकं 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्प्रत्ययः। व्यलोकयत् अपश्यदिति स्वभावोक्तिः॥ ७६॥

तदनन्तर अर्थात् वनमें प्रवेश करनेके बाद राजा नलने मनोहर फूल तथा फलपर सामने दिखाई जाती हुई अङ्गुलिवाले (अङ्गुलिसे मनोहर फूल तथा फलको दिखलाते हुए) वनपालके हाथसे बतलायी जाती हुई उपवनकी सुन्दरताको देखा॥ ७६॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः॥ ७७॥

फलानीति। वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन वयस्याधपगमेन चोद्गतेनोत्थितेन वातेन वायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः। पल्लव एव कर इति व्यस्तरूपकं फलानि पुष्पाणि च समाधाय विधाय स्थितैस्तिष्ठद्भिः वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, 'शाखावेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपीति' वैजयन्ती। तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यम् अतिथ्यर्थं कर्म, 'अतिथेर्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः। महर्षीणां वार्द्धकाद् वृद्धसमूहात् तत्रत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः। शिवभागवतवत्समासः। वृद्ध-

संघे तु वार्द्धकमि'त्यमरः। 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुञ्प्रत्ययः। अशिक्षि शिक्षितमभ्यस्तम्, अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः। कर्मणि लुङ्। उत्प्रेक्षेयं सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या पूर्वोक्तरूपकश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति संकरः ॥ ७७ ॥

पक्षियोंके अत्यन्त उड़नेके कारण वायुसे (पक्षा०—अधिक अवस्थाके कारण उत्पन्न वात दोषसे) हिलने हुए पल्लवरूपी हाथमें फल फूलोंको लेकर स्थित, वनके वृक्षोंने मानो महर्षियोंके समूहसे उस (राजा नल) के अतिथि सत्कारको करनेके लिए सीखा है। [अधिक अवस्थाके कारण उत्पन्न वात-दोषसे हिलने हुए हाथपर फल फूल लेकर नलका आतिथ्य करनेवाले वनवासी वृद्ध महर्षि-समूहसे मानो वनके वृक्षोंने भी पक्षियोंके अधिक उड़नेसे उत्पन्न हवासे कम्पित पल्लवरूप हाथमें फल-फूलोंको लेकर नलका आतिथ्य करना सीखा है। वृद्ध-महर्षि-समूहसे वनमें रहकर विद्या सीखना लोकव्यवहारमें भी श्रेष्ठ माना जाता है। इस श्लोकसे उक्त विलास-वनमें वृद्ध महर्षि-समूहका निवास करना तथा वृक्षोंका पक्षियों एवं फल-फूलसे युक्त होना सूचित होता है] ॥ ७७ ॥

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम् ॥ ७८ ॥

विनिद्रेति। विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्थितभृङ्गमिषात् मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुर्वर्ज्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पादितं 'न केतक्या सदा शिवमि'ति निषेधादिति भावः। आशासु चरिष्णु सञ्चरणशीलं 'अलंकृञि'त्यादिनाचरेरिष्णुच्प्रत्ययः। दुर्यशोऽपकीर्तिं दधानं कैतकं केतकीकुसुमं तत्र वने स नलः कौतुकी सन् ददर्श। अर्हस्य महापुरुषस्य बहिष्कारो दुष्कीर्तिकर इति भावः। भृङ्गालिकैतवादित्यलित्वापह्नवेन तेषु दुर्यशस्यारोपादपह्नुत्यलङ्कारः। 'निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः' इति लक्षणात् ॥ ७८ ॥

वन-(दर्शनके विषय) में कुतूहलयुक्त उस (नल) ने विकसित पत्र-समूहपर बैठे हुए भ्रमरोंके कपटसे चन्द्रचूड (शिवजी) के द्वारा त्यक्त होनेसे प्राप्त तथा दिशाओंमें फैलते हुए अयशको धारण करते हुए केतकी-पुष्पको देखा। [केतकीके विकसित पत्तोंपर गन्धलोभसे भ्रमर नहीं बैठे थे किन्तु वे शिवजीके द्वारा त्यक्त होनेसे फैलनेवाले काले-काले अयश थे, उन्हें धारण करते हुए केतक-पुष्पको नलने देखा। बड़ोंसे परित्यक्त व्यक्तिका अयश होता है] ॥ ७८ ॥

पौराणिकी कथा—रामचन्द्रजी लक्ष्मण तथा सीताजी के साथ गया में गये तो पितृश्राद्धकी सामग्री लानेके लिए लक्ष्मणजी को नगरमें भेजा तथा स्वयं फल्गु नदीके किनारे पितरोंका आवाहन कर दिये। जब लक्ष्मणजी सामग्री लेकर नहीं आये और उनको गये बहुत विलम्ब हो गया तब स्वयं श्रीरामचन्द्रजी भी सीताजीको वहीं छोड़ कर सामग्री लानेके लिए चल दिये। जब दोनोंमें कोई भी श्राद्धकी सामग्री लेकर वापस नहीं लौटा था, इसके पहले ही रामचन्द्रजीके पितरोंके हाथ श्राद्धपिण्ड लेनेके लिए बाहर निकले, यह

देख श्राद्धसामग्री तथा उन दोनोंमेंसे किसी एकके भी नहीं रहनेसे सीता घबड़ायीं कि अब पितरोंको श्राद्धपिण्ड किस प्रकार दिया जाय ? उसे घबड़ायी हुई देखकर आकाशवाणी करते हुए पितरोंने कहा कि 'हे वत्से ! श्राद्धसामग्री नहीं होने पर भी तुम मत घबड़ाओ और बालूका पिण्ड बनाकर हम लोगोंका श्राद्ध करो ।' सीताने वैसा ही किया तथा अपने इस श्राद्धकार्य में वहाँ उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी और केतकीको साक्षी बनाया। विधिवत् बालूका श्राद्धपिण्ड पाकर पितरोंके हाथ जब अंतर्हित हो गये तब रामचंद्रजी तथा लक्ष्मणजी श्राद्धसामग्री लेकर आये और सीताजीने पूर्वोक्त चारों साक्षियोंके सामने बालूके पिण्डद्वारा पितरों की आज्ञासे श्राद्ध करनेकी बात उनसे कही, किन्तु उन चारों साक्षियों ने 'हमें कुछ भी मालूम नहीं है' कह दिया और पितरोंने पुनः आकाशवाणीकर सीताजीके दिये हुए श्राद्धपिण्डको स्वीकार करनेका वृत्तान्त कहकर रामचन्द्रजीको पुनः श्राद्ध करनेसे निषेध किया। तब सीताजीने—तुम आगे (मुख) मागसे अपवित्र होवो, तुम सर्वभक्षी होवो, तुम निर्जल (अन्तर्जल) होवो तथा तुम शिवजीका प्रिय न रहो' ऐसा शाप क्रमशः उन गौ, अग्नि, फल्गुनदी तथा केतकी-पुष्पको दिया। कहा जाता है कि उसी समय से उस स्थानपर बालूके पिण्डसे ही पितरोंके श्राद्ध करनेकी प्रथा चालू हुई। यह कथा शिवपुराणमें आयी है।

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत् ।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥ ७९ ॥

अथ त्रिभिः केतकोपालम्भमाह—वियोगेत्यादि। केतक ! यद्यस्मात्त्वं स्मरेण वियोगभाजां हृदि कंटकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम्। विशेषणविवक्षया पुल्लिङ्गनिर्देशः, किन्तूद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशेषणत्वं क्लिष्टम्। कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरःकर्णिशरः सन्निधीयसे कण्टककटोः केतकस्य कर्णिशरत्वरूपकालंकारः। ततः कर्णिशरत्वादेव दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयसे विगर्ह्यसे। दुष्यवत् दुष्योपकरणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः। अत्रेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ७९ ॥

कामदेव काँटोसे क्रूर (भयङ्कर) कर्णयुक्त बाणरूप तुमको वियोगियोंके हृदयमें चुभाता है, इस कारण से (अथवा—कर्णयुक्तबाण होनेसे, अथवा-उस वियोगि हृदयसे) कष्टसे निकाले जाने योग्य होनेसे उन विरहियोंको मारनेवाले तुमको कामदेव-शरीरदाहक (शिवजी) निन्दित (त्यक्त) करते हैं—('इस प्रकार क्रोधसे जलने केतकी पुष्पको निन्दा—की' ऐसा अग्रिम (१८१) श्लोकसे संबंध करना चाहिये)। [कामदेवके सहायक तुम्हारा त्याग करना कामदेवदाहक शिवजी के लिए उचित ही है] ॥ ७९ ॥

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनीर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटी ।

स्फुटश्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥ ८० ॥

स्वदिति। तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्रसिद्धो मनोभवः कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः' दुर्यशांसि अपकीर्त्तयस्ताः पटाविति रूपकं तानि सीव्यति कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः। किञ्चेति चार्थः। करपत्रमूर्त्तिभिः क्रकचाकारैः, 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रमि'त्यमरः। पत्रैस्तैर्वियोगिनां हृद्येव दारुणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'कर्त्तुः क्यङ सलोपश्चे'ति क्यङन्तात् लट्। दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणीति रूपकानुप्राणितेति सङ्करः॥ ८० ॥

कामदेव तुम्हारे अग्रभाग (नोक) रूपी सूईकी सहायतासे कामी स्त्री-पुरुषों के दुष्कीर्तिरूप वस्त्रोंको सीता है, तथा वह कामदेव, आरे (लकड़ी चीरनेका अस्त्रविशेष) के समानाकार तुम्हारे पत्तोंसे वियोगियोंके हृदयरूप लकड़ीपर अवश्य ही आरेके समान व्यवहार करता है— ('इस प्रकार क्रोधसे नलने केतकी-पुष्पकी निन्दा की' ऐसा सम्बंध अग्रिम (१।८१) श्लोकके साथ करना चाहिये) [केतकी-पुष्पके देखनेसे कामी एवं विरही स्त्री-पुरुषोंका धैर्य भङ्ग होता है, जिसके कारण वे दुष्कीर्ति पाते हैं, तथा आरेके समान आकारवाले केतकी-पत्रको देखनेसे उनका हृदय आरेसे चीरे जाते हुएके समान विदीर्ण होता है]॥ ८० ॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजा परं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन कैतकम् ॥८१॥

धनुरिति। कैतक! प्रसूनं धन्वा धनुर्यस्येति प्रसूनधन्वा पुष्पचापः। 'वा संज्ञायामि' त्यनङादेशः। अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन् अत एव परागैः रजोभिः धूलिहस्तयन् पुनः पुनः धूल्युद्धावितहस्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनुःस्रंसनादिति भावः, तत्करोतेर्ण्यन्तात्लटः शत्रादेशः। अतिभीमजापरमतिमात्रं दमयन्त्यासक्तं मां शरसात् शराधीनङ्करोति, 'तदधीने च' इति सातिप्रत्ययः, अन्यथा स्रस्तचापः स मां किं कुर्यादिति भावः। इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति तेन राजा क्रुधा कैतकम् क्रुश्यत अपराधोद्घाटने अघोष्यतेत्यर्थः॥ ८१ ॥

पुष्पधन्वा (कामदेव) धनुषके मधुसे आर्द्रहस्त होकर तुम्हारे परागोंसे हाथको धूलियुक्त करता हुआ दमयन्तीमें अत्यासक्त मेरे मनको बाणोंके अधीन कर रहा है, ऐसे क्रोधसे उस नलने उस केतकी-पुष्प की निन्दा की। [पुष्पमय धनुषके मधुसे आर्द्रहस्त कामदेव यदि तुम्हारे परागोंसे हाथको धूलियुक्त नहीं करता तो लक्ष्यभ्रष्ट होनेसे मुझे बाणपीड़ित नहीं कर सकता, अतएव मेरे काम-बाणसे पीड़ित होनेमें तुम्हीं मुख्य कारण हो ऐसा क्रोधसे कहते हुए नलने केतकी-पुष्पकी निंदा की। धनुषको बहुत समय तक पकड़े रहनेसे जब धनुर्धारीका हाथ पसीजने लगता है, तब वह हाथमें धूलि लगाकर उसे सूखा कर लेता है और वैसा करनेसे वह लक्ष्यका ठीक-ठीक वेध करता है]॥ ८१ ॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥ ८२ ॥

विदर्भेति । 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ॥' इति शब्दार्णवे । दोहदश्चासौ धूपश्च तदुक्तं 'मेषामिषाम्बुसंसेकस्तत्केशामिषधूपनम् । श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाडिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मांसैराजाविकोद्भवैः । लेपिता धूपिता सूते फलन्तालीव दाडिमी ॥ अविकायेन संसिक्ता धूपिता तद्धरोमभिः । फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च ॥ इति । तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः स्तनयोर्या तुङ्गता तदाप्तये तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः अलमत्यर्थन्तपस्यतस्तपश्चरतः, 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोरि'ति क्यङ्प्रत्यये तपसः परस्मपदञ्च वक्तव्यं, धूमस्य दोहदधूमस्य धयन्तीति धयान् पातॄन्, धेट्-पाने अत्र 'आतश्चोपसर्गे' इति उपसर्गग्रहणाच्चानुवत्ति-पक्षत्वात् 'पाघ्रे'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः । अत एव काशिकायां केचिदुपसर्ग इति नानुवर्त्तयन्तीति । अधोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा । महाफलार्थिन इत्थमुग्रं तपस्यन्तीति भावः ॥ ८२ ॥

उस नलने दोहद धूपयुक्त अनारके पेड़पर दमयन्तीके स्तनद्वयका विशालताको पानेके लिए अधोमुख हो धूमका पान करनेवाले, तप करते हुए घड़ोंके समान फलोंको अच्छी तरह देखा । [दमयन्तीके स्तन बहुत बड़े-बड़े थे, घटकार अनारके फल भी चाहते थे कि हम भी दमयन्ती के स्तनोंके समान ही बड़े हों, अतएव वे दोहद धूपयुक्त अनारके पेड़पर अधोमुख हो लटकते हुए ऐसे ज्ञात होते थे मानो वे दमयन्तीके स्तनोंके समान बड़े होनेके लिए अधोमुख हो अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे हों, ऐसे उन फलोंको नलने देखा । लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी बड़े अभीष्टकी सिद्धिके लिए अधोमुख हो धूम का पान करता हुआ घोर तपस्या करता है । पेड़में अच्छे फल लगनेके लिए विशेष द्रव्यों द्वारा वृक्षके नीचे दिये गये धूमको 'दोहद' कहते हैं] ॥ ८२ ॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥ ८३ ॥

वियोगिनीमिति । असौ नलः प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव स्पष्टं व्यक्तमुदीतेति ईगताविति धातोः कर्त्तरि क्तः । उदीता उद्गताः कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम् । 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टके'इति वैजयन्ती । फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागि रक्तवर्णमनुरक्तञ्च यत्तस्मिन् हृदि विशत् बीजभक्षणान्तःप्रविशच्छुकास्यरूपं शुकतुण्डमेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेवाशुगो बाणो यस्यास्तां दाडिमीमेव वियोगिनीं विरहिणीमैक्षत अपश्यत् । रूपकालङ्कारः । विः पक्षी तद्योगिनीमिति च गम्यते ॥ ८३ ॥

इस (नल) ने पक्षीयुक्त, दोहदप्राप्तिसे कण्टकित तथा मध्यमें विदीर्ण होनेसे लाल फलमें दानोंको खानेके लिए सुग्गोंके प्रविष्ट होते हुए चोंचोंसे युक्त दाडिमी (अनार) को देखा, जो प्रियका स्मरण होनेसे रोमाञ्चयुक्त तथा स्तनमध्यमें विदीर्ण होनेसे रक्तवर्ण हृदय में कामदेवके पलाश-पुष्पमय बाण जिसमें प्रविष्ट हो रहे हैं ऐसी विरहिणी नायिकाके समान प्रतीत होती थी। [नलने दाडिमीको देखा, जो पक्षियोंसे तथा दोहद (धूपादि) प्राप्त होनेसे कण्टकोंसे युक्त थी, एवं जिसके विदीर्ण हुए फलके मध्यमें दानोंको खानेके लिए प्रविष्ट होते हुए सुग्गोंके चोंच ऐसे मालूम पड़ते थे मानों प्रिय-स्मरणसे रोमाञ्चयुक्त विरहिणीके स्तनमध्यमें विदीर्ण होनेसे लालिमा युक्त हृदयमें कामदेवके पलाशपुष्परूप बाण घुस रहे हों। अथवा—परमात्माके साक्षात्काररूप फलका बोधक (तुरीयावस्थारूप) स्थानसे च्युत पूर्वकालमें विषयोंमें अनुरागी हृदयमें प्रवेश करते (स्थिर होते) हुए उपदेशसे हटाये जाते हैं कामदेवके पलाशपुष्पमय बाण जिनसे ऐसी, तथा परमप्रिय सच्चिदानन्दके स्मरणसे (शीघ्र प्राप्तिकी आशासे हर्षातिशय होनेके कारण) रोमाञ्चयुक्त विशिष्ट योगिनीको (या—उक्तरूपा योगिनीके समान दाडिमीको) नलने देखा]॥ ८३॥

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषाम्पलाशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

स्मरार्द्धेति। नलः स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः, अत आहामरः—'स्युरुत्तरपदे त्वमी। निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इति। वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि क्रशीयसां कृशतराणामध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशसंज्ञाभाजि किंशुककलिकायामित्यर्थः। अन्वितं सम्बद्धं वृन्तं प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं अकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम्। आलोकत आलोकितवान्। 'कालखण्डं यकृत्समे' इत्यमरः। तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेषः॥ ८४॥

उस (नल) ने कामदेवको अर्द्धचन्द्राकार बाणके समान, वियोगियोंके हृदयको विदीर्ण करनेवाले (अतएव) अतिशय दुर्बल (घर आते हुए विरही) पथिकोंके मांसका भक्षण करनेसे वस्तुतः पलाश अर्थात् अन्वर्थ 'पलाश' नामवाले वृक्षपर कालखण्ड (वियोगियोंके दक्षिण हृदयके कृष्णवर्ण मांस) से उत्पन्न वियोगि-हृदयके अंशके समान वृन्त (फूलकी भेटी = ऊपरी डण्ठल—जहाँसे फूल टूटकर अलग होता है) को देखा। (पलाशवृक्षपर अर्द्धचन्द्राकार फूल लग रहे थे, वे कामदेवके वियोगि-घातक अर्द्धचन्द्राकार बाणके तुल्य मालूम पड़ते थे, उन फूलोंके ऊपर कृष्णवर्ण वृन्त ऐसे मालूम पड़ते थे कि कामदेवने जो विरहियोंके दाहिने पार्श्वमें अर्द्धचन्द्राकार किंशुक-पुष्पमय बाणसे प्रहार किया है, उस बाणमें उन विरहियोंके दक्षिण पार्श्वका कृष्णवर्ण मांसका कुछ भाग सम्बद्ध हो गया, (सट गया) है। तथा उन पलाशपुष्पोंको देखनेसे वसन्तका आगमन मालूम कर विरही

अधिकं कामपीडित होकर दुर्बल हो रहे थे, अतएव 'पलमश्नाति इति पलाशः' (मांसको जो खाता है, उसे 'पलाश' कहते हैं) इस विग्रहसे उक्त पलाशवृक्षका नाम सार्थक-सा हो रहा था]॥ ८४॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥८५॥

नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा वीक्षिता मकरन्दशीकरैः पुष्परसकणैः करम्बिताङ्गी व्यामिश्रितरूपा अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते । स्मितशोभिनः विकासरम्या कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्यास्तां मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते । दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नवा लता वल्ली तरुणी कान्ता च गम्यते । नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भयतृष्णाभ्यामुपलक्षितेन सता पपे अवेक्षिता गाढं दृष्टा इत्यर्थः । उद्दीपकत्वात् दरः प्रियासादृश्यादादरश्च । 'दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती । अत्रप्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात् । अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिरिष्यते' 'इति लक्षणात् ॥ ८५ ॥

(नायकरूप) वायुसे चुम्बित (स्पृष्ट), मकरन्दकणोंसे रोमाञ्चित शरीरवाली, ईषद्विकसित एवं शोभमान कलिकाओंवाली, कुछ कम्पायमान नवीन (पल्लववाली) लताको भय (विरहियोंको दुःखद होनेसे उक्त लताको देखनेसे उत्पन्न डर) तथा (सुन्दरता होने से) आदरसे युक्त राजा (नल) ने नेत्रसे मानो उस प्रकार पान किया अर्थात् देखा, जिस प्रकार कस्तूरी कपूर, चन्दनादिकी सुगन्धिसे युक्त नायक द्वारा चुम्बित, प्रियस्पर्शसे रोमाञ्चित अङ्गोंवाली, थोड़ा स्मित करती हुई तथा सात्त्विक भावके उत्पन्न होनेसे कुछ कम्पनयुक्त नायिकाको (परस्त्री होनेसे) भयपूर्वक तथा सुन्दरी होनेसे आदरपूर्वक कोई दूसरा नायक देखता है । (अथवा—बालता—शैशवके लेशसे रहित अर्थात् युवावस्थायुक्त तरुणसे चुम्बित···) ॥ ८५ ॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥ ८६ ॥

विचिन्वतीरिति । पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्थाः नित्यपथिकाः, 'पथोऽण् नित्यमि'त्यणप्रत्ययः पन्थादेशश्च । स एव पतङ्गाः पक्षिणः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' । इत्यमरः । तेषां हिंसनैः वधैः अपुण्यकर्माण्येव अलयः कज्जलानीवेत्युपमितसमासः । तेषां छलादित्यपह्नवालंकारः । विचिन्वतीः संगृह्णतीः हिंसापापकारिणीरित्यर्थः चम्पककोरकावलीः शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिकाः पूजादीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स नलो व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

पथिकरूपी पतङ्गोंको (हिंसासे, भ्रमररूपी कज्जलके कपटसे पापकर्मको एकत्रित करती

हुई कामदेवको) वलि-दीपिकाओं (पूजार्थ दीपकों) के समान चम्पककी कलिकाओंके समूहको उस (नल) ने देखा। [चम्पककलियोंके कामोद्दीपक होनेसे उन्हें देखकर विरही पथिक उस प्रकार मर जाते थे जिस प्रकार दीपककी लौपर पतङ्ग (भुनगे) मर जाते हैं, उन कलिकाओंपर बैठनेवाले भ्रमर उन दीपकोंके कज्जलके समान मालूम पड़ते थे, उसीको कविने पथिकोंके मरनेसे उत्पन्न अयशकी उत्प्रेक्षा की है, उन्हें कामदेवके पूजा-दीपकोंके समान नलने देखा। दीपककी लौ के समान चम्पाकी कलियाँ भी पीली होती हैं। कुछ लोगोंका मत है कि चम्पाके फूलपर भ्रमर नहीं बैठते और उसपर बैठते तो हैं, किन्तु मर जाते हे, ऐसा प्रामाणिक लोग कहते हैं, यह 'प्रकाश' कारका कथन है]॥ ८६॥

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम्।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७॥

अमन्यतेति। असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं वियोगिनामिति कर्मणि षष्ठी। अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणं 'आढ्यसुभगे'त्यादिना च्व्यर्थे ख्युन् प्रत्ययः 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः। तं परागं पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं संसक्तं तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म तादिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिनः कुसुमेषव इत्यभिमानः, अन्यथैषां तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

इस (नल) ने फूलोंके मध्यगत परागको वियोगियोंको अन्धा करनेवाला पूर्वकालमें कामदेवके द्वारा शिवजीपर छोड़े गये (पुष्पमय) बाणोंमें लगा हुआ शिवजीके शरीरका भस्म माना। [भस्म आँखमें पड़नेपर लोगोंको अन्धा कर देता है तथा फूलोंके परागोंको देखकर विरही भी कामपीड़ित हो अन्धे (विवेकहीन) हो जाते हैं]॥ ८७॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतदशामुदश्चत्करुणं वियोगिनाम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणी ददर्श दूनः स्थलपद्मिनी नलः ॥ ८८॥

पिकादिति। वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वियोगिनां दशामलिहुङ्कारकृतां दुःखावस्थामित्यर्थः। उदश्चत्करुणं विकसद्वृक्षविशेषमुदञ्चत्कृपञ्च यथा तथा शृण्वति सति, 'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मते'ति विश्वः। अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं पुष्परूपहस्तविस्तारिणीं तथोक्तामनिष्टकथां करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः। सूनकरेति प्रसारणमितिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम्। स्थलपद्मिनीं नलो दूनः परितप्तः सन् दूङः कर्त्तरि क्तः, ' 'स्वादिभ्यश्चे'ति निष्ठानत्वम्। ददर्श ॥ ८८॥

---

१. इय भ्रममूलकोक्तिः स्वादिषु 'लूञ् स्तॄञ् कॄञ् वॄञ् धूञ् शॄ पॄ वॄ भॄ मॄ दॄ जॄ (झॄ धॄ) नॄ कॄ ऋ गॄ ज्या री ली व्ली प्ली' इत्येतेषामेव धातूनां परिगणनात्। तता दीर्घाद् दूङः स्वादित्वेनोदित्त्वान्निष्ठानः' इति 'प्रकाश' व्याख्यानमेव सदित्यवधेयम्।

(कामपीड़ित होनेसे) कृश नलने (मल्लिकाके समान पुष्पवाला) करुणवृक्ष जिसमें विकसित हो रहे हैं, ऐसे तथा भौंरे 'हुँकारी' भर रहे हैं, ऐसे वनके गुञ्जनोंके द्वारा कोयलोंसे विरहियों की दशा को सुनते हुए वनमें नलकी अधीरतासे (अथवा—अनादरसे) पुष्परूपी हाथको फैलायी हुई स्थलकमलिनीको देखा । [जिसमें करुणवृक्ष फूल रहे थे, कोयल मानो विरहियोंकी दशा कह रही थी तथा गूँजते हुए भ्रमर मानो 'हूँ-हूँ' कहकर 'हुँकारी' भर रहे थे; ऐसे वनमें (तुम्हें ऐसा करना अनुचित है इस भावनासे मानो) पुष्परूपी हाथको फैलायी हुई स्थलकमलिनीको कामपीड़ासे दुर्बल नलने देखा । लोकमें भी किसीको अनुचित कार्य करते हुए देखकर दूसरा सज्जन व्यक्ति अनादरसे हाथ फैलाकर उसे निषेध करता है । वनमें करुणवृक्ष विकसित हो रहे थे, कोयल कुहक रही थी, भ्रमर गूँज रहे थे तथा स्थलकमलिनी फूल रही थी, इन सबोंको कामपीड़ित नलने देखा] ॥८८॥

रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः ।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्ज्जनाभियम् ॥८९॥

रसालेति । अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमरझङ्कार एव रोषेण या हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य सः समीरलोलैर्वायुचलैर्मुकुलैरङ्गुलिभिरिति भावः । वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थितः, ददातेः सन् प्रत्ययः 'सनिमीमे'त्यादिना इसादेशः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः, 'सस्यार्धधातुक' इति सकारस्य तकारः । रसालसालश्चूतवृक्षः समदृश्यत सम्यग्दृष्टा । द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति संकरः ॥ ८९ ॥

इस (नल) ने भ्रमण करते हुए भ्रमरोंके समन्ततः गुञ्जनरूपी हुङ्कारवाले आमके पेड़को वायुसे चञ्चल मञ्जरियों (बौरों) द्वारा विरहिजनको डरवाता हुआ-सा देखा । [आमके पेड़पर बौरें लग गयी थीं, वे वायुसे धीरे-धीरे हिल रही थीं, उनपर भौंरे उड़ते हुए गूँज रहे थे, जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि यह आमका पेड़ भौंरोंके गुञ्जनरूपी हुङ्कारोंसे मंजरीरूपी हाथको हिला-हिलाकर विरहियोंको तर्जित कर (डरा) रहा है] ॥ ८९ ॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूच्छ च मृत्युमृच्छ च ।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥९०॥

दिने दिने इति । रे इति हीनसम्बोधने । त्वं दिने दिने अधिकं तनु एधि अधिकं कृशो भव, अस्तेर्लोट् सिप् 'हुझल्भ्यो हेधिरि'ति धित्वम्, 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वम्, पुनः पुनः मूर्च्छ च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपतः शपमानानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र रोषाच्चेति द्रष्टव्यम्, पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नलः सखेदमैक्षिष्ट । स्वस्यापि उक्तशंकयेति भावः ॥ ९० ॥

'रे पथिक ! तुम प्रतिदिन अधिक दुर्बल होवो, बार-बार मूर्च्छित होवो और सन्ताप प्राप्त करो' इस प्रकार विरही पथिकोंको शाप देते हुए रक्तवर्ण नेत्रवाले पिक पक्षियों (पक्षा०--क्रोधसे लाल नेत्र किये हुए ब्राह्मणों) को नलने खेदपूर्वक देखा ॥ ९० ॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा ।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥९१॥

अलिस्रजेति । अलिस्रजा भ्रमरपंक्त्या उच्चशेखरमुन्नतशिरोभूषणम् अलिमलिनाङ्गमित्यर्थः । 'शिखास्वापीडशेखरावि'त्यमरः । चाम्पेयं चम्पकविकारं कुड्मलम् 'अथ चाम्पेय चम्पको हेमपुष्पक' इत्यमरः । नन्वयुक्तमिदं 'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रदि'त्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत् नैवं किन्तु स्पृष्टेयन्तावतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् केषाञ्चित् उक्तपरिहारः अथवा चाम्पेयं नागकेसरं 'चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वय' इत्यमरः । अधीरया दृशा निपीयं विह्वलदृष्ट्या गाढं दृष्ट्वा आशंकितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान् । स नलः 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शंकामाचक्षते बुधाः':इति लक्षणात् । वियोगिनां विपदे उदीतमुत्थितं धूमकेतुमशङ्कत अतर्कयदित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥ ९१ ॥

भ्रमर-पङ्क्तिसे उन्नत अग्रभागवाले चम्पाकी कलिकाको धीरताहीन बुद्धिसे अर्थात् धैर्यरहित हो देखकर आतङ्कयुक्त उस नलने उसे वियोगियोंकी विपत्तिके लिए उदयको प्राप्त धूमकेतु माना ॥ ९१ ॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत ॥९२॥

गलदिति । स नलो गलत्परागं निर्यद्रजस्कं भ्रमिभङ्गिभिः भ्रमणप्रकारैरुपलक्षितं पतत् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुलं नागकेसरं कुसुमविशेषं मारनाराचनिघर्षणैः स्मरशरकर्षणैः स्खलन्तः लुटन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गा यस्य तं शाणं निकषोपलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत, 'शाणस्तु निकषः कष' इत्यमरः ॥ ९० ॥

उस (नल) ने गिरते हुए परागवाले, चक्कर काटते हुए दूसरे वृक्षोंसे आते हुए भ्रमरसहवालेमू नागकेसर--पुष्पको कामदेवके बाणके रगड़नेसे निकलती जलती चिनगारीवाले शाण के समान देखा ॥ ९२ ॥

लवङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥९३॥

लवङ्गमिति । सुगन्धि शोभनगन्धं 'गंधस्ये'त्यादिना समासान्त इकारः । लवङ्गं तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणो गन्धादिः मौर्वी च 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुष्वि'ति वैजयंती । तत्स्पृशस्तत्सक्ताः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' कुसुमादुपादानात् पातुका धावन्तीः, 'लषपते'त्यादिना उकञ्प्रत्ययः । स्वनन्तीर्ध्वनन्तीः

'शिलीमुखाली: अलिपंक्ती: वाणपंक्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गताः विषमनिर्गता ये मार्गणा बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोर्लज्जितोऽभवत् न्यूनमिति शेषः। दुर्निर्गतेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः। अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शिलीमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः॥ ९३॥

पुष्पोंकी अपेक्षा सुगन्धित नल-शरीरको उद्देश्य (लक्ष्य) कर चली हुई, गुणग्राहिणी (सुगन्धिगुणको चाहनेवाली, पक्षा०—प्रत्यञ्चाका स्पर्श की हुई), शब्द करती (पक्षा०—गूँजती) हुई भ्रमर-पंक्ति देखकर अपने धनुषसे दुःखपूर्वक अर्थात् लक्ष्यभ्रष्ट होकर निकले हुए बाणके भ्रमसे कामदेव लज्जित—सा हो गया। [नलके शरीरकी सुगन्धि पुष्पोंसे अधिक थी, अतएव पुष्पोंको छोड़-छोड़ कर भ्रमरसमूह नल—शरीरपर गूँजते हुए आ रहे थे, उन्हें देखकर कामदेव 'ये मेरे बाण (पुष्परूप चापकी प्रत्यञ्चासे निकलकर लक्ष्यभ्रष्ट हो) शब्द करते हुए जा रहे हैं' ऐसा भ्रम होनेसे मानो लज्जित हो गया। लक्ष्यभ्रष्ट होकर जाते हुए बाणको देख धनुर्धर को लज्जित होना उचित है]॥ ९३॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम्॥ ९४॥

मरुदिति। मरुता वायुना ललत्पल्लवानाञ्चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः क्षतमन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दनसारस्येव सौरभं यस्य तत् अतएव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यमित्युपमालंकारः। 'वारस्त्री गणिका वेश्येत्यमरः। कुलाङ्गनानखक्षताद्यनौचित्याद्वारविशेषणं, पचेलिमं स्वतः पक्वं कर्मकर्त्तरि 'केलिमर उपसंख्यानमि'ति पचेः केलिमर्प्रत्ययः। मालूरफलं बिल्वफलं 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरः श्रीफलावपी'त्यमरः। स नलो ददर्श॥ ९४॥

उस (नल) ने वायुसे कम्पित शाखाग्रके कण्टकोंसे (पक्षा०—वायुके समान विलास करते हुए विट (धूर्त नायक) के कण्टकतुल्य नखोंसे क्षत, निकलते हुए चन्दनके समान श्रेष्ठ सुगन्धवाले (पक्षा—निकलते हुए चन्दनके श्रेष्ठ गन्धवाले) वेश्याके स्तनोंकी समानताको पाये हुए पके बेल के फलको देखा॥ ९४॥

युवद्वय चित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः॥९५॥

युवेति। युवा च युवती च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं तस्याश्चित्तयोः कर्मणोर्निमज्जने प्रवेशनायोचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पबाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् पाटलायाः पाटलवृक्षस्य स्तबकं कुसुमगुच्छम्भियान्धया भयमूढया धिया भयजन्यभ्रान्त्येत्यर्थः। स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य तथा विभाव्य

इत्यर्थः, अत एव भयात् प्रकम्पितश्चकम्पे। अत्र पाटलस्तवके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलंकारः। 'कविसंमतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि। आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः॥' इति लक्षणात् ॥ ९५ ॥

वे (नल) युवक मिथुनके हृदयमें प्रवेश करनेके योग्य पुष्पोंसे पूर्ण मध्य भागवाले पाटला-गुच्छको भयसे अन्धी (विचारशून्य बुद्धिसे कामदेवका तरकस समझकर कम्पित हो गये। [नलने पाटलाके गुच्छको पुष्पोंसे परिपूर्ण देखकर समझा कि यह विरही युवक-दम्पतिके हृदयको वेधनेवाला कामदेवके बाणोंसे भरा हुआ तरकस है, अतः ये स्वयं भी विरही होनेके कारण उसके भयसे कम्पित हो गये। भयके कारण विचार-शक्तिके नष्ट होनेसे नलने वैसा समझा]॥ ९५ ॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥ ९६ ॥

मुनीति। अमुना नलेन वने कोरकितः सञ्जातकोरकः शितिद्युतिः पत्रेषु कृष्णच्छविः मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्षः तमिस्रपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम् भक्षितस्वे कुतः क्षय ? इति भावः। अत्र कूटशब्देन क्षयोपह्नवेन भक्षणारोपादपह्नवभेदः। वैधवं चन्द्रसम्बन्धि 'विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरि'त्यमरः। कलाकलापं कलासमूहं वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल खलु! अत्र कोरकितशितद्युतिरवाभ्यां मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति संकरः॥ ९६ ॥

इस (नल) ने वनमें कोरकित कृष्णवर्ण अगस्त्यको कृष्णपक्षमें चन्द्रकलाक्षयके कपटसे भक्षित चन्द्रकलाको वमन करते (उगलते) राहुके समान माना। (अथवा—······ अन्धकारमें कपटपूर्वक खाये गये पशु आदिको वमन करते हुए सिंहके बच्चेके समान माना)। [प्रथम अर्थमें—यह राहु चन्द्रमाको खा गया था, अतएव मुझे सन्ताप नहीं होता है किन्तु अब पुनः चन्द्रमाको यह वमन कर रहा है, अतएव मुझे यह चन्द्रमा संतप्त करेगा, ऐसा समझकर वे डर गये। द्वितीय अर्थमें—अन्धकारमें पशुको खाकर उसे उगलते हुए सिंहको वनमें देखनेसे भय होना उचित ही है। अगस्त्यको कोरकयुक्त देख उसके कामोद्दीपक होनेसे विरही नल डर गये]॥ ९६ ॥

[1]पुराहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदा[2] वृतेर्वीरुधि [3]नद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमील [4]विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥९७॥

पुर इ त। पुरोऽग्रेहठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणां छदानां पत्राणां तुषारवत् पाण्डरस्य छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य चावृतिरावरणं येन तस्य नभस्वतो वायोः वीरुधि लतायां नद्धाः अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च

१. 'पुरा इति' पाठान्तरम्। २. 'च्छदा वृते—' इति पाठान्तरम्।
३. 'बद्ध—' इति पाठान्तरम्। ४. 'ससृजु—' इति पाठान्तरम्।

यासान्ताः कुसुमेषु विषये केलयः क्रीडाः कुसुमेषु केलयः कामलीडाश्च विलोकिताः सत्यस्तं नृपं नलं मिलन्निमीलो मिलनं यस्य तं विदधुः निमीलिताचञ्चक्रुरित्यर्थः। विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् अन्यत्र ('नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनामि'ति निषेधादिति भावः।) अत्र प्रस्तुतनभस्वाद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतकामुकविरहप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः॥ ९७॥

सामने (पाठा०—पहले) हठपूर्वक बर्फके समान श्वेत पत्तेरूप आवरण (वस्त्र) को हटानेवाली, वायुकी लताओंने विलास (या—विशिष्ट भ्रम, या—पक्षियोंका भ्रम) करनेवाली, पुष्पविषयक क्रीडाओं (या—कामक्रीडाओं) ने नलके नेत्रोंको बन्द कर दिया अर्थात् उसे देखकर नलने अपने नेत्र बन्द कर लिये। अथवा—सामने हठ पूर्वक हटाये गये तुषार तुल्य श्वेत पत्तोंवाली, घेरेकी लताओंमें विशिष्ट भ्रम (या—पक्षियोंका भ्रम) पैदा करनेवाली, वायुकी पुष्पोंमें क्रीडा (या–वायुकी कामक्रीडा) ने नलके नेत्रों को बन्द कर दिया। (स्त्री–पुरुषकी कामक्रीडा देखनेका स्मृतिशास्त्रमें निषेध होनेसे स्त्रीरूपिणी लताके साथ पुरुषरूपी वायुकी कामक्रीडाको देखकर मानो नलने नेत्रोंको बन्द कर लिया वास्तवमें तो वायुके द्वारा हिलायी जाती हुई लताओंका देखना कामोद्दीपक होनेसे उनके असह्य होनेसे नलने नेत्रोंको बन्द कर लिया था]॥ ९७॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम्।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितः स वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान्? ॥९८॥

गता इति। द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं गताः तां धात्रीम्भुवञ्च उपमातरं वा 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युमातृष्वि'ति विश्वः। 'धा कर्मणि ष्ट्रन्नि'ति दधातेः ष्ट्रन्प्रत्ययः। फलगौरवेण फलभरेण सुकृतातिशयेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः, प्रह्वीकृतैः, नमेर्मित्त्वविकल्पाद्ध्रस्वाभावः। शिरोभिरग्रैः उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृशतोऽभिवादयमानांश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान् अत एव यच्छुद्दानपेक्षी स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिनन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां चेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिमपत्यानां च मातृभक्तिञ्च को नाम नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषणसामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ९८॥

जो पृथ्वीके उत्सङ्ग (क्रोड=गोद, पक्षा०—भूतल) में विशाल हुये थे अर्थात् पलकर बड़े हुए थे, वे पेड़ फलों (पक्षा०-पुण्योत्पन्न मनोरथ–प्राप्ति) के गौरव (भारीपन, पक्षा०—गुरुता) के अतिशय नम्र किये गये शाखाग्रों (पक्षा०—मस्तकों) से उस पृथ्वी (पक्षा०—माता) की वन्दना करते हुए उन पेड़ोंका नल क्यों नहीं अभिनन्दन करते ? अर्थात अवश्यमेव अभिनन्दन करते। (लोकमें भी माताकी गोदमें बढ़कर विद्याध्ययनादि फलके गौरवसे अत्यन्त नम्रमस्तक हो उस माताकी वन्दना करनेवाले पुत्रका सज्जन लोग जिस प्रकार अभिनन्दन करते हैं, उसी प्रकार भूतलपर बढ़कर फलोंके भारसे अत्यन्त झुकी हुई

डालियोंवाले वृक्षोंका अभिनन्दन नलने किया। फल-भारसे झुके हुए वृक्षोंको देखकर नल बहुत प्रसन्न हुए]॥ ९८॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधाकृतं पुष्परसैरहर्महः।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुदः॥९९॥

अत्रातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति—नृपायेति। वनानिलैः उद्यानवातैः हिमं शीतलं कृतं हिमितं, तत्करोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। पुष्परसैर्वनवातानीतैः मकरन्दैः सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं शुभ्रीकृतम् अह्नो महस्तेजः अहर्मह आतपः "रोः सुपी"ति रेफादेशः। तदेव कौमुदीति व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतोद्दीपिकैवाभूदिति भावः॥ ९९॥

उपवन-वायुसे ठण्डी की गई, पुष्पोंके मधुसे अमृतके तुल्य बनाई गई तथा केतकी-पुष्पके परागोंसे श्वेतवर्ण की गई भी दिनकी धूप उस विरही राजा (नल) के लिए चाँदनीके आनन्दको नहीं दे सकी। [यद्यपि उक्त कारणत्रयसे शीतल, अमृतयुक्त एवं श्वेत वर्ण होनेसे दिनकी धूप चाँदनी-जैसी सुखद हो रही थी, किन्तु विरहियोंके लिए चाँदनीके दुःखद होनेसे वैसी धूपसे भी नलको सुख नहीं हुआ]॥ ९९॥

[१]वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम्।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी॥ १००॥

वियोगेति। वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशुं प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अत एव 'रोषादद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणचक्षुषा पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूर्निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रकला अमावास्येति श्लिष्टरूपकं, 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपी'ति विश्वः। मुहुराहूयत आहूता किमित्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति संकरः। अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया स्यात् तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः॥ १००॥

विरही भी राजा (नल) के मुखको साक्षात् चन्द्रमा ही देखते हुए (अतएव—'यह विरही होकर भी मलिन नहीं हुआ, प्रत्युत चन्द्रतुल्य सुन्दर ही है' ऐसा विचारकर) क्रोधसे लाल नेत्रोंवाला तथा 'कुहू' शब्द करनेवाला पिक पुनः चन्द्रमाकी विरोधिनी 'कुहू' (अर्थात् अदृष्ट चन्द्रकलावाली अमावस्या तिथि) को बुलाने लगा। (अथवा-निश्चित ही चंद्र विरोधिनी कुहूको बुलाने लगा)। विरहावस्थामें नलमुख चन्द्राधिक सुन्दर था॥ १००॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान्।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम्॥ १०१॥

---

१. 'अयोग—' इति पाठान्तरम्।

अशोकमिति । एष नलः पल्लवैः प्रतीष्टानि प्रतिगृहीतानि संच्छन्नानि कामस्य ज्वलदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि छादकानि बालमुकुलगुच्छा येन तं पल्लवसंच्छन्नकुसुमरूपकालास्त्रमित्यर्थः । अन्यथा तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः । अशोकमतएवार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मन्नित्यन्वर्थसंज्ञा तत्कृतया आशया अस्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलापेण शरणे रक्षणे साधु समर्थं शरण्यं मत्वेति शेषः । 'शरणं रक्षणे गृहे' इति विश्वः, 'तत्र साधुरि'ति यत्प्रत्ययः । आगतान् शरणागतानित्यर्थः । गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः । 'गृहः पत्न्यां गृहे स्मृत' इति विश्वः । अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव शरणागतरक्षणे महाफलस्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः । अमन्यत ज्ञातवान् । अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भावः ॥ १०१ ॥

'जहाँ शोक नहीं है, उसे 'अशोक' कहते हैं' ऐसे सार्थक नामकी आशासे समीपमें 'गये हुए, स्त्रियोंको सोचते हुए पथिकोंकी, पल्लवोंसे जलते हुए अस्त्रतुल्य कलियोंके गुच्छाओंको छिपाये हुए (या—रक्त पल्लवोंमें जलते हुए कामास्त्रको अपने शरीरपर ग्रहण किये हुए, अतएव) शरणागतोंके लिए साधु (श्रेष्ठ) अशोकको नलने रक्षा करते हुएके समान माना । (अथवा—·········पथिकोंको कामदेवके जलते हुए अस्त्रको स्वीकार कर पल्लवोंसे मारते हुए अशोकको नलने वध करनेमें श्रेष्ठ माना) [प्रथम अर्थमें—उक्त रूपसे अन्वर्थक समझकर अशोकके पास गयी हुई स्त्रीकी चिन्ता करते हुए पथिकोंके शरण्य (शरणागतवत्सल) अशोकको जलते हुए कामबाणोंको अपने शरीर पर स्वीकार कर रक्षा करते हुएके समान माना । लोकमें भी शरणागतवत्सल सज्जन व्यक्ति अपने ऊपर शत्रुओंके शस्त्रोंका प्रहार सहते हुए भी शरणागतकी रक्षा करता है । द्वितीय अर्थमें—उक्त आशासे समीपमें गये हुए पथिकोंको, अशोकने, रक्तवर्ण पल्लवोंसे जलते हुए कामास्त्रको स्वीकार कर मारा (वे अशोकके रक्तपल्लवोंको देखकर अधिक कामपीडित हुए अतएव नलने उस अशोकको वध करनेवालोंमें श्रेष्ठ माना । लोकमें भी कोई असज्जन व्यक्ति रक्षा पानेकी आशासे समीपमें आये हुए शरणागतोंका भी उनके शत्रुके भयङ्कर अस्त्रोंसे वध कर डालता है । अशोक-पल्लवोंके कामोद्दीपक होनेसे द्वितीय अर्थ ही उचित प्रतीत होता है और यही अर्थ 'प्रकाश' कारको भी विशेष सम्मत है ॥ १०१ ॥

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं क भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ॥१०२॥

विलासेति । विलासवापी विहारदीर्घिका तस्यास्तटे वीचीनां वादनात् पिकानामलीनाञ्च गीतेर्गानात् शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नलं तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं कर्तृ, आरराध आराधयामास । तथा हि—भाग्यभाक् भाग्यवान् जनः क भुज्यत इति भोगः सुखं तं नाप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १०२ ॥

क्रीडावापीके तीरपर तरङ्गोंके बजने (शब्द करने) से, पिकसमूह (या—पिकों तथा भ्रमरों) के गानेसे तथा मयूरोंके नृत्य-चातुर्यसे वनमें भी उस नलकी तौर्यत्रिक (क्रमशः—वादन, गायन तथा नर्तन) ने सेवा की, क्योंकि भाग्यवान् मनुष्य कहाँपर भोगको नहीं पाता ? अर्थात् भाग्यवान् मनुष्यको भोग-विलासके साधन सर्वत्र मिल जाते हैं। यद्यपि विरही होनेसे कामपीडित नलके लिए वे कामोद्दीपक वादनादि सुखकर नहीं थे तथापि विरक्त व्यक्तिके सामने स्थित तरुणी-तरुणी ही मानी जाती है, अतएव विरही भी नलके लिए प्रतिकूल होनेपर भी वे वादनादि भोग-साधन ही माने जायेंगे। अथवा—'''तौर्यत्रिकने खेद है कि नलको मारा अर्थात् पीडित किया, क्योंकि भाग्य (पूर्वकृत पुण्यपापजन्य सुख या दुःख) को पानेवाला मनुष्य भोग (पुण्यजन्य सुख या—पापजन्य दुःख) को कहाँ नहीं पाता है ? अर्थात् सर्वत्र पाता है, अतएव नलको महलमें तो कामपीड़ा होती ही थी, विनोदार्थ एकान्त वनमें आनेपर भी उससे छुटकारा नहीं मिला' यह दूसरा अर्थ करना चाहिये। इस दूसरे अर्थके लिए 'आ' उपसर्गको खेदवाचक तथा 'रराध' क्रियापदमें 'राध' धातुको हिंसार्थक मानना चाहिये ॥ १०२ ॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन् ।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥ १०३ ॥

तदर्थमिति। जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन्। तथैव शुकवदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः कृता गायनीकृताः शारिकाः शुकवध्वः स्वरामृतेन मधुरस्वरेणेत्यर्थः। उपजगुश्च ॥ १०३ ॥

उस (नलकी स्तुति करने) के लिए पढ़ाकर छोड़े गये चतुर (स्पष्ट बोलनेवाले, या—कही हुई स्तुतिका ठीक-ठीक अभ्यास किये हुए) तोतोंने उस नलकी स्तुति की तथा उस (नल) के पुरुषार्थ-गानको सिखायी गयी सारिकाओं (मैनों) ने अमृततुल्य मधुर स्वरसे नलके पौरुषको गाया ॥ १०२ ॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दतामोदभरं [1]बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥ १०४ ॥

इतीति। इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यमिष्टसौगन्ध्यसम्पन्नं वनमटन्, 'देशकालाध्वगन्तव्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणामि'ति वनस्य देशत्वात् कर्मत्वम्। असौ नलः पिकैः कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकैः स्तुतोऽपि च परं केवलं परं स्यादुत्तमानात्यवैरिदूरेषु केवल' इति विश्वः। बाह्यरामोदभरं सौरभ्यातिरेकमेवाविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमानन्दातिरेकरूपन्नाविन्दत न लब्धवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भावः। 'आमोदो गन्धहर्षयोरि'ति विश्वः ॥ १०४ ॥

---

१. 'बहिः परम्' इति पाठान्तरम्।

इस प्रकार अभीष्ट सौरभयुक्त वनमें घूमते हुए तथा तोतों एवं सारिकाओंसे स्तुत भी उस नलने बाहरी आनन्दको प्राप्त किया, किन्तु दमयन्तीके विरहके कारण भीतरी आनन्दको नहीं प्राप्त किया ॥ १०४ ॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।
व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥ १०५ ॥

करेणेति । स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं द्रुमालवालाम्बुषु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत् तादृक् शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुघने सर्वर्तुसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा ॥ १०५ ॥

(लोगोंने) उस नलको पेड़ोंके थालोंके पानीमें प्रवेश करनेकी शङ्कासे अपने पताका-चिह्न मछलीको हाथमें धारण किए हुए— (पक्षा०अपने राजचिह्न रेखारूप मीनको हाथमें धारण किये हुए) तथा सब ऋतुओंसे परिपूर्ण इस वनमें वसन्त ऋतुका अनुगमन करता हुआ कामदेव समझा ॥ १०५ ॥

लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥ १०६ ॥

लतेति । लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टेति मान्योक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां पश्यतोहरः पश्यन्तमनादृत्य हरः प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः । 'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' इति हलायुधः, पचाद्यच् 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वि'ति वक्तव्यादलुक् । सौरभ्ययुक्तं मधुमकरन्द एव गन्धवारि गंधोदकं तत्र प्रणीतलीलाप्लवनः । एतेन कृतलीलावगाहन इति शैत्योक्तिः, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत गुणवान् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः ॥ १०६ ॥

लतारूपिणी नायिकाको नृत्यकला सिखानेवाला, वृक्षोंके पुष्पोंके गन्धसमूहको चुराने वाला तथा पुष्परसरूप सुरभित जलमें (या—नलके 'मधुगन्ध' नामक सरोवरके जलमें) जलक्रीडा किया हुआ पवन इस नलकी सेवा करने लगा । [उक्त विशेषणत्रयसे पवन का मन्द, सुगन्ध तथा शीतल होना सूचित होता है, जो नलके लिए शुभ शकुनका सूचक है । लोक व्यवहारमें भी कोई परिचारक बड़े लोगोंकी पीठमर्दनादिके द्वारा सेवा करते हैं] ॥ १०६ ॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधिर्वने तडागो दहशेऽवनीभुजा ॥ १०७ ॥

अथेति । अथ वनालोकनानन्तरं मन्थनाद्भयेन धनार्थं पुनर्मथिष्यतीति भयादित्यर्थः । चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनं चिरपक्षपरादिभ्यस्त्नो वक्तव्य' इति

त्नप्रत्ययः। तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपी'त्यमरः। स्वं धनमादाय तस्मिन् वने निलीयान्तर्धाय निवसन् वर्त्तमानोऽम्बुधिरिवेत्युत्प्रेक्षा। तेन नलेन तडागः सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा ददृशे दृष्टः॥

उस राजा (नल) ने बहुत समय से बढ़े हुए, प्राचीन रत्नों (अपने धन) को मथने के भयसे लेकर उस (नलके उपवन) में छिपे हुए समुद्रके समान (अपने क्रीडासरको) देखा। [लोकमें भी कोई धनवान् व्यक्ति चोरीके भयसे अपने चिरसञ्चित धनको लेकर वनमें छिप जाता है। नलका क्रीडासर समुद्रके समान बहुत रत्नोंसे भरा हुआ एवं गम्भीर था]॥ १०७॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन्।
जलादर्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् बभार यः॥१०८॥

यदुक्तं धनमादायेति, तदेवात्र सम्पादयति नवभिः श्लोकैः पय इत्यादिभिः। यस्तडागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धच्छन्नस्य तटान्तभूमिदस्तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः। मृणालजालस्य बिसवृन्दस्य निभाद्व्याजादित्यपह्नवालंकारः, 'निभो व्याजसदृशयोरि'ति विश्वः। अनन्तोरगस्य शेषाहेः, पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान् तद्वद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनानामभ्रमुकामुकावलीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् बभार। तत्रैक एवैरावतः, अत्र त्वसङ्ख्या इति व्यतिरेकः। अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासौ मधुपिपासुवत्, 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् 'लषपते'त्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः॥

(आगेके १।११७) श्लोकमें समुद्रशोभाका चोर इस तडागको कहा गया है, अतएव वहाँ तक समुद्र-धर्मोंका वर्णन करते हैं—) जो तडाग पानीसे आधा ढके हुए तट प्रान्त भूमिसे बहिर्गत मृणाल-समूहके कपटसे शेषनागकी पूँछके समान सुन्दर कान्तिवाले तथा जलमें डूबे हुए ऐरावतके दन्त--समूहको धारण करता था। (पानीमें आधे छिपे हुए तथा आधे तीर भूमिके ऊपर निकले हुए मृणाल-समूह ऐसे मालूम पड़ते थे कि वे शेषनागकी पूँछके समान पानीमें डूबे हुए ऐरावतोंके दन्त-समूह हों। समुद्रसे एक ऐरावत निकला था, किन्तु इस तडागमें अनेक ऐरावत डूबे हुए थे, अतएव यह समुद्रसे भी श्रेष्ठ था)॥ १०८॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन्॥१०९॥

तटान्तेति। यस्तडागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्राप्त्या निमित्तेन च एकैकशस्तासां वीचीनां कशाताडनैः शातनैरुग्रताडनैः, अश्वादेस्ताडनी कशे'त्यमरः, चलद्वीचिकशान्तशातनैः उच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभाविस्युत्प्रेक्षा, व्यतिरेकश्च पूर्ववत्। एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवःसाम्यं गमयत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥१०९॥

जो (तड़ाग) तीरपर ठहरे हुए घोड़ोंकी (नील-श्वेत-कृष्ण आदि विविध) कान्तिके प्रतिबिम्बके सम्बन्धसे चञ्चल तरङ्गरूपी कोड़ोंके प्रहारोंसे मानो हजारों उच्चैःश्रवाको धारण करता था। [घोड़े कोड़ेकी प्रहारसे चञ्चल होकर चलते हैं, जलमें प्रतिबिम्बित वस्तुके तरङ्गसे चञ्चल होनेके कारण तीरपर ठहरे हुए नलके घोडोंके प्रतिबिम्ब जलके तरङ्गरूपी कोड़ोंकी मारसे चलते हुए अनेक उच्चैःश्रवा घोड़ोंके समान प्रतीत होते थे। वहाँ भी समुद्रमें एक उच्चैःश्रवासे तथा इस तडागमें अनेक उच्चैःश्रवाके होनेसे समुद्रकी अपेक्षा इस तडागकी श्रेष्ठता सूचित होती है तथा नलके घोड़ोंका उच्चैःश्रवाके समान होना सूचित होता है ॥ १०९ ॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद् बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु ॥११०॥

सितेति। यस्तडागः अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यामीकृतमध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य च्छलात् तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहलं सम्पूर्णम्बहुनेकं सुधांशोश्चन्द्रस्य कुलं वंशं वहन् सन् बभौ। अत्र च्छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकवस्तु पूर्ववत् ॥ ११० ॥

जो (तडाग) बीचमें भ्रमरोंके बैठनेसे श्यामवर्ण मध्यभागवाले श्वेतकमलोंके समूहके कपटसे अन्धकारके समान (कृष्णवर्ण) कलङ्कसे युक्त चन्द्रमाके बहुतसे समूहोंको धारण करता हुआ शोभता था—। [यहाँ भी एक चन्द्रमावाले समुद्रकी अपेक्षा अनेक चन्द्रकुलको धारण करनेवाले इस तडागकी श्रेष्ठता सूचित होती है] ॥ ११० ॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाहिभुवाऽन्वयायि यः ॥१११॥

रथाङ्गेति। यस्तडागो रथाङ्गं चक्रवाकः चक्रायुधञ्च यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो रूढः तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्य्यायस्वप्रयोगदर्शनात (रथाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगम्मन्यते कविः, तद्भाजा 'भजो ण्विः', कमलैः कमलया चानुषङ्गिणा संसर्गवता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुलसहचरेण अन्यत्र सखिशब्दः सादृश्यवचनः तत्सदृशेनेत्यर्थः, मृणालं शेषाहिरिवेत्युपमितिसमासः, तद्भुवा तदाकारेण अन्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्ममित्यमरः, तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात् अन्वयायि अनुयातोऽनुसृतोऽधिष्ठित इति यावत्। अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्नुत्य शार्ङ्गित्वारोपादपह्नवभेदः ॥ १११ ॥

जो (तडाग) चकवा-चकईयुक्त, कमलसहित, भ्रमर-समूहवाले तथा मृणालरूप जो शेष शरीर तद्रूप भूमिपर उत्पन्न कमलिनी स्तम्ब-समूहके कपटसे सुदर्शनचक्र युक्त लक्ष्मी

केसाथ रहनेवाले, भ्रमरसमूहके समान (श्याम कान्तिवाले) तथा मृणाल तुल्य (शुभ वर्ण) शेषनागकी शय्यावाले विष्णुसे अनुगत (युक्त) होता था। [क्षीर समुद्रमें उक्तरूप विष्णु भगवान् रहते हैं, अतएव यह तडाग भी उक्तरूप कमलिनी-स्तम्ब-समूहयुक्त होनेसे वैसा ही प्रतीत होता था] ॥ १११ ॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखाः विभराम्बभूव यः।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥११२॥

तरङ्गिणीरिति। यस्तडागोऽङ्कजुषोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च वा तरङ्गरेखा स्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपकम्बिभराम्बभूव बभार, 'भीह्री-भृहुवां श्लुवच्चे'ति भृञः विकल्पादाम्प्रत्ययः। किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीषदुद्बुद्धैः कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलखण्डकलिकाभिः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुमाङ्कुर-निकरश्चेति। अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालंकारः ॥ ११२ ॥

जो (तडाग) क्रोड (मध्य) में स्थित अपनी प्रिया तरङ्ग लेखारूपिणी नदियोंको धारण करता था तथा कुछ बाहर निकले हुए रक्तकमल-समूहके अङ्कुरोंसे विद्रुमके अङ्कुर-समूह वाला था—। [समुद्रमें जैसे उसकी प्यारी बहुत सी नदियाँ आकर मिलती हैं तथा विद्रुमके अङ्कुर-समूह रहते हैं, उसी प्रकार इस तडागके मध्यमें भी अपनेमें ही उत्पन्न होनेसे प्रिय तरङ्ग रेखारूपी नदियाँ थीं तथा बाहरकी ओर थोड़ा दीखते हुए रक्तकमलके अङ्कुर-समूह प्रवालाङ्कुर समूहरूप थे। अतएव यह तडाग समुद्रतुल्य था] ॥ ११२ ॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥११३॥

महीयस इति। यस्तडागः महीयसो महत्तरस्य गौरस्य च मेचकस्य च पङ्कज-मण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः सिता-सितयोरिति भावः। त्विषं विमुञ्चन् विसर्जन्निव नलेन मेने। अत्रच्छलेन विमुञ्च-न्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

गौर (श्वेत) तथा मेचक (चमकदार नीलवर्ण) समूहके कपटसे जिसको नलने पानीमें डूबे हुए चन्द्रमा तथा कालकूट (हलाहल विष) की कान्तिको छोड़ता हुआ सा माना। [समुद्र जिस प्रकार श्वेत चन्द्रमा तथा हलाहलसे युक्त है, उसी प्रकार इस तडाग में भी श्वेत तथा नील कमल-समूह होनेसे यह तडाग भी उन (चन्द्रमा तथा हलाहल) से युक्त था] ॥ ११३ ॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणरबालशैवाललतापरम्पराः।
ध्रुवन्दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

चलीकृता इति। यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्गकम्पनैश्चलीकृताः चंचली-कृताः अबालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पंक्तयः हव्यं वहतीति हव्य-

वाडवाग्निः 'बहश्चे'ति ण्विप्रत्ययः । तस्यच्छन्दोमात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषायां प्रयोगः । वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरेव स्थित्याऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्भवत्तमो भूमा येषान्ते च धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता तां दधुः । बहिरुत्थित-धूमपटलवद्बभुरित्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

जिस (तडाग) में तरङ्गोंके चलनेसे बड़े बड़े शैवाल लताके समूहने भीतरमें रहने वाले वाडवाग्निसे ऊपर उठे हुए धूम-बाहुल्यको धारण कर लिया है, ऐसा प्रतीत होता था । (तरङ्ग-समूहसे चञ्चल बड़े बड़े शैवाल-समूह अन्तःस्थित वडवाग्निके ऊपर उठती हुई धूमज्वालाके समान प्रतीत होते थे] ॥ ११४ ॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विबृण्वती ।

धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता ॥११५॥

प्रकाममिति आदित्यं सूर्यमवाप्य प्रकामं कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः करम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता अतएवामोदभरं परिमलसम्पदमानन्दसम्पदं च विबृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा स्वर्गलोकवासिनी-त्यर्थः । यस्तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या सरोजिनी पद्मिनी अप्सरा-यिताप्सर इवाचरिता । 'उपमानाद् कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति कर्तरि क्तः, 'ओज-सोऽप्सरसो नित्यमि'त्यप्सरसः सकारलोपः । श्लिष्टविशेषणेयमुपमा ॥ ११५ ॥

(जिस तडाग) में उत्पन्न, दिनमें सूर्यको प्राप्तकर सम्यक् प्रकारसे कण्टकोंके द्वारा व्याप्त, सौरभ-समूहको फैलाती हुई, विकसित शोभास्थान (कमल) रूप शरीरवाली कमलिनी विशिष्ट कामयुक्त इन्द्रदेवको प्राप्तकर रोमाञ्चोंसे व्याप्त हर्षातिशयको प्रकट करती हुई तथा स्वर्गसे धारण किये गये प्रकाशमान शोभा-स्थानरूप शरीरवाली अप्सराके समान आचरण करती है ॥ ११५ ॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।

निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान् धुवतः सपक्षताम् ॥ ११६ ॥

यदिति । यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायामः मरुत्तरङ्गै-र्वातवीजनैस्तरलश्चञ्चलः तटद्रुमः निमज्ज्य सती वर्त्तमानस्य पक्षान् धुवतः कम्प-यतो मैनाकमहीभृतस्तदाख्यस्य पर्वतस्य सपक्षतां साम्यं ततानेत्युपमा ॥११६॥

जिस (तडाग) के जल प्रवाहमें प्रतिबिम्बित विस्तारवाला तथा वायु चालित तरङ्गों से चञ्चल तीरस्थ वृक्ष (जलके भीतर) डूबकर स्थित तथा पंखोंको कँपाते हुए मैनाक पर्वतकी समानताको विस्तृत कर रहा है । [जिस तडागके जलमें प्रतिबिम्बित वायु प्रेरित तरङ्गोंसे चञ्चल तटस्थ द्रुम समुद्र-जलमें डूबकर पङ्ख हिलाते हुए मैनाक पर्वतके समान प्रतीत होते थे] ॥ ११६ ॥

(युग्मम्)

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥ ११७ ॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितञ्च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥ ११८ ॥

पयोधीति । अथ च नैषधो निषधानां राजा नलः, 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इत्यण् पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्सदृशः इत्यर्थः । अत्र केलिपल्वले क्रीडासरसि रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्तं चित्रमद्भुतं हिरण्मयं सुवर्णमयं 'दाण्डिनायना'दिना निपातनात् साधुः । हंसमबोधि ददर्शेत्यर्थः । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि चिण् । पुनस्तमेव विशिनष्टि–प्रियास्विति । बालासु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवनास्वित्यर्थः । अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात् । रतिक्षमासु युवतीषु द्विविधासु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्च्वोस्त्रोटयोः 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियामि'त्यमरः । चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जातपल्लवञ्च चंच्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रित्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन पल्लवसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचंचुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तं स्मरार्जितं स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः । राग एव महीरुहस्तस्याङ्कुरं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतं चंचुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्रतमित्यर्थः । ईदृशं हंसमबोधीति पूर्वेणान्वयः । 'नान्यस्ताच्छतुरि'ति नुम्प्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम् । तत्र रागं बिभ्रतम् इति हंसविशेषणात्, तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्वधिकरणभूतास्वित्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, अन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरणत्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतरपर्य्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरोधात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रमः केषाञ्चित्कस्मात्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्यविषयत्वमेव नाधिकरणत्वमेवमिति सिद्धान्तः, प्रियास्विति विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम् । अत्र रागमहीरुहाङ्कुरमिति रूपकं चंचुचरणमिषेणेत्यपह्नवानुप्राणितमिति सङ्करः । तेन च बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्त्योत्थापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्यैव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ११७–११८ ॥

उस नलने (उक्त प्रकारसे १।११७–११८) समुद्र शोभाको चुरानेवाले अर्थात् समुद्रके समान शोभमान उस क्रीडाके छोटे जलाशयमें रमणाभिलाषिणी हँसीके कलनाद ('अव्यक्त मधुर शब्द) में अभिलाषुक, (अल्पकामा) बाला प्रियाओं तथा सुरत-समर्था

युवती प्रियाओंमें दोनों चोंचों तथा दोनों चरणोंके कपटसे (क्रमशः) दो पत्रयुक्त तथा पल्लवयुक्त कामोत्पन्न अनुरागरूप वृक्षके अङ्कुरको धारण करते हुए, विचित्र ढङ्गसे (या (सुवर्णमय होनेसे आश्चर्यकारक) पासमें (नलके समीपमें, या—क्रीड़ातड़ागके समीपमें) विचरते धीरे धीरे चलते) हुए सुवर्णमय हंसको देखा। [बाला प्रियाओंमें अल्पकाम होनेसे कामोत्पादित अनुरागरूप वृक्षका अङ्कुर केवल दो पत्तोंवाला था, जिसे वह दो चञ्चुपुटके कपटसे धारण करता था, तथा सुरत-समर्थ युवती प्रियाओंमें प्रचुर काम होनेसे कामोत्पादित अनुरागरूप वृक्षका अङ्कुर पल्लवयुक्त था, जिसे वह पल्लवस्थानीय चरणाङ्गुलिके कपटसे धारण कर रहा था। यद्यपि इस तडागकी तुलना समुद्रसे करनेके कारण इसे पल्वल (छोटा जलाशय) कहना उचित नहीं है, तथापि नलके क्रीडातड़ागकी भावनासे इसे 'पल्वल' कहा गया है। अथवा—विस्तारके कारण समुद्रतुल्य तथा विनश्वर होनेसे पल्वलतुल्य शरीरमें विहार करते हुए रमणार्थिनी हंसी शक्तिके कलनाद (अव्यक्त ध्वनि) में आदरयुक्त हिरण्मय परमात्माको जैसे कोई योगी जानता (देखता) है, वैसे हंसको नलने देखा] ॥ ११७–११८ ॥

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम् ।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् ॥ ११९ ॥

महीति। महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं नितान्तं मनोविनोदयतीति तथोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगान्निर्भरमतिमात्रं विधुरो दुःखोऽपि मनागीषत्कुतूहलाक्रान्तमनाः कौतुकितचित्तोऽभूत्, गृहीतकामोऽभूदित्यर्थः ॥११९॥

प्रिया [दमयन्ती] के विरहसे अत्यन्त दुखी भी वे पृथ्वीपति नल निश्चितरूपसे मनोहर उस पक्षी (हंस) को थोड़ी देर देखकर (उसे ग्रहण करनेके लिए) कुछ कौतुक युक्त हो गये अर्थात् उसे पकड़नेकी इच्छा किये ॥ ११९ ॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥ १२० ॥

कथमीदृशे चापलये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशंक्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह—अवश्येति। अवश्यभव्येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये भव्यगेया'दिना कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः। अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिर्बन्धा निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे' इति विश्वः। वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्त्तते तयैव दिशा भृशावशात्मनाऽत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, 'पाशादिभ्यो यः' अनुगम्यते, वेधसः स्पृहा कर्म्म ॥ १२० ॥

(अत्यन्त कामपीडित नलको हंस पकड़ने का कौतुक कैसे हुआ ? या—नलकी सेनाको

देखकर भयभीत भी हंस कैसे सो गया, इसका समाधान अर्थान्तरन्यासके द्वारा करते हैं—) अवश्य होनेवाले होनहारमें निर्बाध ब्रह्माकी इच्छा जिस ओर दौड़ती है, मनुष्यका अत्यन्त पराधीन चित्त भी वायु समूहसे तृणके समान उसी दिशाको जाता है [होनहार को कोई नहीं टाल सकता] ॥ १२० ॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः।
सतिर्य्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः॥ १२१ ॥

चिकीर्षितार्थे दैवानुकूल्यं कार्यतो दर्शयति—अथेति। अथ नलदृष्टिप्राप्त्यनन्तरं रतिक्लमालसः स खगो हंसः तदा नलकुतूहलकाले क्षणमेकः पादो यस्यां क्रियाया-मित्येकपादिका एकपादेनावस्थानं गत्यर्थीयष्ठन्प्रत्ययः 'तद्धितार्थे'त्यादिना सङ्ख्या समासः, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन ताद्रूप्याभावाच्च पादः पदादेशः. तामेक-पादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः आवर्तितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं पल्वले निदद्रौ सुष्वाप। स्वभावोक्तिरलंकारः 'स्वभावोक्तिरलंकारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १२१ ॥

अनन्तर रति-खेद-खिन्न वह हंस गदनको तिरछा कर शिरको पङ्खसे छिपाकर एक पैरपर स्थित होकर उस तड़ागके पासमें ही सो गया ॥ १२१ ॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम्।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम्? ॥ १२२ ॥

सनालमिति। स नलः तं निद्राणं हंसम् आत्माननेन निर्जितप्रभं निजमुखनि राकृतशोभम् अत एव ह्रिया नतं सनालं नालसहितं काञ्चनं सौवर्णमम्बुजन्माम्बुजं किम्? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डितं भूषितं पीतवर्णमम्भःप्रभोरपाम्पत्युः वरुणस्य चामरं किम्? इति शब्दोऽत्राहार्य्यः इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। बुध्यतेर्लुङि तङः 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धकारः ॥ १२२ ॥

उस (नल) ने उस (सोये हुए हंस) को (एक चरण पर बैठे रहनेके कारण) अपने मुखसे पराजित शोभावाला (अतएव) लज्जासे नीचे मुख किया नाल (कमलदण्ड) सहित सुवर्णमय कमल समझा क्या? तथा विद्रुमके दण्ड सेशोभित पीतवर्ण वरुणका हिरण्मय चामर समझा क्या? (लाल एक चरणसे पीतवर्ण हंसको रक्तवर्ण नालवाला सुवर्णमय पीला कमल तथा रक्तवर्ण दण्डवाला सुवर्णमय वरुण का चामर समझना उचित ही है अर्थात् उक्तावस्थामें सोया हुआ हंस रक्तनालवाले सुवर्णमय कमलके समान तथा विद्रुमदण्डवाले सुवर्णमय वरुणके चामरके समान प्रतीत होता था] ॥ १२२ ॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्निगोदघुकामे किमु बद्धवर्मणी? ॥ १२३ ॥

कृतेति। ततस्तन्निदर्शनानन्तरं हयादश्वात्कृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य नल-

स्योपानहौ वर्मणी पादत्राणे। 'पादत्राणे उपानहौ' इत्यमरः। पदे चरणे तयोर्वनयोः सलिलकाननयोः 'वने सलिलकानने' इत्यमरः। प्रवालैः पल्लवैः तथाम्बुजैः पद्मैश्चेत्यर्थः, 'सहार्थे तृतीया' नियोद्धुं कामोऽभिलाषो ययोस्ते नियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थः। 'तुं काममनसोरपी'ति तुमुनो मकारलोपः, अतो बद्धवर्म्मणी किमु बद्धकवचे इव ते रेजतुः किमित्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

तदनन्तर घोड़ेसे उतरे हुए इस नलके जूता पहने हुए चरण वन अर्थात् जङ्गलके नवपल्लवोंसे तथा वन अर्थात् जलके कमलोंने युद्ध करनेके इच्छुक हो कवच बाँधे हुए के समान शोभते थे क्या ? [जूता पहने नलके चरण ऐसे प्रतीत होते थे कि वनोत्पन्न नवपल्लव तथा (जलोत्पन्न) कमलोंके साथ-युद्ध करनेके लिए उन्होंने कवच पहना हो, नलके चरणद्वय पल्लव तथा कमलके समान होनेसे उनके प्रतिभट थे] ॥ १२३ ॥

विधाय मूर्ति कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनोमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

विधायेति। अयं नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं ह्रस्वां गौरादित्वात् ङीप, बलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्तिं विधाय कायं सङ्कुच्येत्यर्थः। मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तहंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं पक्षिणं समधत्त, संहितवान् जग्राहेत्यर्थः स्वभावोक्तिरलङ्कारः॥ १२४ ॥

इस राजा (नल) ने बलिध्वंसी (नारायण) के समान कपटमें अपने शरीरको छोटा कर शब्दरहित चरणसे (हंसके) समीप जाकर हाथसे उस पक्षी अर्थात् हंसको स्वयं पकड़ लिया।

[पौराणिक कथा—बलिके यज्ञमें तीन चरणपरिमित भूमि माँगनेके लिए नारायणने कपटसे अपने शरीरको अत्यन्त छोटा बनाकर बलिको बाँधा था।] ॥ १२४ ॥

तदात्तमात्मानमवेत्य सम्भ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरुत्याड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥१२५॥

तदिति। स हंसः आत्मानं यदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान्। यसु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः। उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विक्रुश्य निरोद्धुः ग्रहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान्। अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥१२५॥

तब उस हंसमें अपनेको पकड़ा गया समझकर घबड़ाकर (या-भयसे) बार-बार उड़ने के लिए प्रयत्न किया, (फिर) उडनेमें निराश हो चिल्ला-चिल्लाकर पकड़नेवाले (नल) के दोनों हाथोंको काटने लगा ॥ १२५ ॥

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

स इति। ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेनाकुलं सङ्कुलं सरः कर्तृ उत्कतया उन्मनस्तया 'उत्क उन्मनाः' इति निपातनादिविधानाच्च साधुः। अनुकम्पितां प्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः करैरिति व्यस्तरूपकम्, पतत्रग्रहात्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिवेत्युत्प्रेक्षा। वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्, अत एवेवशब्दस्य उपमाबाधेनार्थानुसाराद्व्यवहितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति, रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ १२६ ॥

(सजातीय हंसके पकड़े जाने पर) भयसे उड़े हुए पक्षि-समूहसे व्याप्त (अतएव पक्षियोंके उड़नेसे उत्पन्न वायुसे) उठते हुए जलसे कम्पनको प्राप्त (वा-हंस-विषयक उत्कण्ठासे दयालुताको प्राप्त) वह तडाग तरङ्गोंसे चञ्चल कमलरूप हाथोंके द्वारा पक्षी (हंस) पकड़नेसे राजा नलको मना-सा कर रहा था। [हंसके पकड़े जानेसे तडागवासी पक्षी जब भयसे एक साथ उड़ गये और उनके पंखोंकी हवासे तडागका जल चंचल हो गया तथा तरङ्गोंसे कमल हिलने लगे, तब ऐसा प्रतीत होता था कि यह तडाग राजा नलको पक्षी पकड़नेसे उस प्रकार निषेध कर रहा है, जिस प्रकार अनुचित रूपसे किसीके द्वारा किसी व्यक्तिके पकड़े जाने पर दूसरा दयालु व्यक्ति हाथोंको हिलाकर वैसे काम करने से उस व्यक्तिको मना करता है] ॥ १२६ ॥

पतत्त्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चित श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम्।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥ १२७ ॥

पतत्त्रिणेति। रुचिरेण पतत्त्रिणा हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सरः विहाय प्रयान्त्याः गच्छन्त्याः श्रियो लक्ष्म्याश्चलन्त्यां पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा साम्यं यस्याः सा कलहंसमण्डली कूले चुकूज। यूथभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावस्तत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्याः सरःशोभायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्यां तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते। उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक इत्यवधेयम् ॥ १२७ ॥

सुन्दर उस पक्षी (हंस) से रहित तडागको छोड़कर जाती हुई लक्ष्मी (पक्षा०—शोभा) के (चलनेसे) चंचल चरण-कमलके नूपुरोंके समान राजहंस-समूह तीरपर कूजने (शब्द करने) लगा। [लोकमें भी प्रियसे रहित स्थानको छोड़कर जाती हुई नायिकाके चरणके नूपुर शब्द करते हैं। जाती हुई कहनेसे लक्ष्मीका वहाँसे तत्क्षण जाना ध्वनित होता है] ॥ १२७ ॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥ १२८॥

नेति। इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न, कुतः अङ्ग भोः ! यस्या वसुधाया

उज्झितस्थितिः त्यक्तमर्यादः ईदृशः अनपराधपक्षिधारकः त्वं पतिः पालकः, इत्यं खगाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैरुच्चध्वनिभिराचुक्रुशुः खलु। उक्त रीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरित्युत्प्रेक्षा गम्या ॥ १२८ ॥

'हे अङ्ग (राजन् नल) यह पृथ्वी निवासके योग्य नहीं है, जिसके तुम मर्यादा छोड़ने वाले ऐसे निरपराध हंसको पकड़नेवाले) पति (रक्षक या—स्वामी) हो' इस प्रकार पृथ्वीको छोड़कर आकाश का अ श्रय किये हुये अर्थात् पृथ्वीसे आकाशमें उड़े हुए पक्षी अधिक शब्द कर नलकी निन्दा करने लगे। [लोकमें भी लोग धनधान्यपूर्ण उपद्रवयुक्त देशका त्याग कर शून्य देशका आश्रय करते हैं] ॥ १२८ ॥

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः ।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥ १२९ ॥

नेति। इयमीदृग्जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्नसौन्दर्यत्वं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा। हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः। इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथास्मिन्नन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति सः तेन मानसौकसा हंसेन 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस' इत्यमरः। अवादि उक्तः। वदेः कर्मणि लुङ् ॥ १२९ ॥

'यह सोनेके पंखोंसे उत्पन्न सुन्दरता पक्षीकी नहीं देखी गयी है।' इस प्रकार हंसकी बार-बार प्रशंसा करते हुए राजा नलसे करपञ्जरस्थ मानसरोवरभवासी वह बोला— [अथ च—ब्राह्मणकी सुवर्ण-सामग्रीसे उत्पन्न सुन्दरता कहीं नहीं देखी गयी है.........अर्थात् ब्राह्मण प्रायः इतने अधिक धनी नहीं होते कि सुवर्णसे इस प्रकार व्याप्त हों। हाथ को पञ्जर कहनेसे नलका हंसको ढीले हाथसे पकड़ना अतएव हंसका अपीडित होना सूचित होता है ॥ १२९ ॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥१३०॥

तदेव चतुर्भिराह—धिगित्यादि। हेम्नो जन्म येषां तान् हेमजन्मनो हैमान् मम पक्षान् पतत्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशगं भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोरि'त्यमरः। 'धिगुपर्य्यादिषु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मम इति द्वितीया। तुषारशीकरैः हिमकणैरर्णवस्येव तव एभिः पक्षैः कियान् कमलाया लक्ष्म्याः कमलस्य जलजस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत्, न कियानित्यर्थः ॥ १३० ॥

सुवर्णोत्पन्न मेरे पंखोंको देखकर लोभसे चञ्चल तुम्हारे मनको धिक्कार है, समुद्रको ओसकी बूँदोंसे जलके समान समृद्धिमान् तुमको इन (सुवर्णोत्पन्न पंखों) से कितनी धनकी वृद्धि होगी ? अर्थात् कुछ नहीं । [जिस प्रकार अथाह जलसे पूर्ण समुद्र का जल ओसकी बूँदों से कुछ भी नहीं बढ़ सकता, उसी प्रकार समस्तैश्वर्यसम्पन्न तुम्हारा धन इन

थोड़े सुवर्ण-पक्षोंसे कदापि नहीं बढ़ सकता, अतएव उनके लिए क्षोभ करनेसे चञ्चल तुम्हारे मनको धिक्कार है] ॥ १३० ॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥ १३१ ॥

नेति । हे नृप ! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्त्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो विस्रब्धचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थः मम वधः केवलं प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः । ततः किमत आह—विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि निबर्हणं हिंसनं धर्मधनैर्धर्मपरैः मन्वादिभिः विशिष्यातिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

तुम्हें देखनेसे विश्वस्तहृदयवाले मेरी हिंसा केवल जीवहिंसा मात्र नहीं है, क्योंकि धार्मिकोंने विश्वस्त शत्रुओंकी भी हिंसाको विशेष निन्दित कहा है ॥ १३१ ॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ? ।
धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्त्रिणि ॥ १३२ ॥

पदे पद इति । रणोद्भटाः रणेषु प्रचण्डाः भटा योधाः पदे-पदे सन्ति सर्वत्र सन्तीत्यर्थः, वीप्सायां द्विर्भावः एव हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु न पूर्यते अत्र काकुः न पूर्यते किमित्यर्थः । नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवधरूपं कुविक्रमं धिक् यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्त्रिणि क्रियत इति विशेषः ॥ १३२ ॥

पद-पदपर युद्धमें बहादुर योद्धा हैं, उनमें तुम्हारा हिंसानुराग नहीं पूरा होता क्या ? अर्थात् अवश्य पूरा होता, (अतएव) हे राजन् ! तुम्हारे इस निन्दित पराक्रम (अथवा भूमिपर प्रसिद्ध पराक्रम) को धिक्कार है, जो कृपापात्र दीन पक्षी पर प्रयुक्त हो रहा है । [अथवा—पद-पदपर रणमें बहादुर योद्धा नहीं हैं ? जिनमें तुम्हारा यह हिंसानुराग पूरा होता……। अथवा—पद-पदपर युद्धमें बहादुर शूरवीर हैं (तथापि) तुम्हारा हिंसानुराग नम्रों (मेरे जैसे दीनों) में पूरा होता है ? अर्थात् उन शूरवीरों के साथ युद्ध करने में असमर्थ होनेसे तुम मुझ जैसे नतमस्तक दीनोंमें अपनी हिंसा-प्रवृत्ति को पूरा करते हो, यह अनुचित है ।………] ॥ १३२ ॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥ १३३ ॥

फलेनेति । यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां जलरुहां पद्मादीनाम् अन्यत्र वारिरुहां भूरुहाञ्च फलेन मूलेन चेत्थमनेन दृश्यमानाप्रकारेण वृत्तयो जीविकाः तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भावः । दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थः । पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थः, हृणीयते कण्ड्वा-

दियगन्ताह्लद् तत्र ह्णीङिति ङित्करणादात्मनेपदम् । अकार्यकारिणं भर्तारमपि ग्रार्हन्ते स्त्रिय इति भावः ॥ ११३ ॥

(राजाका दण्ड देना धर्म है, इस पर वह हंस कहता है—) जिसकी जीविका जलभूमिमें उत्पन्न अर्थात् कमलोंके फल (कमलगट्टा) तथा मूल (कमल—नालकी जड़) से,(अथवा—जलमें उत्पन्न होनेवाले कमलादिके तथा भूमिपर उत्पन्न होने वाले आम्रादि के फल तथा, कन्द से) मुनिके समान है, ऐसे (दयापात्र) मुझपर भी दण्ड प्रयोग करने वाले तुम्हारे ऐसे पतिसे पृथ्वी क्यों नहीं लज्जित होती ? [दीनोंको दुःख देते हुए पति को देखकर उसकी स्त्री जिस प्रकार लज्जित होती है, उसी प्रकार फल मूलसे जीविका निर्वाह करने वाले मुनिके तुल्य मुझको दण्ड देते हुए तुम्हें देखकर पृथ्वीको भी लज्जित होना चाहिये]॥ १३३ ॥

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः ।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥ १३४ ॥

इतीति । इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशैर्दोषालम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्विकारैः 'एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ती'ति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः । पश्चिकथनात् चित्रं परैः स्वाकार्योद्घाटनादपत्रया वैलक्ष्यं, परात्तिदर्शनेन तन्निवर्तनेच्छा या कृपा, ताभिः सह वर्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य विधाय 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः । दयासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगाः करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार प्रवेशयामासेत्यर्थः । समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः ॥ १३४ ॥

वह पक्षी (हंस) इस प्रकारके (१।१२०-१३३) वचनोंसे उस (नल) को आश्चर्य, दुःख तथा कृपासे युक्त बनाकर दया-समुद्र उनके हृदयमें करुणरस (कारुण्यरूपी जल) की नदीरूपिणी वाणियोंको प्रवाहित कराया अर्थात् समुद्रमें जलपूर्ण नदियोंके समान दयापूर्ण नलके हृदयमें करुणारससे युक्त वचनोंको प्रविष्ट कराया—नलसे करुणापूर्ण वचन कहने लगा—[नल सुवर्णमय हंस देखनेसे आश्चर्यित, अपनी निन्दा सुननेसे लज्जित तथा उसके वचन सुननेसे कृपासे युक्त हो रहे थे] ॥ १३४ ॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो ॥१३५॥

तावद्गिरः प्रपञ्चयति—मदित्यादिना । तत्र तावद् दैवमुपालभते हे विधे ! जननी अहमेवैकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थः । जरातुरा स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः, वरटा स्वभार्या 'हंसस्य योषिद्वरटे'त्यमरः । नवप्रसूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या एष जनः स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्गतिः शरणं तं जनं मामित्यर्थः, अर्दयन् पीडयन् हे विधे ! विधातः ! त्वां करुणा न रुणद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः,, न रुणद्धि किमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

हे देव ! मैं ही जिसका इकलौता पुत्र हूँ ऐसी तथा बुढ़ापेसे पीड़ित मेरी माता है तथा नवीन प्रसववाली एवं पतिव्रता (या—दीना) मेरी प्रिया हंसी हैं, उन दोनों (माता तथा पत्नी) का यह व्यक्ति अर्थात् मैं गति (जीविका चलानेवाला) हूँ, उसे अर्थात् मुझे मारते हुए तुम्हें करुणा नहीं रोकती है, अहो ! आश्चर्य (या—खेद) है। (अथवा—मुझसे एक पुत्र है जिसकी ऐसी, अजननी अर्थात् मेरे मरनेके बाद भी पुत्रोत्पादन नहीं करने वाली, बुढ़ापेसे पीड़ित) पतिव्रता (होनेसे युवती होने पर भी पुनः विवाह नहीं करनेसे सन्तानोत्पादन नहीं करने वाली), विप्रमें चेष्टावाली (या—मेरे मरने पर आश्रयान्तर नहीं होनेसे पर्वत-शिखर पर घूम घूमकर आत्मरक्षा करने वाली वरटा अर्थात् मेरी प्रिया हंसी है, उन दोनों अर्थात् उस प्रिया हंसी तथा पुत्रकी गति (जीविका चलाने वाला) यह व्यक्ति अर्थात् मैं हूँ,……। प्रथम अर्थमें—अन्य पुत्र नहीं होनेसे तथा स्वय जरापीड़ित होनेसे एवं मेरी स्त्रीके नवप्रसवा होनेसे माताकी रक्षाका कोई उपाय नहीं है तथा स्त्री भी नवप्रसूति तथा पतिव्रता हैं, अत एव अब मेरे मरनेपर वह दूसरी सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकती और पतिविरहित होकर न तो स्वयं जीविका-निर्वाह ही कर सकती है, इन दोनों की मैं जीविका चलाने वाला था, वह मर ही रहा हूँ। अत एव ऐसे व्यक्तिको मारते समय देव होने पर भी तुम्हें दया नहीं आती तो मनुष्य इस नलसे दयाकी आशा मैं कैसे करूँ ? द्वितीय अर्थमें—मेरी प्रिया हंसी बुढ़ापे से पीड़ित नहीं है, फिर भी तपस्विनी (पतिव्रता) होनेसे पुनः दूसरे पतिके साथ विवाह कर पुत्रोत्पादन नहीं कर सकती तथा सर्वदा पर्वत-शिखरों पर ही मेरे मर जाने पर घूमती हुई आत्मारक्षा करेगी अपने अन्यतम निवासस्थान मानसरोवरमें कभी नहीं रहेगी, उन दोनों (प्रिया हंसी तथा पुत्रकी) मैं ही जीविका चलानेवाला हूँ……] ॥ १३५ ॥

मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥ १३६ ॥

अथ मातरं शोचयति—मुहूर्त्तेति। हे मातः ! सखायः सुहृदो दयासखाः सदयाः भवनिन्दया संसारगर्हणेन मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्रवदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तः दुःखेनोत्तीर्य्यत इति दुरुत्तरो दुस्तरः तरतेः कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः ॥ १३६ ॥

आँसू गिराते हुए तथा दयायुक्त मेरे थोड़े समय तक संसारकी (संसार अनित्य है, यहाँ आकर अन्तमें सबकी यही गति—मृत्यु होती है, काल किसीको नहीं छोड़ता, इत्यादि) निन्दासे दुःखको भूल जायेंगे, किन्तु हे मातः ! पुत्रका शोकसमुद्र तुम्हारे लिए ही दुःखसे पार करने योग्य होगा अर्थात् मित्रोंको मेरी मृत्युसे क्षणमात्र कष्ट होगा, किन्तु तुम्हें जीवन पर्यन्त कष्ट सहना पड़ेगा ॥ १३६ ॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।

विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः ?

अथ भार्य्यामुद्दिश्य विलपति—मदर्थेत्यादिना। हे प्रिये ! मह्यमिमे मदर्थे 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' तयोः सन्देशमृणालयोः स्वाधिकविलसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः प्रियः कियद् दूरे देशे वर्त्तते इति त्वया उदिते उक्ते पृष्टे सतीत्यर्थः। अथ-प्रश्नानन्तरं रुदतः अनिष्टोच्चारणाशक्त्या अश्रूणि विमुञ्चतः पक्षिणः इतो गच्छतो गतान्विलोकयन्त्यास्तव स क्षणः स कालः कीदृग्भविता भविष्यति ? वज्रपातप्राय इति भावः। कर्त्तरि लुट् ॥ १३७ ॥

हे प्रिये ! मेरे (हंसीके) लिए सन्देश (प्रिया जाकर इस प्रकार कहना ऐसी मेरी (हंसकी) आज्ञा) तथा मृणाल (मुझ हंसीके लिये भक्ष्य कमलनाल) के विषय में आलसी मेरा (हंसीका) प्रिय (हंस) कितनी दूर है ?" ऐसा तुम्हारे कहने पर रोते हुए (मेरे सहचर) पक्षियोंको देखती हुई तुम्हारा वह समय कैसा होगा ? अर्थात् अनिर्वचनीय दुःखप्रद होगा। [अथवा—'मेरे (हंसीके) लिए मृणालोंको ले आना' ऐसे मेरे (हंसीके) सन्देश (यहाँसे जाते समय कहे गये वचन) में आलसी ......] ॥ ११७ ॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥१३८॥

कथमिति। हे विधातः ! प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनस्तादृक् तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्म्माणकात्तव पाणिपङ्कजात्पङ्कजमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः। मयिविषये वल्लभया सह वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा अतएव ललाटं तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि 'असूर्य्यललाटयोर्दृशितपोरि'ति खश्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं निर्गता निःसृता ? अत्र कारणात् विरुद्धकार्य्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य भावयेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिर्मते'ति ॥

हे ब्रह्मन् ! प्रिया की शीतलता तथा कोमलताके शिल्पी (रचयिता-निपुण कारीगर) तुम्हारे हस्तकमलसे 'तुम प्रियासे विरह पावोगे' ऐसा ललाटको तपानेवाला कठोर अक्षर का लेख कैसे निकला ? [शीतलता तथा कोमलताके चतुर कारीगर तुम्हारे स्वयं भी शीतल तथा कोमल करकमलसे शीतल तथा कोमल वस्तु की ही सृष्टि होना उचित था, न कि तद्विपरीत उष्ण तथा कठोर उक्तरूप सृष्टि होना] ॥ १३८ ॥

अपि[1] स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं वतोदिता।
मुखानि लोलाक्षि ! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥

अपीति। अपि चेत्यपेरर्थः। अद्यास्मिन् दिने 'सद्यःपरुदि'त्यादिना निपातः स्वयूथ्यैः स्वसङ्घचरैर्हंसैः कर्तृभिरशनिक्षतोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमंवृत्तान्तम् अनर्थवार्त्ता

---

१. 'अयि' इति पाठान्तरम्।

उदिता उक्ता सती वदेर्ब्रूञर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः 'वचिस्वपीत्यादिना सम्प्रसारणं, हे लोलाक्षि ! दशदिशां मुखानि शून्यान्यलक्ष्याकाराणि विलोकयिष्यसि असंशयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः, बतेति खेदे ॥ १३९ ॥

और हे लोलाक्षि (स्वभावतः चपल-नेत्रवाली प्रिये) ! आज अपने झुण्डवाले हंसोंसे वज्रप्रहार तुल्य मेरे वृत्तान्त (मृत्यु-समाचार) को कहने पर खेद है कि तुम दशों दिशाओं को सूना देखोगी ॥ १३९ ॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदास्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥ १४० ॥

ममैवेति । हे चित्राङ्गि ! लोहितचञ्चुचरणत्वाद्विचित्रपात्रे ! मम शोकेनैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियते यदि तर्हि दैवेन हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे, 'हा विस्मयविषादयोर'ति विश्वः । कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरप्यभावे पोषकाभावान्मृताः, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ॥ १४० ॥

हे विचित्र (सुन्दर) अङ्गोंवाली प्रिये ! मेरे ही शोक से विदीर्णहृदया तुम यदि मर जावोगी तो हा ! दैवसें मारा गया भी मैं फिर मारा गया, क्योंकि तुम्हारे बच्चे (तुम्हारे विना) अवश्य ही मर जायेंगे । [मेरे विना तुम भी उन बच्चोंका पालन-पोषण कर सकती हो, किन्तु यदि मेरे वियोगसे तुम मर जावोगी तो उनकी निश्चित ही मृत्यु हो जायगी, इस प्रकार मेरे मरनेपर मेरा परिवार नष्ट होता हुआ प्रतीत होता है, अतएव मुझे दुर्दैवने यह बड़ा दुःसह कष्ट दिया] ॥ १४० ॥

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥ १४१ ॥

ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह—तवापीति । हे प्रिये ! बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धाः कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः, अस्फुटितेक्षणाः अद्याप्यनुन्मीलितेक्षणा मम ते पूर्वोक्ताः शिशवः तवापि न केवलं ममैवेति भावः । विरहाद्विपत्तेः क्षुधाकुलाः क्षुत्पीडिताः तेषु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, 'कुलायो नीडमस्त्रियामि'त्यमरः । विलुठ्य परिवृत्य क्षणेन गताः मृतप्रायाः, हा हेति खेदे ॥१४१॥

(हे प्रिये !) मेरे बहुत मनोरथोंसे प्राप्त, अस्फुटित नत्रोंवाले वे (बच्चे) तुम्हारे भी (यथा मेरे भी) विरहसे भूखोंसे व्याकुल हो उन घोसलोंके समूहोंमें लोटकर क्षणमात्रमें चल बसेंगे अथात् मर जायेंगे; हाय ! हाय !! ॥ १४१ ॥

सुताः कमाहूय चिराय चूङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ? ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः ॥१४२॥

सुता इति । हे सुताः ! चूङ्कृतैश्चूङ्कारैश्चिराय कं प्रति कमपि प्रति मुखानि

कस्मापि चच्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्वं कथमात्रशेषा भवत ! कुत्रापि पित्रोर्दर्शनाद् म्रियध्वं, प्राप्तकाले लोट्, मरणकालः प्राप्त इत्यर्थः। इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः। गम्यमानाशस्वादप्रयोगः। प्रमीश्य मूर्च्छां प्राप्य स हंसः स्ततस्य दयार्द्रभावादश्रुवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे। प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरुक्ता ॥ १४२ ॥

(इस प्रकार प्रियाको लक्ष्य कर कहनेके बाद हंस अपने पुत्रोंको लक्ष्य कर कहता है—) हे पुत्रो ! 'चूँ-चूँ' करते हुए चिरकालतक किसे बुलाकर (भोजन-पदार्थ माँगोगे) ? तथा मुखोंको कँपाते हुए (बोलना सीखोगे ? अर्थात् किसीसे नहीं, अतएव) कथाशेष हो (मर) जावोगे' ऐसा कह मूर्च्छित होकर वह हंस (दयाके कारण) नीचे बहते हुए राजा (नल) के आँसूके द्वारा भींगनेसे होशमें आया। [उक्त वचन कहते कहते हंस मूर्च्छित हो गया, तथा नलने उस हंसके करुण विलापसे दयार्द्र हो इतने आँसू गिराये कि उसीके प्रवाहसे भींगा हुआ हंस होशमें आ गया। यहाँ पर हंसने बच्चेसे भोजन माँगने तथा बोलना सीखनेकी बात नहीं कही है, किन्तु दुःखातिशयके कारण आधी ही बात कह सका है, ऐसा कहनेसे यहाँ करुणरस विशेष पुष्ट होता है। अथवा—'चूँ-चूँ' करते हुए किसे बुलाकर तथा काँपते हुए मुखको किसके प्रति करके गोष्ठी आदिमें बोलना सीखोगे ? अर्थात् माता-पिताकी मृत्यु हो जानेसे तुम्हें सभामें बोलना सिखाकर कौन चतुर करेगा ?…] ॥

इत्थममु विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्तैरि'ति काव्यलक्षणाद् वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह—इत्थमित्यादिना। इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसमवनिपालो नलो दीनेष्वार्तेषु दयालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकितं, यस्मै यदर्थं रूपदर्शनार्थमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान्। 'दोधकवृत्तमिदम्भभभा गावि'ति लक्षणात् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार (१।१३५–१४२) विलाप करते हुए इस हंसको (मैंने) जिस (रूपको देखने) के लिए तुम्हें पकड़ा था, वह रूप देख लिया, अब तुम इच्छानुसार (जहाँ चाहो, वहाँ) जाओ' ऐसा कहकर दीनदयालु होनेसे राजा नलने छोड़ दिया ॥ १४३ ॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्त्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् ।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥

आनन्देति। हंसः चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजनाजनयतां कुर्वतां निजबान्धवानां 'बन्धमुक्तं बान्धवा नीराजयन्ती'ति समाचारः। ग्राङ्मोचनात्पूर्वं शोकेन निर्गलिता निःसृता नेत्रपयःप्रवाहाःबाष्पपूरास्तानानन्दजाश्रुभिरानन्दबाष्पैरनुस्त्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान्। अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं बन्धमुक्तं स्वयूथ्यभ्रमणं छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्नु-

धमेदः। अत्र चमत्कारित्वान्मङ्गलाचाररूपत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतश्लोकेष्वानन्दशब्द-प्रयोगः, यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ती'ति। वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गा' इति लक्षणात्। सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः, यथाह दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्य-वृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ॥' इति ॥ १४४ ॥

उस (हंस) ने चक्राकार (गोल) भ्रमण करनेके कपटसे (हंसके छूटनेके हर्षसे) आरती करते हुए अपने वान्धवोंको पहले (पकड़े जानेपर) शोकसे निकलते हुए नेत्राम्बु-प्रवाहवालोंको (तथा छूटनेपर) आनन्दजन्य हर्षाश्रु से युक्त कर दिया। [राजा नलके द्वारा हंसके पकड़े जानेपर उसके सहचर बन्धु पहले रोकर तथा उस हंसके छूटनेपर हर्षित होकर आँसू बहाने लगे और हंसके चारों ओर मँडराते (चक्कर काटकर आते) हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानों वे बन्धनमुक्त हंसकी आरती कर रहे हों। लोकमें भी किसी इष्ट बन्धुके पकड़े जाने पर लोग दुःखसे आँसू बहाते हैं तथा छूटने पर हर्षसे आँसू बहाते हैं तथा उस कारागारादिके बन्धनसे मुक्त इष्ट बन्धुकी आरती करते हैं] ॥ १४४ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

अथ कविः काव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्तिं श्लोकबन्धेनाह—श्रीहर्षमिति कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वज्रमणिः हीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामानं यं सुतं सुषुवे जनयामास मामल्लदेवी नाम स्वमाता सा च यं सुतं सुषुवे, तस्य श्रीहर्षस्य यश्चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तन-मुपासना तस्य फले फलभूते शृङ्गारभङ्ग्या शृङ्गाररसेन चारुणि निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्त इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ १४५ ॥

इति 'मल्लिनाथसूरि'विरचितायां 'जीवातु'समाख्यायां नैषधटीकायां
प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

कविराज-समूहके मुकुटके अलङ्कारके हीरा 'श्रीहीर' तथा 'मामल्लदेवी' ने इन्द्रिय-समूहको जीतनेवाले जिस 'श्रीहर्ष'को उत्पन्न किया, उसके चिन्तामणि मन्त्र (१४।८५) के चिन्तन (जपादि) के फलस्वरूप, शृङ्गार-रचनासे मनोहर 'नैषधीय चरित' नामक महाकाव्यमें प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४५ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

—०—

द्वितीयः सर्गः

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः ।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

अधिगत्येति । अथ मोचनानन्तरं स द्विजः पक्षी विप्रश्च, 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा इत्यमरः । जगत्यधीश्वरात् क्षमापतेः भुवनपतेश्च 'जगती भुवने क्षमायामि'ति विश्वः । पुरुषोत्तमात् पुरुषश्रेष्ठात् विष्णोश्च ततः तस्मात् प्रकृतान्नलात् अन्यत्र प्रसिद्धाच्च मुक्तिं मोचनं निर्वाणञ्च अधिगत्य प्राप्य य आनन्दो वचसामपि न गोचरः वक्तुमशक्यः, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यादेरवाङ्मानसगोचरश्च तमानन्दं परमानन्दञ्च अविन्दत अलभत, विदेर्लाभार्थात् 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इत्यात्मनेपदं, 'शे मुचादीनामि'ति नुमागमः । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयश्लेषानुपपत्तेर्भेदान्तरानवकाशाल्लक्षणायाश्च मुख्यार्थबाधमन्तरेणासम्भवात् ध्वनिरेवायं, ब्राह्मणस्य विष्णोर्मोक्षानन्दप्राप्तिलक्षणार्थान्तरप्रतीतेर्न श्लेषः प्रकृताप्रकृतोभयगतः । अस्मिन् सर्गे एकशतश्लोकपर्यन्तं वियोगिनीवृत्तम् । 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी'ति लक्षणादिति संक्षेपः ॥ १ ॥

तदनन्तर वह पक्षी (हंस) उस पुरुषश्रेष्ठ भूपति नलसे छुटकारा पाकर वचनके भी ('अपि') शब्दसे मनके भी) अविषय अर्थात् अनिर्वचनीय आनन्दको पाया (पक्षा०—वह ब्राह्मण जगदीश श्रीविष्णु भगवान्से मुक्ति (तथा मुक्ति-साधनभूत ज्ञान) को पाकर अनिर्वचनीय आनन्दको पाया ॥ १ ॥

अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम् ।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

अधुनीतेति । स खगो हंसः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां नृपकरपीडनादुद्बुद्धय पतत्रीकृतां 'पतत्रञ्च तनूरुहमि'त्यमरः । तनुं शरीरं नैकधा, नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः । नञ् समासे नलोपप्रसङ्गः । अधुनीत धूतवान् धूञः क्र्यादेर्लङिति तङ्, 'प्वादीनां ह्रस्व' इति ह्रस्वः । किञ्च करयन्त्रणेन नृपकरपीडनेन दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे पक्षती पक्षमूले 'स्त्री पक्षतिः, पक्षमूलमि'त्यमरः, चञ्चुपुटेन त्रोटिसम्पुटेन व्यलिखत् विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः । एतदादेः श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २ ॥

वह पक्षी (हंस) फुलाये गये रोमोंवाले शरीरको अनेक प्रकारसे कँपाया तथा (नलके) हाथके द्वारा दबनेसे दन्तुरित (उच्चावच) मध्य भागवाले पङ्खमूलोंको चोंचसे खुजलाया ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा ।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

अयमिति। अयं हंसः स्खलन्नपि क्षण एव मोचनानन्तरमेवेत्यर्थः। एकतमेनाङ्घ्रिणा पततः पत्रमूलस्याधिमध्यं मध्ये ऊर्ध्वंगामिनी जङ्घा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा कण्डूयनेन तत्तथा द्रुतं कण्डूयितमौलिः सत्वरं कर्षितचूडः सन् आलयं निजावासं शिश्रिये श्रितवान् ॥ ३ ॥

वह (हंस नलके पाससे) छूटते ही पङ्खमूलके मध्यमें ऊपर जङ्घा करके झटपट सिरको खुजलाया तथा अपने निवास स्थानपर (घोंसलेमें या–तडाग तट पर) पहुँच गया ॥ ३ ॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित् ।
नुनुदे तनुकण्डुपण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

स इति। पण्डितः निपुणः स हंसः गरुतः पत्रा एव वनदुर्गं तत्र दुर्ग्रहान् ग्रहीतुमशक्यान् कटुतीक्ष्णान्दशतः दन्तैस्तुदतः क्वचित् कुत्रचिदेव सतः वर्त्तमानान् कीटान् क्षुद्रजन्तून् पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटेः कोट्या अग्रेण कुट्टनैः घट्टनैस्तनुरल्पा कण्डूर्यस्मिन् तनुकण्डु यथा तथा 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्ये'ति ह्रस्वः। नुनुदे निवारितवान् 'स्वरितञित' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४ ॥

(खुजलानेमें) चतुर वह हंस पङ्ख–समूहरूप दुर्गमें (रहनेसे) कठिनाईसे पकड़े जाने योग्य तथा खूब काटते हुए एवं कहीं (अज्ञात स्थानमें) स्थित कीड़ोंको तेज (नुकीले) चोंचोंके अग्रभागके द्वारा आहत करनेसे शरीरकी खुजलाहटको दूर किया [लोकमें भी कोई कुशल योद्धा वनादि दुर्गम भूमिमें रहनेके कारण कठिनाईसे पकड़ने योग्य एवं पीडा देते हुए शत्रुओंको तीक्ष्ण शस्त्रोंसे मारकर उनकी बाधाको दूर करता है] ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्य्यव्रियताथ शङ्कितैः ।
उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

अयमिति। अयं हंसस्तडागनीडजैः सरःपक्षिभिस्तत्रत्यहंसैः 'नीडोद्भवा गरुत्मन्त' इत्यमरः। लघु क्षिप्रमेत्यागत्य पर्य्यव्रियत परिवृतः, वृणोतेः कर्मणि। लङ्। अथ परिवेष्टनानन्तरमस्य हंसस्य करग्रहजान्नलकरपीडनजन्याद्विकृतादेव वैकृताद्विलुण्ठितपक्षत्वरूपाद्विकारदर्शनादित्यर्थः, स्वार्थेऽण् प्रत्ययः, शङ्कितैश्चकितैः अतएव विकस्वरस्वरैरुच्चैर्घोषैस्तैरुदडीयतोड्डीनं डीङो भावे लङ् ॥ ५ ॥

(नलके) सरोवरपर रहनेवाले पक्षियोंने इस हंसको झट–पट चारो तरफसे घेर लिया और बादमें (नलके) हाथसे पकड़नेके विकार (हंसके उच्चावच शरीरभाग) से डरे हुए वे उच्चस्वर करते हुए उड़ गये। [लोकमें भी किसी तीर्थादि में दान लेनेके लिए दाताको बहुत–से प्रतिग्रहीता घेर लेते हैं तथा दानजन्य कलहकी आशङ्कासे हल्ला करते हुए वहांसे चले जाते हैं] ॥ ५ ॥

दधतो बहुशैवलक्ष्मतां घृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः ।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

दधत इति । अथ स खगो हंसः बहुशैवला भूरिशैवला क्ष्मा भूर्यस्य तद्वहुशै-वलक्ष्मः तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानात् सरसः पल्वलात् बहूनि शैवलक्ष्माणि शिवभक्त चिह्नानि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानस्य नलस्य रुद्राक्ष णि मधुव्रता इवेत्युपमितसमासः, ते धृता येन तं करं कोकनदभ्रमा-द्रक्तोत्पलभ्रान्तेरिव पनर्ययौ, कोकनदन्तु रुद्राक्षसदृशमधुव्रतं खलु । अत्र बहुशैव-लेत्यादौ शब्दश्लेषस्तदनु पाणिता रुद्राक्षमधुव्रतमित्युपमा तत्सापेक्षा चेयं कोकनद-भ्रमादिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ६ ॥

वह पक्षी (हंस) बहुत शेवाल युक्त भूमि वाले सरोवरसे शिव-सम्बन्धी (या-शिव-भक्तोंकी) बहुत-से चिह्नोंको धारण करते हुए नलके (मानो भ्रमरसदृश रुद्राक्षको धारण करते हुए) हाथको रुद्राक्ष-सदृश भ्रमरों वाले रक्तकमलके भ्रमसे पुनः प्राप्त किया । [बहुतसे शेवाल युक्त भूमिवाले तडागके रुद्राक्ष तुल्य भ्रमरोंसे युक्त रक्त कमलके भ्रम से वह हंस बहुतसे शैव (शिवभक्त या-शिवसम्बन्धी, या-मङ्गलकारक सामुद्रिक शास्त्रोक्त शुभ) चिह्नोंवाले (रक्तवर्ण) नलके हाथको पुनः प्राप्त किया अर्थात् नलके हाथमें पुनः आगया अथवा-रुद्राक्षके मधुतुल्य श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करते हुए हाथको......... । अथवा-रुद्रको नहीं सहन करने वाले अर्थात् शिवद्रोहियोंको पराभूत करने वाले व्रत (नियम-प्रावेश) से युक्त=शिवद्रोहि पराभवकारक नल-करको...... । अथवा-गूंजते हुए एवं अग्नितुल्य पिङ्गलवर्ण नेत्र वाले भ्रमरोंसे युक्त रक्तकमलकी भ्रान्तिसे.........] ॥ ६ ॥

पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु 'सः ।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

अथास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते-पतग इति । पतगो हंसश्चिरकाललालनादुपला-लनादतिविश्रम्भमतिविश्वासं 'समौ विश्रम्भविश्वासावि'त्यमरः । अवापितः प्रापितो नु किमित्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं पुनः स्वयमागच्छेदिति भावः । किञ्च एतस्य मही-भुजो भुजम्भजन् स्वयमाप्नुवन् अतुलं कुतूहलं विदधे कौतुकञ्चकारेत्यर्थः । अत्रो-त्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोः शब्दार्थालङ्कारयोस्तिलतण्डुलवत् संसृष्टिः । 'एकद्वित्र्यादिवर्णानां पुनरुक्तिर्भवेद्यदि । सङ्ख्यानियममुल्लङ्घ्य वृत्त्यनुप्रास ईरितः ॥' इति ॥ ७ ॥

इस राजा (नल) के हाथमें आये हुए उस पक्षी (हंस) ने बहुत समय तक लालन करनेसे मानो अतिशय विश्वासको पाये हुएके समान अत्यधिक कौतूहलको धारण किया ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकामृतोर्मिषु ।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

नृपमानसमिति । इष्टमानसः प्रियमानसः स राजहंसः कुतुकं हर्षस्तदेव अमृतं सुधा तस्योर्मिषु निमज्जदन्तर्गतं नृपमानसं नलमनःकर्णौ शष्कुल्याविव कर्णशष्कु-

१. 'सन्' इति पाठान्तरम् ।

ण्यौ ते कलस्यौ ते अवलम्बिते अवधीकृते धृते च येन तत्तथोक्तं 'नद्युतश्चे'ति कप्। रचयन् कुर्वंन्नवोचत उक्तवान् । जले मज्जन्नपि तरणार्थं कलसमवलम्बते, तद्वत्कर्णशष्कुली—कलस्याविन्युपमारूपकयोः संसृष्टिः ॥ ८ ॥

मानसरोवर है प्रिय जिसका ऐसा वह हंस कौतुक रूप अमृत (पीयूष, पक्षा०—पानी) के तरंगोंमें डूबते हुए, नलके मनको कर्णशष्कुलीरूप कलसद्वयका अवलम्बन करनेवाला बनाता हुआ अर्थात् अपने वचनको सुननेके लिए सावधान करता हुआ बोला— । [लोकमें पानीकी लहरोंमें डूबता हुआ कोई व्यक्ति कलस (घड़े) का अवलम्बनकर सावधान हो जाता है । जिसे मानस (मानसरोवर) प्रिय है, उसे नृपमानस (राजा नलके चित्त) को सावधान करना—डूबने से बचनेके लिए घड़ेका सहारा देकर सावधान करना उचित ही है] ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः ।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

मृगयेति । धर्मागममर्मपारगैर्धर्मशास्त्रतत्त्वपारदर्शिभिरपि 'अन्तात्यन्ताध्वरदूरपारसर्वानन्तेषु ड' इति गमेर्डप्रत्ययः । नृपैर्मृगया आखेटो नावगीयते न गर्ह्यते। तथापि हे स्मरसुन्दर ! मामत्यज इति यत् स त्यागस्तव दयोदयेनोज्ज्वलो विमलो निरुपाधिक इति यावत् धर्म्मः सुकृतम् । न केवलमाकारादेव सुन्दरोऽसि, किन्तु धर्मतोऽपीति भावः ॥ ९ ॥

धर्मशास्त्रके मर्मके पारगामी (मनु आदि) राजा लोग भी आखेट (शिकार) की निन्दा नहीं करते, (अत एव) हे कामदेवतुल्य सुन्दर ! (नल ! आपने) मुझे जो छोड़ दिया, वह (छोड़ना) दयाके आविर्भावसे निर्मल आपका धर्म था । अर्थात् आप केवल आकृतिसे ही सुन्दर नहीं हैं, किन्तु आपका धर्म (स्वभाव) भी सुन्दर (दयावान्) है] ॥९॥

अबलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् ।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूभृतां घ्नताम् ॥ १० ॥

ननु प्राणिहिंसा कथं नावगीयते तत्त आह—अबलेति । अबलस्वकुलाशिनो झषाः 'दुर्बलस्वकुलघातिनो मत्स्या' इति प्रसिद्धिः, निजनीडद्रुमपीडिनो विण्मोचफलभक्षणादिना स्वाश्रयवृक्षपीडाकरान् खगान् अनवद्यतृणार्दिनः अनपराधितृणहिंसकान् मृगान्, 'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता' इति मनुस्मृत्या तरुतृणादीनामपि प्राणित्वात्तद्धिंसा पीडैवेति भावः । सर्वत्रापि ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययः, घ्नतां हिंसतां भूभृतां मृगया अघाय पापाय न भवति । तद्वधस्य दण्डरूपत्वात् प्रत्युताकरणे दोष इति भावः ॥ १० ॥

अपने निर्बल वंशवालोंको खानेवाली मछलियोंको, अपने घोसलोंके पेड़ोंको (विष्ठा-मूत्र आदिसे) पीडित करने वाले पक्षियोंको तथा निरपराध तृणोंको नष्ट करनेवाले मृगोंको

मारते हुए राजाओंका आखेट दोषके लिए नहीं होता। [क्योंकि निपराधियोंको पीडित करनेवालेंको दण्डित करना राजाका धर्म है] ॥ १० ॥

यद्वादिषमप्रियन्तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत्।
कृतमातपसंज्वरं तरोरभिवृष्यामृतमंशुमानिव ॥ ११ ॥

तथापि किमर्थं पुनरागतन्त्वयेत्यत आह—यदिति। तव यदप्रियमवादिषमवोचम्। प्रियमाधाय प्रियं कृत्वा तदप्रियन्तरोः कृतं स्वकृतमातपसन्तापम् अमृतमुदकमभिवृष्य 'पयः कीलालममृतमि'त्यमरः। अंशुमानिव नुनुत्सुर्नोदितुं प्रमार्ष्टुमिच्छुः, नुद-प्रेरण इत्यस्माद्धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः ॥ ११ ॥

(पहले) मैंने आपको अप्रिय (१।१३०-१३३) कहा था, (अब) प्रिय (अभिलषित) करके उस अप्रियको उस प्रकार दूर करना चाहता हूँ, जिस प्रकार सूर्य वृक्षको धूपके द्वारा तपाकर वाद में जल बरसाकर उसका प्रिय करता है ॥ ११ ॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्त्तुं न तवापि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः ॥ १२ ॥

तर्हि भवन्मोचनं सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं इष्टोपकारेणेति न वाच्यमित्याह—उपनम्रमिति। अयाचितमप्रार्थितमुपनम्रमुपनतं हितम् इह चामुत्र चोपकारकं तवापि परिहर्त्तुं न साम्प्रतं न युक्तम्। 'अयाचितं हितं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्म्मण' इति स्मरणादिति भावः। तदपि मादृशात् पृथग्जनात् कथं ग्राह्यमत आह—करेति। हि यस्मात्कारणात् स प्रतिग्रहः करकल्पकरस्थानीयमित्यर्थः। ईषदसमाप्तौ कल्पप्प्रत्ययः, यज्जनान्तरं स्वयं यस्य तस्माच्छुचेः शुद्धाद्विधेः ब्रह्मणः प्रापि प्राप्तः न तु मत्त इति भावः। आप्नोतेः कर्म्मणि लुङ्। विधिरेव ते दाता अहं तस्योपकरणमात्रम्, 'अतो न याच्ञालाघवन्तवेति भावः॥ १२ ॥

विना याचना किये उपस्थित हित (प्रिय-अभीष्ट) को छोड़ना (सार्वभौम) आपको भी उचित नहीं है, क्योंकि हाथके समान (मद्रूप) दूसरे व्यक्तिवाले शुद्ध भाग्यसे प्राप्त होने वाला वह प्रतिग्रह (दान) है। [यद्यपि आप सार्वभौम चक्रवर्ती राजा हैं, अत एव दूसरे किसीसे कुछ भी लेना—दानस्वरूपमें प्राप्त हुएको ग्रहण करना—उचित नहीं है, तथापि विना याचना किये जो हितकारक वस्तु उपस्थित हो जाय, उसे ग्रहण करनेमें चक्रवर्ती होते हुए भी आपको निषेध नहीं करना चाहिये; क्योंकि दूसरे व्यक्तिको अपना हाथ बनाकर शुद्ध भाग्य ही दानरूपमें उक्त हितकारक वस्तुको देता है अर्थात् भाग्यानुसार ही विना याचना किये वह वस्तु उसे मिलती है, अत एव उसका निषेध करना किसीको भी उचित नहीं] ॥ १२ ॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ?।
इति वेद्मि, न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्त्तुमर्त्तयः ॥ १३ ॥

ननु सार्वभौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते, तत्राह–पतगेनेति। पतगेन पक्षिमात्रेण मया जगत्पतेः सार्वभौमस्य तवोपकृत्यै उपकाराय प्रभूयते क्षम्यते किं न भूयत एवेत्यर्थः, भावे लट्, इति वेद्मि अहमत्वं जानामि। तदपि तथाप्यर्त्तयो यास्तु त्वया विनिवर्तिता इति भावः। मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति प्रत्युपकरणाय प्रेरयन्तीत्यर्थः। अत्र पतगोऽप्यहं महोपकारिणस्ते महोपकारं करवाणीति भावः ॥१३॥

(सम्प्रति हंस अपने अहङ्कारका निराकरण करता है—) पक्षी मैं लोकाधीश (राजा) आपका क्या उपकार कर सकता हूँ ? 'अर्थात् अतिशय साधनहीन मैं सर्वसाधन–सम्पन्न आपका कोई भी उपकार करनेमें समर्थ नहीं हूँ' यह मैं जानता हूँ, तथापि (आपसे दूर की गई मेरी) पीड़ाएँ प्रत्युपकार करनेके लिए मुझे नहीं छोड़ती हैं अर्थात् पीड़ामुक्तकर मेरा महोपकार करनेवाले आपका महाप्रत्युपकार करनेके लिये बार-बार प्रेरित करती हैं ॥ १३ ॥

अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम्।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः ॥ १४ ॥

अथवा यथाशक्तिपक्षोऽस्त्वित्याह–अचिरादिति। अथवा उपकर्तुरचिरादविलम्बादुपाय एवौपयिकः विनयादित्वात् स्वार्थे ठक् 'उपधाया ह्रस्वत्वञ्चे'ति ह्रस्वः, तत आगता औपयिकी तामात्मौपयिकीं स्वोपायसाध्यामित्यर्थः, 'तत आगत' इत्यण् प्रत्यये 'टिड्ढाणञि त्यादिना ङीप्। उपक्रियामाचरेत् प्रत्युपकारं कुर्यात्, चरधातो र्विधिलिङ्। इत्थमेवं सति सोपक्रिया पृथुरधिकाऽस्तु अथ अथवा अणुरल्पाऽस्तु विदुषां विवेकिनामिहास्मिन् विषये विशेषे ग्रह आग्रहो न गुणग्राहिणो विवेकिनः कृतज्ञतामेव अस्य पश्यन्ति, न दोषमन्विष्यन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

(उपकार किया जा सके या नहीं किया जा सके, यह विचार छोड़ कर उपकृत व्यक्ति को उपकर्ताका प्रत्युपकार करना ही चाहिये, इस लोकनियमानुसार हंस कहता है—) उपकृत व्यक्तिको अपने उपायसे साध्य अर्थात् यथाशक्ति उपकर्ताका प्रत्युपकार शीघ्र ही करना चाहिये, 'वह उपकार छोटा हो या बड़ा' इस विषयमें विद्वानोंको कोई आग्रह (हठ—विशेष विचार) नहीं करना चाहिये। [जीवनको क्षणभङ्गुर जानकर उपकृत व्यक्तिको छोटा या बड़ा—जैसा भी शक्तिके अनुसार हो सके, उपकर्ताका प्रत्युपकार तत्काल करना चाहिये। इसमें प्रत्युपकर्ताका भाव देखा जाता है, न कि प्रत्युपकारका छोटापन या बड़ापन, अत एव मैं यथाशक्ति आपका प्रत्युपकार करना चाहता हूँ] ॥१४॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम्।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं दास्यति कीरगीरिव ॥ १५ ॥

अथ स्ववाक्ये आदरं याचते–भवितेति। हे नृप ? इदं वक्ष्यमाणं मदीरितं मद्वचः मद्वचनं विचारे विमर्शे चारु युक्तं न भविता न भविष्यति चेत्तदपि अविचारितरमणीयमपि श्रव्यं श्रोतव्यम्। इयं खगवागित्यतोऽपि हेतोः कीरगीः शुकवागिव

मुदं किं न दास्यति दास्यत्येव प्रयोजनान्तराभावेऽपि कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थः, ददातेः लृट् ॥ १५ ॥

मेरा यह वचन यदि विचार करनेमें सुन्दर नहीं हो, तथापि इसे आपको सुनना चाहिये, (क्योंकि मनुष्यके समान) यह पक्षीकी बोली है, इस कारण भी तोतेकी बोलीके समान यह आपको हर्षित नहीं करेगी क्या ? [अर्थात् यह हंस मनुष्यके समान स्पष्ट बोल रहा है, इस कौतुकसे भी यह मेरा वचन आपको हर्षित करेगा ही अतः विचारमें सुन्दर नहीं होने पर भी इसे आप सुननेका कष्ट करें]॥ १५ ॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

अथ यद्वक्तव्यं तदाह—स इति । अर्थेन अभिधेयेन सह वर्त्तत इति सार्थकम्, 'तेन सहेति तुल्ययोग' इति बहुव्रीहिः, 'वोपसर्जनस्ये'ति सहशब्दस्य विकल्पात् सभावः 'शेषाद्विभाषे'ति कप् समासान्तः, ततश्च्विरभूततद्भावे । अरिसार्थेषु शत्रुसङ्घेषु सार्थकीकृतं नाम भीम इत्याख्या येन स तथोक्तः च प्रसिद्धः बिभ्यत्यस्मादिति भीमः 'भियो म' इत्यपादानार्थे निपातनान्मप्रत्यय औणादिकः, भीम इति भूपतिः नृपः जयति किल सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते खलु । विदर्भभूर्विदर्भदेशः यं भूपतिं प्रभुं भर्त्तारमवाप्य शक्रो भर्त्ता यस्यास्तां शक्रभर्तृकां 'नद्यृतश्चे'ति कपि द्यान्दिवमपि हसति, किमुतान्यभर्तृकदेशानित्यर्थः । स्त्रियो हि भर्त्तुरुत्कर्षाद्धासं कुर्वन्तीति भावः । अत्र विदर्भभुवोऽपि द्युहासासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ १६ ॥

शत्रु—समूहमें अपने नामको सार्थक करनेवाला वह लोकप्रसिद्ध राजा 'भीम' है, जिस पतिको पाकर विदर्भभूमि इन्द्राधिपति वाली स्वर्गभूमिको भी हंसती है । 'भयङ्कर' इस अर्थवाले नामको राजा 'भीम'ने अपने शत्रु-समूहमें चरितार्थ कर दिया है अर्थात् राजा भीमके नाममात्रसे शत्रु-समूह भयभीत हो जाता है, ऐसे विदर्भनरेश हैं ॥ १६ ॥

दमनादमनाक् प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

दमनादिति । स भीमभूपतिरमनागनल्पं प्रसेदुषो निजोपासनया प्रसन्नात् 'भाषायां सदवसश्रुव' इति सदेर्लिटः क्वसादेशः । दमनाद्दमनाख्यात् तथ्यगिरः अमोघवचनात् तपोधनादृषेः दिष्टानां कालानां विष्टपानां लोकानाञ्च त्रितययोरनन्यसदृशीं गुणोदयां कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधारणगुणप्रकर्षां तनयां दुहितरं वरमाप। वरत्वेन लब्धवानित्यर्थः । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिय' इत्यमरः ॥ १७ ॥

(दमयन्ती के लोकोत्तर गुणकी प्रामाणिकताके लिए हंस पुराण-प्रसिद्ध इतिहासको कहता है—) उस भीम राजाने अत्यन्त प्रसन्न, सत्यवक्ता एवं तपोधन 'दमन' ऋषिसे (वर्तमान, भूत और भविष्यद् रूप) तीनों काल तथा (स्वर्ग, मर्त्य और पाताल रूप)

तीनों लोकोंमें अनन्य साधारण (सौन्दर्यादि) गुणोदय वाली कन्याको वर रूपमें प्राप्त किया [तीनों काल तथा तीनों लोकमें इसके समान गुण किसीको भी नहीं होगा, ऐसा वरदान अतिशय प्रसन्न सत्यवक्ता तपस्वी 'दमन' ऋषिसे राजा भीमने पाया, जिसके फल स्वरूप वह कन्या उत्पन्न हुई] ॥ १७ ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ १८ ॥

अथास्या नामधेयं व्युत्पादयन्नेवाह–भुवनत्रयेति । असौ वरप्रसादलब्धा तनया कर्त्री तनुश्रिया निजशरीरसौन्दर्येण करणेन भुवनत्रयसुभ्रुवां त्रैलोक्यसुन्दरीणां कमनीयतामदं सौन्दर्यगर्वं दमयन्ती अस्तं गमयन्ती दमेर्ण्यन्ताद् 'न पादमि'त्यादिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवादः परस्मैपदप्रतिषेधेऽप्यकर्त्रभिप्रायविवक्षायां परस्मैपदे लटः शत्रादेशः। उदियाय उदिता, इणो लिट्, ततस्तस्मादेव निमित्ताद्दमयन्तीत्यभिधामाख्यां दधे, दधातेर्लिट् ॥ १८ ॥

जिस कारण वह कन्या शरीरकी शोभासे तीनों लोककी सुन्दरियोंके सौन्दर्याभिमान को दमन करने वाली उत्पन्न हुई, उस कारण उसका नाम 'दमयन्ती' पड़ा ॥ १८ ॥

श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम् ।
व्यवधावपि यां विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः ॥ १९ ॥

अथैकविंशतिश्लोकैश्चिकुरादारभ्य दमयन्तीं वर्णयति–श्रियमिति । हे नृप ! ताम् दमयन्तीं गुणसिन्धोः गुणसागराधिपाद्भीमनरेन्द्रादुदितामुत्पन्नां श्रियं साक्षाल्लक्ष्मीमेव परं ध्रुवमवेहि जानीहि, अवपूर्वादिणो लोटि 'सेर्हिरि'ति ह्यादेशे ङित्त्वान्न सार्वधातुकगुणः, संहितायाम् 'आद्गुणः ।' अत्र केवलावपूर्वस्य इणो ज्ञानार्थत्वादाङ्प्रश्लेषे तदलाभात्, प्रश्लेषेऽपि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमिति केषाञ्चित्प्रक्रियोपन्यासो वृथा। प्रत्ताख्य त्यागः 'अवैहीति वृद्धिरवद्ये'ति वामनसूत्रमप्यनाङ्प्रश्लेष एव भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपरं गुण एव युक्तः इति व्याख्यानादन्यथा 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति । न च देशव्यवधानान्न श्रीरेवेति वाच्यमित्याह— व्यवधौ व्यवधाने सत्यपि 'उपसर्गे घोः किरि'ति किप्रत्ययः, मृडचूडानिलयां हरशिखाश्रयां कलां विधोरिन्दोरेव कलां को वा न वेद ? सर्वोऽपि वेदैवेत्यर्थः, 'विदो लटो वे'ति वैकल्पिको णलादेशः। यथा हरशिरोगतापि कला चन्द्रकलैव, तथा भीमभवनोदिताऽप्येषा श्रीरेवेति सौन्दर्यातिशयोक्तिः। अत्र श्रीकलयोः नृपमृडौ वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बभावेन सामान्यधर्म्मवत्तया निर्दिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः। 'यत्र वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बतयोच्यते । सामान्यधर्म्मः काव्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते॥' इति लक्षणात् ॥ १९ ॥

आप उस (दमयन्ती) को गुण-समुद्र राजा भीमसे उत्पन्न साक्षात् लक्ष्मी ही जानें

पृथक् रहनेपर भी शिवजीकी चूडामें स्थित कला (चन्द्रकला) को कौन नहीं जानता? अर्थात् चन्द्रमासे पृथक् शिवचूडा स्थित कला भी जिस प्रकार चन्द्रकला ही कहलाती है, उसी प्रकार जलनिधि समुद्रसे नहीं उत्पन्न होने पर भी गुण-समुद्र भीमसे उत्पन्न हुई उस दमयन्तीको आप साक्षात् लक्ष्मी ही जानें॥ १९॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा बिभर्त्ति यान्।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः॥ २०॥

चिकुरप्रकरा इति। चिकुरप्रकराः केशसमूहाः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते यान् वेत्तीति विदुषी विशेषज्ञा 'विदेः शतुर्वसुः' 'उगितश्चे'ति ङीप् 'वसोः सम्प्रसारणम्'। सा दमयन्ती मूर्द्धनि बिभर्त्ति, विद्वद्गृह एव सर्वस्याप्युत्कर्षहेतुरिति भावः। अत एव पशुना तिरश्चा चमरीमृगेणाप्यपुरस्कृतेनानादृतेन चामरेण चमरीपुच्छेन सह तत्तुलनान्तेषां चिकुराणां समीकरणं क इच्छतु? न कोऽपीत्यर्थः। सम्भावनायां लोट्। अत्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृतपदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात्॥ २०॥

पण्डिता वह दमयन्ती जिन केश-समूहोंको सिरपर धारण करती है, वे विजयी होवें; पशु (चमरी गाय) से भी आगे नहीं किये गये अर्थात् पीछे धारण किये गये चामरसे उस (दमयन्ती-केश-समूहों) की समानता कौन करना चाहे? अर्थात् कोई नहीं। [मूर्ख चमरी गायें भी जिन चामरगत केश-समूहोंको हीन गुण समझकर पीछे धारण करती हैं, उन चामरगत केश-समूहों के साथ दमयन्तीके केश-समूहोंकी समता कौन करना चाहेगा? जिन्हें पण्डिता दमयन्ती सब अङ्गोंमें उत्तम अङ्ग अपने मस्तक पर धारण करती है। दमयन्तीका केश-समूह चामरसे बहुत ही श्रेष्ठ है]॥ २०॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात्॥ २१॥

स्वदृशोरिति। मृगाः हरिणास्तस्या दमयन्त्या अखर्वयोरायतयोरीक्षणयोरक्ष्णोः शोभया कर्त्र्या जितयोरत एव भयादुदयत्प्रमीलयोरुत्पद्यमाननिमीलनयोः स्वदृशोर्निजनयनयोः खुरैः शफैः 'शफं क्लीबे खुरः पुमानि'त्यमरः। कण्डूयनस्य कर्षणस्य कैतवाच्छलात्सान्त्वनां जनयन्ति लालनां कुर्वन्ति। यथा लोके परपराजिता निमीलिताक्षाः स्वजनैर्भयनिवृत्तये करतलास्फालनादिना परिसान्त्व्यन्ते तद्वदिति भावः। अत्र कैतवशब्देन कण्डूयनमपह्नुत्य सान्त्वनारोपादपह्नवभेदः॥ २१॥

उस दमयन्तीके बड़े-बड़े नेत्रोंकी शोभासे जीते गये अत एव भयसे मानों तन्द्रायुक्त होते हुए अपने नेत्रद्वयको खुरसे खुजलानेके कपटसे मृग सान्त्वना देते हैं। [लोकमें भी प्रबल व्यक्तिसे पराजित होनेसे भयके कारण तन्द्रायुक्त होते हुए दुर्बल व्यक्तिको आत्मीय जन हाथसे सहलाकर (छूकर) सान्त्वना देते हैं। दमयन्तीके नेत्र मृगनेत्रोंसे भी बड़े बड़े तथा सुन्दर हैं]॥ २१॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ! ॥ २२ ॥

अपीति । हे धरापते ! दमो नाम भीमस्यैवात्मजस्तस्य स्वसुर्दमयन्त्याः लोकयुगं मातापितृकुलयुगं श्रुतिगामितया वेदप्रसिद्धतया सुतरां व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भाति तथा दृशौ नेत्रे अपि श्रुतिगामितया कर्णान्तविश्रान्ततया व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भातस्तथा श्रुताः श्रुतिप्रसिद्धाः ते च ते दृष्टाः लोकप्रसिद्धाश्च विशेषणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षायां विशेषणसमासः ते रमणीगुणाः स्त्रीधर्म्मा अपि श्रुतिगामितया जनैः श्रूयमाणतया 'श्रुतिः श्रोत्रे ,तथाम्नाये वार्त्तायां श्रोत्रकर्म्मणी'ति विश्वः । सुतरां व्यतिभाते व्यतिहारेण भान्ति । 'आत्मनेपदेष्वनत' इति झस्यादादेशः, सर्वत्र 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहार' इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो लुक्, सर्वत्र टेरेत्वम् । अत्र लोकयुगादीनान्त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगिताभेदः । 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्म्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिते'ति लक्षणात् ॥ २२ ॥

हे भूपते (नल)! 'दम' (भीम राजाके पुत्र) की बहन अर्थात् दमयन्तीके मातृकुल तथा पितृकुल वेदप्रसिद्ध (या—लोक प्रसिद्ध) होनेसे परस्परमें शोभते हैं, दोनों नेत्र भी कानों तक पहुँचनेसे अर्थात् अत्यन्त विशाल होनेसे परस्परमें शोभते हैं और शास्त्रोंमें सुने तथा किसी किसी सुन्दरीमें देखे गये स्त्री-सम्बन्धी गुण भी लोगोंके द्वारा सुने जानेसे परस्परमें शोभते हैं । [यहाँ 'वि अति' उपसर्ग वाले दीप्त्यर्थक 'भा' धातुसे सिद्ध प्रथम पुरुषकी 'व्यतिभाते' क्रिया दी गयी है, एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनमें एक ही रूप होनेसे उक्त एक ही क्रियापदका सम्बन्ध क्रमशः एकवचन 'लोकयुगम्', द्विवचन 'दृशौ' तथा बहुवचन 'रमणीगुणाः' तीनों पदोंके साथ होता है । 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' (पा० सू० १।३।१४) के नियमसे 'वि-अति' उपसर्गोंके साथ 'भा' धातुका परस्पर विनिमय अर्थ होता है; अत एव इस श्लोकका विशद अर्थ यह है—दमयन्तीका मातृकुल लोकप्रसिद्ध है, अतः इस मातृकुलके लोकप्रसिद्धत्वको दमयन्तीके पितृकुलने स्वीकार किया तथा दमयन्तीका पितृकुल भी लोकप्रसिद्ध है, अतः उस पितृकुलके लोकप्रसिद्धत्वको दमयन्तीके मातृकुलने स्वीकार किया अर्थात् दमयन्तीके सम्बन्धसे पितृकुलके समान मातृकुल तथा मातृकुलके समान पितृकुल शोभता है, इस प्रकार सादृश्यमें तात्पर्य मानकर परस्पर विनिमय करना चाहिये । वह सादृश्य श्रुतिगामी (जगत्प्रसिद्ध) होनेसे विशिष्ट होता है और जगत्प्रसिद्धत्वरूप मातृकुलका सादृश्य पितृकुलकी अपेक्षा तथा पितृकुलका सादृश्य मातृकुलकी अपेक्षासे है, नेत्रादि अपेक्षासे नहीं । इसी प्रकार दमयन्तीके दोनों नेत्र भी कान तक पहुँचने (कानों तक पहुँचकर विशाल होने) से परस्पर विनिमयसे शोभते हैं अर्थात् दहने नेत्रकी कानतक पहुँचनेसे उत्पन्न विशालत्वरूप शोभाको वामनेत्र

तथा बांये नेत्रकी कानतक पहुचनेसे उत्पन्न विशालत्वरूप शोभाको दहना नेत्र स्वीकार करता है। कानतक पहुँचकर विशाल होनेसे दहना नेत्र बांयेके समान तथा बांया नेत्र दहनेके समान सुन्दर है, इस तरह यहां भी सादृश्यमें ही तात्पर्य है। तथा पुराणादिमें सुने गये एवं किन्हीं स्त्रियों में देखे गये दमयन्ती-सम्बन्धी (या-किन्हीं स्त्रियों में सुने गये एवं किन्हीं स्त्रियोंमें देखे गये स्त्री-सम्बन्धी) गुण लोगोंके द्वारा सुने जानेसे विनिमयसे शोभते हैं। पुराणादिमें (या—किन्हीं स्त्रियोंमें) जो सुने गये किन्हीं स्त्रियोंमें देखे गये और वे दमयन्तीमें ही सुने जाते हैं, इस प्रकार सुने तथा देखे गये दमयन्ती-सम्बन्धी स्त्री-गुणोंका श्रुतिगामित्व है, अतः सुने गये दमयन्तीके स्त्री-गुणोंकी श्रुतिगामी होनेसे शोभाको उसके देखे गये गुणोंने स्वीकार किया तथा देखे गये दमयन्तीके स्त्री-गुणोंको श्रुतिगामी होनेसे शोभाको उसके सुने गये गुणोंने स्वीकार किया—इसप्रकार विनिमय जानना चाहिये। सुने गये दमयन्ती-सम्बन्धी स्त्री-गुण जैसे शोभते हैं, देखे गये दमयन्ती-सम्बन्धी स्त्री-गुण भी वैसे ही शोभते हैं, इस प्रकार सादृश्यमें ही तात्पर्य-जानना चाहिये अर्थात् सुने तथा देखे गये सम्पूर्ण स्त्री-सम्बन्धी गुण दमयन्तीमें ही विद्यमान है। अथवा—सामुद्रिक शास्त्रोंमें देखे गये एवं 'पद्मिनी' आदि स्त्रियों में सुने गये स्त्री-गुण परस्पर विनिमयसे दमयन्तीमें ही शोभते हैं]॥ २२॥

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम्॥ २३॥

नलिनमिति। नलिनं पद्मं मलिनमचारु विवृण्वती कुर्वाणे पृषतीं मृगीमस्पृशती असमानत्वात् दूरादेव परिहार इत्यर्थः, तदीक्षणे तल्लोचने अञ्जनाञ्चिते कज्जलपरिष्कृते सती खञ्जनं खञ्जरीटाख्यं खञ्जननामकः पक्षिविशेषः 'खञ्जरीटस्तु खञ्जन' इत्यमरः। तमपि रुचिगर्वदुर्विधं चारुत्वगर्वनिःस्वं विदधाते कुर्वाते, सर्वथाप्यनुपमेये इत्यर्थः। 'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि स' इत्यमरः। ईक्षणयोर्नलिनाविमलिनीकरणाद्यसम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तया चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः॥ २३॥

कमलको मलिन (सौन्दर्यहीन) करते हुए तथा मृगीका स्पर्श तक नहीं करते हुए अर्थात् अत्यन्त हीन मृगी-नेत्रका दूरसे ही परिहार करते हुए अञ्जनयुक्त दमयन्तीके नेत्र 'खञ्जरीट' नामक पक्षीको शोभाविषयक अभिमानमें दरिद्र बना रहे हैं अर्थात् दमयन्तीके नेत्रोंकी श्रेष्ठतासे खञ्जरीटका शोभा-सम्बन्धी अभिमान नष्ट हो जाता है। [अथवा—अञ्जन-शलाकाका स्पर्श नहीं किये हुए अर्थात् अञ्जनसे हीन एवं कमलको मलिन करते हुए दमयन्तीके नेत्र विस्फारित होकर कमलको मलिन (शोभाहीन) करते है और अञ्जनसे सुशोभित होकर खञ्जरीटको सौन्दर्य-मदके विषयमें दरिद्र करते हैं। अथवा—(आत्मगत) श्यामताको प्रकाशित करते हुए दमयन्तीके नेत्र कमलको शोभा-सम्बन्धी अभिमानके

विषयमें दरिद्र बनाते हैं……। या—श्यामवर्ण अर्थात् नील कमलको दमयन्तीके नेत्र शोभा-सम्बन्धी मदके विषयमें दरिद्र बनाते हैं तथा विस्फारित होते हुए हरिणीको शोभा-सम्बन्धी मदके विषयमें दरिद्र बनाते हैं और अञ्जनसे शोभित दमयन्तीके नेत्र खञ्जरीटको शोभा-सम्बन्धी मदके विषयमें दरिद्र बनाते हैं। दमयन्तीके नेत्रोंने अपने श्यामत्व गुणसे कमलको, विशालत्व गुणसे हरिणियों (के नेत्रों) को और अञ्जन युक्त होनेपर कृष्ण श्वेत गुणसे खञ्जरीटको जीत लिया]॥ २३॥

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति[1] भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या[2] रदनच्छदं वदत् ॥ २४ ॥

अधरमिति। अधरबिम्बमित्यदः पदम् अधरं बिम्बमिवेत्युपमितसमासाश्रयणेन स्त्रीणामधरेषु यत्पदं प्रयुज्यते तदित्यर्थः। अस्या दमयन्त्याः रदनच्छदम् ओष्ठमभिदधत् तदभिधानाय प्रयुक्तं सदित्यर्थः। बिम्बनामकं फलं बिम्बमस्माद्दमयन्तीरदनच्छदादधरं किलापकृष्टं खल्विति अधरशब्दस्यापकृष्टार्थत्वे अधरं बिम्बं यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासे च सति भव्यमबाधितमन्वयं वृत्तिपदार्थसंसर्गलक्षणं लभते, अन्यथा समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थः पदविधिरि'ति समर्थपरिभाषा भज्येत, तर्हि नोपमा स्यादिति भावः। अत्र दमयन्तीदन्तच्छदस्य बिम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः पूर्ववत् ध्वनिश्च ॥ २४ ॥

(अधरबिम्बके समान हैं, इस अर्थमें प्रयुज्यमान) 'अधरबिम्ब' यह पद इस (दमयन्ती) के ओष्ठको कहता हुआ 'बिम्ब' नामक फल (दमयन्तीके) इन दोनों ओष्ठोंसे अधर अर्थात् हीन है, इस प्रकार (बहुव्रीहि समासात्मक) उचित अन्वयको प्राप्त करता है। [इस दमयन्तीके ओष्ठोंकी अपेक्षा लालिमा तथा अमृतकल्प मधुरिमामें अत्यन्तहीन होनेसे 'अधर' (हीन) है 'बिम्ब' (बिम्बफल) जिससे ऐसा बहुव्रीहि समासात्मक अन्वय 'अधरबिम्ब' पदके लिए उचित है और अन्यान्य स्त्रियोंके ओष्ठोंके साथ बिम्बफलकी समानता होनेसे लोकप्रसिद्ध 'अधर (ओष्ठ) बिम्बके समान है, ऐसा तत्पुरुष कर्मधारण समासात्मक अन्वय करना ठीक है]॥ २४ ॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।

१-२. अत्र म० म० शिवदत्तशर्माणः—'आभ्याम् , रदनच्छदे' इति द्विवचनान्तपाठः साहित्यविद्याधरीसम्मतः। यतो व्याख्यातम्-रदनच्छदे ओष्ठौ वदत् प्रतिपादयत्। रदनच्छदस्य नपुंसकत्वम्। यदुक्तं प्रतापमार्तण्डाभिधानकोषे—'गरुत्पक्षच्छदोऽस्त्रियाम्' इति। 'आभ्याम् , रदनच्छदे' इति पाठस्तु सर्वथाऽशुद्धः, 'ओष्ठोऽधरो रदच्छदः' इति पुंलिङ्गनिर्देशात् , इति सुखाववोधा। आभ्यामिति पाठे रदनच्छदौ वददिति युक्तः पाठः। छदशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वात्। 'दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः, इति तिलकव्याख्यायामभिहितम्। रदनच्छदे वदन् 'वद स्थैर्ये' स्थिरीभवन्निति सप्तम्यन्तपाठाङ्गीकारश्च'। इति।

कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

हृतसारमिति। इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय तन्निर्माणायेत्यर्थः। 'क्रियार्थोपपदस्ये'ति चतुर्थी, वेधसा हृतसारमुद्धृतमध्याङ्कमिव, कुतः? कृतमध्यबिलं विहितमध्यरन्ध्रमत एव धृतो गम्भीरखनीखस्य निम्नमध्यरन्ध्राकाशस्य नीलिमा नैल्यन्तथा विलोक्यते, 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यादि'त्यमरः। 'कृदिकारादक्तिन' इति ङीप्। अत्र कलङ्कापह्नवेन खनीलिमारोपादपह्नवभेदः, स च कृतमध्यबिलमित्येतत्पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गानुप्राणितः, तदपेक्षा चेयं हृतसारमित्युत्प्रेक्षेति सङ्करः। तया चोपमा व्यज्यत इति पूर्ववत् ध्वनिः ॥ २५ ॥

दमयन्तीके मुख (को बनाने) के लिए ब्रह्माके द्वारा (बीचसे) लिये गये सारवाला बीचमें बिलयुक्त चन्द्रमा गहरे गढ़ेके आकाशके नीलापनसे युक्त दिखलाई पड़ रहा ॥ २५ ॥

धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः ।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्द्धमानकम् ॥ २६ ॥

धृतेति। विधिर्ब्रह्मा धृतं लाञ्छनमङ्क एव गोमयाञ्चनं मध्यस्थितगोमयसंश्लेषणम् एनम् आलेपनपाण्डरं निजकान्तिसुधाधवलितमित्यर्थः, विधुं चन्द्रमेव विदर्भजाननस्य वैदर्भीमुखस्य नीराजनवर्द्धमानकं नीराजनशरावम् 'शरावो वर्द्धमानक' इत्यमरः। किरणदीपकलिकायुक्तमिति भावः। भ्रमयत्युचितम् लोकोत्तरत्वात् इति भावः, एवं नीराजयन्तीति देशाचारः। अत्र विधुतल्लाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोमयादित्वेन निरूपणात्सावयवरूपकम् ॥ २६ ॥

ब्रह्मा कलङ्करूप गोमय (गोबर) पूजनसे युक्त तथा (चउरठ—चावलके चूर्णसे बने) ऐपनके लेपसे श्वेतवर्ण चन्द्ररूप दमयन्तीके मुखकी आरतीके शराब (ढकनी—पात्रविशेष) को ठीक ही घुमा रहा है। [लोकमें दृष्टिदोष हटानेके लिए ढकनी आदिमें गोबर रख कर तथा उसे ऐपन (चावलके चूर्ण) से लीपकर जिस प्रकार आरती घुमायी जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मा कलङ्करूप गोबर तथा श्वेतिमारूप ऐपनसे युक्त चन्द्रको दमयन्तीके मुखकी आरतीका पात्र (थाल या ढकनी) घुमाता है, यह उचित ही है] ॥ २६ ॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात् ।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

सुषमेति। सुषमा परमा शोभा सैव विषयः यस्मिन् परीक्षणे जलदिव्यशोधने कृते निखिलं पद्मं पद्मजातं तन्मुखादपादानात् भङ्गावधित्वादभाजि अभञ्जि स्वयमेव भग्नमभूदित्यर्थः स्फुटं, कर्त्तरि लुङ्, 'भञ्जेश्च चिणी'ति वैभाषिको नकारलोपः। अतएवाधुनापि भङ्गलक्षणम्पराजयचिह्नं सलिलादुन्मज्जनं क्षणमपि नोज्झति न जहाति। जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयलिङ्गत्वस्मरणादिति भावः। उन्मज्जनक्रियानिमित्तेयं भङ्गोत्प्रेक्षा ॥ २७ ॥

अधिक शोभाके विषयमें दिव्य परीक्षामें सम्पूर्ण कमल दमयन्तीके मुखसे पराजित हो गये, (अत एव) मानो इस समय भी वे कमल पराजयसूचक पानीसे ऊपर स्थितिको नहीं छोड़ते अर्थात् अब भी पानीके ऊपर ही रहते हैं। ['दिव्य'[1] परीक्षाओंमें जलसे 'दिव्य परीक्षा' लेनेका यह नियम है कि धनुर्धरके बाण छोड़नेपर उस बाणको लानेतक जो व्यक्ति नाभितक पानीके भीतर खड़े हुए मनुष्यका पैर पकड़े हुए डूबकर ठहरा रहता है वह विजयी होता है तथा पानीमें डूबा हुआ जो व्यक्ति बाण लानेके पहले ही पानीके ऊपर सिरकर लेता है वह पराजित होता है। प्रकृतमें दमयन्तीके मुख तथा कमलमें दिव्य परीक्षा करते समय कमलको पानीके ऊपर रहनेसे उसके पराजित होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है] ॥ २७ ॥

धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ ।
नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥ २८ ॥

धनुषी इति। तद्भ्रुवौ विश्वजयायोदिते उत्पन्ने रतिपञ्चबाणयोर्धनुषी नूनमित्यादिव्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा, किञ्च तस्याः दमयन्त्याः उच्चनासिके उन्नतनासापुटे त्वयि नालीकानां द्रोणिचापशराणां विमुक्तिं कामयेते इति तथोक्तयोः तयोः 'शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः' इति णप्रत्ययः, 'नालीकं पद्मखण्डे स्त्री नालीकः शरशल्ययोरि'ति विश्वः। नलिके न द्रोणिचापे न किमिति काकुः। पूर्ववदुत्प्रेक्षा ॥२८॥

उस (दमयन्ती) के भ्रूद्वय विश्वविजय करने के लिये रति तथा कामदेवके धनुष नहीं हैं क्या ? अर्थात् धनुष ही हैं, तथा हे राजन् ! उस (दमयन्ती) की उच्च दोनों नासिकायें तुम्हारे ऊपर नालीसे छोड़नेके इच्छुक बाणद्वय की दोनों नालियां नहीं हैं क्या ? अर्थात् दो नालियां ही हैं। (या—......कामदेवके मानों धनुष हैं) ॥ २८ ॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः ॥ २९ ॥

सदृशीति। हे शूर ! जलदुर्गस्थानि मृणालानि जयत इति तज्जितौ भुजौ यस्याः सा मित्रजुषामर्कसेविनां सुहृत्सलिलानाञ्च सहायसम्पन्नानामपीत्यर्थः। 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः। सरोरुहां श्रियः शोभाः सम्पदश्च 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः, करलीलया भुजविलासेन भुजव्यापारेण बलिग्रहणेन च 'बलिहस्तांशवः कराः' 'लीलाविलासक्रिययोरि'ति चामरः, गृहयालुः ग्रहीता गृह—ग्रहण इति धातोश्चौरादिकात् 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्ययः,' 'अयामन्ते'त्यादिना णेरयादेशः। सा

---

१. एतदर्थं याज्ञवल्क्यस्मृतेर्व्यवहाराध्याये दिव्यप्रकरणं द्रष्टव्यं 'तुलाग्न्यापो विषं कोशो......'इत्यारभ्य 'आचतुर्दशिकादह्नो......' (२१९५–११३) यावद् । तस्यैव मिताक्षरावीरमित्रोदयव्याख्याने च विशदतया वर्णितं तद्दिव्यप्रकरणमिति बोध्यम् ।

२. 'नु' इति पाठान्तरम् ।

दमयन्ती तव परमत्यन्तं सदृशी अनुरूपेत्युपमालङ्कारः। शूरस्य शूरैव भार्या भवितुमर्हतीति भावः॥ २९॥

हे शूर (नल)! जलरूपी दुर्गमें रहनेवाली मृणालकी विजयिनी भुजाओंवाली, तथा मित्रसेवी (सूर्यसेवी, पक्षा०—सुहृद्रूप जलसे युक्त अर्थात् सहायक सहित) भी कमलोंकी शोभाको भुजाओंके विलाससे (पक्षा०—कर = राजदेय भागके विलाससे) सदा ग्रहण करनेवाली वह दमयन्ती एकमात्र आपके ही योग्य है, (क्योंकि शूरवीर की पत्नी शूरवीर स्त्री ही होती है)॥ २९॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी।
विधिनाऽपि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः॥ ३०॥

वयसी इति। सुदृशि दमयन्त्यां स्वाभिविधिं स्वव्याप्तिं विधित्सुनी विधातुमिच्छती अहमहमिकया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थः, शिशुतातदुत्तरे बाल्ययौवने वयसी विधिना सीमाभिज्ञेन रोमरेखया सीमाचिह्नेन प्रविभज्य रोमराजेः प्रागेव अत्र शैशवेन स्थातव्यन्ततः परं यौवनेनेति कालतो विभागं कृत्वा, कृतसीम्नी कृतमर्य्यादे अपि 'विभाषा ङिश्योः'रित्यल्लोपः, न रज्यतः न सन्तुष्यतः। रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः। एतेन वयःसन्धिरुक्तः। अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्याद्प्रस्तुतविवादप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ३०॥

सुनयना उस दमयन्तीमें अपनी अभिव्याप्तिको करनेकी अभिलाषिणी ('मैं ही इस दमयन्तीमें सर्वत्र व्याप्त होकर रहती हूँ' ऐसा करनेकी इच्छा करनेवाली) शैशव तथा उसके बादवाली अर्थात् यौवन अवस्थाएँ ब्रह्माके द्वारा भी (नाभिके नीचे) रोमरेखासे विभागकर मर्यादित की गयी नहीं अनुरक्त होती हैं क्या? अर्थात् अनुरक्त होती ही हैं। [उस सुनयना दमयन्तीमें शैशवावस्था पहलेसे ही है तथा युवावस्थाका भी आरम्भ हो रहा है। लोकमें दो व्यक्तियोंमें सीमा-सम्बन्धी पारस्परिक विरोध होनेपर कोई वृद्ध व्यक्ति उन दोनों के लिए सीमा बनाकर उन्हें सन्तुष्ट कर देता है। नाभिके नीचे रोमराजि उत्पन्न होनेसे दमयन्तीकी यौवनावस्थाका आरम्भ होना सूचित होता है]॥ ३०॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ॥ ३१॥

सम्प्रति यौवनमेवाश्रित्याह—अपीति। कान्तिझरैर्लावण्यप्रवाहैरगाधतां दुरवगाहतां गमिते तद्वपुषि दमयन्तीशरीरे प्रसर्पतोस्तरतोः स्मरयौवनयोर्द्वयोरपि उभौ कुचौ प्लवस्यान्मज्जनस्य कुम्भौ प्लवनार्थं कुम्भावित्यर्थः, प्रकृतिविकारभावाभावादश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः। लोके तरद्भिः अनिमज्जनाय कुम्भादिकमवलम्ब्यत इति प्रसिद्धं, भवतः खलु। अत्र कुचयोः स्मरयौवनप्लवनकुम्भत्वोत्प्रेक्षया तयोरौत्कट्यं कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥ ३१॥

कान्ति-प्रवाहसे अगाधताको प्राप्त भी उस (दमयन्ती) के शरीरमें बढ़ते (क्रीड़ा करते) हुए कामदेव तथा यौवनके लिए (दमयन्तीके विशाल) दोनों स्तन मानों तैरनेके घड़े हो रहे हैं। [यद्यपि अगाध जल-प्रवाहमें क्रीड़ा करना ठीक नहीं है, तथापि जलक्रीडा करते हुए कामदेव तथा यौवनके लिए दमयन्तीके विशाल दोनों स्तन तैरनेके घड़े-से हो रहे हैं]॥ ३१ ॥

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ?।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ ३२ ॥

कलस इति। निजहेतुदण्डजः स्वनिमित्तकारणजन्यः चक्रभ्रमकारिता कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्वं सैव गुणो धर्मो रूपादिश्च, 'गुणः प्रधाने रूपादावि'त्यमरः। सः कलसे किमु ? दण्डकार्य्ये कलसे संक्रान्तः किमु ? इत्यर्थः, कुतः यद्यस्मात् स कलसः तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ भवन् तत्कुचात्मना परिणतः सन् प्रभाझरे लावण्यप्रवाहे चक्रभ्रमं चक्रवाकभ्रान्तिं कुलालदण्डभ्रमणं चातनोति, 'चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः। ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः। अत्र 'समवायिकारणगुणा रूपादयः कार्य्ये संक्रामन्ति न निमित्तगुणा' इति तार्किकाणां समये स्थिते गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचौ भवन्नि'ति कुचकलसयोरभेदातिशयोक्त्युत्थापितझरचक्रभ्रमात्मकक्रियानिमित्ता कुचात्मनि कलसे कार्ये चक्रभ्रमकारितालक्षणनिमित्तकारणगुणसंक्रमलक्षणेनोत्प्रेक्षेति सङ्क्षेपः। तार्किकसमये विरोधात् विरोधाभासोऽलङ्कार इति कैश्चिदुक्तम्, तदेतदत्यन्ताश्रुतचरमलङ्कारपारदृश्वानः शृण्वन्तु ॥ ३२ ॥

(कुम्हारके चाकको) घुमानेका गुण कलसमें अपने निमित्त कारण दण्डसे उत्पन्न हुआ है क्या ? क्योंकि वह कलस उस (दमयन्ती) का विशाल स्तनद्वय होता हुआ प्रभा-प्रवाह-समूह (या—प्रभा-प्रवाहरूप चाक, या—प्रभा=प्रवाह से चकवा पक्षी) का भ्रम (भ्रान्ति, पक्षा०—भ्रमण) को उत्पन्न करता है। [समवायिकारण, असमवायिकारण तथा निमित्त-कारण—ये तीन कारण नैयायिकोंने माने हैं, इनमें समवायिकारणका गुण कार्यमें आता है, यथा मृत्पिण्डका गुण कलशमें; किन्तु निमित्त कारणका गुण कार्यमें नहीं आता, यथा—दण्ड-चक्र-चीवरादिका गुण कलसरूप कार्यमें नहीं आता। परन्तु यहाँ उलटा ही देखा जाता है, क्योंकि कुम्हारके चाकके घुमानेका अपने निमित्त कारणभूत दण्डका गुण कार्यरूप कलसमें आ गया है, यह इस कारणसे ज्ञान होता है कि वह कलस दमयन्ती के विशाल स्तनद्वय होकर प्रभा-समूहसे कुम्हारके चाकका भ्रम कराता है अर्थात् दमयन्तीके कलसतुल्य विशाल स्तनोंको देखकर कान्ति-समूहसे मनुष्य नीचे ऊपर घूमने लगता है, अथवा—वह प्रभा-प्रवाहमें चकवाका भ्रम कराता है अर्थात् उक्तरूप स्तनोंको देखकर ये चकवा पक्षी प्रवाहमें घूम रहे हैं ऐसा प्रतीत होने लगता है; और प्रवाहमें चकवाका

घूमना उचित भी है; अथवा—वह प्रभा-प्रवाह (कान्ति-समूह) से राष्ट्र (या-जन-समूह) को भ्रम उत्पन्न करता है अर्थात् सभी लोग उक्तरूप स्तनोंको देखकर आश्चर्यसे चकित हो भ्रममें पड़ जाते हैं]॥ ३२ ॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

भजति इति। दमस्वसुर्दमयन्त्याश्चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः कृतपिच्छनिन्दः जितबर्ह इत्यर्थः। शिखी मयूरः षण्मुखं कार्तिकेयं भजते खलु, तथा कुचशोभया जितकुम्भ इभराडैरावतोऽपि जम्भरिपुमिन्द्रं भजते। परपरिभूताः प्राणत्राणाय प्रबलमाश्रयन्त इति प्रसिद्धम्। अत्र शिख्यैरावतयोः षण्मुखजम्भारिभजनस्य जितबर्हत्वजितकुम्भत्वपदार्थहेतुकत्वात् तद्धेतुके काव्यलिङ्गे तदसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिश्च ॥ ३३ ॥

दमयन्तीके बालोसे (पराजित होनेके कारण) पूंछोंके बालोंकी निन्दा किया हुआ मयूर षडानन (स्वामी कार्तिकेय) की सेवा करता है तथा स्तनोंकी शोभासे पराजित कुम्भ (मस्तकस्थ कुम्भाकार मांस-पिण्ड) वाला गजराज (ऐरावत) इन्द्रकी सेवा करता है। [लोकमें भी किसी प्रबलसे पराजित व्यक्ति उस वैरीसे बदला लेने या वैसा स्वयं भी बनने, या उसे पराजित करनेके लिये किसी देवताकी सेवा करता है। यद्यपि पहले (२।२०) केशका वर्णन कर चुके हैं तथापि यहां स्तन-वर्णनके प्रसङ्गमें केशका वर्णन कविने पुनः कर दिया है। दमयन्तीके केश मयूरपिच्छ से तथा स्तन ऐरावतके कुम्भसे भी सुन्दर हैं]॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना।
चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिबलिभ्राजि कृत दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

उदरमिति। दमस्वसुरुदरं नतमध्यं निम्नमध्यप्रदेशं पृष्ठं यस्योदरस्य तस्य भावस्तत्ता तया स्फुरत् दृढग्रहणात् पृष्ठफलके स्फुटीभवदङ्गुष्ठपदमङ्गुष्ठन्यासस्थानं यस्य तेन मुष्टिना करणेन चतसृणामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलि 'तद्धिते'त्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचननपुंसकत्वे। तस्य मध्येभ्योऽन्तरालेभ्यो निर्गतं यस्त्रिवलि पूर्ववत् समासादिः कार्यः, यत्तूक्तं वामनेन 'त्रिवलिशब्दः संज्ञा चेदि'ति सूत्रेण सप्तर्षय इत्यादिवत् 'दिक्संख्ये संज्ञायामि'ति संज्ञायां द्विगुरिति। तदपि चेत्करणसामर्थ्यात्त्रिवलय इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थितं गतिमात्रं न सार्वत्रिकमितिप्रतीमः। तेन भ्राजत इति तद्भ्राजि वलित्रयशोभि कृतमित्युत्प्रेक्षा, कौतुकिनेति शेषः। मुष्टिग्राह्यमध्येयमित्यर्थः। मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात्पृष्ठमध्ये नम्रता उदरे च चतुरङ्गुलिनोदनाद्वलित्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्ष्यते ॥ ३४ ॥

दमयन्तीका उदर मुट्ठीमें बांधनेसे पृष्ठ भागमें अङ्गुष्ठ लगनेसे चिपटा तथा आगेमें चारो अङ्गुलियोंके बीच की तीन रेखाओंके लगनेसे त्रिवलियुक्त बनाया गया है। [चार

अङ्गुलियोंके बीचमें तीन रेखाओंका होना सर्वविदित है, इसकी सृष्टि करते समय उन्हींके लगनेसे दमयन्तीका उदर आगे तीन रेखाओंसे युक्त तथा पीठमें अङ्गुष्ठ लगनेसे चिपटा हो गया है। दमयन्तीका उदर एक मुट्ठीमें बांधने योग्य अर्थात् अत्यन्त पतला है]॥ ३४ ॥

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ? ।
धृनतच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

उदरमिति । कोऽपि कुतुकी दमस्वसुरुदरं मुष्टिना परिमाति किमु ? परिच्छिनत्ति किमित्युत्प्रेक्षा, कुतः ? यद् यस्मात् सहेमकाञ्चिभिर्वलिभिर्हेमकाञ्च्या सह चतसृभिस्त्रिवलिभिरित्यर्थः । एतस्याः कनकसावर्ण्यं सूचितम् धृतं तस्य मातुश्चतुरङ्गुली अङ्गुलीचतुष्टयं येन तदिव भातीत्युत्प्रेक्षा । अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुहेतुमद्भूतयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीयः सङ्करः । पूर्वश्लोके वलीनां तिसृणां चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्वमुत्प्रेक्षितम् । इह तु तासामेव काञ्चीसहितानां चतुरङ्गुलित्वमुत्प्रेक्ष्यत इति भेदः प्रेक्षितुरिति भावः ॥ ३५ ॥

कौतुकी कोइ (ब्रह्मा) दमयन्तीके उदरको मुट्ठीसे नापता है क्या ?, क्योंकि स्वर्णकी करधनी-सहित त्रिवलियोंसे ऐसा शोभता है कि मानो उस (कौतुकी) के चारों अङ्गुलियों (के मध्यगत तीन रेखाओं) को धारण कर रहा हो। [पूर्व श्लोक (२।३४) में त्रिवलियोंको चार अङ्गुलियोंके बीचमें होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है, तथा इस श्लोकमें उनके सहित करधनी सहित उन्हीं त्रिवलियोंको चार अङ्गुलियां होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है, अतः दोनोंमें भेद स्पष्ट है]॥ ३५ ॥

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।
विधिरेकचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥ ३६ ॥

पृथ्विति । पृथु वर्तुलं च तस्याः नितम्बं करोतीति नितम्बकृन्नितम्बं कृतवान् विधिः ब्रह्मा मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया रविरथनिर्माणाभ्यासपाटवेन एककमेकाकि 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः । तेन चक्रेण चरतीति तच्चारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु ? सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्रं रथं निर्मातुमिच्छति किमु ? इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा किमर्थमिदं नितम्बनिर्म्माणमिति भावः । मातेः सन्नन्ताल्लट् । 'सनि मीमे'त्यादिना ईसादेशः, 'सस्यार्द्धधातुक' इति सकारस्य तकारः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः ॥ ३६ ॥

विशाल तथा गोलाकार दमयन्ती के नितम्बको बनानेवाला ब्रह्मा सूर्यके रथकी कारीगरीके अभ्याससे एक पहियेसे चलनेवाला कामदेवका रथ बनाना चाहता है क्या ? [पहले ब्रह्माने एक पहियेसे चलनेवाला रथ सूर्यका ही बनाया था, किन्तु मालूम पड़ता है कि अब वह एक पहियेसे चलनेवाला कामदेवका रथ भी बनाना चाहता है । दमयन्ती के विशाल तथा गोलाकार नितम्बको देखकर सभी कामुक हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेन सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम् ।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदापत्यतपःफलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

तरुमिति । सुन्दरी दमस्वसा परिणाहिना विपुलेन ऊरुयुगेन रम्भां रम्भां नाम तरुं परन्तरुमेव 'न लोक'स्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । जिष्णुः किमु ? किन्तु धनदापत्यस्य नलकूबरस्य तपसः फलस्तनीं फलभूतकुचां तां रम्भानाम तरुणीमपि जिष्णुरेव । 'रम्भाकदल्यप्सरसोरि'ति विश्वः । रम्भे इव रम्भाया इव चोरू यस्याः सा इत्युभयथा रम्भोरुरित्यर्थः ॥ ३७ ॥

सुन्दरी दमयन्ती विशाल उरुद्वयसे केवल रम्भा (केला) वृक्षको ही जीतनेवाली है क्या ? (ऐसा नहीं कहना चाहिये, किन्तु) कुबेरपुत्र (नलकूबर) की तपस्याके फलरूप स्तनोंवाली युवती रम्भा (नामकी अप्सरा) को भी जीतनेवाली है । [दमयन्ती उक्तरूप ऊरुद्वयसे केवल कदली-स्तम्भको नहीं, किन्तु जिस रम्भाके स्तनोंको नलकूबरने तपस्याके फलस्वरूप प्राप्त किया है, उस तरुणी रम्भाको भी जीतती है अर्थात्—दमयन्तीके ऊरुद्वय कदली-स्तम्भ तथा रम्भा अप्सराके ऊरुद्वयसे भी अधिक चिकने, गोलाकार एवं क्रमिक आरोहावरोह (चढाव-उतार) वाले हैं] ॥ ३७ ॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः ।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥

जलजे इति । ये जलजे द्विपद्मे रविसेवया सूर्योपासनयेव एतस्याः पदतां चरणत्वमेव पदम्प्रतिष्ठामवापतुः ते जलजे कर्मभूते विधिपत्रदम्पती द्वन्द्वचारिणौ ब्रह्मवाहनहंसौ एत्यागत्य रुतः रवात्कूजनादित्यर्थः । रौतेःसम्पदादित्वात् क्विपि तुगागमः । सहंसकी सपादकटकी सहंसकी च कुरुतः 'अभूततद्भावं च्विः' । 'हंसकः पादकटक' इत्यमरः । हंसपक्षे वैभाषिकः कप्रत्ययः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । पद्महंसयोरविना-भावात् कयोश्चिद्दिव्यपद्मयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहंसयोरेव हंसकत्वञ्चोत्प्रेक्षते ॥३८॥

जिस कमलद्वयने मानों सूर्यकी सेवामें दमयन्तीके चरणरूप उत्तम स्थानको प्राप्त किया है (अत एव) मानो ब्रह्माका वाहनभूत हंसमिथुन उस (कमलद्वय) के पास आकर उसे हंसयुक्त कर रहा है । [दमयन्तीके चरण कमलके समान हैं, अत एव ज्ञात होता है कि कमलने सूर्यकी सेवासे दमयन्तीके चरणरूप उत्तम स्थानको पाया है, क्योंकि लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी देवताकी सेवासे उत्तम पदको पाता है; तथा कमलको हंस-सहित होना उचित होनेसे ब्रह्माका वाहनभूत हंसमिथुन (हंस तथा हंसी) उन कमलोंके पास आकर उन्हें हंस-युक्त कर रहा है, पक्षा०—दमयन्तीके चरण कमल हंसके समान मधुर शब्द करनेवाले नूपुरोंसे युक्त हैं] ॥ ३८ ॥

श्रितपुण्यसरःसरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम् ।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥ ३९ ॥

श्रितेति । श्रिताः सेविताः पुण्याः सरःसरितः मानसादीनि सरांसि गङ्गाद्याः सरितश्च येन तत्समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिताखिलक्षपं यापितसर्वरात्रं जलजं दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् जन्मनि मञ्जुलाङ्गतिं रम्यगतिमुत्तमदशाञ्च, 'गतिर्मार्गे दशायां चे'ति विश्वः । कथं नैतु एत्वेवेत्यर्थः । पदस्य गतिसाधनत्वात्तत्रापि दमयन्तीसम्बन्धाच्चोभयगतिलाभः । तथापि जन्मान्तरेऽपि सर्वथा तपः फलितमिति भावः । सम्भावनायां लोट् ॥ ३९ ॥

पवित्र (मानसरोवरादि) तड़ाग तथा (गङ्गा आदि) नदियोंका आश्रय करनेवाला (सर्वदा उनमें रहनेवाला) तथा सम्यक् प्रकारके कष्ट [पक्षा०—मुकुलित रहकर नेत्र बन्द करनेरूप समाधि (योगाङ्गविशेष)] से सम्पूर्ण रात्रिको बिताने वाला कमल दमयन्तीके चरणके नामवाले जन्मान्तरमें उत्तम गतिको क्यों नहीं प्राप्त करे ? अर्थात् उसे उत्तम गतिको प्राप्त करना उचित ही है । [लोकमें भी कोई व्यक्ति तड़ाग या नदी आदि पुण्य तीर्थमें रहकर नेत्रोंको बन्दकर समाधि लगाये रातको बितानेसे जन्मान्तरमें उस तपोजन्य फलस्वरूप जिस प्रकार उत्तम गतिको पाता है, उसी प्रकार कमल भी पुण्यतीर्थ मानसादि तडाग एवं गङ्गादि नदियोंमें रहकर रात्रिमें मुकुलित रहनेसे समाधिको धारणकर जो तप किया, उसके फलस्वरूप दमयन्तीके चरणके नाम प्राप्तिरूप उत्तम गतिको पाया] ॥३९॥

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता ।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

अथ कथं त्वमेनां वेत्सीत्यत आह—सरसीरिति । सरसीः सरांसि परिशीलितुं परिचेतुं तत्र विहर्त्तुमित्यर्थः । चुरादिणेरनित्यत्वादण्यन्तप्रयोगः । गमिर्गमनं शब्दपरशब्देनार्थो गम्यते तस्य कर्मीकृताः कर्मकारकीकृताः नैके अनेके नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । नितरां वर्त्तन्ते जना येष्विति नीवृतः जनपदाः येन तेन क्रान्तानेकदेशेनेत्यर्थः । 'नहिवृती'त्यादिना दीर्घः । मया सदसद्वेति संशयगोचरः सन्देहास्पदमुदरं यस्याः सा कृशोदरीत्यर्थः । 'नासिकोदरे'त्यादिना ङीप् । सा दमयन्ती दृशोरतिथित्वमनायि स्वविषयतां नीता दृष्टेत्यर्थः । नयतेः कर्मणि लुङ् ॥ ४० ॥

(आगे नलसे हंस कहता है कि—) तडागोंका आश्रय करनेके लिए अनेक देशोंको जानेवाले मैंने अतिशय कृश होनेसे 'हैं या नहीं' ऐसे सन्देहके विषयीभूत उदरवाली उस (दमयन्ती) को देखा है । [दमयन्तीका उदर कृश है कि उसे देखकर मुझे सन्देह हो जाता था कि इसका उदर है या नहीं है ? । इस प्रकार उक्तरूपा उस दमयन्तीको अनेक तडागोंमें रहनेके लिए देश-देशान्तरमें भ्रमण करनेवाले मैंने देखा है, अतः वैसी परम सुन्दरी रमणी कहीं भी नहीं है, ऐसा आपको विश्वास करना चाहिये] ॥ ४० ॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम् ।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

अवधृत्येति। अहमिमान्दमयन्तीं दिवः स्वर्गस्य सम्बन्धिभिर्यौवतैर्युवतिसमूहैरपि 'गार्भिणं यौवतं गण' इत्यमरः। भिक्षादित्वात्समूहार्थे अण्प्रत्ययः, तत्राप्यस्य युवतीति स्त्रीप्रत्ययान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तद्ग्रहणात् तत्सामर्थ्यादेव 'भस्याढे तद्धित' इति पुंवद्भाव इति वृत्तिकारः। न सहाधीतवतीमसदृशीं ततोऽप्यधिकसुन्दरीमित्यर्थः। 'नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास' इति वामनः। अवधृत्य निश्चित्य विधातुः ब्रह्मणः आशये हृदि अस्याः पतिः कतमो नु कतमो वा वसतीत्यचिन्तयम्, तदैवेति शेषः॥ ४१॥

स्वर्गके भी युवती-समूहोंके साथ अध्ययन नहीं की हुई (स्वर्गीय युवतियोंसे भी अधिक सुन्दरी) इस (दमयन्ती) को निश्चितकर 'ब्रह्माके मनमें इसका कौन पति बसता है?' यह मैंने विचार किया। [समान गुणवालोंके साथ अध्ययन किया जाता है, असमान गुणवालोंके साथ नहीं; अतएव मानुषी स्त्रियों की कौन कहे, स्वर्गीय युवतियोंसे भी अधिक गुणवाली होनेसे दमयन्तीने उनके साथ भी अध्ययन नहीं किया है अर्थात् स्वर्गीय युवतियोंसे भी दमयन्ती अधिक सुन्दरी है ऐसा निश्चय कर ब्रह्माके मनमें इसका कौन पति बसता है यह मैंने सोचा]॥ ४१॥

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम्।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्॥ ४२॥

अनुरूपमिति। अथेदानीमनुरूपं योग्यं त्वां निरूपयन् तस्याः पतित्वेनालोचयन् सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपक्षतां दूष्यकोटित्वं व्यपनेतुमक्षमः सन् त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्। त्वमेवास्याः पतिरिति निरचैषमित्यर्थः। अयमेव विधातुरप्याशय इति भावः॥ ४२॥

(इस दमयन्तीके) अनुरूप पतिका निरूपण करता हुआ सब युवकोंमें पूर्वपक्षत्वको दूर करनेमें असमर्थ मैंने तुममें ही सिद्धान्त बुद्धिको स्थापित किया। [पूर्वपक्षकी अपेक्षा सिद्धान्त पक्षके प्रबल होनेसे 'आप ही इस दमयन्तीके अनुरूप पति हैं, ऐसा मैंने निश्चय किया]॥ ४२॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता॥ ४३॥

अथ त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति। चिरमवलोकिताऽपि सा शुचिस्मिता सुन्दरी अद्याधुना हस्तेन निर्दिशन्नाह—अनया तव रूपसीमया सौन्दर्यकाष्ठया कृतसंस्कारविबोधनस्य उद्बुद्धसंस्कारस्य मे स्मृतिमारूढवती स्मृतिपथङ्गता, सदृशदर्शनं स्मारकमित्यर्थः॥ ४३॥

तुम्हारी इस रूपमर्यादा (सर्वाधिक सौन्दर्य) से उद्बुध संस्कारवाले मेरे स्मृतिपथमें बहुत पहले भी देखी गयी वह उज्ज्वल मुसकानवाली सुन्दरी (दमयन्ती) आ गयी।

[सदृश वस्तुके देखने पर पूर्वसंस्कारके जागृत होनेसे चिरदृष्ट वस्तुका भी स्मरण हो जाता है, अत एव आपकी सर्वाधिक सुन्दरताको देखकर मुझे बहुत पहले देखी गयी भी उस दमयन्तीका स्मरण हो गया] ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर ! विराजते परं दमयन्तीकिलकिंचितं किल ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

ततः किमत आह—त्वयीत्यादि । हे वीर ! दमयन्त्याः किलकिञ्चितम्, 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितमि'त्युक्तलक्षणलक्षितश्रृङ्गारचेष्टितं त्वयि परन्त्वय्येव विराजते किल शोभते खलु । तथाहि—मणिहारावलेर्मुक्ताहारपङ्क्तेः रामणीयकं रमणीयत्वं 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' । तरुणीस्तन एव दीप्यते, नान्यत्रेत्यर्थः । स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणेति प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगः । अत्र हारकिलकिञ्चितयोरुपमानोपमेययोर्वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतया स्तननृपयोः समानधर्मत्वोक्तेर्दृष्टान्तालङ्कारः, लक्षणन्तूक्तम् ॥ ४४ ॥

हे वीर ! (नल) ! दमयन्तीका किलकिञ्चित (श्रृङ्गारसम्बन्धी चेष्टाविशेष) केवल आपमें ही विशेषतः शोभित होता हैं, क्योंकि मणियोंके हारोंकी रमणीयता युवतीके हां स्तनोंपर विशेष शोभती है । [युवतियोंको वीरस्वामी ही अधिक प्रिय होता है, अत एव यहां नल के लिए हंसने 'वीर' पदका प्रयोग किया है । क्रोध, रोदन, हर्ष और भयादिके सम्मिश्रण के साथ की गयी स्त्रियोंकी श्रृङ्गार चेष्टाको 'किलकिञ्चित' कहते हैं] ॥ ४४ ॥

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवावकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी, स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ? ॥ ४५ ॥

तवेति । हे वीर ! तवेदं रूपं सौन्दर्यं तया दमयन्त्या विना अवकेशिनो वन्ध्यवृक्षस्य 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी चे'त्यमरः । पुष्पमिव विफलं निरर्थकम्, ऋद्धधना सम्पूर्णवित्ता इयमवनी वृथा निरर्थिका । सम्प्रवदत्पिका कूजत्कोकिलास्ववनी निजोद्यानमपि 'ङीप्' का तुच्छा निरर्थिकेत्यर्थः । तद्योगे तु सर्वं सफलमिति भावः । 'किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दापराधयोरि'ति विश्वः । अत्र नलरूपावनीवनीनां दमयन्त्या विना रम्यतानिषेधाद्विनोक्तिरलङ्कारः । 'विना सम्बन्धि यत्किञ्चिद्यत्रान्यत्र परा भवेत् । रम्यताऽरम्यता वा स्यात् सा विनोक्तिरनुस्मृते'ति लक्षणात् । तस्याश्च पुष्पमिवेत्युपमया संसृष्टिः ॥ ४५ ॥

(उत्कण्ठावर्धनार्थं राजहंस पुनः कहता है कि—हे राजन् !) उस (दमयन्ती) के विना यह तुम्हारा रूपफलहीन वृक्षके पुष्पके समान (या—मुण्डितमस्तक व्यक्तिके मस्तक पर धारण किये गये पुष्प के समान) व्यर्थ है, बढ़ी हुई सम्मत्तिवाली यह पृथ्वी (तुम्हारा राज्य) भी व्यर्थ है और जिसमें कोयल कूकती है ऐसा अपना (आपका) उद्यान भ क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं—सर्वथा निःसार है ॥ ४५ ॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया ।
घनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

अत्रान्यापेक्षां दर्शयितुं तस्या दौर्लभ्यमाह—अनयेति । अमरैरिन्द्रादिभिः काम्यमानयाऽभिलष्यमाणया दमयन्त्या सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया मेघावृतया निशाकरत्विषा सह योगः कुमुदेनेव त्वया न सुलभो दुर्लभ इत्यर्थः । अत्र तत्सयोगदौर्लभ्यस्य अमरकामनापदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः, तत्सापेक्षा चेयमुपमेति सङ्करः ॥ ४६ ॥

वर्षाकालमें बादलसे अच्छी तरह आच्छादित हुई चन्द्रकान्तिके साथ कुमुदके समान देवताओंसे भी अभिलषित होती हुई इस दमयन्तीके साथ आपका सम्बन्ध होना सरल नहीं है । [यहांपर हंसने-वायु आदिके द्वारा बादलके हट जानेपर जिस प्रकार चन्द्रकान्तिके साथ कुमुद का सम्बन्ध अवश्य हो जाता है, उसी प्रकार मेरे उपाय करनेसे दमयन्तीके साथ आपका सम्बन्ध अवश्यमेव हो जायगा—ऐसा संकेत किया है तथा देवसे भी अभिलषित होना कहकर दमयन्तीका देवाङ्गनाओंसे भी अधिक सुन्दर होनेका तथा भविष्य (स्वयंवरमें होनेवाले देवोंके आगमन आदि) का भी संकेत किया है] ॥ ४६ ॥

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम् ।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते ॥ ४७ ॥

अत्र का गतिरित्याह—तदिति । तत्तस्मात्कार्यस्य सप्रतिबन्धत्वादहं दमयन्त्याः सविधे समीपे तथा तथा तव स्तवं स्तोत्रं विदधे विधास्य इत्यर्थः, सामीप्ये वर्त्तमाने प्रत्ययः । यथा तया हृदये विहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते नेतुमशक्य इत्यर्थः । यथेन्द्रादिप्रलोभिताऽपि त्वय्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यसमीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

(अपने वचनका उपसंहार करता हुआ हंस उक्त विषयको ही स्पष्ट करता है—) इस कारण मैं दमयन्तीके समीप आपकी वैसी वैसी प्रशंसा करूंगा, जिससे हृदयमें स्थापित आपको इन्द्र भी पृथक् नहीं कर सकता है (तो किसी मनुष्य के विषयमें कहना क्या है ?) ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम् ।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

तर्हि तथैव क्रियतां किं निवेदनेनेत्यत आह—तवेति । अत्रास्मिन् कार्ये केवलामेकान्तव सम्मतिमङ्गीकारमधिगन्तुमिदं निवेदितं निवेदनं धिक् । तथा हि—साधवो निजोपयोगितां स्वोपकारित्व फलेन कार्येण ब्रुवते बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन वाग्वृत्या न ब्रुवते । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४८ ॥

केवल आपकी सम्मति पानेके लिए ही इस निवेदनको धिक्कार है, क्योंकि सज्जन लोग अपने उपयोगको स्वयं कण्ठसे नहीं कहते हैं, किन्तु फल (कार्यकी सिद्धि) से ही कहते हैं ॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाभ्युदितं द्विजाधिपात् ।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ॥ ४९ ॥

तदिति । स नलो द्विजाधिपात् हंसाच्चन्द्राच्चाभ्युदितमाविर्भूतं विशदं प्रसन्नमवदातञ्च तत् पूर्वोक्तमिदमनुभूयमानं वच एवामृतमिति रूपकं तत्परिपीय अत एव अतितृप्ततया अतिसौहित्येन तस्य वचोऽमृतस्य उद्गारमिव सितं स्मितं विनिर्ममे निर्मितवान् माङः कर्त्तरि लिट् । अतितृप्तस्य किञ्चिन्निःसार उद्गारः । सितत्वसाम्यात् स्मितस्य वागमृतोद्गारोत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

पक्षिराज (हंस, पक्षा०—चन्द्रमा) से निकले हुए उस स्वच्छ वचनामृतका सम्यक् प्रकारसे पान कर अर्थात् सुनकर उस नलने अत्यधिक तृप्त होनेसे उस (श्वेत वचनामृत) के डकारके समान श्वेत स्मित किया। [जिस प्रकार कोई व्यक्ति अधिक लोभसे किसी वस्तुको अधिक पीकर उसके समान ही डकारता है, उसी प्रकार नलने हंसके स्वच्छ वचनामृतको अधिक पीकर डकाररूप स्वच्छ स्मित किया। सज्जनोंको स्मितपूर्वक भाषण करनेका नियम होनेसे, या दमयन्ती लाभरूप अनुकूल वचन सुननेसे नलने मुस्कुरा दिया] ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगङ्कोकनदेन नैषधः ।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ॥ ५० ॥

परिमृज्येति । निषधानां राजा नैषधः नलः 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' । भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पाणिशोणपङ्कजेनेत्यर्थः । पतगं हंसं परिमृज्य तस्य हंसस्य तथा मुदे हर्षाय प्रियवादानामेवामृतानां कूपः निधिः कण्ठो वागिन्द्रियं तज्जन्याः गिरः मृदु यथा तथा अगिरत् प्रियवाक्यामृतैरसिञ्चदित्यर्थः । अत्र भुजाग्रजन्मना कोकनदेनेति विषयस्य पाणेर्निगरणेन विषयिणः कोकनदस्यैवोपनिबन्धनात् अतिशयोक्तिः, 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिसम्मता ॥' इति लक्षणात् । सा च पाणिकोकनदयोरभेदोक्तिः अभेदरूपा तस्याः प्रियवादामृतकूपकण्ठेति रूपकसंसृष्टिः ॥ ५० ॥

निषध नरेश नलने भुजाके अग्रभागमें उत्पन्न रक्तकमल अर्थात् रक्तकमल-तुल्य तलहथीसे पक्षी (हंस) को सहला कर (प्रेमपूर्वक उसके शरीर पर धीरे-धीरे हाथ फेर कर) उसके हर्षके लिए प्रिय भाषणरूप अमृतके कूपरूपी कण्ठसे उत्पन्न मृदु वचन कहा ॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

न तुलेति । हे हंस ! तव आकृतिः आकारः तुलाविषये सादृश्यभूमौ न वर्त्तते असदृशीत्यर्थः । ते तव सुशीलता सौशील्यं वचोवर्त्मनि न वर्त्तते वक्तुमशक्येत्यर्थः । अत एवाकृतौ गुणाः 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा' इति सामुद्रिकाणां या सारमुद्रणा सिद्धान्त-

प्रतिपादनं सा त्वमेवोदाहरणं यस्याः सा तथोक्ता आकृतिसौशील्ययोः त्वय्येव सामानाधिकरण्यदर्शनादित्यर्थः। अत एवोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः, 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

तुम्हारे (सुवर्णमय) आकारकी समता किसीके साथ नहीं की जा सकती तथा तुम्हारी सुशीलताका वर्णन नहीं किया जा सकता, 'आकृतिमें गुण रहते हैं' ऐसे सामुद्रिक शास्त्रके सारभूत नियमके तुम्हीं उदाहरण हो [अर्थात्—तुम्हें देखकर ही सामुद्रिक शास्त्रने 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' ऐसा नियम किया है। तुम्हारा जैसा सुन्दररूप है, वैसा ही सुन्दर स्वभाव भी है]॥ ५१ ॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा।
न पर पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

न सुवर्णेति। ननु हे हंस! तवेयं तावकी 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् चे'ति चकारादण् प्रत्यये ङीप् 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। तनुः परं मूर्तिरेव सुवर्णमयी हिरण्मयी न किन्तु वागपि तथा सुवर्णमयी शोभनाक्षरमयीत्यर्थः। अनवलम्बे निरवलम्बे पथि परमाकाश एव पक्षपातिता पक्षपातित्वं किमु किं वेत्यर्थः। निपातानामनेकार्थत्वात्। अनवलम्बे निराधारे मादृशेऽपि सा पक्षपातिता स्नेहवत्तेत्यर्थः। अत्र तनुवाचोः प्रकृताप्रकृतयोः सुवर्णमयीति शब्दश्लेषः एवं पथि मादृशेऽपि पक्षपातितेति सजातीयसंसृष्टिः, तया चोपमा व्यज्यते ॥ ५२ ॥

केवल तुम्हारा शरीर ही सुवर्णमय (सोनेका बना हुआ) नहीं है, किन्तु वचन भी सुवर्णमय (सुन्दर अक्षरोंसे बना हुआ) है तथा तुम केवल अवलम्बन-रहित मार्ग (आकाश) में ही पक्षपाती (उड़ते समय पङ्खों को गिरानेवाले) नहीं हो, किन्तु निरवलम्ब मुझमें भी पक्षपाती (पक्षपात-तरफदारी करनेवाले) हो ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान्मरुदासादि तुषारसारवान्।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

भृशेति। भृशतापभृता अतिसन्तापभाजा मया भवांस्तुषारैः शीकरैः सारवानुत्कृष्टो मरुत् मारुतः सन् आसादि सन्तापहरत्वादिति भावः। तथा हि—धनिनां धनिकानां कुबेरादीनामितरः पद्मशङ्खादिः संश्चासौ निधिश्चेति सन्निधिः, सतां विदुषां पुनः गुणवतां सन्निधिः सान्निध्यमेव सन्निधिः महानिधिः। सन्तापहारित्वात् त्वमेव शिशिरमारुतः, अन्यस्तु दहन एवेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः, लक्षणं तूक्तम् ॥ ५३ ॥

(दमयन्ती-विरहमें) अत्यन्त ताप (कामज्वर) से युक्त मैंने हिम (बर्फ) के सार भागयुक्त वायुरूप तुमको पा लिया है, क्योंकि धनियोंका दूसरा ही (रुपया-पैसा आदि द्रव्यरूप) श्रेष्ठ धन है, किन्तु सज्जनोंका तो गुणवानोंका संसर्ग ही श्रेष्ठ धन है। [द्रव्यादिको पानेसे धनियोंके समान गुणवानोंके संसर्गको पानेसे सज्जनोंको हर्ष होता है]॥५३॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिमम ।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

शतश इति । त्रिजगतः त्रैलोक्यस्य मोहे सम्मोहने महौषधिः महौषधमिति रूपकम् । सा दमयन्ती शतशो मम श्रुतिं श्रोत्रमागतैव अधुना तव शंसितेन कथनेन तु स्वदृशा मम दृष्ट्यैवाधिगतां दृष्टामवैमि साक्षाद् दृष्टां मन्ये । आप्तोक्तिप्रामाण्यादिति भावः ॥ ५४ ॥

तीनों लोकोंको मोहित करनेके लिए महौषधिरूपिणी उस (दमयन्ती) को मैंने सैकड़ों बार सुना है, तथा तुम्हारे इस कथन (२।१७-३९) से तो उस (दमयन्ती) को अपने नेत्रोंसे ही देखता हुआ समझ रहा हूँ ॥ ५४ ॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम् ।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याह—अखिलमिति । सुहृदा आप्तमुखेन स्वहृदा स्वान्तःकरणेन च सुहृद् ग्रहणं तद्वत्सुहृदः श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थमखिलं कृत्स्नमर्थमनाविलमसन्दिग्धम् अविपर्यस्तं यथा तथा पश्यतामवधारयतां विदुषां विवेकिनां सविधे पुरोऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी असूक्ष्मार्थदर्शिनी, 'सुप्सुपे'ति समासः । अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रं न तु दूरसूक्ष्मार्थदर्शनोपयोगिनीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

मित्रके द्वारा तथा अपने हृदयसे सब वस्तु-समूहको प्रत्यक्ष देखते हुए विद्वानोंके (अतिशय) निकटस्थ (कज्जलादि पदार्थ) को भी नहीं देखनेवाले नेत्रद्वय केवल मुखका अलङ्कारमात्र है (अथवा—·········नेत्रद्वय अलङ्कारमात्र नहीं है ? अर्थात् अलङ्कारमात्र ही है)। [जो नेत्र अपने अतिशय निकटस्थ कज्जल आदि पदार्थोंको भी नहीं देखते वे नेत्र दूरस्थ पदार्थको कैसे देख सकते हैं ?, अत एव आगम तथा अनुमानसे स्वयं या मित्रके द्वारा देखी गयी वस्तुको ही वास्तविक देखी गयी मानना ठीक है, इस प्रकार तुमने दमयन्तीको देख लिया (२।४०) तो मैं भी मानो उसे देखी गयी ही मानता हूँ] ॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः ।
मदनानलबोधनेऽभवत् खग धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

अमितमिति । हे खग ! जनैः विदर्भागतजनैः मम श्रवणप्राघुणकीकृता कर्णातिथीकृता तद्विषयीकृतेत्यर्थः । 'आवेशिकः प्राघुणक आगन्तुरतिथिस्तथे'ति हलायुधः । अमितमपरिमितं मधु क्षौद्रं तद्वदतिमधुरेत्यर्थः । तत्कथा तद्गुणवर्णना अधैर्यधारिणोऽत्यन्ताधीरस्य मम मदनानलबोधने मदनाग्निप्रज्वलने धाय्या सामिधेनी भवेत् 'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' । इत्यमरः । 'पाय्यसान्नाय्ये'त्यादिना निपातः । धिक् वाक्यार्थो निन्द्यः । अत्र तत्कथायाः धाय्यात्मना प्रकृतमदनाग्नीन्धनोपयोगात् परिणामालङ्कारः, 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥ ५६ ॥

हे पक्षी (हंस) ! लोगोंसे श्रवणातिथि की (सुनी) गयी अनुपम (या—अपरिमित मधुरूप (या—मधुतुल्य) उसकी कथा मेरी कामाग्निको बढ़ानेमें 'धाय्या' ऋक् (अग्नि-होत्रके अग्निको प्रज्वलित करनेवाला ऋग्वेद का मन्त्र-विशेष) होती है, इस कारण धैर्यहीन (या—धैर्ययुक्त) मुझको धिक्कार है ॥ ५६ ॥

विषमो मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयो मयोहितः।
बत कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा ॥ ५७ ॥

विषम इति। विषमः प्रतिकूलः कालकलत्रदिग्भवः यमदिग्भवः प्राणहर इति भावः, पवनो दक्षिणमारुतः तद्विरहानलैधसा दमयन्तीविरहाग्निसमिधा तद्दाह्येनेत्यर्थः। मया मलये मलयाचले या अहिमण्डली सर्पसङ्घः तस्याः विषफूत्कारमयः ऊहितस्तद्रूप इति तर्कित इत्यर्थः। लोके च 'अग्निरेधांसि फूत्कारवातैर्ध्मायत' इति भावः। बतेति खेदे। विरहानलैधसेतिरूपकोत्थापितेयं दक्षिणपवनस्य मलयाहिमण्डलीफूत्कारत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ५७ ॥

हे हंस ! उस (दमयन्ती) की विरहाग्निका इन्धनरूप मैं यमराजकी स्त्रीभूता दिशा अर्थात् दक्षिण दिशाकी वायुको मलयपर्वतके सर्प-समूहके विषमिश्रित फुफकारसे पूर्ण (अत एव) भयङ्कर (या—विषतुल्य) समझा। [जिस प्रकार मुंहके फूत्कारसे सन्धुक्षित (बढ़ी हुई) अग्नि धधककर इन्धनको जलाती है, उसी प्रकार दमयन्तीके विरहसे उत्पन्न कामाग्नि मलयवासी सर्प-समूहके विषैले फूत्कारसे सन्धुक्षित होनेसे विषतुल्य होकर इन्धनरूप मुझे जला रही है। काल (यमराज) की स्त्रीभूता दिशाके वायुको सर्प-समूहके विषैले फूत्कारसे मिश्रित होनेसे विषतुल्य होना उचित ही है। दमयन्तीकी विरहाग्निसे पीड़ित मैं दक्षिण वायुके बहने पर अत्यन्त सन्तापका अनुभव करता हूं] ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग ! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम्।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ? ॥ ५८ ॥

प्रतिमासमिति। असौ निशाकरो मासि मासि प्रतिमासम्प्रतिदर्शमित्यर्थः। वीप्सायामव्ययीभावः। दिनाधिपं सूर्यं सङ्गच्छति प्राप्नोतीति यत्ततः प्राप्तेः स निशाकरः तीव्रतरैरत एव धैर्यतस्करैर्मम धैर्यहारिभिः करैः सौरैः तत आनीतैः मम दाहाय सङ्गच्छतीत्यनुषङ्गः, किमुशब्द उत्प्रेक्षायाम्। अत्र सङ्गमनस्य दाहार्थत्वोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

हे हंस ! वह प्रसिद्धतम चन्द्रमा जो प्रतिमास (अमावस्याको) सूर्यके साथ सङ्गत होता है, उससे अत्यन्त तीक्ष्ण एवं धैर्यनाशक किरणोंसे मुझे जलानेके लिये समर्थ होता है क्या ? [लोकमें स्वयं किसीका अपकार करनेमें असमर्थ व्यक्ति दूसरे प्रबल व्यक्तिकी सहायता लेकर अपकार करनेमें जिस प्रकार समर्थ होता है, उसी प्रकार स्वयं शीतल प्रकृति होनेसे मुझे सन्तप्त करनेमें असमर्थ चन्द्रमा प्रत्येक मासकी अमावस्या तिथिको सूर्यसे

सङ्गत होनेसे तीक्ष्ण किरणोंवाला होकर मुझ विरहीको सन्तप्त करता है, ऐसा ज्ञात होता] है ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तत् ।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

कुसुमानीति । स्मरेषवः कुसुमान्येव यदि न तु वज्रमशनिः सद्योमरणाभावादिति भावः । तत्तथा अस्तुकिन्तु विषवल्लिजानि विषलतोत्पन्नानि । यद्यस्मादमूः स्मरेषवः 'पत्री रोप इषुर्द्वयोरि'ति स्त्रीलिङ्गता, मम हृदयममूमुहन् अमूर्च्छयन् मुह्यतेर्णौ चङ्, यद्यस्मादतितमामतिमात्रमव्ययादाम्प्रत्ययः । अतीतपन् तापयन्तिस्म, तपतेर्णौ चङ् मोहतापलक्षणविषमकार्यदर्शनाद्विषवल्लिजत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

यदि काम-बाण पुष्प हैं, वज्र नहीं हैं तो वे विषलतासे उत्पन्न (पुष्प) हैं, (अथवा—कामबाण वज्र ही हैं, पुष्प नहीं है,—यदि यह कथन लोकप्रसिद्धिसे विरुद्ध है तो वे विषलतासे उत्पन्न पुष्प हैं) क्योंकि इन कामबाणोंने मेरे हृदयको मोहित कर दिया तथा अत्यन्त सन्तप्त कर दिया । (अत एव कामबाण यदि वज्र नहीं पुष्प ही हैं तो विषलता से उत्पन्न पुष्प हैं, अन्यथा उनमें मोहकत्व एवं सन्तापकत्व होना सम्भव नहीं है) ॥ ५९ ॥

तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ ।
भव पोत इवावलम्बनं विधिनाऽऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

तदिति । तत्तस्मादिहास्मिन्ननवधौ अपारे कन्दर्पशरैर्य आधिर्मनोव्यथा 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथे'त्यमरः । तस्मिन्नेव नीरधौ समुद्रे निमज्जतो अन्तर्गतस्य मम विधिना दैवेनाकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकमध्यात्मादित्वात् ठक्, अव्ययानाम्भमात्रे टिलोपः' तद्यथा तथा सृष्टसन्निधिः सन्निधानं भाग्यादागत इत्यर्थः । त्वं पोतो यानपात्रमिव 'यानपात्रस्तु पोत' इत्यमरः । अवलम्बनं भव ॥ ६० ॥

इस कारण (हे हंस !) कामबाणजन्य पीडारूपी अथाह समुद्रमें डूबते हुए मेरे दैव से अकस्मात् देखे गये सामीप्यवाला (भाग्यवश सहसा समीपमें प्राप्त तुम) जहाजके समान अवलम्बन होवो । [अथाह समुद्रमें डूबते हुए व्यक्तिके लिये भाग्यवश देखा गया जहाज जिस प्रकार अवलम्बन होकर डूबनेसे उसकी रक्षा करता है, उसी प्रकार अनाथ काम-पीडामें डूबते हुए मेरे लिए भाग्यवश अकस्मात् समीपमें आयेहुए तुम मेरा अवलम्बन होवो अर्थात् दमयन्तीके साथ सङ्गम कराकर काम-पीडासे मेरी रक्षा करो] ॥ ६० ॥

अथवा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ? ।
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

अथवेति । अथवा इयं नोऽस्माकं सम्बन्धिनी 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति नियमात् कर्त्तरि कृद्योगे षष्ठीनिषेधेऽपि शेषषष्ठीपर्यवसानात् कर्त्रर्थलाभः । भवतः 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति षष्ठी, प्रवर्त्तना प्रेरणा 'ण्यासश्रन्थो युच्', कथं पिष्टं न पिनष्टि ? स्वतः

प्रवृत्तिविषयत्वात् पिष्टपेषणकल्पेत्यर्थः। हि यस्माद् ग्रहणानां ज्ञानानां यथार्थता याथार्थ्यं यथा प्रामाण्यमिव स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिव 'गृह्यतां जाता मनीषा स्वत एव मानमि'ति मीमांसकाः। सतां परार्थता परार्थप्रवृत्तिः स्वत एव न तु परतः। उपमासंसृष्टोऽर्थान्तरन्यासः॥ ६१॥

अथवा—आपको प्रवृत्त करनेका मेरा यह कार्य पिष्ट-पेषण नहीं होता है क्या? अर्थात् स्वतः इस कर्मके लिए उद्यत आपको लगाना मेरा पिष्ट-पेषण मात्र है। क्योंकि ज्ञानके प्रमाणके समान सज्जन स्वयमेव (विना किसीकी प्रेरणा किये ही) परोपकारी होते हैं। [अथवा ग्रहण (अर्थग्राहक शब्द) की अनुगतार्थताके समान सज्जनोंकी परोपकारिता स्वयमेव होती है, अर्थात् जिस प्रकार 'वृक्ष' आदि शब्दके उच्चारण करने मात्रसे उसके अर्थभूत मूल-शाखा-पत्रादिका प्रत्यक्ष स्फुरण हो जाता है, उसी प्रकार विना किसी की प्रेरणाके ही सज्जन परोपकारी होते हैं]॥ ६१॥

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः॥ ६२॥

तवेति। हे वयः! तव वर्त्मनि शिवं मङ्गलं वर्त्ततां, त्वरितं क्षिप्रमेव पुनः समागमोऽस्तु, अपि साधय गच्छ, ईप्सितमिष्टं साधय सम्पादय समये कार्यकाले वयं स्मरणीयाः। अनन्यगामि कार्यं कुर्या इत्यर्थः॥ ६२॥

तुम्हारे मार्गमें कल्याण हो, फिर (तुम्हारे साथ मेरा) समागम हो, हे हंस! अभीष्टको साधो-साधो अर्थात् शीघ्र पूरा करो और समयपर (दमयन्तीके साथ एकान्तमें) हमें स्मरण करना॥ ६२॥

इति तं स विसृज्य धैर्य्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः॥ ६३॥

इतीति। धैर्यवानुपायलाभात् सधैर्यः सूनृतवाक् सत्यप्रियवादेषु बृहस्पतिः तथा प्रगल्भ इत्यर्थः। 'सूनृतं च प्रिये सत्यमि'त्यमरः। स नृपतिरितीत्थं हंसं विसृज्य श्रुतिलग्नैः श्रोत्रप्रविष्टैः कलहंसस्य शंसितैर्विस्मितः सन् वनवेश्म भोगगृहमविशत्॥६३॥

सत्य एवं प्रिय बोलनेमें बृहस्पतिरूप तथा (हंसके लौटनेतक) धैर्यधारण करनेवाले वे राजा नल इस प्रकार (२।६२) उस (हंस) को भेजकर हंसके मधुर भाषणोंके स्मरणसे आश्चर्यित होते हुए उद्यानगृहमें प्रवेश किये॥ ६३॥

अथ भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्त्तुमहस्तदेव सः।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ॥ ६४॥

अथेति। अथ सोऽण्डजो हंसः तदहरेव भीमसुतायाः भैम्या अवलोकनैः सफलं कर्तुं तस्मिन्नेव दिने तां द्रष्टुमित्यर्थः। क्षितिमण्डलस्य मण्डनायितमलङ्कारभूतं कुण्डिनं कुण्डिनाख्यनगरं ययौ॥ ६४॥

इसके बाद दमयन्तीके दर्शनोंसे उसी दिनको सफल करनेके लिए वह पक्षी (राजहंस) भूमण्डलके भूषणतुल्य कुण्डिन नगर 'कुण्डिनपुरी' को गया ॥ ६४ ॥

प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलसं जलसंभृतः पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥ ६५ ॥

अथ श्लोकत्रयेण शुभनिमित्तान्याह–प्रथममित्यादिना । सः कलहंसः प्रथममादौ पथि मार्गे लोचनातिथिं दृष्टिप्रियं पथिकानां प्रस्थातॄणां प्रार्थितस्य इष्टार्थस्य सिद्धिशंसिनं सिद्धिसूचकं जलसम्भृतं जलपूर्णं कलसं पूर्णकुम्भं पुरोऽग्रेकलयांबभूव ददर्श ॥ ६५ ॥

अब हंसकी यात्रामें होने-वाले शुभ शकुनोंको तीन श्लोकों (२।६५-६७) से वर्णन करते हैं—) उस राजहंस ने पहले पथिकसे अभिलषित सिद्धिको सूचित करनेवाले जलपूर्ण कलसको देखा ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्चर्य्यरसालसं गतम् ।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसालसंगतम् ॥ ६६ ॥

अवलम्ब्येति । स हंसो दिदृक्षया स्वगन्तव्यमार्गालोकनेच्छया अम्बरे क्षणमाश्चर्यरसेन तद्वस्तु दर्शननिमित्तेन अद्भुतरसेन अलसं मन्दं गतं गतिमवलम्ब्य अवनीभुजो नलस्य विलासवने विहारवने रसालेन चूतवृक्षेण सङ्गतं सम्बद्धम्, 'आम्रश्चूतो रसालोऽसा' वित्यमरः, फलमैक्षिष्ट दृष्टवान् ॥ ६६ ॥

उस (राजहंस) ने थोड़े समयतक मार्गको देखनेकी इच्छासे आकाशमें (रमणीय देखनेसे उत्पन्न) आश्चर्यसे मन्दगमन का अवलम्बनकर राजा (नल) के क्रीडावनमें सामने आमके पेड़में लगे हुए फलको देखा [मार्ग देखनेकेलिए जब हंसने ऊपर देखा तब रमणीय क्रीडावनके देखनेसे अपनी चाल (गति) को मन्दकर आमके पेड़में फलको देखा] ॥ ६६ ॥

नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम् ।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम् ॥ ६७ ॥

नभस इति । पुमान् गौः वृषभः विशेषणसमासः, 'गोरतद्धितलुकि'ति समासान्तष्टच्, स इव पतङ्गपुङ्गवः पक्षिश्रेष्ठः उपमितसमासः, नभसः कलभैः खेचरकरिकल्पैरित्यर्थः । जलदैरुपासितं व्याप्तं भूरयः बहवस्तरक्षवो मृगादनाः पन्नगा यस्य तं विटपैः शाखाविस्तारेण, 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियामि'त्यमरः छन्नतराः अतिशयेन छादिताः क्षुपा ह्रस्वशाखाः, 'ह्रस्वशाखाशिफः क्षुप' इत्यमरः । नगं पर्वतं ददर्श 'पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्थक्षेमकरमि'ति निमित्तज्ञाः ॥ ६७ ॥

पक्षिराज उस (राजहंस) ने आकाशके करिशावक (हाथीके बच्चे) रूप मेघोंसे युक्त बहुत-से झाड़ियों वाले तथा शाखाओंसे छिपे (ढके) हुए तेंदुओं तथा सर्पोंको छिपाये

हुए पर्वत को देखा। [कारिशावकोंको शुभसूचक होनेसे मेघरूप करि–शावकोंका दर्शन होना तथा तेंदुए (चीते) एवं सर्पोंका देखना यात्रामें अशुभमूचक होनेसे उनको शाखाओंसे ढके रहनेका वर्णन किया गया है]॥ ६७॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः।
वितती कृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः॥ ६८॥

स इति। स हंसः क्षणं धुतपक्षतिः कम्पितपक्षमूलः क्षणम् ऊर्ध्वायनेन ऊर्ध्वंगमनेन दुर्विभावनो दुष्करावधारणो दुर्लक्ष इत्यर्थः। विततीकृतौ विस्तारीकृतौ निश्चलौ छदौ पक्षौ यस्य सः, तथा क्षणमालोककानां द्रष्टॄणां दत्तकौतुकः सन् ययौ। स्वभावोक्तिः॥ ६८॥

(अब पांच श्लोकों (२।६८–७२) से राजहंसके शीघ्रगमनका वर्णन करते हैं—) क्षणमात्र पङ्खोंको कम्पित किया हुआ, क्षणमात्र ऊर्ध्वगमन करनेसे दुर्लक्ष्य (कठिनाईसे दृष्टिगोचर) होता हुआ, क्षणमात्र पङ्खोंको फैलानेसे निश्चल (स्थिर) किया हुआ और क्षणमात्र देखनेवालोंको कुतूहलयुक्त किया हुआ वह (राजहंस) चला॥ ६८॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ।
छदहेम कषन्निवालसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले॥ ६९॥

तन्विति। असौ हंसो रयाद्वेतोः उत्पन्नयेति शेषः। लोकस्य आलोकिजनस्य परीक्षकजनस्य च विलोकनां दर्शनं गतया कौतुकाद्वर्णपरीक्षां च विलोक्यमानयेत्यर्थः। तनोः शरीरस्य तन्वा सूक्ष्मया च दीधितिधारया रश्मिरेखया निमित्तेन कषपाषाणनिभे निकषोपलसन्निभे नभस्तले छदहेम निजपक्षसुवर्णं कषन् घर्षन्निवालसत् अशोभतेत्युत्प्रेक्षा॥ ६९॥

लोगोंको दिखलायी पड़नेवाली वेगसे शरीर–कान्तिकी रेखासे (या—पतली कान्तिरेखासे) कसौटीके पत्थरके समान आकाशमें पङ्खके सुवर्णको कसता हुआ (खरा, या खोटा सुवर्ण है, यह जाननेके लिए आकाशरूप कसौटीके पत्थर पर सुवर्णमय अपने पङ्खों को रगड़ता हुआ) सा शोभमान हुआ॥ ६९॥

विनमद्भिरधःस्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः।
स निरैक्षि दृशैकयोपरि स्यदसांकारिपतत्रिपद्धतिः॥ ७०॥

विनमद्भिरिति। स्यदेन वेगेन सांकारिणी साङ्गिति शब्दं कुर्वाणा पतत्रिपद्धतिः पक्षसरणिर्यस्य स हंसः श्येननिपातं शङ्कत इति तच्छङ्किभिः अतएव विनमद्भिर्विलीयमानैरधःस्थितैः खगैः झटिति द्राक् एकया दृशा उपरि निरैक्षि निरीक्षितः। कर्मणि लुङ्। स्वभावोक्तिः॥ ७०॥

अतिशय वेगके कारण झङ्कारयुक्त पङ्खोंवाले उस (राजहंस) को 'बाज' नामक पक्षीके झपटनेकी आशङ्का करनेवाले (अत एव) नीचे झुकते हुए (उस हंसकी अपेक्षा) नीचे

उड़नेवाले पक्षियोंने एक दृष्टिसे देखा । [जब वह राजहंस वेगसे बहुत ऊँचा उड़ रहा था, तब उसके नीचे उड़ने वाले पक्षी राजहंसके पङ्खोंकी झनकारसे उसे अपने ऊपर झपटने वाला 'बाज' समझकर झट और नीचे हो गये तथा भयसे उस हंसको एक दृष्टिसे देखे भयातंका अपने आक्रान्ताको एक दृष्टिसे देखनेका स्वभाव होना है] ॥ ७० ॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात् ।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषां पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥ ७१ ॥

ददृश इति । यन् गच्छन्, इणो लटः शत्रादेशः,असौ हंसः भुवि तच्छायं तस्य हंसस्य च्छायां 'विभाषासेने'त्यादिना नपुंसकत्वम् । अवेक्ष्य तत् क्षणात् प्रथमं दिशि पश्चात् दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा दत्तदृष्टिना जनेन पृथुवेगेन द्रुतं शीघ्रं मुक्तदृक्पथः सन् न ददृशे न दृष्टः । क्षणमात्रेण दृष्टिपथमतिक्रान्त इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

पृथ्वीपर उस राजहंसकी परछाईं को देखकर तत्काल आकाशमें सब ओर देखनेवाले लोगोंने, तीव्र वेगसे शीघ्र ही दृष्टिसे अतिक्रान्त (ओझल) हुए उस राजहंसको नहीं देखा । [नीचे छाया देखनेके उपरान्त ही ऊपर देखनेपर भी उस हंसके नहीं दिखलायी पड़नेसे नल-कार्य-सिद्ध्यर्थ शीघ्र कुण्डिनपुरीमें पहुँचनेके लिए उसकी गतिका तीव्रतम होना सूचित होता है] ॥ ७१ ॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचारुतम् ॥ ७२ ॥

नेति । गतिवेगेन प्रसरद्रुचा प्रसर्पत्तेजसा अमुना हंसेन क्वचिदपि उच्चतराणामत्युन्नतानां द्रूणां द्रुमाणां चारुता रम्यता यस्मिंस्तत् वनं न शिश्रिये । सगोत्रजं बन्धुजन्यं रुतं कूजितं वा नान्ववादि नानूदितम् । मध्यमार्गे अध्वश्रमापनोदनं बन्धुसम्भाषणादिकमपि न कृतमिति सुहृत्कार्यानुसन्धानपरोक्तिः । 'पलाशो द्रुद्रुमागमा' इत्यमर ॥ ७२ ॥

वह (राजहंस) मार्गमें कहीं भी अत्यन्त ऊँचे पेड़ोंसे सुन्दर वनमें नहीं ठहरा और गमनके वेगसे बढ़ती हुई शोभावाले पक्षियोंके कूजनेका अनुवाद नहीं किया अर्थात् उड़ते हुए इसे देखकर दूसरे पक्षियोंके बोलने पर भी नहीं बोला । [उड़ते हुए पक्षियोंका यह स्वभाव होता है कि मार्गमें सुन्दर ऊँचे पेड़ों वाले सुन्दर वनको पाकर वहीं ठहर जाते हैं तथा अपने सजातीय पक्षियोंके बोलनेपर उनके उत्तरमें बोलते हैं; किन्तु कुण्डिनपुरीको लक्ष्यकर जाते हुए राजहंसने उक्त दोनों कार्य नहीं किये, अत एव कार्यको शीघ्र सिद्ध करनेके लिए इसका तीव्र गतिसे उड़ना उचित होता है] ॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

अथेति । धराजिता भूमिजयिना 'सत्सूद्विषे'त्यादिना क्विपि तुक् भीमस्य भीम-

स्य भुजेन पालिता हिमशैलोपमैः सौधैः राजते। मञ्जुमनोज्ञा असौ पूर्वोक्ता नगरी कुण्डिनपुरी पतगस्य हंसस्य हक्पथं जगाम, स तां ददर्शेत्यर्थः। अत्र यमकाख्यानुप्रासस्य हिमशैलोपमेति, उपमायाश्च संसृष्टिः॥ ७३॥

भू-विजयी भीम (राजा) के बहुतसे सुरक्षित तथा कैलास पर्वतके समान महलोंसे शोभित मनोहर इस (कुण्डिनपुरी) नगरीको पक्षी (राजहंस) ने देखा। [कैलास पर्वत भी भूविजयी तथा शत्रुके लिए भयङ्कर (शिवजी) के बाहुसे पालित है। जो 'धराजिता' है, उसका अधराजिता होनेसे विरोध आता है जिसका परिहार उक्त अर्थसे समझना चाहिये] ॥ ७३॥

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः॥ ७४॥

तां वर्णयति—दयितमिति। यत्र नगर्यां स्फटिकोपलविग्रहाः स्फटिकमयशरीरा इत्यर्थः। अत एव शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः शशाङ्कशकलनिष्कलङ्कानि कुड्यानि येषान्ते'भित्तंशकलखण्डे वे'त्यमरः, भिदेः क्विप्प्रत्ययः। 'भित्तंशकलमि'त्यादि निपातनात् 'रदाभ्यामि'त्यादिना निष्ठानत्वाभावः। गृहाः दयितं भीमं प्रति सन्ततं भुवः भूमेर्नायिकायाः रतिहासाः केलिहासा इव रेजिरे इत्युत्प्रेक्षा॥ ७४॥

(अब इकतीस श्लोकों (२।७४–१०५) से कुण्डिननगरीका वर्णन करते हैं—) जिस (नगरी) में स्फटिकमणिके बने हुए तथा चन्द्रमाके टुकड़ेके समान निष्कलङ्क दीवालवाले घर पति (राजा भीम) के प्रति निरन्तर प्रवृत्त (नायिकारूपिणी) पृथ्वीके रतिकालके हासके समान शोभते थे॥ ७४॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेर्यत्र भयेन भास्वतः।
शरणाप्तमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः॥ ७५॥

नृपेति। यत्र नगर्यां तमोन्धकारः भास्वतो भास्करात् भयेन नृपस्य ये नीलमणीनां गृहाः तेषां त्विषः तासामुपधेश्छलादित्यपह्नवभेदः। 'रत्नं मणिर्द्वयोरि'त्यमरः। 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष्। शरणाप्तं शरणं गृहं रक्षितारमन्वागतं 'शरणं गृहरक्षित्रोरि'त्यमरः। वासरे दिवसेऽप्यसदावृत्ति अपुनरावृत्ति किञ्चोदयत्तमुद्यत्तमं प्रदुवास॥ ७५॥

जिस (नगरी) में राजा (भीम) के इन्द्रनीलमणि (नीलम) के बने हुए महलोंके कपटसे आवृत्तिहीन उदयको प्राप्त होता हुआ अर्थात् निरन्तर बढ़ता हुआ अन्धकार मानो सूर्यके भयसे दिनमें भी शरणके लिए निवास करता था। [अन्यत्र रात्रिमें ही अन्धकार रहता है, दिनमें नहीं, किन्तु इस कुण्डिन नगरीमें ऐसा ज्ञात होता है कि राजा भीमके नीलम मणियोंसे बने हुए महलोंकी कान्तिके बहानेसे सूर्यके भयसे शरणके लिए आकर यहां निरन्तर बढ़ता हुआ अन्धकार निवास करता है। लोकमें भी किसीसे डरा हुआ

कोई व्यक्ति स्वरक्षार्थं किसी प्रबल व्यक्तिका आश्रय कर सदैव उन्नति करता हुआ निवास करता है] ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि ।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः ॥ ७६ ॥

सितेति । सितैः दीप्रैश्च मणिभिः प्रकल्पिते उज्ज्वलस्फटिकनिर्मिते हसदङ्करोदसि विलसदङ्करोदस्के द्यावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थः । यदगारे यस्या नगर्या गृहेष्वित्यर्थः । जातावेकवचनं, निशि निखिलान् तिथीनेकिका एकाकिनी एकैवेत्यर्थः । 'एकादाकिनिच्चासहाय' इति चकारात् कप्रत्ययः । 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्ये'तीकारः । पूर्णिमा तिथी राकातिथिः । 'तदाद्यास्तिथयोरि'त्यमरः । अतिथिः सन् उपतस्थे अतिथिर्भूत्वा सङ्गतेत्यर्थः । 'उपाद्देवपूजे'त्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम् । स्फटिकभवनकान्तिनित्यकौमुदीयोगात् सर्वा अपि रात्रयो राकारात्रय इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः॥

स्वच्छ तथा चमकते हुए रत्नोंसे बने हुए तथा (प्रकाशमान होनेसे) हँसते हुए मध्यभागरूप आकाश-पृथ्वीके मध्यभाग वाले जिस (कुण्डिन नगरी) के महलोंमें केवल पूर्णिमा तिथि रात्रिमें सब तिथियोंका अतिथि होकर निवास करती थी । [कुण्डिनपुरीके ऊँचे-ऊँचे महल नीचे पृथ्वी तथा ऊपर आकाशको स्पर्श कर रहे थे तथा वे चमकते हुए स्फटिकमणिके बने हुए थे अत एव मध्यभागमें हँसते हुएके समान ज्ञात होते हुए उन महलोंमें सर्वदा (रात्रि में भी) प्रकाश रहता था जिसके कारण ऐसा ज्ञान होता था कि एकमात्र पूर्णिमा तिथि ही सब तिथियोंकी अतिथि होकर निवास करती हो] ॥ ७६ ॥

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया ।
न निशाऽखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥ ७७ ॥

सुदतीति । यत्र नगर्यां शोभना दन्ता यासां ताः सुदत्यः स्त्रियः, अत्रापि विधानाभावाद्दत्रादेशश्चिन्त्य इति केचित् 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्चे'ति चकारात् सिद्धिरित्यन्ये, सुदत्यादयः स्त्रीपु योगरूढाः, 'स्त्रियां संज्ञायामि'ति दन्त्रादेशात् साधव इत्यपरे, तदेतत्सर्वमभिसन्धायाह वामनः–'सुदत्यादयः प्रतिविधेया' इति । त। एव जना लोकाः तेषां मज्जनादवगाहनादर्पितैः क्षालितैः घुसृणैः कुङ्कुमैः कषायिताशया सुरभिताभ्यन्तरा भोगचिह्नैः कलुपितहृदया च वाप्येव वापिका दीर्घिका ग्रहिला, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धावि'ति विश्वः । तद्वती दीर्घरोपा पिच्छादित्वादिलच् दिवादिः । मानिनीस्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो 'मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युक्तलक्षणो मानः तद्वती नायिकेव अखिलया निशा निशया सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थः । न प्रससाद प्रसन्नहृदया नाभूत् तादृक् क्षोभादिति भावः ॥ ७७ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) में सुदतियों (सुन्दर दाँतवाली स्त्रियों) के स्नानसे धुले हुए कुङ्कुमरागोंसे कलुषित मध्यभाग वाली (कुछ मैले जलवाली, पक्षा०—दूषित चित्तवाली, या

कलुषित = रुष्ट तथा नहीं सोनेवाली) बावली हठयुक्त मानिनी नायिका के समान सारी रातमें भी नहीं प्रसन्न (स्वच्छ जलवाली, पक्षा०—खुश) हुई। [सपत्नी आदिके कुङ्कुमादि रागसे चिह्नित पतिको देखकर दूषित चित्तवाली एवं रातमें नहीं सोनेवाली अतिहठी मानिनी नायिका पतिके सारी रात अनुनयादि करने पर भी जिस प्रकार नहीं खुश होती है, उसी प्रकार सुदतियोंके स्नान करते समय-धुले हुए स्तनादिके कुङ्कुमरागसे कलुषित जलवाली बावरी सारी रात बीतने पर भी निर्मल नहीं हुई] ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीद्यते[1] ॥ ७८ ॥

क्षणेति। निशि निशीथे क्षणं नीरवया एकत्र सुप्तजनत्वादन्यत्र ध्यानस्तिमितत्वान्निःशब्दमाश्रितः प्राप्तः वप्रावलिः योगपट्ट इव अन्यत्र वप्रावलिरिव योगपट्टो यया सा तथोक्ता यया नगर्या मणिवेश्ममयं तद्रूपं निर्मलमबाह्यमन्तर्वर्ति किमपि अवाङ्मनसगोचरं ज्योतिः प्रभा आत्मज्योतिश्च ईद्यते सेव्यते स्म। अत्र प्रस्तुतनगरीविशेषसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ ७८ ॥

रात्रिमें क्षणमात्र (कुछ समय तक) निःशब्द तथा चहारदिवारी रूप योगपट्टको धारणकी हुई जो (कुण्डिन नगरी) मणियोंके बने महलरूप निर्मल एवं अनिर्वचनीय आभ्यन्तर प्रकाशको देखती है। [अन्य भी कोई योग साधनेवाली योगिनी कुछ समयतक मौन धारण कर योगपट्टको पहनी हुई वाङ्मनसागोचर निर्मल आत्मलक्षण आभ्यन्तर ज्योतिको देखती है। अथवा—परमात्म-साक्षात्काररूप क्षण अर्थात् उत्सवसे सात्त्विक भावजन्य अश्रुजल को प्राप्त करनेवाली एवं योगपट्ट धारण की हुई……] ॥ ७८ ॥

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥ ७९ ॥

विललासेति। या नगरी परिखायाः कपटेन व्याजेन स्फुटं परितो व्यक्तं तथा स्फुरता प्रतिबिम्बेनावलम्बितं मध्ये चागृह्यमाणं चाम्बु यस्मिन् तस्मिन् प्रतिबिम्बाक्रान्तमम्बु परितः स्फुरति प्रतिबिम्बदेशेन स्फुरति तेनैव प्रतिबिम्बादिति भावः क्वचन कुत्रचिज्जलाशयोदरे ह्रदमध्ये कस्यचित् ह्रदस्य मध्य इत्यर्थः। अनुबिम्बिता प्रतिबिम्बिता द्यौरमरावतीव विललासेत्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

जो (कुण्डिन नगरी) खाईके कपटसे स्पष्ट स्फुरित होते हुए प्रतिबिम्बसे निराधार जल वाले कहीं जलाशयके बीचमें प्रतिबिम्बित हुए स्वर्ग के समान शोभती थी। [बड़े भारी जलाशयके बीचमें प्रतिबिम्बित स्वर्गरूप छोटी वस्तुके समान खाईके जलमें स्थित वह कुण्डिनपुरी शोभती थी] ॥ ७९ ॥

१.—'भिज्यते' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।

व्रजते दिवि यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः ।
न्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयालिकालनाम् ॥ ८० ॥

व्रजत इति । यस्यां नगर्यां गृहावलीषु चलाः चञ्चलाः चेलाञ्चलाः पताकाग्राणि ता एव दण्डास्तैः ताडनाः कशाघाता इत्यर्थः । ताः कर्त्र्यो दिवि व्रजते खे गच्छते हेलिहयालेः सूर्याश्वपङ्क्तेः 'हेलिरालिङ्गने रवावि'ति वैजयन्ती । कालनां चोदनां सृजते कुर्वते अरुणाय सूर्यसारथये विश्रमं स्वयं तत्कार्यकरणाद्विश्रान्तिं 'नोदात्तोपदेशे'त्यादिना घञि वृद्धिप्रतिषेधः । न्यतरन् ददुः । अत्र हेलिहयालेश्चेलाञ्चलदण्डताडनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः, तेन गृहाणामर्कमण्डलपर्य्यन्तमौन्नत्यं व्यज्यत इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ८० ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) की गृहपङ्क्तियोंके चञ्चल पताकाग्र वस्त्ररूपी कोड़ेके आघात, आकाशमें गमन करते हुए तथा सूर्यके घोड़ोंको हाँकते हुए अरुणके लिए विश्राम देते हैं । [आकाशमें गमन करता हुआ सूर्य-सारथि अरुण सूर्यके घोड़ोंको कोड़ेसे मारकर हांकता है, अत एव इस कुण्डिनपुरीके ऊंचे-ऊंचे महलोंके ऊपर लगी हुई पताकाओंके वस्त्राग्रवायुसे चञ्चल होकर स्वयं घोड़ोंको प्रेरित करते (हांकते) हैं, जिससे अरुणको उतने समय तक घोड़ोंको नहीं हांकनेसे विश्राम मिल जाता है । इस कुण्डिनपुरीमें बहुत ऊँचे-ऊँचे महल पताकाओंसे सुशोभित हैं] ॥ ८० ॥

क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक् ।
जगतां खलु याऽखिलाद्भुताऽजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥ ८१ ॥

क्षितीति । तलमध्योपरि अधोमध्योर्ध्वदेशान् पूरयन्तीति तत्पूरिणां जगतां पातालभूमिस्वर्गाणां पृथगसङ्कीर्णं यानि निजानि प्रतिनियतानि निजचिह्नानि निध्यन्नपानस्रक्चन्दनादिलिङ्गानि धारयन्तीति तद्धारिभिः तथोक्तैः सारैरुत्कृष्टैः क्षितिकुहरे धरायां भूपृष्ठे अम्बरे आकाशे च ये आलया गृहाः तैः भूम्यन्तर्बहिः । शिरोगृहैरित्यर्थः । या नगरी अखिला कृत्स्ना अद्भुता चित्रा अजनि जाता । 'दीपजने'त्यादिना जनेः कर्त्तरि लुङ्, च्लेश्चिणादेशः । अत्र क्षितिगर्भादीनां तलमध्योपरि जगत्सु सतां तच्चिह्नानाञ्च यथासंख्यसम्बन्धात् यथासंख्यालङ्कारः । एतेन त्रैलोक्यवैभवं गम्यते ॥ ८१ ॥

जो (कुण्डिनपुरी) पृथ्वीके नीचे (पाताल), पृथ्वी पर (मर्त्यलोक) और आकाश (स्वर्गलोक) में स्थित पाताल लोक, मर्त्यलोक और स्वर्गलोकको पूर्ण करनेवाले लोकोंके पृथक्-पृथक् अपने चिह्नों (पाताललोकके कोष, भूतल = मर्त्यलोकके अन्न-पान तथा आकाश = स्वर्गलोकके पुष्पमाला; चन्दनादि रूप) को धारण करने (सारभूत पदार्थों) से सबसे आश्चर्यजनिका प्रतीत होती थी । [जिस प्रकार पाताललोक (भूमिके भीतर—तहखानों में रत्न-सुवर्णादि कोष, भूतल पर अन्नादि तथा आकाश (ऊपर) में पुष्प-माला-चन्द-

नादि रहता है; उसी प्रकार उस नगरीके महलोंके भूतलके निचले भाग वाले भवनों (तहखानों) में रत्न—सुवर्णादि कोष, भूतल वाले भवनोंमें अन्नादि तथा ऊपर वाले भागों (अट्टालिकाओं) के भवनों में विलास-सामग्री पुष्पमाला, चन्दनादि रहते हैं; इस प्रकार तीनों लोकोंके सारभूत पदार्थोंको धारण करनेवाली त्रिलोक-विभव-सम्पन्ना एक ही नगरी आश्चर्य उत्पन्न करती थी]॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

दधदिति। यत्र नगर्यामम्बुदैरम्बुदवन्नीलः कण्ठः शिखरोपकण्ठः गलश्च यस्य तस्य भावस्तत्तां 'कण्ठो गले सन्निधान' इति विश्वः। दधत् अच्छया सुधया लेपनद्रव्येण च सुधावदमृतवच्चोज्ज्वलं वपुर्वहत् 'सुधा लेपोऽमृतं सुधे' त्यमरः। क्षितिभृन्मन्दिरं राजभवनमिन्दुमौलितामिन्दुमण्डलपर्यन्तशिखरत्वं कथं नाम न ऋच्छतु? गच्छत्वेवेत्यर्थः। राजभवनस्य तादृगौन्नत्यं युक्तमिति भावः। अन्यत्र नीलकण्ठस्य इन्दुमौलित्वमीश्वरत्वं च युक्तमिति भावः। अत्र विशेषणविशेष्याणां श्लिष्टानामभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणात् प्रकृतेश्वरप्रतीतेः ध्वनिरेव ॥ ८२ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) में मेघके द्वारा नीलकण्ठत्व (नीले कण्ठके भाव, पक्षा०—नीले मध्य भाग वालेका भाव) को धारण करता हुआ तथा निर्मल चूना (कलई) से उज्ज्वल शरीर (भवन) को धारण करता हुआ राजभवन चन्द्रशेखरत्व (शिवभाव, चन्द्रमा है मस्तक—ऊपरमें जिसके ऐसे भाव) को क्यों नहीं प्राप्त करे ?। ['शिवजीका कण्ठ नीला है तथा शरीर शुभ्र है एवं उनके मस्तकमें चन्द्रमा विराजमान हैं, उसी प्रकार इस नगरीके राजमहलको भी अत्यन्त ऊंचा होनेसे उसके मध्यभागमें मेघके रहनेसे नीलकण्ठ, चूनेसे पुते होनेसे शुभ्र शरीरवाला तथा ऊपरमें चन्द्रमाको धारण करनेमें शिवभावको प्राप्त करना उचित ही है]॥ ८२ ॥

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः।
यदनेककसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

बह्विति। बहुरूपकाः भूयिष्ठसौन्दर्याः, शैषिकः कप्रत्ययः। तेषु शालभञ्जिकानां कृत्रिमपुत्रिकाणां मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः चन्द्रत्वात् सम्भाविताः कलङ्कमृगाः ते यस्यां नगर्यामनेकेषां बहूनां सौधानां कन्धरासु कण्ठप्रदेशेषु ये हरयः सिंहाः तैः कुक्षिगतीकृता इव ग्रस्ताः किमित्युत्प्रेक्षा मुखचन्द्राणां निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्, अन्यथा कथं चन्द्रे निष्कलङ्कतेति भावः ॥ ८३ ॥

अनेक आकृति वाली (या—अतिशय सुन्दर स्तम्भादिमें निर्मित हाथी-दाँत आदिकी बनी हुई) पुतलियोंके मुखरूपी चन्द्रोंमें (सम्भावित) कलङ्क मृगोंको मानो जिस (कुण्डिन पुरी) के बहुत-से महलोंके स्कन्ध (मध्य) भागमें बनाये गये सिंहोंने खा लिया है,

ऐसा ज्ञात होता हो। [उक्त पुतलियोंके मुखचन्द्रमें कलङ्क मृग होना चाहिये, किन्तु वे मृग मुखचन्द्रोंमें नहीं हैं, अत एव ज्ञात होता है कि महलोंके मध्यभागमें बने सिंहोंने उन मृगोंको अपने उदरमें ले लिया—खा लिया—है] ॥ ८३ ॥

बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः ।
अधराय कृता ययेव सा विपरीताऽजनि [1]भूमिभूषया ॥ ८४ ॥

वलीति। स प्रसिद्धः तथ्यवाक् सत्यवचनः [2]नारदः बलिसद्मदिवं पातालस्वर्गं दिवो मेरुस्वर्गादप्युपरिस्थितामुत्कृष्टामाह स्म उक्तवान् । अथेदानीं भूमिभूषया यया नगर्या अधरा न्यूना अधस्ताच्च कृतेवेत्युत्प्रेक्षा सा बलिसद्मद्यौर्विपरीता नारदोक्तविपरीता अजनि । सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधः स्थितिः वैपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

सत्यवक्ता नारद मुनिने 'पातालरूप स्वर्ग, स्वर्गसे भी ऊपर (पक्षा०—अधिक रमणीय) है' यह ठीक ही कहा था, क्योंकि पृथ्वीकी भूषणरूपिणी जिस (कुण्डिनपुरी) से नीचे (अधो भागमें, पक्षा०—अपनी शोभासे हीन) किया गया वह (पातालरूपी स्वर्ग) विपरीत-सा हो गया। [पहले भूलोक तथा स्वर्गलोकसे पाताल ऊपर था, किन्तु इस समय अतिरमणीयतासे हीन होनेके कारण विपरीत हो गया। स्वर्गलोकसे पाताल लोक सुन्दरतामें अधिक है, इस कारण 'वह स्वर्गसे ऊपर है' ऐसा नारदने विष्णुपुराणमें कहा है और अब भूलोकस्थ इस कुण्डिन नगरीसे सौन्दर्यमें हीन किये जानेके कारण वह पाताललोक भी नीचे (हीन) हो गया। स्वर्ग तथा पाताल-दोनों लोकोंसे यह कुण्डिनपुरी रमणीय है] ॥ ८४ ॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः ।
कलहान्न घनान् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

प्रतीति। पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः तेषामाह्वानं ददाति तथोक्तमाह्वकम् अध्वानं गच्छतामाकर्षकमित्यर्थः। सक्तूनां सौरभं सुगन्धो यस्मिन् प्रतिघट्टपथे प्रत्यापणपथे। 'अव्ययं विभक्ती'त्यादिना वीप्सायामव्ययीभावः। 'तृतीयासप्तम्योर्बहुल'मिति सप्तम्या अमभावः। घरट्टाः गोधूमचूर्णग्रावाणः तज्जात् यस्या नगर्याः उत्थितात् कलहात् घर्घरस्वनः निर्झरस्वरः कण्ठध्वनिः घनान् मेघान् अधुनापि नोज्झति न त्यजति। सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वानं ध्वनन्तीति भावः। अत्र घनानां घरट्टकलहासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। तथा च घर्घरस्वनस्य तद्धेतुकत्वोत्प्रेक्षा, व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८५ ॥

प्रत्येक बाजारके मार्गोंमें चक्कियोंसे निकला हुआ सत्तुओंके सुगन्धवाला घर्घर शब्द (बरसात आनेसे घर पर जाते हुए) पथिकोंको आकृष्ट करता था, उधर मेघ गरज-गरज

१. 'भूविभूषया' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।
२. 'स्वर्गादप्यतिरमणीयानि पातालानि' इति विष्णुपुराणे नारदवचनमिति 'प्रकाश' कृत्।

कर उन्हें शीघ्र घर पहुँचनेके लिए प्रेरित करता था, इस प्रकार चक्रियों तथा मेघोंके साथ कलह होता था, वह कलहरूप घर्घर शब्द आज भी मेघोंको नहीं छोड़ रहा है ॥ ८५ ॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम् ।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

वरण इति । कनकस्य सम्बन्धी वरणः तद्विकारः प्राकारः स एवामराद्रिर्मेरुः यां नगरीमेव मानिनीं कोपसम्पन्नामत एव अङ्कान्निजोत्सङ्गादागतां भूलोकं प्राप्तां दिवममरावतीं घने निबिडे रत्नानां कवाटे रत्नमयकवाटे एव पक्षती पक्षमूले यस्य स सन् परिरभ्य उपगूह्य मेरोः पक्षवत्त्वात्पक्षतिरूपत्वमनुसरन् अनुवर्त्तमानः उवास । कामिनः प्रणयकुपितां प्रेयसीमाप्रसादमनुगच्छन्तीति भावः । रूपकालङ्कारः स्फुट एव, तेन चेयं नगरी कुतश्चित् कारणादागता द्यौरेव वरणश्च स्वर्णाद्रिरेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥८६॥

मानिनी (अत एव रुष्ट होकर) अङ्क अर्थात् क्रोडको छोड़कर (भूलोकपर) आयी हुई दिव् अर्थात् स्वर्गरूपिणी जिस (कुण्डिनपुरी) नगरीको सघन रत्नोंसे बने हुए किवाड़रूप दो पक्षोंको धारण करता हुआ सुवर्णसे बने चहारदिवारीरूप सुमेरु पर्वत आलिङ्गन कर प्रसन्न करता हुआ निवास कर रहा है। ['दिव्' (स्वर्गपुरी) पहले सुमेरु पर्वतके अङ्कमें रहती थी, किन्तु किसी कारणवश मानिनी होनेसे रुष्ट होकर वह उसके अङ्कको छोड़कर यहां पृथ्वीपर आ गयी है और वही कुण्डिनपुरी है, अत एव अपनी प्रेयसीको प्रसन्न करनेके लिए सुवर्णमय चहारदिवारीरूप होकर बहुरत्नरचित कपाटरूप पङ्खोंको धारण करता हुआ सुमेरुपर्वत भी पृथ्वीपर आकर अपनी प्रेयसी कुण्डिननगरी रूपिणी 'दिव्' का आलिङ्गन कर उसे प्रसन्न करता हुआ यहां निवास कर रहा है। कुण्डिनपुरीके सुवर्णमय प्राकार सुमेरुतुल्य, उसके विशाल रत्नमय फाटक उस सुमेरुके पङ्खतुल्य तथा कुण्डिन नगरी स्वर्गतुल्य है] ॥ ८६ ॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्ध्यताम् ॥ ८७ ॥

अनलैरिति । या नगरी रवेरुदयं लयमस्तमयं चान्तरा तयोर्मध्यकाल इत्यर्थः । 'अन्तरान्तरेण युक्त' इति द्वितीया । ज्वलतामर्कांशुसम्पर्कात् प्रज्वलतामर्कोपलानां वप्राजन्म येषान्तैः सूर्यकान्तैः प्राकारजन्यैः अनलैः परिवेषमेत्य परिवेष्टनं प्राप्य बाणपुर्याः बाणासुरनगर्याः शोणितपुरस्य परार्ध्यतां श्रेष्ठतामवहत् । अत्रान्यधर्मस्यान्येन सम्बन्धासंभवात्तादृशीं परार्ध्यतामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ८७ ॥

जो (कुण्डिन नगरी) जलते हुए सूर्यकान्तमणिके चहारदिवारियोंसे उत्पन्न हुई अग्निके द्वारा सूर्यके उदय तथा अस्तके मध्यमें अर्थात् सूर्योदयसे सूर्यास्त तक बाणासुरकी नगरी (शोणितपुर) की (मा—के समान) श्रेष्ठताको धारण करती है। [पौराणिक

कथा—शिवभक्त बाणासुरकी शोणितपुर नामकी नगरी भी शिवजीके प्रसादसे अग्नि-परिवेष्टित रहती थी, ऐसा पुराणोंमें उल्लेख मिलता है] ॥ ८७ ॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः ।
हिमवालुकयाऽच्छवालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः ॥ ८८ ॥

बह्विति । बहवः कम्बवः शङ्खा मणयश्च यस्मिन् सः वराटिकागणनाय कपर्दिकासंख्यानाय अटन्तः तिर्यक् प्रचरन्तः कराः पाणय एव कर्कटोत्कराः कुलीरसंघाः यस्मिन् सः, हिमबालुकया कर्पूरेण अच्छवालुकः स्वच्छसिकतः यस्याः पुरः आपणो विपणिरेवार्णवः पटु घीरं दध्वान ननाद, 'कपर्दो वराटिके'ति हलायुधः । 'शङ्खःस्यात् कम्बुरस्त्रियामि'त्यमरः । 'सिताभ्रो हिमबालुका', स्यात्कुलीरः कर्कटक'इति चामरः ॥

बहुत-से शङ्ख तथा मणियोंवाला, कौड़ियोंकी गणनाके लिए चञ्चल हाथरूप केकड़ों वाला तथा कर्पूर-धूलिरूप श्वेत बालुओं वाला, जिस (कुण्डिनपुरी) का बाजाररूपी समुद्र (लोगोंके कोलाहलसे) सर्वदा गरजता था ॥ ८८ ॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

यदिति । यस्याः नगर्याः अगारघटासु गृहपङ्क्तिषु अट्टानामट्टालिकानां कुट्टिमेषु निबद्धभूमिषु, 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूरि'त्यमरः । स्रवद्भिरिन्दुसम्पर्कात् स्यन्दमानैरिन्दूपलैश्चन्द्रकान्तैः हेतुभिः तुन्दिलाः प्रवृद्धा आपो यस्याः तया, तुन्दादिभ्य इलच् 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः । अभ्रगङ्गया मन्दाकिन्या, 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गे'त्यमरः । चन्द्रोदये चन्द्रोदये प्रतिचन्द्रोदयं वीप्सायामव्ययीभावः । पतिव्रतानामौचिती औचित्यं ब्राह्मणादित्वाद्'गुणवचने'त्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः, 'षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीप् । स च 'मातरि षिच्चे'ति षित्वादेव सिद्धे मातामहशब्दस्य गौरादिपाठेनानित्यत्वज्ञापनाद्वैकल्पिकः । अत एव वामनः—ष्यञः षित्कार्यं बहुलमिति स्त्रीनपुंसकयोर्भावक्रिययोः ष्यञ् । क्वचिच्च वुञ् 'औचित्यमौचिती मैत्र्यं मैत्री वुञ् प्रागुदाहृतमि'त्यमरश्च । न मुमुचे न तत्यजे । भर्तुः समुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धिदर्शनात्तस्या अपि तथा वृद्धिरुचिता । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते हि म्रियते या स्त्री सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति स्मरणादिति भावः । अत्राभ्रगङ्गायाः यदगारेत्यादिना विशेषणार्थासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तथा च यदगाराणामतीन्दुमण्डलमौन्नत्यं गम्यते तदुत्थापिता चेयमस्याः पातिव्रत्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सङ्करः, सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ८९ ॥

प्रत्येक चन्द्रोदयमें जिस (कुण्डिनपुरी) के भवन-समूहोंके ऊपरी छतमें जड़े गये बहते हुए चन्द्रकान्त मणियोंसे पूर्ण जलवाली आकाशगङ्गाने अपने पतिव्रताधर्मके औचित्य को नहीं छोड़ा । [चन्द्रमाके उदय होनेपर हर्षसे समुद्र जल बढ़ जाता है, अत एव

समुद्रकी पत्नी आकाशं गङ्गा भी कुण्डिनपुरीके महलोंके छतों पर—जड़े हुए चन्द्रकान्त मणियोंके पसीजनेसे जलपूर्ण होकर अपने पति समुद्रके हर्षसे बढ़ने पर स्वयं भी हर्षसे बढ़कर पातिव्रत धर्मका पालन करती है, पतिके हर्ष होनेपर हर्षित होना तथा दुःखी होने पर दुःखी होना पतिव्रता स्त्रीका धर्म है। कुण्डिनपुरीके महलोंके छतमें चन्द्रकान्तमणि जड़े हुए हैं और चन्द्रोदय होनेपर उनके पसीजनेसे बहते हुए पानीसे आकाश गङ्गा जलपूर्ण हो जाती है, अत एव आकाश गङ्गासे भी ऊँचे इस कुण्डिनपुरीके छतोंका होना सूचित होता है]॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु ।
अनुसायमभुर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः ॥ ९० ॥

रुचय इति। यत्र नगर्यामनुसायं प्रतिसायं वीप्सायामव्ययीभावः। विलेपनापणेषु सुगन्धद्रव्यनिपद्यासु कश्मीरजानि कुङ्कुमान्येव पण्यानि पणनीयद्रव्याणि तेषां वीथयः श्रेणयः अस्तमितस्यास्तङ्गतस्य भास्वतः सम्बन्धिन्यः स्खलिताः अस्तमयक्षोभात् च्युताः अत एव निरालया निराश्रया रुचयः प्रभाः अभुः खलु, कथञ्चित्प्रच्युताः सायन्तनार्कत्विष इव भान्ति स्मेत्यर्थः। कुङ्कुमराशीनां तदा तत्सावर्ण्यादियमुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। भातुर्लुङि झेर्जुसादेशः ॥ ९० ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) में प्रत्येक सायङ्कालमें लेप-सामग्रियोंके बाजारमें बिकने वाले कुङ्कुमके मार्ग अस्तङ्गतसूर्यकी गिरी हुई निरवलम्ब किरणोंके समान शोभती थीं। [सायंकालमें कुण्डिनपुरीके लेप बिकनेवाले बाजारमें कुङ्कुम बिकनेवाले मार्गगिरे हुए कुङ्कुमोंसे रञ्जित होनेके कारण ऐसे प्रतीत होते थे कि अस्तङ्गत सूर्यकी लाल-लाल किरणें निराश्रय होनेसे भूमिपर गिर गयी हैं]॥ ९० ॥

विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते ।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः ॥ ९१ ॥

विततमिति। यत्र नगर्यां वणिजा वणिग्जनेन पणितुं व्यवहर्तुमापणे पण्यवीथ्यां विततं प्रसारितमखिलं जगत्यां लोके स्थितं वस्तु पदार्थजातं पुरा पूर्वं हरेर्विष्णोरुदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना मार्कण्डेयेनेव जनेन लोकेन वीक्ष्यते विष्णूदरमिव समस्तवस्त्वाकरोऽयमवभासत इत्यर्थः। पुरा किल मार्कण्डेयो हरेरुदरं प्रविश्य विश्वं तत्राद्राक्षीदिति कथयन्ति ॥ ९१ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) में व्यापारियोंकी दुकानों पर बेचनेके लिए फैलायी हुई समस्त वस्तुओंको लोग उस प्रकार देखते हैं, जिस प्रकार मार्कण्डेय मुनिने पहले विष्णु भगवान्के उदरमें पृथ्वीके समस्त वस्तुओंको देखा था। [प्रत्येक दुकानदारकी दुकानमें संसार भरकी समस्त वस्तुएं रक्खी हुई थीं]॥ ९१ ॥

पौराणिक कथा—पहले मार्कण्डेय मुनिने विष्णु भगवान्से वरदान पाकर उनके उदरमें प्रविष्ट होकर संसारको देखा था ।

समम्मेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम् ।
पणिता न जनारवैर्वेदपि कूजन्तमलिं मलीमसम् ॥ ९२ ॥

सममिति । यस्या नगर्या आपणे सौरभलोभनिश्चलं गन्धग्रहणनिष्पन्दं ततः क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः । मलीमसं मलिनं सर्वाङ्गनीलमित्यर्थः । अन्यथा पीतमध्यस्यालेः पीतिम्नैव व्यवच्छेदात्, अतो गुणतोऽपि दुर्ग्रहमित्यर्थः । 'ज्योत्स्नातमिस्रे'त्यादिना निपातः । अलिं भृङ्गमेणमदैः समं कस्तूरीभिः सह तुलयन् तोलयन् पणिता विक्रेता कूजन्तमपि जनानामारवैः कलकलैः नावैत्, शब्दतोऽपि न ज्ञातवान् इत्यर्थः । इह निश्चलस्यालेः गुञ्जनं कविना प्रौढवादेनोक्तमित्यनुसन्धेयम् । अत्रालेर्नैस्यादेणमदोक्तेः सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसामान्ये यत्र वस्त्वन्तरैकते'ति लक्षणात् । तेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ९२ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) के बाजार में कस्तूरीके साथ, सुगन्धके लोभसे नहीं उड़ते हुए तथा गुञ्जन करते हुए काले (कस्तूरीके रंगवाले) भौंरेको कस्तूरीके साथ तौलते हुए दुकानदारको खरीददार लोगोंके कोलाहलसे नहीं जान सका । [जब दुकानदार कस्तूरी तौलने लगा तब उसके सुगन्धसे आकृष्ट भौंरा उसके कांटेके पलड़े पर बैठकर निश्चल हो गया, तथा वह यद्यपि गूंज रहा था, किन्तु लोगोंके कोलाहलके कारण गूंजना भी ज्ञात नहीं हुआ एवं समान रंग होनेसे कस्तूरीके साथ भौंरेको भी दूकानदारने तौल दिया और इस बातको खरीददार नहीं जान सका । भौंरे घूमते रहनेपर ही गूंजते हैं, बैठने पर नहीं, तथापि यहां पर महाकविने बैठे हुए भौंरेका गूञ्जना प्रौढिवश कहा है] ॥ ९२ ॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहर्ज्वलनाहितोष्मणा ।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम् ॥ ९३ ॥

रविकान्तेति । यत्र नगर्यां सकलाहः कृत्स्नमहः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' । 'रात्राह्नाहाः पुंसी'ति पुंल्लिङ्गता, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, योगविभागात्समासः । ज्वलनेन तपनकराभिपातात्प्रज्वलनेन आहितोष्मणा जनितोष्मणा जनितोष्णेन रविकान्तमयेन सेतुना सेतुसदृशेनाध्वना सूर्यकान्तकुट्टिमाध्वनेत्यर्थः । गच्छतां सञ्चरतां चरणौ चरणानित्यर्थः । 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणे'ति जातौ द्विवचनम् । शिशिरे शिशिरर्तौ तत्रापि निशि हिमं पुरा नो दुनोति नापीडयत् । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' । अत्र सेतोरूष्मासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तत्रोत्तरस्याः पूर्वसापेक्षत्वात् सङ्करः ॥ ९३ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) में पहले दिनभर (सूर्य-किरण-सम्पर्कसे निकली हुई) अग्निसे उष्ण, सूर्यकान्तमणियोंके बने हुए पुलसे शिशिर ऋतुमें जानेवाले लोगोंके चरणोंको शीत पीड़ित नहीं करता था ॥ ९३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम्।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः॥ ९४॥

विधिवति। विधुदीधितिजेन इन्दुकरसम्पर्कजन्येन पयसा सलिलेन नैषधस्य नलस्य शीलं वृत्तं स्वभावो वा तद्वच्छीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं यस्या नगर्याः पन्थानं तपागमे ग्रीष्मप्रवेशे कलितीव्रः कलिकालवच्चण्डः आतपः न तपति स्म। नलकथायाः कलिनाशकत्वादिति भावः। अत्र नगरपथस्य इन्दूपलपयःसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तस्सापेक्षत्वादुपमयोः सङ्करः॥ ९४॥

चन्द्रकान्त मणियोंसे बने हुए (अत एव) चन्द्र-किरणों (के सम्पर्क) से उत्पन्न पानीसे नलके शीलके समान शीतल जिस (कुण्डिनपुरी) के मार्गको कलियुगके समान तीक्ष्ण धूपने गर्म नहीं किया। [दिनमें गर्म हुआ भी जिस नगरी का मार्ग रात्रिमें चन्द्रकान्तमणियोंके बने हुए होनेसे चन्द्रकिरणोंके सम्पर्कके कारण बहे हुए जलसे ठण्डा हो जाता था तथा 'नलकथा कलि[1]दोषका नाशक है' यह भी ध्वनित होता है]॥ ९४॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता॥ ९५॥

परिखेति। परिखावलयच्छलेन परिखावेष्टनव्याजेन कुण्डलनां मण्डलाकाररेखामवापिता परेषां शत्रूणां ग्रहणस्याक्रमणस्य अन्यत्र अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य न गोचरा अविषया या नगरी विषमा दुर्बोधा फणिभाषितभाष्यफक्किका पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्थकुण्डलिग्रन्थः तद्वदिति शेषः। अत्र नगर्याः कुण्डलिग्रन्थत्वेनोत्प्रेक्षा॥ सा च परिखावलयच्छलेनेति अपह्नवोत्थापितत्वात् सापह्नवा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या॥ ९५॥

खाईके घेरेके कपटसे कुण्डलित (घिरी हुई, अत एव) शेषनाग (के अंशावतार पतञ्जलि) से कथित 'महाभाष्य' ग्रन्थकी फक्किका के समान विषम (अज्ञेय, पक्षा०—अप्रवेश्य) जिस (कुण्डिनपुरी) को दूसरोंने नहीं जाना (पक्षा०—वशमें नहीं किया)। [शेषनागके अवतार श्रीपतञ्जलि भगवान्से रचे भाष्यमें कुछ ऐसे स्थल हैं; जिनके वास्तविक आशयका ज्ञान नहीं होनेसे उन्हें वररुचिने घेरकर उनका दुर्ज्ञेयत्व सूचित कर दिया है, इसी प्रकार इस कुण्डिननगरीके चारो ओर ऐसी खाई है कि इसे कोई भी शत्रु अपने वशमें नहीं कर सकता अत एव यह नगरी उस भाष्यकी फक्किकाके समान दूसरोंसे अग्राह्य है]॥ ९५॥

मुखपाणिपदाक्ष्णि पङ्कजै रचिताऽङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम्॥ ९६॥

---

१. 'तदुक्तम्—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्॥' इति।

मुखेति । यत्र नगर्यां मुखञ्च पाणी च पदे च अक्षिणी च यस्मिन् तस्मिन् प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः । पङ्कजैः रचिता सृष्टा अपरेषु मुखादिव्यतिरिक्तेष्वङ्गेषु चम्पकैश्चम्पकपुष्पैः रचिता सर्वत्र सादृश्याद्व्यपदेशः । भीमजा भैमी स्वयं स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं शोभामादित आत्तवती । ददातेर्लुङि 'स्थाघ्वोरिच्चे'तीत्वं 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सलोपः । अत्र अन्यश्रियोऽन्यस्यासम्भवात् श्रियमिव श्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः । तथा तदङ्गानां पङ्कजाद्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः । तदुत्थापिता चेयं निदर्शनेति सङ्करः ॥ ९६ ॥

जिस (कुण्डनपुरी) में मुख, हाथ, पैर तथा नेत्रोंमें कमलोंसे तथा शेष अङ्गोंमें चम्पक पुष्पोंसे रची गयी दमयन्तीने काम-पूजा-सम्बन्धिनी पुष्पमालाकी शोभाको स्वयमेव ग्रहण किया । [दमयन्तीके मुख, हाथ, पैर तथा नेत्र कमल-पुष्पतुल्य और शेष अङ्ग चम्पक-पुष्पतुल्य थे, ऐसी दमयन्ती ही कामपूजा-सम्बन्धिनी पुष्पमालाके स्थानमें हो गयी । कमलादि अनेकविध पुष्पोंसे रचित मालाके समान दमयन्तीके द्वारा कामको प्रसन्न किया जाता था अर्थात् उसके द्वारा कामोद्दीपन होता था] ॥ ९६ ॥

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः ।
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः ॥ ९७ ॥

जघनेति । जघनानि च स्तनौ च जघनस्तनं, प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः । तदेव भारः तस्य गौरवात् गुरुत्वाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः शतं शतसंख्याकाः 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोरि'त्यमरः । अप्सरसोऽवतीर्य स्वर्गादागत्य तत्सखीजनः सख्यः जातावेकवचनम् । यां नगरीमध्यासत अध्यतिष्ठन्, 'अधिशीङ्स्थासां कर्मे'ति कर्मत्वं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा । अप्सरःकल्पाः शतं सख्य एनामुपासत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

जघनों तथा स्तनोंके बोझके भारीपनसे (शून्य) आकाशका अवलम्बन कर विहार करनेमें असमर्थ-सी सैकड़ों अप्सराएँ (आकाशसे भूतलपर) उतरकर उस दमयन्तीकी सखियां होकर (जिस कुण्डिनपुरी) में रहती थीं । [स्वर्गीय अप्सरारूप ही दमयन्तीकी सैकड़ों सखियां थीं] ॥ ९७ ॥

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ? ।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ? ॥ ९८ ॥

स्थितीति । चित्रमयी आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रमि'त्यमरः । या नगरी स्थित्या मर्यादया स्थायित्वेन च शालन्ते ये ते समस्ता वर्णा ब्राह्मणादयः शुक्लादयश्च यस्याः तस्या भावस्तत्तां "वर्णो द्विजादौ शुक्लादावि'त्यमरः । कथं न बिभर्तु बिभर्त्येवेत्यर्थः । कलितः प्राप्तः अनल्पानां बहूनां मुखानामारवो बहुमुखानां ब्रह्ममुख-पञ्चमुख-षण्मुखानां च आरवः शब्दो यस्याः सा या पुरी स्वरस्य

ध्वनेर्भेदं नानात्वं स्वः स्वर्गादभेदं च कथं वा नोपैतु उपैत्वेवेत्यर्थः। उभयत्रापि सति धारणे कार्यं भवेदेवेति भावः। अत्र केवलप्रकृतश्लेषालङ्कारः उभयोरप्यर्थयोः प्रकृतत्वात्। किन्तु एकनाले फलद्वयवदेकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयप्रतीतेरर्थ-श्लेषः प्रथमार्धे। द्वितीये तु जतुकाष्ठवदेकवद्भूताच्छब्दद्वयादर्थद्वयप्रतीतेः शब्द-श्लेषः॥ ९८॥

बहुत-से चित्रोंवाली (कुण्डनपुरी) परस्पर स्थितिसे शोभनेवाले (नील-पीत-श्वेतादि) सम्पूर्ण वर्णों (रंगों) को क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् बहुत चित्रवाली नगरीमें अनेकविध रंगोंका होना उचित ही है तथा बहुत-से मुखोंके शब्दाधिक्य वाली नगरी स्वरभेद (अनेकविध शब्द) को नहीं प्राप्त करे? अर्थात् जिसमें, मनुष्य, हाथी, अश्व आदि तथा शुक-सारिकादि विविध पक्षी बोलते हैं, ऐसे अनेकों मुखोंके शब्दवाली नगरीमें विभिन्न स्वरोंका होना उचित ही है।

[पक्षा०—आश्चर्यकारिणी कुण्डिन नगरी स्थिति (शास्त्र-विहित स्व-स्व-आचार-पालन) से शोभनेवाले सब (ब्राह्मणादि चारो) वर्णोंके भावको वह क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त करे अन्यत्र ब्राह्मणादि वर्णोंमें साङ्कर्य होनेसे तथा इसमें नहीं होनेसे इसका आश्चर्यकारिणी होना उचित ही है, तथा बहुत-से मुखवालों (चतुर्मुख ब्रह्मा, पञ्चमुख शङ्करजी, षण्मुख कार्तिकेय आदि) से युक्त नगरी स्वर्गके साथ अभिन्नता (सादृश्य) को क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् प्राप्त करे। अथवा—स्थिति (अकारादि अक्षरोंके मुखादि उच्चारणस्थान) से शोभनेवाले हैं समस्त वर्ण (अक्षर) जिसमें ऐसे भावकी चित्रमयी नगरी क्यों नहीं प्राप्त करे? ब्राह्मणादि ठीक-ठीक स्वरोंका उच्चारण करते हुए वेदाध्ययन-पाठ करते हैं। तथा अनल्पमुख वाचाट ब्राह्मणोंके समन्ततः शब्द (वेदध्वनि) वाली नगरी (उदात्तादि) स्वरोंके भेदको क्यों नहीं प्राप्त करे, अर्थात् अवश्य प्राप्त करे]॥ ९८॥

स्वरुचाऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशि माणिक्यमया यदालयाः॥ ९९॥

स्वरुचेति। माणिक्यमयाः पद्मरागमयाः यदालयाः यस्यां नगर्यां गृहाः दिनं दिने, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। समीयुषा सङ्गतेन अर्केण हेतुना उत्तृषः अर्कसम्पर्कादुत्पन्नपिपासाः सन्तः स्वरुचा स्वप्रभया अरुणया आरुण्यं प्रापयेति तद्गुणालङ्कारः, 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिरि'ति लक्षणात्। पताकया रसनायमानयेति भावः, सुधाकरं बहुधा लिलिहुः आस्वादयामासुरित्यर्थः। अह्नि सन्तप्ता निशि शीतोपचारं कुर्वन्तीति भावः। अत्र गृहाणां सन्तापनिमित्तसुधाकरलेहनात्मकशीतोपचार उत्प्रेक्ष्यते। सा चोक्ततद्गुणोत्थेति सङ्करः, व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या॥ ९९॥

(माणिक्य रत्नोंसे बने हुए जिस (कुण्डिन नगरी) के भवन दिनमें समीपस्थ सूर्यसे अधिक प्यासयुक्त होकर अपनी (भवनोंकी) कान्तिसे लाल (जिह्वा स्थानीय) पताकाओंसे रात्रिमें अनेक प्रकारसे चन्द्रमाका आस्वादन करते हैं। [दिनमें सूर्य-सन्तप्त व्यक्ति जिस प्रकार रात्रिमें शीतलोपचारसे अपना सन्ताप दूर करता है, उसी प्रकार अत्यधिक ऊँचे होनेसे नगरीके ये भवन दिनमें सूर्यके अत्यन्त समीप होनेसे अधिक पिपासा युक्त होकर भवन-कान्तिसे लाल पताका रूपिणी जीभसे रातमें शीतल चन्द्रमाका आस्वादन करते हैं] ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम् ।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

अथानयैव भङ्ग्या राजभवनं वर्णयति-लिलिह इति। अमलपद्मरागजं यस्यां नगर्यां नृपसद्म राजभवनम् अर्ककरैः श्रितमतिसामीप्यादभिव्याप्तम् । श्रयतेः कर्मणि क्तः, श्रृणातेः पक्वार्थादिति केचित्। तदा ह्रस्वश्चिन्त्यः, प्रकृत्यन्तरं मृग्यमित्यास्तां तत् । अत एव पिपासु तृषितं सत् पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। स्वकीया रुग् यस्याः तया स्वरुचा तद्रूषितयेत्यर्थः। अत एव जिह्वानिभया पताकया सुधाकरं लिलिहे आस्वादयामास। लिहेः कर्त्तरि लिट्। स्वरितत्वादात्मनेपदम्, अलङ्कारश्च पूर्ववत्, जिह्वानिभयेत्युपमा सङ्करश्च विशेषः ॥ १०० ॥

(उसी विषयको पुनः कहते हैं—) पद्मराग मणियोंसे बना हुआ जिस नगरीका निर्मल राजभवन (दिनमें) सूर्य-किरणोंसे पिपासायुक्त होकर अपनी (राजभवनकी) कान्तिवाली, अर्थात् रक्तवर्ण जिह्वातुल्य पताकासे रात्रिमें चन्द्रमाका आस्वादन करता है ॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवाससः ॥ १०१ ॥

अमृतेति । पीतया पीतवर्णया यस्या नगर्याः वलभ्यां 'कूटागारन्तु वलभिरि'त्यमरः। पताकया मिलितं सामीप्यात्सङ्गतममृतद्युतिलक्ष्म चन्द्रलाञ्छन वलयायिते वलयीभूते शेषे शेत इति तच्छायिनः पीतवाससः पीताम्बरस्य विष्णोः सखितां सदृशतामादित अग्रहीदित्युपमालङ्कारः ॥ १०१ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) के छज्जेकी पीली पताकासे मिला हुआ चन्द्रमाका कलङ्क मण्डलाकार शेषनाग पर सोये हुए पीताम्बर पहने श्रीविष्णुके समान ज्ञात होता है। [कलङ्कके साथ श्रीविष्णु भगवान्‌की, पीली पताकाके साथ पीताम्बरकी, कलङ्कके चारों ओर स्थित चन्द्रमाके साथ मण्डलाकार (गेण्डुरी बांधकर) स्थित शेषनागकी समानता की गयी है। इससे भवनोंका अत्युन्नत होना सूचित होता है] ॥ १०१ ॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना ।

पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि ॥ १०२ ॥

अश्रान्तेति । यस्याः नगर्याः प्रासादे दुकूलं वल्लिरिव दुकूलवल्लिः दुकूलमयी पताकेत्यर्थः । अश्रान्तेन श्रुतिपाठेन नित्यवेदपाठेन पूताभ्यः पवित्राभ्यः रसनाभ्यो जिह्वाभ्यः आविर्भूतेषु भूरिस्तवेषु अनेकस्तोत्रेषु अजिह्मेन अकुण्ठेन ब्रह्मणो मुखानामोघेन हेतुना विघ्निता सञ्जातविघ्ना नवस्वर्गक्रिया नूतनस्वर्गसृष्टिरेव केलिः लीला यस्य तेन गाधिसुतेन विश्वामित्रेण पूर्वं ब्रह्मप्रार्थनात्पूर्वं 'सामि घटिता अर्धसृष्टा 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्सन' इत्यमरः । मुक्ता पश्चान्मुक्ता मन्दाकिनी नु आकाशगङ्गा किमनिलस्य कर्तुरान्दोलनैर्दिवि आकाशे अखेलत् विजहारेत्युत्प्रेक्षा । एषा कथा त्रिशङ्कूपाख्याने द्रष्टव्या । शार्दूलविक्रीडितवृत्तं 'सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितमि'ति लक्षणात् ॥ १०२ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) के महलोंकी पताकारूपिणी श्वेत वस्त्रलता, निरन्तर वेद-पाठ करनेसे पवित्र जिह्वाओंसे उत्पन्न बहुत-सी स्तुतियोंमें निरालस्य ब्रह्ममुख-समूह (ब्रह्माके चारो मुख) से रोक दी गयी है नये स्वर्गकी रचनारूपिणी क्रीड़ा जिसकी, ऐसे विश्वामित्रजी द्वारा पहले आधी बनायी गयी (बादमें ब्रह्माके स्तुति करनेपर) छोड़ी गयी गङ्गा ही मानो वायुके झोकोंसे आकाशमें क्रीडा करती (लहराती) है ॥ १०२ ॥

पौराणिक कथा—गुरु वसिष्ठ मुनिके शापसे चण्डाल हुए राजा त्रिशङ्कुकी सशरीर स्वर्गमें जानेके लिए इच्छा होनेपर महर्षि विश्वामित्रजीने यज्ञ कराकर उन्हें स्वर्गमें भेजना चाहा, किन्तु चण्डाल होनेसे स्वर्गके अनधिकारी त्रिशङ्कुको जब, देवगण नीचे गिरने लगे, तब उन देवोंके इस कार्यसे रुष्ट विश्वामित्रजी दूसरे स्वर्गकी रचना करने लगे। यह देख अपनी प्रतिष्ठामें धक्का लगता हुआ मानकर ब्रह्माजीने विश्वामित्रजीको अनेकविध स्तुति वचनोंसे प्रसन्नकर स्वर्ग-रचना करनेसे रोक दिया।

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाश्शुचिसौधवस्त्रवल्लिः ।
अलभत शमनस्वसुश्शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥१०३॥

यदिति । यस्या नगर्याः अतिविमलैर्नीलवेश्मनः इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभिः भ्रमरिता भ्रमरीकृता भ्रमरशब्दात् 'तत्करोती'ति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । वल्ल्याश्च भ्रमरैर्भाव्यमिति भावः । तथाभूता भाः छाया यस्याः सा श्यामीकृतप्रभेत्यर्थः । अत एव तद्गुणालङ्कारः । शुचिः स्वभावतः शुभ्रा सौधस्य वस्त्रमेव वल्लिः पताकेत्यर्थः । रूपकसमासः । भ्रमरितभा इति रूपकादेव साधकात् दिवसकरस्य सूर्यस्य अङ्कतले समीपदेशे उत्सङ्गप्रदेशे च चला चपला लुठन्ती परिवर्त्तमाना सती शमनस्वसुर्यमुनायाः शिशुत्वं शैशवमलभत बाल्यमुनेव बभावित्यर्थः । बालिकाश्च पितुरङ्के लुठन्तीति भावः । अत्रान्यस्य शैशवेनान्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्सदृशमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना पूर्वोक्ततद्गुणरूपकाभ्यां सङ्कीर्णा ॥ १०३ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) के अत्यन्त निर्मल नीलमके बने हुए महलोंकी किरणोंसे भ्रमर-तुल्य की गयी (घूमती हुई) कान्तिवाली स्वच्छ महलोंकी पताका सूर्यके समीप (पक्षा०-क्रोड = गोद) में चञ्चल तथा लोटती हुई यमुनाके शैशवको प्राप्त किया अर्थात् पिता सूर्यके समीप चञ्चल तथा लोटती हुई बालिका यमुनाके समान उक्तरूपा पताका शोभती थी ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभव-
न्नत्र प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

स्वेति । यत्कामिनी यन्नगराङ्गना विमानेन कलितं क्रान्तं व्योम याभिस्ताः साक्षादप्सरसो दिव्याङ्गना एवाभवत् । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरस' इत्यभिधानादेकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोगः कृतः, यद्यस्मान्निजकेलिसौधशिखरादपादानात् स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यं क्रीडासौधं तस्य कटकान्नितम्बादातिथ्यग्रहाय स्वीकाराय तत्र विश्रमार्थमित्यर्थः । उत्सुकमुद्युक्तं गच्छन्तमित्यर्थः, पाथोदं मेघमारुह्य रसादनुरागाद् यान्ती गच्छन्ती अध्वनि अभ्रतरसा मेघवेगेन हेतुना निमेषं न प्राप । अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदेऽपि अनिमेषमेघारोहणव्योमयानैः सैव इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१०४॥

जिस (कुण्डिनपुरी) की कामिनी अपने क्रीडाप्रासादकी चोटी (ऊपरी छत) से अपने प्राणप्रियके क्रीडाप्रसादके आतिथ्य-ग्रहण (विश्राम) करनेके लिए उत्कण्ठित अर्थात् जाते हुए मेघपर आरूढ होकर अनुरागसे जाती हुई मेघ-वेगके कारण पलकको नहीं गिराया, अतएव विमानके द्वारा आकाशका अवलम्बन की हुई वह मानो साक्षात् अप्सरा ही हो गयी । [जिस नगरीको कामिनी अपने क्रीडा-प्रासादके अत्युन्नत ऊपरी छतसे उस मेघपर चढ़ जाती है, जो मेघ उस कामिनीके प्राणेश्वरके क्रीडा-प्रासाद पर विश्राम करना चाहता है अर्थात् वहीं होकर जाता है, और मेघके वेगके कारण उसे निर्निमेष (एकटक) देखती है, अतएव वह कामिनी विमानसे आकाशमें स्थित साक्षात् अप्सरा ही हो जाती है । उस कुण्डिनपुरकी कामिनियोंके तथा उनके प्राणेश्वरोंके क्रीडा-प्रासाद अत्युन्नत हैं, तथा कामिनियां अप्सराओंके समान सुन्दरी हैं] ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः ।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्ग्रोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५ ॥

वैदर्भीति । 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ती'ति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैः अथ ब्रह्माण्डाघातेन भग्नो स्यदजमदो वेगगर्वौ येषां तत्तथा

ह्रिया धृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरधोमुखैः अतएव दिवि उत्तानगाया ऊर्ध्वंमुखाया इत्यर्थः । कस्याः सुरसुरभेः देवगव्या आस्यदेशं गताग्रैरंशुभिरेव दर्भैर्यस्या नगर्याः सम्बन्धि गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तं नोज्जृम्भते स्म । किन्तु सर्वस्य अपि ग्रासदानाद्यत्सुकृतमेवोज्जृम्भितमित्यर्थः । अत्युत्तमालङ्कारोऽयमिति केचित् । अंशुदर्भाणां ब्रह्माण्डाघाताद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । स्रग्धरावृत्तं 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयमि'ति लक्षणात् ॥ १०५ ॥

दमयन्तीके क्रीडापर्वतपर मरकत (पन्ना) मणियोंके अग्रभागसे उत्पन्न (होकर ऊपरकी ओर जाते हुए, किन्तु ऊपरमें स्थित) ब्रह्माण्डके आघात (टक्कर) से ऊपर जानेके मदके भग्न होनेसे लज्जासे नम्रमुख हुए (अतएव) आकाशमें उत्तानगामिनी किस कामधेनुकी मुखमें प्रविष्ट किरणरूप कुश तृण जिस (कुण्डिनपुरी) के गोग्रास देनेके शाश्वत पुण्यको नहीं पाता है ?। [मरकत मणिके बने दमयन्तीके अत्युन्नत क्रीडा-पर्वतकी चोटीसे कुशाओंके समान हरे रंगकी किरण ऊपरकी ओर निकलती हैं, किन्तु ब्रह्माण्डके साथ टकराकर ऊपर नहीं जा सकनेके कारण पुनः नीचेकी ओर लौटकर ऊपर आकाशमें उत्तान चलती हुई कामधेनु गायोंके मुखमें प्रविष्ट होकर ऐसी प्रतीत होती है कि पुण्यलाभार्थ गायोंको हरे कुशाओंका निरन्तर गोग्रास दिया जाता हो] ॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम् ।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

विध्विति । तत्र तस्यां नगर्यां शशिदृषदुपक्लृप्तैश्चन्द्रकान्तशिलाबद्धैः अत एव विधुकरपरिरम्भात् चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतोः आत्तनिष्यन्दैः जलप्रस्रवणैरेव पूर्णैस्तरूणामालवालैर्विफलितं व्यर्थीकृतं जलसेकस्य प्रक्रियायां प्रकारे गौरवं भारो यस्य तेन भैमीवनेन स हंसो हृतचित्तो व्यरचि । कर्मणि लुङ् । अत्रालवालानां चन्द्रकान्तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । एतदारभ्य चतुःश्लोकपर्यन्तं मालिनीवृत्तं—'न नमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैरि'ति लक्षणात् ॥ १०६ ॥

वहांपर चन्द्रकान्तमणिके बने हुए (अतएव) चन्द्रकिरणोंके संसर्गसे पसीजनेसे भरे हुए तथा वृक्षोंके थालाओंके द्वारा पानीके सींचनेके गौरव (परिश्रम) को निष्प्रयोजन करनेवाले दमयन्तीके क्रीडोद्यानने उस हंसके चित्तको आकृष्ट कर लिया । [चन्द्रकान्त मणियोंसे बने वृक्षोंके थाले चन्द्रकिरण स्पर्श होनेसे स्वयं जलपूर्ण होकर पानीके द्वारा सींचनेको व्यर्थ कर देते थे, ऐसे दमयन्तीके क्रीडोद्यानको देखकर हंसका चित्त आकृष्ट हो गया] ॥

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।

उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखाऽ-
नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

अथेति । अथ दर्शनानन्तरं कनकपतत्रः स्वर्णपक्षी तत्र वने सदृशभासामात्मतु-ल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीं 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्य' इति षत्वम्। उडुपरिषदि तारकासमाजे मध्यस्थायिन्याः शीतांशुलेखायाश्चन्द्रकलायाः अनुकरणे पटुः समर्था लक्ष्मीः शोभा यस्याः सा इत्युपमालङ्कारः। तां राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार अद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०७ ॥

इसके बाद वह सुवर्णमय (राजहंस) पक्षी वहां (क्रीडावनमें) समान कान्तिवाली सखियोंकी सभा (बीच) में देदीप्यमान उस राजकुमारी दमयन्तीको नक्षत्र-समूहके बीचमें स्थित चन्द्रलेखाके तुल्य शोभती हुई देखा ॥ १०७ ॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं वेशमन्विष्यताऽधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

भ्रमणेति । अधो भूतले क्वचन कुत्रचित्पतनयोग्यं देशं स्थानम् अन्विष्यता गवेषमाणेन अत एव भ्रमणरयेण विकीर्णा स्वर्णस्य भा दीप्तिर्यस्य तेन खगेन अमुष्या अयम् अदसीयम् 'वृद्धाच्छः' 'त्यदादीनि चे'ति वृद्धिसंज्ञा । मुखेन्दुं सेवितुं लम्बमानः स्रंसमानः शशिपरिधिः चन्द्रपरिवेष इव उच्चैरुपरि मण्डलो वलयः तेने वितेने, तनोतेः कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥ १०८ ॥

घूमने (चक्कर लगाने) के वेगसे स्वर्णकान्तिको फैलानेवाले तथा कहीं पर नीचे योग्य स्थानको ढूँढ़ते हुए उस (राजहंस) पक्षीने इस (दमयन्ती) के मुखचन्द्रकी सेवाके लिए नीचेकी ओर आये हुए चन्द्रपरिधिके समान मण्डल किया [अर्थात् पृथ्वीपर उतरते हुए उस राजहंसने जो ऊपरमें चक्कर लगाया, वह ऐसा ज्ञात होता था कि दमयन्तीके मुखचन्द्रकी सेवाके लिए चन्द्रपरिधि (चन्द्रमाका घेरा) नीचे आ गया हो । नीचे उतरते समय चक्कर लगाकर उतरना पक्षियोंका स्वभाव होता है, तदनुसार ही नीचे उतरता हुआ राजहंस चारो ओर चक्कर लगाने लगा] ॥ १०८ ॥

अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः ।

१. 'सूतोग्रराजभोजकुलमेरुभ्यो दुहितुः पुत्रड् वा' इति राजशब्दात्परस्य दुहितृशब्दस्य पुत्रडादेशे टित्वात् ङीपि राजपुत्रीति । केचित्तु शार्ङ्गरवादिषु पुत्रशब्दं पठन्ति । तेन पुरुहूतपुत्रीति सिद्धम्' इति 'प्रकाशे' कृदाह ।

इति मतिरुदयासीत्पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिस्सार्धमाबद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

अनुभवतीति। विपिनभुवि वनप्रदेशे सखीभिः सहचरीभिः 'सख्यशिश्वीति भाषायामि'ति निपातनात् ङीप्। सार्द्धमाबद्धखेलामनुबद्धक्रीडां, 'क्रीडा खेला च कूर्दनमि'त्यमरः। भैमीं प्रेक्ष्य पक्षिणः सा प्रसिद्धा शची इन्द्राणी घृताचीमुखाभिः सहचरीभिः सह इत्थमुच्चैरुत्कृष्टंनन्दनानन्दं नन्दनसुखं नानुभवतीति मतिः बुद्धिरुदयासीदुत्थिता। अत्र प्रेक्ष्य मतिरिति मननक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् पूर्वकालत्वाच्च प्रेक्ष्येति क्त्वानिर्देशोपपत्तिः,तावन्मात्रस्यैव तत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रयोजकत्वात्। प्राधान्यन्त्वप्रयोजकमिति न कश्चिद्विरोधः। अत्रोपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः 'भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः। आधिक्याल्पकथनाद्व्यतिरेकः स उच्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

'वह (सुप्रसिद्ध) इन्द्राणी, घृताची आदि (अप्सरा) सहचरियोंके साथ इसी प्रकार (दमयन्तीके समान) नन्दन वनमें आनन्द पाती हैं क्या?' ऐसा विचार क्रीडोद्यानमें सखियोंके साथ क्रीडा करती हुई दमयन्तीको देखकर हंसको हुआ ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥११०॥

श्रीहर्षमित्यादि। व्याख्यातम्। द्वितीय एव द्वैतीयीकः, 'द्वितीयादीकक् स्वार्थे वा वक्तव्य' इतीकक्द्वैतीयीकतयामितो द्वितीयत्वेन गणितः द्वितीय इत्यर्थः, अगमत् ॥

इति 'मल्लिनाथ'सूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां नैषधटीकायां
द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥ २ ॥

...विराज.................उत्पन्न किया उसके मनोहर रचनारूप 'नैषधीयचरित' नामक महाकाव्यमें द्वितीयसर्ग समाप्त हुआ। (शेष व्याख्या प्रथमसर्गके समान जाननी चाहिये) ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥



तृतीयः सर्गः

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य ।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥ १ ॥

आकुञ्चिताभ्यामिति । अथ मण्डलीकरणानन्तरं हंसः । आकुञ्चिताभ्यां पक्षतिभ्यां पक्षमूलाभ्यां नभोविभागादाकाशदेशात्तरसा वेगेनावतीर्य निवेशदेशे उपनिवेशस्थाने आततौ विस्तारितौ धूतौ कम्पितौ च पक्षौ येन सः तथा सन्नुपभैमि भैम्याः समीपे, सामीप्येऽव्ययीभावः, नपुंसकं, ह्रस्वत्वं च । भूमौ पपात । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥१॥

इस (मण्डलाकार चक्कर लगाने) के बाद सङ्कुचित दोनों पङ्खोंसे आकाश से झट नीचे उतरकर बैठनेकी जगह फैलाये गये पङ्खोंको कँपाता (फड़फड़ाता) हुआ वह हंस दमयन्तीके पास भूमिपर आ गया ॥ १ ॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार ।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः संभ्रान्तमन्तःकरणञ्चकार ॥ २ ॥

आकस्मिक इति । तदा पतनसमये पक्षपुटाहतायाः क्षितेः । अकस्माद्भव आकस्मिकः अदृष्टहेतुको निर्हेतुक इत्यर्थः । यः स्वनो ध्वनिरुच्चचार उत्थितः, स स्वनः अन्यविन्यस्तदृशः विषयान्तरनिविष्टदृष्टेस्तस्याः भैम्याः अन्तःकरणं द्राक् झटिति सम्भ्रान्तं ससंभ्रमं चकार । अकाण्डेऽसम्भावितशब्दश्रवणाच्चमत्कृतचित्ताऽभूदित्यर्थः । स्वभावोक्तिः ॥ २ ॥

दोनों पङ्खोंसे आहत पृथ्वीसे अकस्मात् जो शब्द हुआ, उसने दूसरी ओर देखती हुई दमयन्तीके अन्तःकरणको सम्भ्रान्त (कुछ घबड़ाया हुआ तथा आश्चर्ययुक्त) कर दिया । [हंसके नीचे उतरनेसे एकाएक उत्पन्न शब्दसे दूसरी ओर देखती हुई दमयन्ती कुछ घबड़ा गयी एवं आश्चर्यचकित हो गयी] ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि ।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥ ३ ॥

नेत्राणीति । विदर्भाणां राजा वैदर्भः । तस्य सुतायाः भैम्याः सखीनां नेत्राणि विमुक्तास्तत्तद्विषयग्रहाः तत्तदर्थग्रहणानि अन्यत्र तत्तद्विषयासङ्गो यैस्तानि सन्ति एकमेकचरम् अद्वितीयञ्च नोपाख्यायत इति निरुपाख्यमवाच्यं रूपमाकारः, स्वं स्वरूपं च यस्य तं पुरोवर्त्तिनं हंसं तत्पदार्थभूतञ्च यतव्रतानां योगिनां चेतांसि ब्रह्म परात्मानमिव प्रापुः, अत्यादरेणाद्राक्षुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

उन–उन (विभिन्न) विषयोंको ग्रहण करने (देखने) वाले विदर्भराज–कुमारी (दमयन्ती) को सखियोंके नेत्र अनिर्वचनीय उस एक हंसको उस प्रकार प्राप्त हुए (देखने लगे), जिस प्रकार योगियोंके चित्त अनिर्वचनीय रूपवाले एक ब्रह्मको प्राप्त

होते हैं । [अनिर्वचनीय रूपवाले ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर योगियोंके चित्तके समान उस अनिर्वचनीय सुवर्णकाय राजहंसको देखनेपर दमयन्तीकी सखियोंको आनन्द हुआ] ॥ ३॥

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

हंसमिति । असौ दमयन्ती मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायां स्वकीयायां 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्ये'तीकारः । तनौ शरीरान्तिके अन्यत्र तदभ्यन्तरे सन्निहितमासन्नमाविर्भूतं च चरन्तं सञ्चरन्तं वर्तमानं च हंसं मरालं परमात्मानं च, 'हंसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सर' इति विश्वः । अदरिणा निर्भीकेण शयेन पाणिना 'दरो स्त्रियां भये श्वभ्रे', 'पञ्चशाखः शयः पाणिरि'त्यमरः । अन्यत्र आदरिणा आदरवता आशयेन चित्तेन ग्रहीतुकामा साक्षात्कर्तुकामा च यत्नात् निश्चलतां निश्चलाङ्गत्वं जगाहे जगाम ॥४॥

इस (दमयन्ती) ने सन्निहित (समीपस्थ, या—श्रेष्ठ = नलके द्वारा भेजे गये) तथा चलते हुए हंसको भययुक्त (या—आदरयुक्त) हाथसे पकड़नेके लिए यत्नपूर्वक अपने शरीरमें उस प्रकार निश्चलताको प्राप्त किया अर्थात् अपने शरीरको स्थिर किया, जिस प्रकार सन्निहित (सत् =मन्वादिके द्वारा सम्यक् प्रकारसे ध्यान किये गये, या—सत् = सज्जन मन्वादिके लिए अतिशय हितकारक) तथा अपने शरीरमें विचरते हुए परमात्माको आदरान्वित आशयसे अर्थात् सादर ग्रहण करनेके लिए मुनिकी मनोवृत्ति (विषयान्तरसे हटकर) यत्नपूर्वक निश्चलताको प्राप्त होती है । [दमयन्तीने समीपस्थ हंसको पकड़नेके लिए शरीरको निश्चल (के तुल्य) बना लिया, किन्तु उसके मनमें तो चञ्चलता बनी ही रही] ॥ ४ ॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न धैर्याद्वियदुत्पपात ।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

तामिति । अयं हंसस्तां पूर्वोक्तां मायां कपटमिङ्गितैश्चेष्टितैरनुमाय निश्चित्यापि धर्यात् स्थैर्यमास्थाय ल्यब्लोपे पञ्चमी । वियदाकाशं प्रति नोत्पपात नोत्पतितवान् आत्मन उपरि पातुकम्पतयालुं 'लषपते'त्यादिना उकञ् प्रत्ययः । तस्याः पाणिं तु प्लुतिलाघवेन उत्पतनकौशलेन मोघं वितेने विफलयत्नम् अकरोत् आशाञ्च जनयति न तु पाणौ लगतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

यह हंस दमयन्तीकी चेष्टाओंसे उसकी मायाको जानकर भी आकाशमें नहीं उड़ा, किन्तु अपने ऊपर आते हुए उसके हाथको थोड़ा उछलनेसे निष्फल कर दिया [दमयन्तीका हाथ जब उसके ऊपर पकड़नेके लिए अधिक निकट होता था, तभी वह हंस थोड़ा उछलकर दूर हट जाता था, जिससे वह उसे पकड़ नहीं पाती थी] ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृतं पत्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः ।
परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यतालम् ॥ ६ ॥

व्यर्थीकृतमिति । अस्याः भैम्याः व्यवसायं हंसग्रहणोद्योगं तेन पत्ररथेन पक्षिणा व्यर्थीकृतं तथाऽवसाय ज्ञात्वा तत्कालं तस्मिन् काले अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। स एव कालो यस्येति बहुव्रीहौ क्रियाविशेषणं वा। परस्परां परस्परस्यामित्यर्थः। 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्विर्भावः समासवच्च बहुलमि'ति बहुलग्रहणादसमासवद्भावे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचने कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वमुत्तरपदस्य यथायोग द्वितीयाद्येकवचनं 'स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वक्तव्य' इति विकल्पादामादेशः। अर्पितहस्ततालं दत्तहस्तताडनं यथा तथा आलीभिः सखीभिरलम् अत्यर्थम् अहस्यत हसितम्। भावे लङ् ॥ ६ ॥

उस पक्षी (हंस) के द्वारा उस प्रकार (थोड़ा उछल-उछलकर) व्यर्थ किये गये दमयन्तीके उद्योग (हंसको पकड़नेका कार्य) को जानकर (दमयन्तीकी) सखियोंने ताली बजाकर परस्परसे उस (दमयन्ती) को सम्यक प्रकारसे हँसा अर्थात् उसका बड़ा उपहास किया ॥ ६ ॥

उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः ।
याऽन्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्रेत्युपालम्भि तयाऽऽलिवर्गः ॥७॥

उच्चाटनीय इति । हे सख्यः! भवतीभिरेष हंसः करतालिकानां दानादन्योन्यहस्तताडनकरणादुच्चाटनीयः निष्कासनीयः किमिति काकुः, नोच्चाटनीय एवेत्यर्थः। अत्र आसु मध्ये या मामन्वेति सा मह्यमेव द्रुह्यति मां जिघांसतीत्यर्थः। 'क्रुधद्रुहे'त्यादिना सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी। इतीत्थं तया भैम्या आलिवर्गः सखीसंघः उपालम्भि अशापि, शापेनैव निवारित इत्यर्थः ॥ ७ ॥

इस समय (जब मैं इस सुवर्णमय सुन्दर हंसको पकड़नेके लिए इतना अधिक सावधान होकर लग रही हूँ, ऐसे समयमें) हाथकी तालियाँ देकर तुम लोगोंको इसे उड़ाना चाहिये ? इनमें जो मेरा अनुगमन करती है, वही मेरे साथ द्रोह कर रही है, इस प्रकार उस (दमयन्ती) ने सखी-समूहको उपालम्भ दिया ॥ ७ ॥

धृताल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः ।
श्यामाऽथ हंसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

धृतेति । अथ सखीनिवारणानन्तरं सखीनां हसिते हासनिमित्ते धृताल्पकोपा तासु ईषत्कोपा इत्यर्थः। भास्वन्तमभिप्रयातुः सूर्याभिमुखं गच्छतः छायां अनातपरेखेव श्यामा यौवनमध्यस्था 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलमालायाम्। अन्यत्र श्यामा नीला, हंसस्य कर्मणि षष्ठी। करेण हस्तेन अनवाप्तेरग्रहणाद्धेतोर्मन्दाक्षं ह्रीस्तेन लक्ष्या उपलक्ष्या ह्रीणा सतीत्यर्थः। अन्यत्र हंसस्य सूर्यस्य करानवाप्तेः अंशुसंस्पर्शाभावात् मन्दाक्षैरपटुदृष्टिभिर्लक्ष्या ग्राह्या तैः छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भावः। पश्चाल्लगति स्म पृष्ठे लग्नाऽभूत् प्राप्त्याशया तमन्वगात्। 'रविश्वेतच्छदौ हंसौ', 'बलिहस्तांशवः कराः' इति चामरः ॥ ८ ॥

सखियोंके हँसने पर थोड़ा क्रुद्ध तथा हंसको हाथसे नहीं पकड़नेसे कुछ लज्जित हुई श्यामा (षोडशी) दमयन्ती सूर्यके सामने जानेवाले व्यक्तिके पीछे उसकी श्यामवर्ण (काली) परछाईंके समान हंसके पीछे लग गयी (हंसके पीछे-पीछे चलने लगी) ॥ ८ ॥

शस्ता न हंसाभिमुखी तवेयं[1] यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना ।
साऽऽह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः ॥ ९ ॥

शस्तेति । तवेयं हंसस्य श्वेतच्छदस्य चाभिमुखी यात्रा गमनं न शस्ता न प्रशस्ता श्रेयस्करी न शास्त्रविरोधात् श्रमसन्तापदृष्टदोषाच्चेति भावः । इतीत्थं ताभिः छलेन व्याजोक्त्या हस्यमाना सती भाविप्रियावेदको मङ्गलमूर्त्तित्वादागामिशुभ-सूचकः एष हंसो मे मम नाशकुनीभवेदेव, किन्तु शकुनमेव भवेदित्यर्थः । अपक्षी न भवेदिति च गम्यते 'शकुनन्तु शुभाशंसानिमित्ते शकुनः पुमानि'ति विश्वः । 'अभूत-तद्भावे च्विः' विध्यादिसूत्रेण प्रार्थने लिङ् । इत्याह स्म अवोचत् , 'ब्रुवः पञ्चानामि'-त्याहादेशः । एतेन तदीययात्रानिषेधोक्तदोषः परिहृतो वेदितव्यः ॥ ९ ॥

'हंस (मराल = राजहंस पक्षी, पक्षा०—सूर्य) के सम्मुख तुम्हारा यह गमन करना श्रेष्ठ (अभीष्ट फलप्रद) नहीं है' इस प्रकार उन (सखियों) के द्वारा हँसी गयी उस दमयन्तीने कहा कि—भविष्य में प्रिय (शुभ) की सूचना देनेवाला (पक्षा०—भविष्यमें होनेवाले प्रिय (नल) की सूचना देनेवाला) यह हंस अशकुनि (पक्षी भिन्न, पक्षा०—अशुभ सूचक शकुनवाला) नहीं है अर्थात् यह पक्षी ही है, जिसके सम्मुख यात्रा करना निषिद्ध है, वह सूर्य नहीं है ॥ ९ ॥

हंसोऽप्यसौ हंसगतेस्सुदत्याः पुरःपुरश्चारु चलन् बभासे ।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥ १० ॥

एवं दमयन्तीव्यापारमुक्त्वा सम्प्रति हंसस्य व्यापारमाह–हंसोऽपीति । असौ हंसोऽपि हंसस्य गतिरिव गतिर्यस्यास्तस्याः सुदत्याः शोभनदन्तायाः भैम्याः, सुदती व्याख्याता । रःपुरः वीप्सायां द्विर्भावः । अग्रे समन्तात् , चारु चलन् रम्यं गच्छन् सन् वैलक्ष्यमेव हेतुस्तस्य वैलक्ष्यहेतोः, अहो मामयमतिविडम्बयतीति तस्या अपि विस्मयजननार्थमित्यर्थः । 'विलक्षो विस्मयान्वित' इत्यमरः । 'षष्ठी हेतुप्रयोग' इति षष्ठी । एतदीयाङ्गतिमनुकृत्य अभिनीय उच्चैरुपहसन्निवेत्युत्प्रेक्षा, बभासे बभौ । लोके परिहासकाः तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति ॥ १० ॥

यह हंस भी हंसगामिनी एवं सुदती (सुन्दर दाँतोवाली दमयन्ती) के आगे-आगे सम्यक् प्रकारसे चलता हुआ उसे लज्जित (या—आश्चर्यचकित) करनेके लिए इस (दमयन्ती) के चलनेका अनुकरण कर उसे सम्यक् प्रकारसे हँसता हुआ-सा शोभित हुआ । [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसीको लज्जित (या—'अहो ! यह भी मेरा अनुकरण

१. 'पुनस्ते' इति 'प्रकाश' व्याख्यातः पाठः ।

कर उपहास कर रहा है' इस भावनासे आश्चर्यचकित) करनेके लिए उसके गमनादिका अनुकरण करता हुआ उसे हंसता है]॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम्।
तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाचकृषे कृशाङ्गी ॥११॥

पदे पद इति। भावयन्तीति भाविनी हंसग्रहणमेव मनसा भावयन्ती कृशाङ्गी भैमी भाविनि भविष्यत्यनन्तर इत्यर्थः। 'भविष्यति गम्यादय' इति साधुः। पदे पदे तं हंसं यथा करप्राप्यं करग्राह्यं नूनं निश्चितमवैति प्रत्येति, तथा सखेलं चलता गच्छता तेन हंसेन प्रतार्य वञ्चयित्वा लतासु आचकृषे आकृष्टा, एकान्तं नीतेत्यर्थः ॥ ११ ॥

भाविनी (हंस-ग्रहणकी भावना वाली, दमयन्ती) अगले प्रत्येक डग (कदम— पग) पर जिस प्रकार उसे हाथसे ग्रहण करने योग्य समझती थी, उस प्रकारसे क्रीडापूर्वक चलता हुआ वह (हंस) कृशाङ्गी (दमयन्ती) को वञ्चितकर लताओंमें ले गया ॥ ११ ॥

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार।
तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥१२॥

रुषेति। रुषा निषिद्धालिजनां निवारितसखीजनां यदा छाया एव द्वितीया यस्यास्तामेकाकिनीं कलयांचकार विवेद, तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स्वेदाम्बुलवपरिष्कृतशरीरां खिन्नगात्रान्तां स हंसः कीरवत् शुकवन्मनुष्यस्येव वाग्यस्य स सन्नवादीत् ॥ १२ ॥

जब हंसने क्रोधसे सखियोंको निषेधकी हुई दमयन्तीको अकेली जान लिया, तब परिश्रमके जल (पसीने) की बूदोंसे भूषित अङ्गोंवाली (दमयन्ती) से तोतेके समान मनुष्यकी बोली बोलने लगा ॥ १२ ॥

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं परिश्राम्यसि वा [1]किमर्थम् ?।
उदेति ते भीरपि किन्नु[2] बाले विलोकयन्त्या न घना वनालीः ? ॥१३॥

अय इति। अये बाले ! व्यर्थं कियद्दूरं यावदुपैषि उपैष्यसि ? 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'। किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? घनाः सान्द्रा वनालीर्वनपङ्क्तीर्विलोकयन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्नु ? ॥ १३ ॥

हे दमयन्ति ! कितनी दूर तक आवोगी ?, व्यर्थं ही क्यों थक रही हो ?, हे बाले ! सघन वन-समूहोंको देखकर तुम्हें भय भी उत्पन्न नहीं होता ?। [अथवा—हे दमयन्ति ! कितनी दूर तक व्यर्थं आवोगी ! क्यों थक रही हो। हे नवीन सखियों वाली दमयन्ति ! सघन वन-समूहों········। या—·········आवोगी ? व्यर्थं (वि+अर्थं अर्थात् मुझ पक्षीके लिए) क्यों परिश्रम करती हो ?। या—······आवोगी, इस प्रकार क्यों परि-

१. 'किमित्यम्' इति पाठान्तरम्। २. 'किन्नवाले' इति पाठान्तरम्।

भ्रम करती हो ?)। [हंस दमयन्तीसे समझता हुआ कहता है कि—'तुम कहाँ तक आवोगी ?, किसी महत्त्वपूर्ण वस्तुके लिए दूर जाना सङ्गत होनेपर भी एक पक्षीके लिए इतना अधिक परिश्रम करना ठीक नहीं, सुवर्णमय पक्षीके लिए उत्कण्ठित होकर इतनी दूर तक आना एवं परिश्रम करना यथा कथञ्चित् उचित होने पर भी बाला (स्वयं अप्रौढ या—नवीन-अप्रौढ सखियों वाली) तुमको सघन वन-समूहोंको देखकर भय उत्पन्न होना चाहिये; इस प्रकार तुम इस कार्यमें प्रवृत्त मत होवो, लौट जावो']॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनालिः ॥ १४ ॥

वृथेति । वृथा व्यर्थमेव न पन्था अपथम्, 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः अः, 'अपथं नपुंसकम्' । तस्मिन्नपथे दुर्मार्गे अकृत्ये च पदं पादं व्यवसायं च अर्पयन्ती 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्वि'त्यमरः । मरुता ललन् चलन् पल्लव एव पाणिस्तस्य कम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा च वनालिः आलीव सखीव प्रतिषेधति निवारयति, पश्य इति वाक्यार्थः कर्म । यथा लोके अमार्गवृत्तं सुहृज्जनः पाणिना वाचा च वारयति तद्वदित्यर्थः । अत एव पल्लवपाणीत्यादौ रूपकाश्रयणम् तत्सङ्कीर्णा वनाल्यालीवेत्युपमा ॥ १४ ॥

यह वनपंक्ति वायुसे विलास करते हुए पल्लवरूपी हाथोंके कम्पनोंसे एवं कबूतरोंके 'हुङ्कार' रूप वाणीसे बेराह चलती हुई तुमको सखीके समान रोक रही है, यह तुम देखो ॥

धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।
अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

धार्य इति । एकत्रैव गतिर्यस्यास्तया एकगत्या वसुधायामेकगत्या भूमात्रचारिण्येत्यर्थः । शिवभागवतवत्समासः । भवत्या वियद्विहारी खेचरोऽहं कथङ्कारं कथमित्यर्थः । 'अन्यथैवं कथमित्थंसुसिद्धाप्रयोगश्चेदि'ति' कथंशब्दोपपदात्करोतेर्णमुल् । धार्यो धर्तुं ग्रहीतुं शक्य इत्यर्थः । 'शकि लिङ् चे'ति चकाराच्छक्यार्थे कृत्यप्रत्ययः । अनेन स्मरस्य सख्या सखिना तदुद्दीपकेन वयसा यौवनेन सखिशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। न खण्डितं न निवर्त्तितम् अहो विरुद्धवयसोरेकत्र समावेशादाश्चर्यमित्यर्थः । अत्राधार्यत्वस्य वसुधागतिवियद्विहारपदार्थहेतुकत्वादेकः काव्यलिङ्गभेदस्तथा शैशवाखण्डनस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वादपर इति सजातीयसङ्करः ॥ १५ ॥

केवल पृथ्वीपर चलनेवाली तुम आकाशमें विहार करनेवाले (इच्छापूर्वक चलनेवाले) मुझको किस प्रकार पकड़ सकती हो ? अर्थात् कथमपि नहीं पकड़ सकती । आश्चर्य है कि कामदेवके मित्र इस अवस्था (युवावस्था) ने तुम्हारे बचपनको नहीं दूर किया अर्थात् युवावस्थाके आनेपर भी तुम्हारा बचपन नहीं गया, यह आश्चर्य है । (अथवा—कामदेवतुल्य नलके मित्र इस पक्षीने अर्थात् मैंने तुम्हारे बचपनको खण्डित नहीं किया ?

अर्थात् प्रायः खण्डित ही कर दिया शीघ्र नलकी प्राप्ति होनेसे तुम अपना बचपन प्रायः दूर हुआ ही समझो। [तुम केवल पृथ्वीपर चलने वाली हो अर्थात् पृथ्वीपर भी इच्छापूर्वक सर्वत्र गमन करनेमें समर्थ नहीं हो और मैं आकाशमें भी केवल चलने ही वाला नहीं हूं, अपि तु विहार करनेवाला (इच्छापूर्वक सर्वत्र जाने वाला) हूँ—इस प्रकार तुम्हें केवल पृथ्वीपर चलनेसे और मुझे आकाशमें भी विहार करनेसे हम दोनोंकी गतिमें बहुत अन्तर है, अत एव तुम मुझे किसी प्रकार भी नहीं पकड़ सकती हो]॥ १५ ॥

सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः।
अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

अथ प्रस्तुतोपयोगितया निजान्वयं निवेदयति—सहस्रेति। सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य पत्रहंसा वाहनहंसाः तेषां वंशस्य कुलस्य वेणोश्च पत्राणि वाहनानि पर्णानि च 'वंशो वेणौ कुले वर्गे', 'पत्रं स्याद्वाहने पर्णे' इति च विश्वः। पतत्रिणः स्मः ब्रह्मवाहनहंसवंश्याः वयमित्यर्थः। अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशामस्मद्विधानां 'त्यदादिष्वि'त्यादिना दृशेः क्विन्, चाटुषु सुभाषितेषु ये रसाः शृङ्गारादयः त एव अमृतानि स्वर्लोके लोका जनाः, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। तेभ्यः इतरैर्मनुष्यैर्दुर्लभानि लब्धुमशक्यानीत्यर्थः ॥ १६ ॥

हम लोग कमलासन (ब्रह्मा) के वाहन (हंस) के वंशके सहायक पक्षी अर्थात् ब्रह्मा के वाहन हंसवंशके कुलमें उत्पन्न हंस हैं। हम जैसे लोगोंके प्रियवचन—रसरूपी अमृत स्वर्गलोकके लोगोंसे भिन्न लोगों (मर्त्यलोक या पातालमें निवास करनेवाले लोगों) को दुर्लभ हैं। (अतः मुझे यथाकथञ्चित् पकड़ने पर भी तुम मुझसे कोई लाभ नहीं उठा सकती)॥ १६ ॥

स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

अथ स्वाकारस्य कनकमयत्वे कारणमाह—स्वर्गेति। स्वर्गापगा स्वर्णदी तस्या हेममृणालिन्यस्तासां या नालाः काण्डाः यानि मृणालानि कन्दाश्च। अत्र नालामृणालशब्दस्य शब्दानुशासनं केषां शब्दानामितिवत्समासे गुणभूतेन सम्बन्धः सोढव्यः 'नाला नालमथास्त्रियावि'त्यमरवचनान्नालेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः न च तत्रापि सन्देहः। तद् व्याख्यानेषु देशान्तरकोशेषु च स्त्रीलिङ्गपाठस्यैव दर्शनात्। तथा च दशमे सर्गे प्रयोक्ष्यते 'मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया' इति, 'नाला स्याद्बिसकन्द' इति विश्वः, तेषामग्राणि भुञ्जत इति तद्भुजः वयमिति शेषः। अन्नानुरूपामाहारसदृशीन्तनोः शरीरस्य रूपऋद्धिं वर्णसमृद्धिम् 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः। भजामः प्राप्ताः स्म इत्यर्थः। तथा हि कार्यं जन्यं द्रव्यं निदानादुपादानात्, 'आख्यातोपयोग' इत्यपादानता गुणान् रूपादिविशेषगुणान् अधीते प्राप्नोतीत्यर्थः। प्राप्तिविशेषवाचि—

नस्तत्सामान्यलक्षणात् प्रायेण आहारपरिणतिविशेषपूर्विकाः प्राणिनां कायकान्तय इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १७ ॥

(हंस अब अपने स्वर्ण-शरीर होनेका कारण कहता है—) आकाशगङ्गाकी स्वर्ण-कमलिनीके नालके अग्रभाग (कमल तथा कमलदण्ड—बिस) को खानेवाले हम लोग अन्न (खाद्य पदार्थ) के अनुरूप शरीरके रूपकी समृद्धि अर्थात् स्वर्ण शरीर को प्राप्त किये हैं, क्योंकि कार्य कारणके गुणोंको प्राप्त करता है। [सुवर्णकमल तथा सुवर्णबिस भोजन करनेसे हम लोगोंका शरीर भी सुवर्णमय है। 'हम ऐसा बहुवचन कहकर बहुत-से हंसों का सुवर्णमय शरीर होना सूचित करता है] ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरस्सेवितुमागतेषु ।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥ १८ ॥

अथात्मनः क्ष्मालोकसञ्चरणे कारणमाह—धातुरिति । धातुर्ब्रह्मणो नियोगादादेशादिह भूलोके नैषधीयं नलीयं लीलासरः सेवितुं क्रीडासरसि विहर्तुमित्यर्थः । आगतेषु हैमेषु हेमविकारेषु । विकारार्थेऽण् प्रत्ययः । 'नस्तद्धित' इति टिलोपः । हंसेषु मध्ये अहमेक एव भूलोकविलोकने उत्कः उत्सुकः सन् 'दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यादुत्क उन्मना' इत्यमरः । उच्छब्दात्कन् प्रत्ययान्तो निपातः भ्रमामि पर्यटामि ॥ १८ ॥

(वह ब्रह्माका वाहन होनेपर मर्त्यलोकमें आनेका कारण बतलाते हुए नलका प्रसङ्ग भी उपस्थित करता है—) ब्रह्माकी आज्ञासे यहां (मर्त्यलोकमें) नलके क्रीडासरका सेवन करने (नलके क्रीडातडागमें विचरने) के लिए आये हुए सुवर्णमय हंसोंमें भूलोकको देखनेके लिए उत्कण्ठित अकेला मैं घूम रहा हूँ। [इससे हंसने नलके क्रीडासरमें बहुत-से सुवर्णमय हंसोंका होना और ब्रह्माकी आज्ञासे वहां निवास करना कहकर उसका अधिक महत्त्व सूचित किया है] १८ ॥

विधेः कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यस्स्वमहत्तरेभ्यः ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥१९॥

अनवरतभ्रमणेऽपि श्रमजये कारणमाह—विधेरिति । कदाचिद्विधेः ब्रह्मणो भ्रमणीविलासे भुवनभ्रमणविनोदे श्रमातुरेभ्यः अवसन्नेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः स्वकुलवृद्धेभ्यः स्कन्धस्यांसस्य, 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री'त्यमरः। विश्रान्तिमदां प्रादाम्। स्वयमेक एवाहमित्यर्थः। ददातेर्लुङि 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक्। तदादि तत्प्रभृति अविश्रममनवरतं 'नोदात्तोपदेशे'त्यादिना श्रमेर्घञि वृद्धिप्रतिषेधः, विश्वगो विश्वं गच्छन्नपि 'अन्यत्रापि दृश्यत' इति गमेर्डप्रत्ययः। न श्राम्यामि न खिद्ये ॥१९॥

('जब तुम भूलोकको देखनेके लिए उत्कण्ठित होकर घूमते हो तो अधिक थके हुए तुम्हारा पकड़ा जाना सम्भव है' इस दमयन्तीके मनोगत शङ्काका राजहंस खण्डन करता है—) किसी समय ब्रह्माके भ्रमण-विलासमें थकनेसे दुःखी अपनेसे बड़े (हंसों) के

लिए मैंने विश्राम दिया था तबसे (ब्रह्माके वरदानके कारण) निरन्तर संसारका भ्रमण करता हुआ भी मैं नहीं थकता हूँ ॥ १९ ॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषस्स्यात् ।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥२०॥

अथ व्याधादिवन्धनमपि न मेऽस्तीत्याह—बन्धायेति। मादृशि दिव्ये तिरश्चि विषये विरलोदयस्य दुर्लभजन्मनो नरस्य मर्त्यस्य प्रायेणैवंविधो नास्तीत्यर्थः। अन्यत्र विरो विगतरेफः स चासौ लोदयो लोदयवांश्च मत्वर्थीयोऽकारः। तस्य रेफ-स्थानाधिष्ठितलकारस्य नलस्येत्यर्थः। शब्दधर्मोऽर्थ उपचर्यते, भुज्यत इति भोगः सुखं स्वर्गभोगस्य स्वर्गसुखस्य भाग्यं तत्प्रापकादृष्टमित्यर्थः। स्वप्राप्तेस्तत्प्रापकत्वा-दिति भावः। तदेकं विना कश्चित् पाशादिः पाशाद्युपायः। बन्धाय बन्धनार्थमासा-दितपौरुषः प्राप्तव्यापारो न स्यात्। स्वर्भोगभाग्यैकसुलभा वयं, नोपायान्तरसाध्या इत्यर्थः। अस्मादृक्संसर्गादन्यः को नाम स्वर्गपदार्थ इति भावः॥ २०॥

('जाल आदिसे पक्षियोंका पकड़ा जाना सम्भव होनेसे तुम्हें भी पकड़ा जा सकता है' दमयन्तीके इस मनोगत शङ्काका निवारण करता हुआ हंस पुनः नलका प्रसङ्ग लाता है—) स्वर्गीय मुझ पक्षीको पकड़नेके लिए विरलोदय (विरल समृद्धि वाले) उस प्रसिद्ध नरके स्वर्गमें भोग करने योग्य भाग्यके विना कोई जाल आदि सामर्थ्यवान् (सफल) नहीं हो सकता। [पक्षा०—जिस 'नर' शब्दमें 'र' नहीं है और वहां 'ल' का उदय है, उस 'नर' अर्थात् 'नल' के स्वर्गमें भोग करने योग्य भाग्यके विना·······अर्थात् केवल नलका ही ऐसा स्वर्गीय भाग्य है कि मुझ-जैसे दिव्य पक्षीको पकड़नेमें समर्थ हो सके अन्य जाल आदि कोई भी मुझे नहीं पकड़नेमें समर्थ होगा. मुझे पकड़नेके लिए तुम्हारा प्रयास करना व्यर्थ है]॥ २० ॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्यास्स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः।
महीरुहो दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

तच्च भाग्यं नलस्यैवास्तीत्याह—इष्टेनेति। इष्टेन यागेन पूर्तेन खातादिकर्मणा च। 'त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणि'इत्यमरः। वश्याः वशङ्गता इति प्रागुदी-च्यतीयो यत्प्रत्ययः। अमर्त्या देवा नलस्यात्रापि भूलोके स्वर्भोग सृजन्ति स्वर्गसुखं सम्पादयन्तीत्यर्थः। ननु देवाश्च कथं लोकान्तरकायान्तरभोग्यं स्वर्गमिदानीं सृजन्ती-त्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति। महीरुहो वृक्षाः दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य सेकस्य जलसेकस्य शक्तेः सामर्थ्यात् समानकालावाद्यन्तौ उत्पत्तिविनाशावस्येत्या-कालिकः उत्पत्त्यनन्तरविनाशीत्यर्थः। 'आकालिकडाद्यन्तवचने' इति समानकाल-शब्दस्याकालशब्दादेशो ठञ्प्रत्ययान्तो निपातः। प्रकृते स्वकालभवं कोरकमुद्गिर-न्तीत्यर्थः। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं

स्यांत्तु तत्क्रिया' इति शब्दार्णवे। दोहदवशाद् वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्यवशाद्देशकालेऽपि फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २१ ॥

(अब दो श्लोकों (३।२१–२२) से मर्त्यलोकवासी भी नलके स्वर्भोग्य भाग्यका प्रतिपादन करता है—) देवलोग यागादि तथा तडाग–वाटिकादिसे नलके वशीभूत होकर यहां पर (इस भूलोकमें) भी स्वर्गीय भोगकी रचना करते हैं, क्योंकि वृक्ष भी दोहद सेकके प्रभावसे असमयमें कलिकाको उत्पन्न करते हैं । अथवा—जब अमर्त्य (मनुष्यभिन्न) जड वृक्ष भी इष्ट (दोहद–धूप खाद आदि देने) तथा पूर्त्त (थालामें पानी आदि देने) से असमयमें कलिकाको देते हैं, तब सर्वशक्ति सम्पन्न देवगण यज्ञ तथा वापी–कूप–तडागारामादिसे प्रसन्न होकर मर्त्यलोकमें भी नलके लिए स्वर्गीय भोग देते हैं, इसमें कौन-सा आश्चर्य है ?) ॥ २१ ॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः ।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः ॥ २२ ॥

स्वर्भोगमेवाह–सुवर्णेति । सुवर्णशैलान्मेरोस्तूर्णमवतीर्य्य अवरुह्य स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः मन्दाकिनीजलबिन्दुसम्पृक्तैः चामरेषु बद्धसंख्यैस्तत्सदृशैः पक्षैः पतत्रैः स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः ताद्दक्पक्षवीजनैःसुरतश्रान्तिमपनुदाम इत्यर्थः ॥२२॥

देवों (या—चामर) के साथ मित्रता करनेवाले हम लोग (मुझ–जैसे बहुत–से सुवर्णमय हंस) काम-क्रीडाके समय सुमेरुपर्वतसे शीघ्र उतरकर आकाशगङ्गाके जलकणसे आर्द्र पङ्खों द्वारा उस (नल) को हवा करते हैं [उपर्युक्त श्लोकमें देवलोग नलके स्वर्ग–भोगकी रचना करते हैं, तथा इस श्लोकमें कथित हवा करनेसे हम लोग स्वर्गभोगकी रचना करते हैं, अत एव हमारा तथा देवोंका नलके लिए स्वर्गीय भोगरचनारूप एक कार्य होनेसे परस्परमें मैत्री होना उचित ही है, तथा राजा नलका चामरके द्वारा हवा की जाती है, और हम लोग पङ्खों द्वारा हवा करते हैं, अतः समान कार्य होनेसे चामरके साथ भी हमारी मित्रता होना उचित ही है] ॥ २२ ॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥२३॥

क्रियेतेति । साधुविभक्तिचिन्ता सज्जनविभागविचारः क्रियेत चेत्सा नलाभिधाना व्यक्तिः मूर्तिः प्रथमाभिधेया प्रथमं परिगणनीया । कुतः या व्यक्तिः स्वौजसां विलासैर्व्यासिभिः तावद्बहु तथा प्रभूतं नास्ति नामो नतिर्यस्येति–अनाममनम्रं पदं परराष्ट्रं साधयितुं स्वायत्तीकर्तुं क्षमा समर्था स्यात् । अन्यत्र साधुविभक्तिचिन्ता सप्तविभक्तिविचारः क्रियेत चेत् यदा सा प्रथमा व्यक्तिः अभिधेया विचार्य्या, या स्वौजसां 'सु औ जस्' इत्येषां प्रत्ययानां विलासैः विस्तारैस्तावद्बहु अनेकं नामपदं सुबन्तपदं 'वृक्ष' इत्यादिकं पदं साधयितुं निष्पादयितुं क्षमा । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियमित्वात्(?)लक्षणायाश्चानुपपत्त्यभावेनाभावादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव ॥२३॥

यदि सज्जनोंके विभाजनका विचार किया जाय तो वह (नल) प्रथम व्यक्ति होगा, जो अपने पराक्रमके विलासोंसे बहुत-से शत्रुस्थानोंको वशमें करनेके लिए समर्थ है। (पक्षा०—यदि ('सुप्-तिङ्' रूप) साधु विभक्तिका विचार किया जाय तो 'प्रथमा' नाम से प्रसिद्ध वह व्यक्ति होगी, जो 'सु-औट्-जस्' (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन) के विलासोंसे बहुत-में 'नाम' अर्थात् प्रातिपादिक पदोंको सिद्ध करनेके लिए समर्थ है । 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (पा० सू० २।३।४६) के नियमानुसार सब विभक्तियोंमें-से किसी विभक्ति-विशेषकी प्राप्ति नहीं रहनेपर 'प्रातिपदिकार्थ' में प्रथमा विभक्तिका प्रयोग सामान्यतः होता है, अत एव वह प्रथमा विभक्ति ही 'सु-औ-जस्' रूप प्रत्ययोंके विसर्गलोप, वृद्धि, दीर्घ आदि कार्योंके विलाससे 'प्रातिपदिक' पदको सिद्ध करने में समर्थ होती है । अथ च—यदि एकवचन आदि विभक्तियोंमें साधु विभक्तियोंका विचार किया जाय तो 'सु' औ, जस्' के बीचमें प्रथमा (पहली) विभक्ति अर्थात् 'सु' विभक्ति होगी, जो अपने विसर्ग-लोपादिरूप बलके विलासोंसे प्रातिपदिक पदको सिद्ध करनेके लिए बहुत समर्थ है । 'अपदं न प्रयुञ्जीत', 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते' अर्थात् अपद (साधुत्व-हीन) शब्दका प्रयोग नहीं करना चाहिये, एकवचनका प्रयोग स्वभावतः (किसी विभक्ति-विशेषकी आकाङ्क्षा नहीं रहने पर भी स्वतः एव) किया जाता है' इस सिद्धान्तके अनुसार 'सु, औ, जस्' विभक्तियोंमें भी पहली 'सु' विभक्ति सब प्रातिपदिक पदको सिद्ध करने के लिए सर्वथा समर्थ है] ॥ २३ ॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वराज्योपमयेव राज्यम् ।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम् ॥ २४ ॥

राजेति । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्', 'सुयजोर्ङ्वनिप्,' श्रिताः आश्रिताः ये श्रोत्रियाः छान्दसा अधीतवेदा इत्यर्थः । 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समावि'त्यमरः । 'श्रोत्रियञ्छन्दोऽधीत' इति निपातः । तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता श्रीः सम्पद्येन सः राजा नलः अध्वरेषु यदाज्यन्तदुपमया तत्सादृश्येनैव तद्वदेवेत्यर्थः । राज्यं विबुधा देवा विद्वांसश्च तद्व्रजत्रा दानेन तत्सङ्घाधीनं कृत्वा 'देये त्रा चे'ति चकारादितरत्र सातिप्रत्ययश्च, 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिरि'त्यव्ययत्वम्, पूर्वं पूर्वनिर्दिष्टमध्वराज्यं शेषं हुतशेषं भुङ्क्ते अन्त्यं पश्चान्निर्दिष्टं राज्यन्त्वशेषं कृत्स्नमखण्डं भुङ्क्ते, अहो उपयुक्तादन्यः शेषः पूर्वस्याशेषस्य तथात्वम्, अन्त्यस्य अशेषत्वं कथं विरोधादित्याश्चर्यम्, अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः, अखण्डमिति परिहारः ॥ २४ ॥

आश्रयस्थ श्रोत्रियों (वेदपाठियों) के अधीन करनेवाले अर्थात् वेदपाठियोंको धन-दान करनेवाले तथा सविध यज्ञकर्ता वे (राजा नल) यज्ञ के घीके दृष्टान्तसे ही राज्यको विद्वत्समूह (पक्षा०—देवसमूह) के अधीन करके पहले (यज्ञशेष घृत) को शेष (बचा हुआ) तथा अन्तिम (राज्य) को अशेष (सम्पूर्ण) भोग करते (खाते, पक्षा०—भोगते)

हैं, यह आश्चर्य है । [राजा नल आश्रयमें रहनेवाले श्रोत्रियों (जन्म, संस्कार तथा विद्यासे युक्त ब्राह्मणों) को धन देकर जिस प्रकार यज्ञके घृतको विबुधों (देवों) के समूहके अधीन करते (उन्हें देते हैं, उसी प्रकार राज्यको भी विबुधों (विशिष्ट विद्वानों) के समूहके अधीन करके प्रथम अर्थात् यज्ञघृतको शेष (यज्ञ-कर्मसे बचा हुआ) भोजन करते हैं तथा अन्तिम (राज्य) को अशेष (सम्पूर्ण) भोग करते हैं, यह आश्चर्य है, क्योंकि 'जो वस्तु पहले खायी जाती है, वह सम्पूर्ण तथा जो बादमें खायी जाती है, उसे असम्पूर्ण खाया जाता है' ऐसा साधारण लौकिक नियम है, किन्तु ये राजा नल पूर्व (यज्ञ-घृत) को शेष तथा अन्तिम (राज्य) को सम्पूर्ण भोजन करते (पक्षा०—भोगते) हैं अतः आश्चर्य है । अथ च—सर्वसाधारणके भोज्य होनेसे मार्गमें जो राज्य, तत्सामान्यतः राज्यका भोग करनेवाले ये नल राज्यको अशेष (सम्पूर्ण) भोग करते हैं यह आश्चर्य है । विधिवत् हवनकर आश्रित श्रोत्रियोंको धन देनेवाले तथा समुद्रावधि सम्पूर्ण राज्यको भोगनेवाले राजा नल हैं] ॥ २४ ॥

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥ २५ ॥

दारिद्र्येति । दारिद्र्यं दारयति निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्यदारिणो द्रविणौघस्य धनराशेर्वर्षैरर्थिसार्थे विषये अमोघमेघव्रतं वर्षुकत्वलक्षणं यस्य तं सन्तुष्टं दानहृष्टमिष्टदेवं यज्ञाराधितसुरलोकनाथं तं नलं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ? न याचन्ते सर्वेऽपि नाथन्त्येवेत्यर्थः । नाथतेर्याच्ञार्थस्य दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

दरिद्रताको दूर करनेवाले धनराशिकी वर्षाओंसे याचक-समूहमें सफल व्रतवाले, (दान कर्मसे) सन्तुष्ट, देव-यज्ञकरनेवाले (या-देव हैं अभीष्ट देव जिसके ऐसे, या—(याचकोंके लिए अभीष्ट देवरूप) उस राजा (नल) से कौन लोग अभीष्ट (आदि) की प्रार्थना नहीं करते हैं ? अर्थात् राजा नलसे सभी लोग अभिलषित धनादिको चाहते हैं । [जिस प्रकार याचना करनेपर मेघ वर्षासे धान्योत्पादनके द्वारा सभी लोगोंकी दरिद्रताको दूर करता है, उसी प्रकार राजा नल भी अधिक धन देकर सभी याचकोंकी दरिद्रताको दूर करते हैं, अतएव मेघके समान दरिद्रताको दूर करनेसे नल का व्रत (नियम) सफल है] ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य ।
तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६ ॥

अस्मदिति । सा प्रसिद्धा रम्भा नलस्यातुलामनुपमां भां सौन्दर्यमस्मत् मत्तः श्रोत्रसुधां विधाय कर्णे अमृतं कृत्वा रसादाकर्ण्येत्यर्थः । तत्र तस्मिन्नले अनुरक्ता सती तं नलमनाप्य अप्राप्य, आङ्पूर्वादाप्नोतेः क्त्वो ल्यबादेशः नञ्समासः । अन्यथा क्त्वसमासे ल्यबादेशो न स्यात् तन्नामगन्धात्तस्य नलस्य नामाक्षरसंस्पर्शाद्धेतोर्नलकूबरं कुबेरात्मजं भेजे किल । तादृक्तस्य सौन्दर्यमिति भावः ॥ २६ ॥

वह (सुप्रसिद्ध स्वर्गीय) रम्भा नामकी अप्सरा हमलोगोंसे नलकी अनुपम शोभाको बहुत देरतक सुनकर उनमें अनुरक्त हुई, और उनको नहीं पाकर उनके नामके कुछ भाग होनेसे नलकूबरकी सेवा करने लगी (नलकूबरको पतिरूपमें प्राप्त कर उनकी सेवामें लग गयी)! [लोकमें भी अभीष्ट वस्तुको पूर्णतः नहीं प्राप्त होनेपर उसके सदृश वस्तुको प्राप्त कर उसीकी सेवा करते लोगोंको देखा जाता है]॥ २६ ॥

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय।
हा हेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत ॥२७॥

स्वर्लोकमिति। केलीषु विनोदगोष्ठीषु तस्य नलस्य कर्तुर्गाने गुणान्निपीय इतः अस्माल्लोकात् स्वर्लोकं प्रयातैरस्माभिर्हरिगायनः इन्द्रगायको गन्धर्वः 'ण्युट् चे'ति गायतेः शिल्पिनि ण्युट्प्रत्ययः। गायन् यद्यस्मात् हाहेत्यशोचि, ततस्तेनैव कारणेन नाम्ना हाहा अभूत्, आलापाक्षरानुकारादिति भावः। 'हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसामि'त्यमरः। 'आलापाक्षरानुकारनिमित्तोऽयमाकारान्तः पुंसि चे'ति केचित्। 'हाहा खेदे हूहू हर्षे गन्धर्वेऽमू अनव्यय' इति विश्वः। अव्ययमेवेति भोजः। अत्र शोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धादतिशयोक्तिः। तथा च गन्धर्वातिशायि गानमस्येति वस्तु व्यज्यते॥ २७॥

क्रीडाके समयमें उस (नल) के गानेके गुणोंको अच्छी तरह पीकर अर्थात् सुनकर यहां (मर्त्यलोक) से स्वर्गको गये हुए हम लोगोंने (स्वर्गमें गान करते हुए गन्धर्वको) जो 'हा, हा', सोचा (राजा नलके गानेकी तुलनामें तुम्हारा गाना अत्यन्त तुच्छ है, इस अभिप्रायसे जो 'हा, हा ! कहा) तो उस इन्द्रके गन्धर्वका नाम ही 'हा हा' पड़ गया। राजा नल गान विद्यामें भी 'हा हा' नामक स्वर्गीय गन्धर्वसे अधिक निपुण है.]॥ २७॥

शृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजायाः।
पुण्येन नालोकत नाक[1]पालः प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमालः॥ २८॥

शृण्वन्निति। नाकपाल इन्द्रः सदारः सवधूकः तस्य नलस्य उदारभावमौदार्यं शृण्वन्नत एव प्रमोदबाष्पैरानन्दाश्रुभिरावृतनेत्रमालस्तिरोहितदृष्टिव्रजः सन् पुलोमजायाः शच्याः मुहुर्हृष्यन्नलानुरागादुल्लसल्लोमरोमाञ्चं पुण्येन शच्या भाग्येन नालोकत नापश्यत् अन्यथा मानसव्यभिचारापराधाद् दण्ड्यैवेत्यर्थः॥ २८॥

स्त्री (इन्द्राणी) के साथ नलकी उदारताको सुनते हुए (हर्षाश्रुसे व्याप्त नेत्र-समूह वाले) इन्द्रने इन्द्राणीके बार-बार पुलकित होते हुए रोमको (नलमें अनुराग होनेसे उत्पन्न इन्द्राणी के रोमाञ्चको, इन्द्राणीके) पुण्य (भाग्यातिशय) से नहीं देखा [अन्यथा यदि इन्द्राणीके रोमाञ्चको इन्द्र देख लेते तो नलमें अनुरक्त होनेसे इसे शृङ्गारसम्बन्धी रोमाञ्चरूप सात्त्विकभाव हो रहा है, अत एव यह पतिव्रता नहीं है, ऐसा समझकर उसका त्यागकर

---

१. 'लोकपाल' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।

देते, किन्तु स्वयं नलगुणको सुननेसे हर्षोत्पन्न अश्रुसे भरे हुए नेत्र होनेके कारण उस रोमाञ्चको इन्द्र नहीं देख सके यह इन्द्राणीका भाग्य समझना चाहिये अथवा—नलकी उदारताको सुनते हुए बार-बार प्रसन्न अर्थात् रोमाञ्चित होते हुए हर्षाश्रुसे व्याप्त नेत्र-समूहवाले इन्द्रने इन्द्राणीके रोमाञ्चको इन्द्राणीके पुण्यसे नहीं देखा] ॥ २८ ॥

साऽपीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भुः ।
अभूदपर्णाऽङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ? ॥ २९ ॥

सेति । ईश्वरे हरे प्रसह्य चेतो हरतो बलान्मनोहारिणस्तस्य नलस्य गुणौघान् शृण्वति सति सा प्रसिद्धा अर्धं शम्भोरर्धशम्भुः शम्भोरर्धाङ्गभूतेत्यर्थः । तथा चाप-सरणमशक्यमिति भावः । अपर्णा पार्वत्यपि कदा कण्डूयनकैतवेन कण्डूनोदनव्या-जेन अङ्गुल्या रुद्धः पिहितः कर्णो यया सा नाभूत अभूदेवेत्यर्थः । अन्यथा चित्तचल-नादिति भावः ॥ २९ ॥

चित्तको बलात्कारपूर्वक हरण (वशीभूत) करते हुए, नलके गुण-समूहोंकी शङ्करजीके सुनते रहनेपर अर्द्धशम्भु वह (पतिव्रताओंमें सुविख्यात) पार्वती कान खुजलानेके छलसे कब अङ्गुलिसे कानको नहीं बन्द कर लेती है ? [शङ्करजीका आधा शरीर पार्वती हैं, अतएव जब शङ्करजी नलके गुण-समूहोंको सुनने लगते हैं, तब नलके गुण-समूह बला-त्कारपूर्वक (इच्छा नहीं रहनेपर भी) पार्वतीके चित्तको आकृष्ट करते हैं, और उस चित्ता-कर्षणसे पार्वतीको पातिव्रत्यके भङ्ग होने का भय उत्पन्न हो जाता है, अतएव आधे शरीरमें रहनेसे अन्यत्र जानेमें अशक्त पार्वती कान खुजलानेके छलसे अपने कानको बन्द कर लेती है कि न मैं नलके गुण-समूहोंको सुनूंगी और न मेरा पातिव्रत्य भङ्ग होगा] ॥२९॥

अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्गय रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥३०॥

अलमिति । विधाता ब्रह्मा अलमत्यन्तं धर्म्मविधौ सुकृताचरणे सजन् धर्मासक्तः सन्नित्यर्थः । वाणीं स्वभार्य्यां वाग्देवीं वर्णात्मिकाञ्च मौनस्य वाग्यमनव्रतस्य मिषेण रुणद्धि नलकथाप्रसङ्गान्निरुन्धे, तस्या उभय्या अपि तदासङ्गभयादिति भावः । किन्तु वेदजडः छान्दसः विधाता तामुभयीमपि वाणीं तस्य नलस्य कण्ठं ग्रीवा-मालिङ्गय सुखमाश्रित्य च रसस्य तृप्तां तद्रागसन्तुष्टामन्यत्र शृङ्गारादिरसपुष्टाञ्च । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, 'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीनिषेधादेव ज्ञापकादिति केचित् । वक्रां प्रतिकूलकारिणीं वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्ताञ्च न वेद न वेत्ति, 'विदो लटो वे'ति णलादेशः । अशक्यरक्षाः स्त्रिय इति भावः । अत्र प्रस्तुतवाग्देवीकथनादप्रस्तुतवर्णा-त्मकवाणीवृत्तान्तप्रतीतेः प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३० ॥

धर्मकार्यमें अत्यन्त आसक्त ब्रह्मा मौनके छलसे वाणी (स्त्री-पक्षा०-वचन) को अत्यन्त रोकते हैं (बाहर जाकर मेरी प्रिया यह वाणी पुरुषान्तर के पास चली जायेगी

यह गूढाभिप्राय मन में रखकर धर्मके कपटसे वाणीको अच्छी तरह ब्रह्मा रोकते हैं अर्थात् मौन रहते हैं। पक्षा०—स्त्रीको रोकते हैं। या—……छलसे जो वाणीको रोकते हैं, वह व्यर्थ है) किन्तु वेदाध्ययनसे जड (वाणीके कपटको नहीं समझनेवाले) वे (ब्रह्मा) उस (नल) के कण्ठका आलिङ्गनकर रस (शृङ्गारादि) से सन्तुष्ट वक्रा (कुटिला, पक्षा०—वक्रोक्तिरूपा) उस वाणीको नहीं जानते हैं। [दूसरा भी मूर्ख पुरुष अन्य-पुरुषासक्ता कुटिला स्त्रीको नहीं समझता है। नल ही वक्रोक्तिपूर्ण वाणीको जानते हैं, दूसरा कोई नहीं]॥ ३०॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः काऽपि पतिव्रतायाः।
समस्तभूतात्मतया न भूतं तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाऽणुनाऽपि॥ ३१॥

श्रिय इति। पतिव्रतायाः श्रियः श्रीदेव्याः तद्भर्तुर्विष्णोः समस्तभूतात्मतया सर्वभूतात्मकत्वेन नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थः। तदालिङ्गनभूर्नलाश्लेषभवा कापि व्रतक्षतिः पातिव्रतभङ्गो न भूता नाभूत्। अतएव तद्भर्तुर्विष्णोश्च ईर्ष्यया नलालि-ङ्गनभुवा अक्षमया यत्कलुषं कालुष्यं मनःक्षोभः दुःखादित्वेन अस्य धर्मधर्मिवचन-त्वादत एव क्षीरस्वामी 'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च'त्यत्र आदि-शब्दाच्छ्रेयःकलुषशिवभद्रादय इति उभयवचनेषु संजग्राह। तस्याणुना लेशेनापि न भूतं नाभावि। नपुंसके भावे क्तः। अत्र शय्यादिचित्तचाञ्चल्योक्तेर्नलसौन्दर्ये तात्पर्याज्ज्ञानौचित्यदोषः॥ ३१॥

(विष्णुको) समस्त भूतोंका स्वरूप होने से (नलमें भी विष्णु-स्वरूप रहने के कारण) पतिव्रता लक्ष्मी (शरीर-शोभा या—राज्यलक्ष्मी) की उस (नल) के आलिङ्गन करनेसे थोड़ी भी व्रतहानि (पातिव्रत्य में न्यूनता) नहीं हुई, तथा उस (लक्ष्मी) के पति (विष्णुभगवान्) को भी (अपनी प्रिया लक्ष्मीको नलका आलिङ्गन करनेपर) असूयानि-मित्तक पापलेश भी नहीं हुआ [समस्तभूतात्मा विष्णु भगवान्‌के स्वरूप नलका आलिङ्गन करने पर लक्ष्मीका पातिव्रत्य धर्म भङ्ग नहीं हुआ और उनके पति विष्णु भगवान् भी लक्ष्मीपर लेशमात्र रुष्ट भी नहीं हुए; अन्यथा यदि नल परपुरुष होते तो लक्ष्मीका पतिव्रत धर्म नष्ट हो जाता तथा परपुरुष का आलिङ्गन करनेवाली लक्ष्मीपर उनके पति विष्णुभगवान् भी बहुत रुष्ट होते। नलके सम्पूर्ण शरीर में शोभा थी॥ ३१॥

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम्।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम्॥३२॥

धिगति। तमजातलज्जं निस्त्रपं विधेः पाणिं धिक् यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीरपि पर्वणि जातावेकवचनं पर्वस्वित्यर्थः। पूर्णमिन्दुं निर्माति अद्यापीति भावः। स विज्ञः अभिज्ञ इति मन्ये यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीः सन् तमिन्दुं कृतः अर्द्धं एकदेशो यस्य तं कृतार्द्धमर्द्धनिर्मितमेव भवमूर्ध्नि हरशिरसि औज्झत्। अतिसौन्दर्ययुक्त-मस्यास्यमिति भावः॥ ३२॥

ब्रह्माके निर्लज्ज उस हाथको धिक्कार है, जो पूर्णिमामें पूर्ण चन्द्र की रचना करता है, तथा (ब्रह्माके) उस हाथको मैं निपुण मानता हूँ, नलके मुखकी शोभाको स्मरण किये हुए जिस (ब्रह्माके हाथ) ने उस (चन्द्रमा) को शिवजीके मस्तकपर फेंक दिया। (अथवा नलके मुखकी शोभाको स्मरण किये हुए निर्लज्ज उस ब्रह्माके हाथको धिक्कार है, जो पूर्णिमामें पूर्ण चन्द्रकी रचना करता है,……)। [यद्यपि पूर्ण कला वाले चन्द्रमाकी रचना ब्रह्माका जो हाथ करता है, वही एक कलावाले भी चन्द्रमाकी रचना करता है, तथापि तिथिरूप कालभेदसे ब्रह्माके हाथमें भिन्नताका आरोप किया गया है। नलका मुख पूर्ण चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर है]॥ ३२॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे॥ ३३॥

निलीयत इति। विधुश्चन्द्रःस्वस्य जैत्रं, तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः। तस्य नलस्य मुखं नोऽस्माकं मुखाच्छ्रुत्वा ह्रीविधुरः लज्जाविधुरः सन् कदापि सूरे सूर्ये दर्शेष्वित्यर्थः, कदापि समुद्रस्य पूरे प्रवाहे तदुत्पन्नत्वात् कदाचिदभ्रभ्रमदभ्र-गर्भे आकाशे सञ्चरमाणमेघोदरे निलीयते अन्तर्धत्ते, न कदाचिदग्रतः स्थातुमुत्सहत इति भावः। अत्र विधोः स्वाभाविकसूर्य्यादिप्रवेशे पराजयप्रयुक्तह्रीनिलीनत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या॥ ३३॥

हम लोगोंके मुखसे उस नलके मुखको स्वविजयी (चन्द्रमाको जीतनेवाला) सुनकर लज्जासे विकल होकर वह चन्द्रमा किसी समय (अमावस्या तिथिको) सूर्यमें, किसी समय (अस्त होनेके समयमें) समुद्र-प्रवाहमें तथा किसी समय (वर्षाऋतुमें) बादलोंके बीचमें छिप जाता है। [लोकमें भी कोई दुर्बल व्यक्ति लज्जासे दुःखी होकर अपने विजयीके सामने नहीं होता और अलक्षित स्थानमें छिपा करता है]॥ ३३॥

संज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्यारिरत्यब्जनलास्यनुत्यै।
तत्संकुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम्॥ ३४॥

संज्ञाप्येति। दैत्यारिः विष्णुः स्वध्वजस्य गरुडस्य पक्षिराजस्य भृत्यवर्गान्नोऽस्मान् अतिक्रान्तमब्जमत्यब्जमब्जविजयीत्यर्थः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति समासः। तस्य नलास्यस्य नुत्यै स्तोत्राय, 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिरि'त्यमरः। संज्ञाप्य तत्सङ्कुचता तया नुत्या निमीलतानाभिसरोजेन पीतात्तिरोहिताद्धातुर्ब्रह्मणो विलज्जं यथा तथा रमायां रमते। अत्र विष्णोरुक्तव्यापारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्ते-रतिशयोक्तिः॥ ३४॥

विष्णुभगवान् अपनी ध्वजामें (स्थित पक्षिराज गरुड़के) भृत्य-समूह हमलोगों (ब्रह्माके वाहनभूत हंसों) को नलके कमलातिशायिनी मुख-शोभाका वर्णन करने के लिए संकेतकर उस (नलके मुखकी स्तुति) से सङ्कुचित होते हुए नाभिकमलमें अन्तर्हित

ब्रह्मासे लज्जाका त्यागकर लक्ष्मीमें रमण करते हैं। [विष्णु भगवान्‌की पताकामें पक्षियोंके स्वामी गरुड़ रहते हैं, अतएव वे विष्णु भगवान् गरुड़के भृत्य-समूह हमलोगोंके कमल-शोभाको जीतने वाले नल-मुखकी प्रशंसा करनेके लिए सङ्केत कर देते हैं और जब हम लोग नलके मुखकी प्रशंसा करने लगते हैं तो उनके नाभिका कमल स्वविजयी नल-मुखके भय या लज्जासे मुकुलित हो जाता है और कमलपर रहनेवाले ब्रह्मा उसीके भीतर बन्द हो जाते हैं, अत एव विष्णुभगवान् पितामहका साक्षात्कार नहीं होनेसे लज्जा छोड़कर लक्ष्मीके साथ रमण करने लगते हैं] ॥ ३४ ॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः।
चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः ॥३५॥

रेखाभिरिति। अस्य नलस्य आस्ये दन्तमयीभिर्दन्तरूपाभिर्द्वात्रिंशता रेखाभि-र्गणनात्संख्यानाच्चतुर्दश चाष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र आस्ये सन्ति सम्भव-न्न्यायेनेति वेधाः शशंसेवेत्युत्प्रेक्षा। 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्रं परं तस्माद्विद्या ह्यष्टादश स्मृताः ॥' इति ॥ ३५ ॥

ब्रह्माने इस (नल) के मुखमें दन्तमयी बत्तीस रेखाओंके द्वारा गिननेसे इस (नलके मुख) में चौदह तथा अट्ठारह—दोनों प्रकारकी विद्याएँ हैं, मानों ऐसा कह दिया है। [नलके मुखमें बत्तीस दाँत नहीं हैं, किन्तु इसमें स्थित दोनों प्रकारकी विद्यायें रहती हैं, इस बातको ब्रह्माने बत्तीस रेखाओंको करके कहा है। नलके मुखमें बत्तीस दाँत हैं पूरे बत्तीस दाँत वाले मनुष्यका कथन सर्वदा सत्य होता है, ऐसा सामुद्रिक शास्त्रका वचन है, अतः नलका सदा सत्यवक्ता होना सूचित होता है] ॥ ३५ ॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्राविव न स्मरामः।
वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥ ३६ ॥

श्रियाविति। तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ सौन्दर्यसम्पदौ निरीक्ष्य, 'शोभासम्पत्ति-पद्मासु लक्ष्मीः श्रीरि'ति शाश्वतः। स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः किं च तस्मिन्नरेन्द्रे क्षमयोः क्षितिक्षान्त्योः 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमे'त्यमरः। सम्यग्वासेन निर्बाधस्थित्या शेषबुद्धौ फणिपतिबुद्धदेवौ चित्ते न दध्मः न धारयामः खलु। अत्र द्वयोरपि श्रियोः द्वयोरपि क्षमयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः। एतेन सौन्दर्यादिगुणैः स्मरादिभ्योऽ-प्यधिक इति व्यतिरेको व्यज्यते। श्लेषयथासंख्ययोः सङ्करः ॥ ३६ ॥

उस राजा (नल) की शरीर-शोभा तथा राज्यलक्ष्मीको देखकर हम लोग कामदेव तथा देवेन्द्रका भी स्मरण नहीं करते हैं, तथा उस राजा (नल) में पृथ्वी तथा क्षमा (तितिक्षा) के निवास करनेसे शेषनाग तथा बुद्धको भी बुद्धिमें नहीं लाते। [नल शरीरकी शोभामें कामदेवसे तथा राज्यैश्वर्यमें इन्द्रसे, एवं पृथ्वीभारवहन करनेमें शेषनागसे

और क्षमा करनेमें बुद्ध भगवान्‌से भी अधिक श्रेष्ठ हैं; अत एव हमलोग कामदेवादिका स्मरणतक भी नहीं करते । [लोकमें भी श्रेष्ठ वस्तुको पाकर लोग निकृष्ट वस्तुका स्मरण नहीं करते हैं] ॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैस्समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥ ३७ ॥

विनेति । पतत्रं विना स्थितैरिति शेषः । विनतातनूजैः वैनतेयैः, अपक्षताद्यैरित्यर्थः । ईक्षणलक्षणीयैः समीरणैश्चाक्षुषवायुभिः अनणुप्रमाणैः 'अणुपरिमाणं मन'इति तार्किकाः, तद्विपरीतैर्महापरिमाणैर्मनोभिर्वैनतेयादिसमानवेगैरित्यर्थः । एवंविधैः तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिताऽऽसीत् ? सर्वापि लङ्घितैवासीदित्यर्थः । अत्राश्वानां विशिष्टवैनतेयादित्वेन निरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ३७ ॥

पङ्खोंके विना गरुड़रूप, नेत्रोंमें दृश्यमान वायुरूप तथा अणुपरिमाणसे भिन्न (विशाल) मनरूप—नलके घोड़ोंने किस दिशाको पार नहीं किया है ? अर्थात् उक्तरूप नलाश्व सब दिशाओंके पार तक जाते हैं । [पङ्खोंके सहित गरुड़, नेत्रका अगोचर वायु तथा अणुप्रमाण मन ही सब दिशाओंको शीघ्र पार करनेमें समर्थ हैं, किन्तु नलके घोड़े पक्षादि से हीन होते हुए भी शीघ्र सब दिशाओंके पारतक जाते हैं] ॥ ३७ ॥

संग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्रैर्नदीमातृकतां गतासु ।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिस्सुभिक्षम् ॥ ३८ ॥

संग्रामेति । अरीणामस्रैरसृग्भिर्नद्येव माता यासां तास्तासां भावस्तत्ता नदीमातृकता नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढ्यता, 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः । स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्' इत्यमरः । 'नद्यृतश्च' इति कप्, 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' इति पुंवद्भावः । तां गतासु संग्रामभूमीषु तस्य नलस्य बाणधारा बाणपरम्परास्ता एव पवनाशनास्तेषां राजव्रजीयैः राजसंघसम्बन्धिभिः, 'वृद्धाच्छः' । असुभिः प्राणवायुभिः सुभिक्षम् । भिक्षाणां समृद्धिर्भवति समृद्धावव्ययीभावः : नदीमातृकदेशेषु सुभिक्षं भवतीति भावः । रूपकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

शत्रुओंके रक्तसे नदीमातृकत्वको प्राप्त युद्धभूमिमें राज-समूहके प्राणोंसे उस (नल) के बाणधारारूपी सर्पोंके लिए सुभिक्ष होता है । [नदी नहर आदिके जलसे जहाँ खेतों की सिंचाई होती है, उन्हें 'नदीमातृक' देश कहते हैं । ऐसे स्थानोंमें खेती करनेवाले किसानोंके लिए सुभिक्ष होता है—अकाल पड़नेका भय नहीं होता । प्रकृतमें नल युद्धमें शत्रुओंको बाणवृष्टिकर मारते हैं, उनके शत्रुओंके रक्त-प्रवाहसे युद्धभूमि द्रावित हो जाती है, अत एव वहाँ मानों अच्छी तरह सिंचाई हो जाती है । नलके बाणोंकी वृष्टिधारा ही वायुभक्षण कर्ता (सर्प) है और शत्रु-राजाओंके प्राण वायुरूप है, अत एव नलके बाणों की वृष्टिधारारूप पवनभक्षी सर्प मृत राजाओंके प्राणरूप वायुका भक्षण करते हैं, इस

प्रकार उनके लिए मानो नदीमातृक युद्धभूमिमें सुभिक्ष होता है। युद्धमें नल बाणवर्षाकर बहुत-से शत्रुओंको मार गिराते हैं]॥ ३८॥

यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगाली कूलंकषत्वं व्यसनं तदीयम्॥ ३९॥

यश इति। संयुगेषु समरेषु कण्डूलभावं कण्डूलत्वं, 'सिध्मादिभ्यश्चे'ति मत्वर्थीयो लच्। भजता अस्य भुजेन यद्यशः अजनि जनितं, जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। तदीयं तस्य यशःसम्बन्धि दिशः एव आपगाः नद्यः तासामालिः राजिः तस्याः कूलङ्कषतीति कूलङ्कषं, शिवभागवतवत्समासः, 'सर्वकूले'त्यादिना खचि मुमागमः। तस्य भावस्तत्त्वं तत्र व्यसनमासक्तिः हेतोः कारणस्य भुजस्य गुणादेव कण्डूलत्वादागतमिति शेषः। यशसो दिक्कूलकषणानुमितायाः कण्डूलतायाः तत्कारणकण्डूलभुजगुणपूर्वत्वमुत्प्रेक्ष्यते॥ ३९॥

(युद्ध-सम्बन्धी) खुजलाहटको प्राप्त इस नलके बाहुने जो यश प्राप्त किया, उस यशका दिशारूपिणी नदियोंकी श्रेणि (समूह) में कूलङ्कषा होने (किनारेको तोड़ने) का व्यसन (यशोरूपी) हेतुके गुणसे ही उत्पन्न हुआ है। [यशके हेतूभूत नलबाहुमें कण्डूलभाव होनेसे कार्यरूप दिङ्नदियोंमें भी कूलङ्कषत्व (किनारोंको धारासे रगड़-रगड़कर तोड़नेका भाव) होना उचित ही है। नलका यश दिगन्ततक फैला हुआ है]॥ ३९॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारेपरार्द्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिश्शेषगुणोऽपि स स्यात्॥ ४०॥

यदीति। किं बहुना, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी, 'तद्धितार्थे'त्यादिना समाहारे द्विगुः, अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते, 'द्विगो'रिति ङीप्। गणनापरा नलगुणसंख्यानतत्परा स्याद्यदि तस्याः त्रिलोक्याः आयुषः समाप्तिर्न स्याद्यदि अमरत्वं यदि स्यादित्यर्थः। परार्द्धस्य चरमसंख्यायाः पारे पारेपरार्द्धं, 'पारे मध्ये षष्ठ्या वे'ति अव्ययीभावः। गणितं स्यात्परार्द्धात्परतोऽपि यदि संख्या स्यादित्यर्थः। तदा स नलोऽपि गणेया गणितुं शक्याः निःशेषा निखिला गुणा यस्य स स्यात्, गणेय इति औणादिक एयप्रत्ययः। अत्र गुणानां गणेयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः॥ ४०॥

यदि तीनों लोक गणना करनेके लिए तत्पर हो जाँय, तथा उनकी आयुका अन्त न हो अर्थात् वे अमर हो जायँ और परार्द्धके भी बाद गणनाकी संख्या हो जाय; तब उस नलके सब गुण गिने जा सकते हैं। [उक्त तीनों बातोंके असम्भव होनेसे नलके गुणोंकी गणना करना भी असम्भव है अर्थात् नलके गुणको कोई नहीं गिन सकता]॥ ४०॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः॥ ४१॥

एवं नलगुणाननुवर्ण्य गूढाभिसन्धिनाऽऽत्मनस्तदन्तःपुरेऽपि परिचयं दर्शयति—अवारितेत्यादि । तिरश्चां पक्षिणामवारितद्वारतया अप्रतिषिद्धप्रवेशतयेत्यर्थः । तस्य राज्ञो नलस्यान्तःपुरे निविश्य अवस्थाय परमाणुमध्यास्तदङ्गनाः रम्येषु गतेषु अधिक्रमपूर्वं विशेषं भेदमध्यापयामः अभ्यासयामः । दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् ॥ ४१ ॥

तिर्यञ्चों (पक्षी आदि) को भीतर जानेके लिए द्वारपर रुकावट नहीं होनेसे उस राजा नलके रनिवासमें प्रवेशकर हमलोग परमाणुके बराबर अर्थात् अतिकृश कटिवाली रानियों को सुन्दर गतियोंमें अधिक विशेषता सिखलाते हैं। [नलकी अतिशय कृश कटिवाली हंसगामिनी रानियोंकी गति पहले ही रमणीय है, किन्तु उसमें भी अधिक रमणीयता हम लोग उन्हें सिखलाते हैं, क्योंकि तिर्यञ्च होनेके कारण हम पक्षियोंको अन्तःपुर में प्रवेश करनेमें कोई रुकावट नहीं होती । बहुवचन कहनेसे हंसने अनेक हंसोंको नलकी सेवामें लगे रहनेका संकेतकर दमयन्तीको नलके प्रति विशेष आकृष्ट करता है] ॥ ४१ ॥

पीयूषधारानधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः ।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताऽऽद्दृताभिः ॥४२॥

पीयूषेति । किं च पीयूषधाराभ्यः अनधराभिरन्यूनाभिरमृतसमानाभिः काव्यं सृजता स्वयं प्रबन्धकर्त्रा, कवेरपत्यं पुमान् काव्यस्तेन, 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य' इत्यमरः । 'कुर्वादिभ्यो ण्य' इति ण्यप्रत्ययः । आदृताभिस्तस्यापि विस्मयकरीभिरित्यर्थः । रम्भादीनां दिव्यस्त्रीणां सौभाग्यं पतिवाल्लभ्यं तत्प्रयुक्ताभिः रहःकथाभी रहस्यवृत्तान्तवर्णनाभिस्तासां नलान्तःपुरस्त्रीणामन्तरन्तःकरणं रसोदन्वति शृङ्गाररससागरे मज्जयामः अवगाहयामः ॥ ४२ ॥

हम लोग काव्यरचना करनेवाले शुक्राचार्यसे आदृत तथा अमृत-प्रवाहतुल्य रम्भादि अप्सराओंके (पुरुष-वशीकरणरूप) सौभाग्य-सम्बन्धिनी रहस्यमयी कथाओंसे उन (नल की रानियों) के अन्तःकरणको शृङ्गार-रसरूप समुद्रमें निमग्न करते हैं ॥ ४२ ॥

कामिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक्क्रियेऽहम् ? ।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥ ४३ ॥

कामिरिति । किञ्च यद्यस्मात् तिर्यक् पक्षी कुतोऽपि जनान्न जिह्रेति न लज्जत एव ह्री-लज्जायामिति धातोर्लट्, 'श्लावि'ति द्विर्भावः । तिरश्चोऽपि कश्चिज्जनो न त्रपते न लज्जते, तेन कारणेन तत्रान्तःपुरे कामिस्त्रीभिरहमभिनवा अपूर्वा स्मराज्ञा रतिरहस्यवृत्तान्तः सैव विश्वासनिक्षेपो विश्वासेन गोप्यार्थः । तस्य वणिक् गोप्ता न क्रिये न कृतोऽस्मि ? । सर्वासामप्यहमेव विस्रम्भकथापात्रमस्मीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

वहाँपर (नलके अन्तःपुरमें) कौन सुन्दरियाँ अभिनव अर्थात् मुझे अतिगोपनीय कामाज्ञाके विश्वासपूर्वक धरोहर रखनेका बनियाँ (व्यापारी) नहीं बनाती हैं अर्थात् उस नलके अन्तःपुरकी कौन सुन्दरियाँ अपने गुप्ततम कामरहस्यको मुझसे नहीं कहती हैं ।

यानी सभी अपने कामरहस्यको मुझसे कहती हैं, क्योंकि तिर्यञ्च (पक्षी आदि) किसीसे लज्जा नहीं करता, अतः तिर्यञ्चसे भी कोई लज्जा नहीं करता। [जिस प्रकार विश्वासपात्र बनियेंके यहां रक्खा हुआ धरोहर किसी दूसरेके पास नहीं जाता है तथा सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार यदि तुम अपना अभिप्राय मुझसे कहोगी तब तो मैं उसे अन्यत्र किसी दूसरेसे प्रकाशित नहीं करूंगा अपितु सुरक्षित रखूंगा, इस कारण यदि तुम नल..ो ..वार्ता होतो मुझपर विश्वास कर कहो]॥ ४३ ॥

वार्ता च साऽसत्यपि नान्यथेति योगादरन्ध्रे हृदि तां निरुन्धे ।
विरञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः ॥ ४४ ॥

अथ स्वस्य एवंविधविश्वासहेतुत्वमाह—वार्तेति । विरञ्चेर्ब्रह्मणो नानाननैर्बहुमुखैर्वादेन व्याख्यानेन धौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य संयमविद्यायाः श्रुत्या श्रवणेन पूर्णकर्णः चतुर्मुखाभ्यस्तवाङ्नियमनविद्य इत्यर्थः। अहमिति शेषः। योगात् अरन्ध्रे निरवकाशे पूर्णे हृदि हृदये यां वार्त्तां निरुन्धे, सा वार्त्ता लोकवार्त्ता किमुत-रहस्यवार्त्तेति भावः। असत्यपि विनोदार्थं कथितापि, किमुत सतीति भावः। असत्यपि अन्यपुरुषान्तरं नैति न गच्छति। यथा ह्यसती दुश्चरी नीरन्ध्रस्थाने निरुद्धा नान्यमेति तद्वदिति भावः। अतोऽहमासां विश्वास्य इति पूर्वेणान्वयः। अत्र वार्त्ता-निरोधस्य विरञ्चीत्यादिपदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः॥ ४४ ॥

ब्रह्माके चार मुखोंके कथनसे पवित्र योगशास्त्रके सुननेसे परिपूर्ण कानोंवाला मैं छिद्र रहित (शत्रुसे अभेद्य, या—योगाभ्याससे निर्दोष) हृदयमें जिस (वार्ता) को रोकता (गुप्त रखता) हूँ, असत्य भी वह वार्ता दूसरे किसीके पास नहीं जाती अर्थात् दूसरा कोई उसे नहीं सुनता। [क्योंकि मैं किसी दूसरेसे असत्य भी उस बातको नहीं कहता हूं। पक्षा०—जिसे प्रयत्नसे गुप्त स्थानमें रोकता हूँ, असती अर्थात् कुलटा भी वह स्त्री दूसरे किसी पुरुषके पास नहीं जाती। दोषयुक्त हृदय वाला पुरुष ही किसीकी किसी भी बातको दूसरेसे कह देता है, निर्दोष हृदयवाला पुरुष किसीकी किसी भी बातको दूसरेसे कदापि नहीं कहता। ब्रह्माके चारो मुखोंसे कहे गये उपदेश (वेदवचन) के सुननेसे मेरे कान परिपूर्ण हो गये हैं, अतएव उनके उपदेशमय योगाभ्याससे मेरा हृदय दोषरहित हो गया है, इस कारण मुझसे जो कोई भी व्यक्ति चाहे जैसी (सत्य या असत्य) बात कहता है, उसे मैं किसीसे भी नहीं कहता हूं, अतः तुम्हें मुझपर विश्वासकर अपना अभिप्राय बतलाना चाहिये]॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवानवाप्यं लभते बतान्या ।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्याः॥ ४५ ॥

अथ श्लोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुद्दीपयति—नलेत्यादि। तवानवाप्यं नलपरि-ग्रहाभावात्त्वया दुरापं, 'कृत्यानां कर्त्तरि वे'ति षष्ठी तृतीयार्थे। त्रिदिवः स्वर्गः पुष्पोक-

रादित्वात् साधुः। तस्य उपभोगं तादृग् भोगमित्यर्थः। तस्येन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भावः। अम्बुजिन्या दुर्लभमिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुरापं ज्योत्स्नोत्सवं चन्द्रिकाभोगम् इन्दोः कर्त्तुः परिग्रहेण कुमुदान्यस्यां सन्तीति कुमुद्वती कुमुदिनीव, 'कुमुदनड-वेतसेभ्योड्मतुप्,' 'मादुपधायाश्चे'त्यादिना मकारस्य वकारः। नलस्य कर्त्तराश्रयेण नलस्वीकरणेन अन्या लभते, बतेति खेदे। ईदृग्भोगोपेक्षिणी त्वं बुद्धिमान्द्यात् न शोचसि इति भावः॥ ४५॥

जिस प्रकार चन्द्रमाके सम्बन्धसे कमलिनीके लिये दुर्लभ चन्द्रिकोत्सवको कुमुदिनी पाती है, उसी प्रकार तुमसे दुर्लभ (हमलोगोंके पङ्खकी हवा करना आदि) स्वर्ग-भोगको नलके आश्रयसे दूसरी स्त्री प्राप्त कर रही है, यह खेद है। [क्योंकि अन्य स्त्रियां वैसी नलके योग्य नहीं हैं, जैसी तुम हो। ऐसा कहकर हंसने नलमें दमयन्तीका विशेष अनुराग बढ़ाने का प्रयत्न किया है]॥ ४५॥

तन्नैषधानूढतया दुरापं शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म।
[1]रसालवल्ल्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव॥ ४६॥

तदिति। किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभिः कृतेभ्यः प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवाक्येभ्यो जन्म तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः। चाटुग्रहणं पूर्वोक्तनिजपक्षवीजनाद्युपलक्षणं, शर्म सुखं त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तथा वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थः। रसालवल्ल्या सहकार-श्रेण्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यं रामणीयकमिव नैषधेन नलेन अनूढतया अपरिणी-तत्वेन हेतुना दुरापन्तस्मात्ते नलपरिग्रहाय यत्नः कार्य्य इति भावः॥ ४६॥

(हंस प्रकृतका उपसंहार करता हुआ कहता है—) इस कारण नलके द्वारा विवाहिता नहीं होनेसे तुम्हारे लिए हमलोगोंकी चाटुकारितासे उत्पन्न आनन्द उस प्रकार दुर्लभ है, जिस प्रकार वसन्त ऋतुको नहीं प्राप्त की हुई आम्रवल्ली, (आम-लता, पाठा०—आमकी बगीची) को भ्रमरकृत सौभाग्य दुर्लभ होता है। [इस उपमासे राजहंसने स्पष्ट कह दिया कि वसन्त काल आनेपर आम्रवल्लीके लिए भ्रमरकृत सौभाग्य जिस प्रकार पर्याप्त मात्रामें सुलभ हो जाता है, उसी प्रकार नलके साथ विवाह करनेपर तुम्हें भी हमारी चाटुकारिता से उत्पन्न आनन्द सुलभ हो सकता है। पूर्व श्लोक (३।४५) में अम्बुजिनीको उपमा देकर उक्त स्वर्गभोगको दमयन्तीके लिए सर्वथा असम्भव बतलाकर नलके साथ विवाह करनेपर सम्भव बतलाया है। यहां उसे सम्भव बतलाकर उसको पानेका प्रयत्न करनेके लिए दमयन्तीको उत्साहित किया है]॥ ४६॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य?।
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च॥ ४७॥

१. 'रसालवन्या' इति पाठान्तरम्।

अथ पुनरस्या नलप्राप्त्याशां जनयन्नाह—तस्येत्यादि। यद्वा तस्य नलस्यैव हस्तं किं न यास्यसि? यास्यस्येवेत्यर्थः। केन विधेर्मन एव प्रविश्य दृष्टं, विध्यानुकूल्यमपि सम्भावितमिति भावः। कुतस्तावद्द्यापि अजातपाणिग्रहणा अकृतविवाहा असि, तवायं विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहणार्थमेव किं न स्यादिति भावः। रूपं सौन्दर्यं स्वरूपं स्वभावः शीलमिति यावत्। तयोरतिशयः प्रकर्षस्तस्याश्रयश्चासि। योग्यगुणाश्रयत्वाच्च तद्धस्तमेव गमिष्यसीति भावः॥ ४७॥

('नल-प्राप्ति तुम्हारे लिए सर्वथा असम्भव नहीं है, अतः तुम्हें धैर्य-धारण करना चाहिये' ऐसा सङ्केत करता हुआ राजहंस कहता है—) अथवा उसीके (नलके ही) हाथमें क्यों नहीं जावोगी अर्थात् नलसे ही तुम्हारा विवाह क्यों नहीं होगा? ब्रह्माके मनमें घुसकर किसने देखा है? (कि उनकी क्या इच्छा है?) क्योंकि तुम अविवाहित तथा सुन्दरताके स्वरूप (विना भूषणादिके ही सौन्दर्याधिक्य) का आश्रय हो अर्थात् अत्यधिक सुन्दर हो, अतः सम्भव है कि तुम्हारा विवाह नलके साथ ही हो जावे॥ ४७॥

निशा शशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय॥ ४८॥

सत्यं विधिसङ्कल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह–निशेति। निशा निशया 'पद्दन्नि'त्यादिना निशादेशः। शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीशं शिवं, श्रिया लक्ष्म्या हरिं च योजयतो विधेः प्रयासो यत्नोऽपि परस्परं योग्यसमागमाय योग्यसङ्घटनायैव स्वारसिकः स्वरसप्रवृत्तः प्रतीतः प्रसिद्धः ज्ञातः। निशाशशाङ्कादिदृष्टान्ताद्विधिसङ्कल्पोऽपि सुज्ञेय इति भावः॥ ४८॥

('समानरूप होनेसे तुम्हें नलको पाना विशेष सम्भव है' इस बातको राजहंस दृढ़ करता है—) रात्रिके साथ चन्द्रमाको, पार्वतीके साथ शिवजीको तथा लक्ष्मीके साथ विष्णु भगवान्‌को संयुक्त करते हुए ब्रह्माका प्रयत्न भी परस्परमें योग्योंके समागम करनेके लिए प्रसिद्ध है। [रात्रि आदिके साथ चन्द्रमा आदिका समागम करनेसे ज्ञात होता है कि ब्रह्मा परस्परमें योग्य स्त्री-पुरुषोंका ही समागम कराते हैं, अत एव नलके साथ तुम्हारा समागम होना भी विशेष सम्भव है]॥॥ ४८॥

वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन॥ ४९॥

नलान्यसम्बन्धस्त्वयोग्य इत्याह—वेलातिगेति। वेलामतिगच्छन्तीति वेलातिगा निःसीमाः स्त्रीणामिमे स्त्रैणाः गुणाः 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञावि'ति वचनात् नञ्प्रत्ययः। त एवाब्धिस्तस्य वेणी प्रवाहभूता, त्वमिति शेषः। 'वेलाऽब्धिजलबन्धने। काले सीम्नि च, वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति वैजयन्ती। नलादितरेण योगयोग्या योगार्हा नासि। तथाहि मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न संदर्भ्यते न सङ्गुम्फ्यते। दृभ-ग्रन्थ इति धातोः कर्मणि लट्। व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कारः॥४९॥

('दूसरेको छोड़कर तुम नलके ही योग्य हो' यह सङ्केत करता हुआ राजहंस कहता है—) मर्यादाहीन स्त्री-सम्बन्धी गुण समुद्रकी प्रवाहरूपा अर्थात् परमरमणीयतमा तुम नलके अतिरिक्त दूसरेके साथ समागमके योग्य नहीं हो, क्योंकि अत्यन्त कड़ी (रूखी) कुशकी रस्सीसे कोमलमल्लिका की माला नहीं गुर्थी जाती है। [तुम मल्लीपुष्पके समान कोमल हो तथा नलभिन्न पुरुषलोग कुशकी रस्सीके समान रूखे एवं कड़े हैं अतः नलेतर किसी पुरुषसे तुम्हारा समागम न होकर नलके साथ ही होना योग्य है] ॥ ४९ ॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम् ।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य संक्रीडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

विधिमिति । किं च, विधिं ब्रह्माणं नलस्य केलेः क्रीडायाः योग्यामर्हां वधूसृष्टिं स्त्रीनिर्म्माणं तस्य विधेर्यानस्य रथस्य युग्यो रथवोढा तत्र परिचित इत्यर्थः। 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गमि'ति यत्प्रत्ययः। अहमपृच्छमेव, दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम्। मया अस्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रथाङ्गव्रजे संक्रीडति कूजति सति 'समोऽकूजन' इति वक्तव्येऽपि कूजतेर्नात्मनेपदम्, त्वन्नामवर्णा मया कर्णेन पीताः गृहीताः। न केवलं लिङ्गात् किन्त्वागमादपि ज्ञातोऽयमर्थ इत्यर्थः ॥ ५० ॥

(अब राजहंस प्रकारान्तरसे नल-प्राप्तिको और भी अधिक दृढ़ करता हुआ कहता है—) ब्रह्माकी सवारीको ढोते हुये मैंने नलकी क्रीडाके योग्य स्त्रीरचनाको पूछा था 'आपने नलके योग्य किस स्त्रीकी रचनाकी है' यह बात उनकी सवारी को ढोते हुए मैंने पूछी थी तो ब्रह्माके रथके पहियेके शब्द करते रहने पर तुम्हारे नामके अक्षरके समान ही मैंने सुना था। ['कदाचित् दमयन्ती नलको नहीं चाहती हो तो ब्रह्माका वचन असत्य हो जायेगा' इसलिए राजहंसने ब्रह्माके रथके पहियेको शब्द करते रहना कहकर उसके हृद्गताभिप्राय जानने तक दमयन्तीका नलके साथ विवाह होनेकी बातको पूर्णतः निर्णयात्मक करके नहीं कहा है] ॥ ५० ॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरी स्यात् ? ॥ ५१ ॥

अन्येनेति । किं च, अन्येन नलेतरेण पत्या त्वयि योजितायां घटितायां सत्यां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः अभिज्ञत्वख्यात्यैव नीतायुषो विधातुर्वा जनापवादार्णवमुत्तरीतुं निस्तरीतुं 'वॄतो वे'ति दीर्घः। कतमा विधा कः प्रकारः तरी तरणिः स्यात्? न काऽपीत्यर्थः। 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः। अतो दैवगत्याऽपि स एव ते भर्तेति भावः ॥ ५१ ॥

(नल-प्राप्तिको पुनः दृढ़ करता हुआ राजहंस कहता है—) दूसरे पतिके साथ तुम्हारा समागम करानेपर सर्वज्ञत्वकी कीर्तिसे पूरी जिन्दगी बितानेवाले ब्रह्माके लिए लोकापवादरूप समुद्रको पार करनेके लिए कौन सी नाव होगी। [अब तक ब्रह्मा योग्य स्त्री-

पुरुषका समागम कराने से विज्ञत्वके लिये बहुत कीर्ति पायी है, अतः यदि नल-भिन्न दूसरे पुरुषके साथ तुम्हारा समागम कराते हैं तो उनकी बहुत लोकनिन्दा होगी, अतः तुम्हारा समागम नलके साथ ही ब्रह्मा करायेंगे ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है]॥ ५१ ॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं मयाऽसि तन्वी ! श्रमिताऽतिवेलम् ।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि ॥ ५२ ॥

इत्थमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गान्तरेण निगमयति—आस्तामिति। तत्पूर्वोक्तमास्तां तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया अलं, तया साध्यं नास्तीत्यर्थः। गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया, अत एवाह 'न केवलं श्रूयमाणक्रियापेक्षया कारकोत्पत्तिः, किन्तु गम्यमानक्रियाऽपेक्षयाऽपि' इति न्यासकारः। किन्तु हे तन्वी, कृशाङ्गि ! मया अतिवेलम् अत्यर्थं श्रमिता खेदिताऽसि, श्रमेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। तत् श्रमणरूपमागोऽपराधं परिमार्ष्टुकामः परिहर्तुकामः। 'तुं काममनसोरपी'ति मकारलोपः। सोऽहं किं त्वदीप्सितं तव मनोरथं विदधे कुर्वे, अभिधेहि ब्रूहि ॥ ५२ ॥

(दमयन्ती का अभिप्राय जाननेकी इच्छासे उपसंहार करता हुआ राजहंस कहता है—) हे तन्वि ! नल-वर्णनरूप अप्रासङ्गिक बातको छोड़ो, मैंने तुमको बहुत समय तक बहुत थकाया (हैरान किया) है, उस अपराधका परिमार्जन करनेकी इच्छा करता हुआ मैं तुम्हारा कौन अभीष्ट पूरा करूँ ? कहो ॥ ५२ ॥

इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ॥ ५३ ॥

इतीति। स पत्री हंसः इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भैम्या हृदयं बुभुत्सुर्जिज्ञासुर्विरराम तूष्णीं बभूव, 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम्। तथाहि—सन्तः कार्यज्ञाः गभीरे अगाधे हृदि ह्रदे च अवगाढे प्रविश्य दृष्टे सति कार्यस्य स्नानादे रहस्योक्तेश्च अवतरं तीर्थं प्रस्तावं च शंसन्ति कथयन्ति, अन्यथा अनर्थः स्यादिति भावः। अवतरो व्याख्यातः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ५३ ॥

ऐसा (३।१३-५२) कहकर राजकुमारी (दमयन्ती) के हृदयको जाननेका इच्छुक वह पक्षी (राजहंस) चुप हो गया, क्योंकि गम्भीर (गहरा) तडाग तथा गम्भीर (गुप्त अभिप्राय वाले) हृदयको आलोडित करनेपर (प्रवेशकर थाह लगानेपर, पक्षा०-अभिप्राय जान लेनेपर) बुद्धिमान् लोग कार्यारम्भ (पक्षा०—कार्यका प्रस्ताव) करते हैं। [जिस प्रकार तैराक गम्भीर जलाशयको विना आलोडन किये मार्ग निश्चित नहीं करता, उसी प्रकार हृद्गत भावको विना मालूम किये बुद्धिमान् व्यक्ति किसी कार्यके लिये प्रस्ताव नहीं करता अत एव उक्त राजहंस सब कुछ कहकर भी उसे प्रकारान्तरमें गुप्त ही रखकर दमयन्तीका अभिप्राय जानना चाहता है]॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाचं मनसा मुहूर्तम् ।
पतत्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः ॥ ५४ ॥

किञ्चिदिति । किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावादीषत्साचीभूता विलोला आयासाद्विलुलिता मौलिः केशबन्धो यस्याः सा । 'मौलयः संयताः कचा' इत्यमरः । वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुरधःकृतचन्द्रा सा पृथिवीन्द्रपुत्री भैमी मुहूर्तमल्पकालं मनसा वाच्यं वचनीयं विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्रिणं जगाद ॥ ५४ ॥

(विचारते समय) कुछ टेढ़ा एवं चञ्चल मस्तक वाली तथा (स्वभावतः एवं हंस-कथनसे नल-प्राप्तिकी आशा होनेसे प्रसन्नताके कारण) मुखसे चन्द्रमाको तृणतुल्य (अतिशय तुच्छ) की हुई राजकुमारी दमयन्ती थोड़ी देर कहने योग्य वातको विचार कर बोली ॥ ५४ ॥

धिक्चापले वत्सिमवत्सलत्वं यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥ ५५ ॥

धिगिति । चापले चपलकर्मणि, युवादित्वादण, 'वत्सस्य भावः वत्सिमा शिशुत्वम् पृथ्वादित्वादिमनिच् । तेन निमित्तेन वत्सलत्वं वात्सल्यं बाल्यत्वप्रयुक्तचापलमित्यर्थः । तद्धिक् । कुतः ? यस्य चापलवात्सल्यस्य प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या चपलायमानया समीरसङ्गाद्वाताहतेरुत्तरलीभवन्त्या नीरभङ्ग्या जलवीच्येव तटस्थः उदासीनः कूलं गतश्च त्वमुपद्रुतः पीडितोऽसि । अधर्महेतुत्वाद् बालचापलं सोढव्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

चपलता करनेके विषयमें वचपनके प्रेमको धिक्कार है, जिसकी प्रेरणासे अत्यन्त चञ्चल होती हुई मैंने, वायुसे प्रेरित जल-प्रवाहसे तटस्थ व्यक्तिके समान (तुम्हें पकड़नेके लिये पीछे-पीछे चलकर) तटस्थ (उदासीन, मुझसे सम्बन्ध-शून्य) तुमको पीड़ित किया है । [वचपनमें चञ्चलता करनेकी अधिक इच्छा रहती है, उसके कारण एक उदासीन व्यक्तिको मैंने पकड़नेके लिए पीछे-पीछे चलकर पीड़ित किया है, उस बाल-चपलताको धिक्कार है] ॥ ५५ ॥

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि सतां स तावत्खलु दर्शनीयः ।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते ॥ ५६ ॥

आदर्शतामिति । स्वच्छतया नैर्मल्यगुणेन आदृश्यते पुरोगतवस्तुरूपमस्मिन्निति आदर्शो दर्पणस्तत्तां प्रयासि, कुतः यस्य स्वच्छस्य ते तव सम्बन्धिनि सागसं सापराधां मां पुरस्कुर्वति पूजयति अग्रे कुर्वाणे च आत्मनि बुद्धौ स्वरूपे च, 'पुरस्कृतः पूजिते स्यादभियुक्तेऽग्रतः कृते' । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्मणी'ति चामरः । इदं मदीयमागोऽपराधः प्रतिबिम्बितं प्रतिफलितम् । पुरोवर्त्ति धर्म्माणामात्मनि संक्रमणादादर्शोऽसीत्यर्थः, ततः किमत आह—सः आदर्शः सतां साधूनां

तावत्प्रथमं दर्शनीयः अथवा पूज्यश्चेति तावच्छब्दार्थः खलु 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्य्यं प्रातः पश्येत् सदा बुधः॥' इति शास्त्रादिति भावः॥ ५६॥

(दमयन्ती अपनी निन्दा करती हुई हंसकी प्रशंसा करती है—) सज्जनोंके दर्शनीय तुम स्वच्छ होनेसे आदर्श (दृष्टान्त, पक्षा०—दर्पण) हो, जिसमें अपराधसहित मेरे सामने होने पर मेरा अपराध प्रतिबिम्बित हो गया है। [स्वच्छहृदय वाले आदर्श पुरुषका सज्जन लोग दर्शन करते हैं, तथा ये आदर्श पुरुष दूसरेके किये गये अपराधको भी अपराधकर्ताका न कहकर अपना किया हुआ (मेरे कर्मोदयके कारणसे ऐसा काम आपने किया है, इसमें आपका नहीं, किन्तु मेरा ही अपराध है) कहते हैं, पक्षा०—मङ्गलद्रव्य होनेसे दर्पणका दर्शन करना श्रेष्ठ माना गया हैं, वह स्वतः स्वच्छ रहता है तथा उसके सामने जो कोई वस्तु पड़ती है, वह स्वच्छतम दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर ऐसी मालूम पड़ती है कि यह दर्पण ही मलिनसा है, प्रकृतमें हे राजहंस! तुम स्वच्छ एवं माङ्गलिक होनेसे दर्शनीय हो, तथा तुमने मेरे प्रति कोई अपराध नहीं किया है, हां, मैंने ही तुम्हें पकड़नेके लिए पीछे पीछे चलकर तुम्हें पीडित किया है, अत एव अपराधिनी तो वास्तविकमें मैं हूं और तुम आदर्श (दर्पण) हो इसी कारण स्वच्छ (निर्दोष, पक्षा०—निर्मल) आदर्शरूप तुम्हारे सामने आयी हुई अपराधिनी (मलिनता युक्त) मैं तुममें प्रतिबिम्बित हो गयी हूं, जिससे ज्ञात होता है कि तुममें ही मलिनता हैं। परन्तु वास्तविक विचार करनेपर तुममें नहीं, अपि तु मुझमें मलिनता (दोषयुक्तत्व) है.]॥ ५६॥

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य! तावत्।
हंसोऽपि देवांशतयाऽभिवन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः॥५७॥

अनार्यमिति। हे सौम्य! भवान् कुमार्याः शिशोर्मम सम्बन्धि अनार्यमप्याचरितं त्वदुपद्रवरूपं दुश्चेष्टितं क्षाम्यतु सहतां. हंसोऽपि तिर्यगपीत्यर्थः। त्वमिति शेषः। भवानित्यनुषङ्गे असीति मध्यमपुरुषायोगात् देवांशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा विष्णुरिव वन्द्योऽसि॥ ५७॥

हे सौम्य! मुझ कुमारीके अनुचित भी व्यवहारको पहले आप क्षमा करें, (राजकुमारीको तिर्यञ्च पक्षीसे क्षमा-प्रार्थना करना अनुचित नहीं मानना चाहिये, क्योंकि) श्रीवत्सचिह्नयुक्त मत्स्यमूर्ति (मत्स्यावतार) के समान (ब्रह्माका वाहन होनेसे) देवांश होनेके कारण तिर्यञ्च (पक्षी) होकर भी तुम भी वन्दनीय हो। [आपने पहले (३।५२) अपना अपराध क्षमा कराते हुए मुझसे अभीष्ट पूछा है, किन्तु अभी अभीष्टकी बातको अलग रहने दीजिये, आपने अपराध नहीं किया है, किन्तु मैंने ही अपराध किया है, अतः पहले (अभीष्ट जानने और उसे पूरा करनेके पूर्व) आप मेरा अपराध क्षमा करें। ब्रह्माके वाहन होनेसे आपमें देवांश है, अत एव मुझ राजकुमारीके भी वन्दनीय

ही हैं, जैसे निन्द्य मत्स्य (मछली) भी श्रीवत्स (विष्णुके चिह्न-विशेष) से युक्त होनेके कारण वन्दनीय होता है । कुमारी होनेसे मुझमें अज्ञानकी मात्रा अधिक है, अतः अज्ञानीके अपराधको क्षमा करना भी बड़ोंको उचित ही है] ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि याऽतिशेताम् ।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम् ? ॥५८॥

अथ यदुक्तं त्वयेप्सितं किं विदधे ? अभिधेहीति, तत्रोत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति । कां मत्प्रीतिं किंवा मदीप्सितमित्यर्थः । आधित्ससि आधातुं कर्त्तुमिच्छसि ? दधातेः सन्नन्ताल्लट् । या प्रीतिर्मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदं त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतात्त्वद्दर्शनोत्सवादन्यत्किं ममेप्सितमित्यर्थः । तथाहि इन्दुः प्रजानां जनानां निजामृतैर्लोचनसेचनात् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना पञ्चमी । किंवा सृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५८ ॥

(अब दमयन्ती अपनी अभीष्ट-सिद्धिके विषयमें कहती है—) जो तुम्हारे दर्शनसे उत्पन्न मेरे नेत्रोंके हर्षसे भी अधिक हो, वह कौन मेरा अभिलषित करना चाहते हो ? (तुम्हें देखनेसे जो मुझे हर्ष हुआ है, उससे अधिक हर्षप्रद मेरा कोई अभीष्ट तुम नहीं साध सकते), क्योंकि चन्द्रमा अपने अमृत-प्रवाहोंसे प्रजाओं (दर्शकों) के नेत्रको तृप्त करनेके अतिरिक्त क्या करता है ? अर्थात् कुछ नहीं । [वैसे तुम भी मुझे दर्शनानन्द देनेके अतिरिक्त मेरा कोई अभीष्ट नहीं साध सकते हो, अतः तुमसे अभीष्ट बतलाना व्यर्थ है] ॥ ५८ ॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः ।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा ॥ ५९ ॥

अत्र सर्वथा मनोरथः कथनीयः इत्यभिप्रेत्य तन्न शक्यमित्याह—मनस्त्विति । मनो मच्चित्तं कर्तृ यं मनोरथं जातु कदापि नोज्झति न जहाति, स मनोरथः कण्ठपथं वाग्विषयम् उपकण्ठदेशं च कथं यातु, सम्भावनायां लोट् । सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः । कुतः ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दोः पाणिना ग्रहे ग्रहणे अभिलाषं कथयेत् । तथा द्विज ! पक्षिन् ! राजपाणिग्रहाभिलाषं नलपाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते तया च दुर्लभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूता कथं लज्जावत्या वक्तुं शक्या इत्यर्थः । पूर्व एवालङ्कारः ॥ ५९ ॥

जिसे मन कभी नहीं छोड़ता है, वह मनोरथ (अन्तःकरण, पक्षा०—अभिलाष) कण्ठमार्गमें किस प्रकार आवे ? (क्योंकि) कौन निर्लज्ज बालिका चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी इच्छा (पक्षा०—हे पक्षी ! राजा (नल) के साथ विवाह करनेकी इच्छा) को कहती है ? [अन्तःकरण नीचे है तथा कण्ठ ऊपर है, अतः नीचेसे ऊपरकी ओर रथका

आना किस प्रकार सम्भव है ? अर्थात् बहुत ही दुःसाध्य है। तथा जिसे कहा भी नहीं जाता उसे कार्य रूपमें सिद्ध करना अतिदुःसाध्य है। चन्द्रमाको हाथसे ग्रहणकी इच्छाको कौन निर्लज्ज (अज्ञानाधिक्य युक्त) बालिका कहती है ? अर्थात् कोई भी नहीं। अथवा— हे द्विजराज = पक्षियोंमें श्रेष्ठ राजहंस ! कौन निर्लज्ज बालिका विवाहकी इच्छाको कहती है, अर्थात् अज्ञानयुक्त बालिका भी लज्जा छोड़कर अपने विवाहकी इच्छा प्रकट नहीं करती तो मैं किस प्रकार अपने विवाहकी इच्छा तुमसे प्रकट करूँ ?—विवाहकी इच्छा होनेपर भी लज्जावश मैं तुमसे कहनेमें असमर्थ हूँ, क्योंकि मैं बाला हूँ, प्रौढा नहीं और बालामें प्रौढाकी अपेक्षा लज्जाकी मात्रा अधिक होती है] ॥ ५९ ॥

वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः ।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे घृणाञ्च वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

वाचमिति । स हंसः मृद्वीकया द्राक्षया, 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यमरः । तुल्यरसां समानस्वादां मधुरार्थामित्यर्थः । मृद्वीं मधुराक्षरां तदीयां वाचं परिपीय अत्यादराद्‌ाकर्ण्य परपुष्टघुष्टे कोकिलकूजिते तोषं प्रीतिं तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणां जुगुप्सां 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः । वितेने ॥ ६० ॥

वह हंस दाखके समान रसवाला (मीठा) सुकोमल दमयन्तीका वचन सुनकर कोयलके कूजनेमें सन्तोष (हर्षित होना) छोड़ दिया तथा वीणाकी झनकारमें घृणा कर लिया। [कोयलके कूजने तथा वीणाके झनकारसे भी दमयन्तीका वचन मधुर एवं सरस था] ॥६०॥

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः ।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

मन्दाक्षेति । तस्यां भैम्यां मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा सन्दिग्धार्था अक्षरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तथोक्तमुक्त्वा समाकुञ्चितवाचि नियमितवचनायां सत्यामयं हंसस्तच्छंसिते भैमीभाषिते किञ्चन किञ्चित्संशयालुः सन्दिहानः सन्, 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्ययः । [1]मुखाम्भोजं गिरा युयोज मुखेन गिरमुवाचेत्यर्थः ॥ ६१ ॥

लज्जासे थोड़ा अक्षर कहकर उस (दमयन्ती) के चुप होनेपर उसके कथनमें कुछ सन्देहयुक्त हंस अपने मुखकमलको वचनसे युक्त किया अर्थात् बोला—। [दमयन्ती लज्जावश 'कौन निर्लज्ज बाला द्विजराजपाणिग्रहणाभिलापको कहेगी ?' ऐसा कहकर चुप हो

---

१. 'मुखाम्भोजम्' अत्र 'प्रशंसावचनैश्च' इति समासः' इति 'प्रकाश'कृत् । किन्तु मनोरमाकृता प्रशस्तशोभनरमणीयादीनां यौगिकानां शुचिमृद्वादीनां गुणवचनानां 'सिंहो माणवक' इत्यादौ गौण्या वृत्त्या प्रशंसावाचकानाञ्च शब्दानां व्युदासस्य करिष्यमाणत्वेनोक्ततया 'वचन'ग्रहणस्य रूढपरिग्रहार्थमेव स्वीकृतत्वेन 'उपमितं व्याघ्रादिभिः (पा० सू० २।१।५६) इत्यनेनोपमितसमासस्यैवौचित्यतया भ्रान्तियुक्तं तदिति बोध्यम् ।

गयी है, अतः इस वचनके श्लेषयुक्त होनेसे हंसको नलविषयक दमयन्तीके अनुरागमें यद्यपि अधिक सन्देह नहीं रह गया है किन्तु थोड़ा सन्देह अवश्य ही रह गया है; अतएव 'किञ्चन' (कुछ) शब्दका यहाँ प्रयोग हुआ है] ॥ ६१ ॥

करेण वाञ्छेव विधुं विधर्तुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम् ।
पातुं श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम् ॥ ६२ ॥

करेणेति । हे भैमि ! करेण विधुं चन्द्रं विधर्तुं ग्रहीतुं वाञ्छेव यमर्थमित्थं 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती आत्थ ब्रवीषि, 'ब्रुवः पञ्चानामि'ति ब्रुवो लटि सिपि थलादेशः ब्रुवश्चाहादेशः, 'आहस्थ' इति हकारस्य थकारः । तमर्थमन्ते भवोऽन्तिमो वर्णः शूद्रः, 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमि'ति डिमच् । श्रुतेर्वर्णं वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्यां पातुं श्रोतुमपीत्यर्थः । नाधिकुर्वे नाधिकार्यस्मि किम् ? अस्म्येवेत्यर्थः । अतः सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी इच्छाके समान आदरयुक्त (या,—निर्भय होकर) जिस प्रयोजनको तुम कह रही हो, वेदके अक्षरोंको शूद्रके समान मैं उस प्रयोजनको सुननेका भी अधिकारी नहीं हूँ क्या ? । [तुम्हारे समझसे यद्यपि मैं तुम्हारे उक्त अभीष्टको सिद्ध नहीं कर सकता, किन्तु उसको सुनने का भी मैं अधिकारी नहीं हूँ क्या ? अर्थात् उसे सुननेका अवश्य अधिकारी हूँ । अथ च—मैं ही उस प्रयोजनको पूर्ण करूँगा अतएव उसे सुननेका मैं ही अधिकारी हूँ, इसलिए अपना मतलब तुम्हें स्पष्ट करना चाहिये । चन्द्रमाको हाथसे ग्रहण करनेकी अभिलाषाको तो लज्जावश ही कहा गया है, वास्तविकमें तो श्लेष द्वारा राजा नलसे विवाहकी अभिलाषा होनेमें ही मुख्यतः तात्पर्य है यह बात 'इव' शब्द-द्वारा 'चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी इच्छाके समान' अर्थ करनेसे सूचित होती है] ॥ ६२ ॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि वर्त्तते यः ।
यत्रान्धकारः खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

ननु तमर्थमत्यन्तदुर्लभत्वाद्वक्तुं जिह्मेमीत्याशङ्क्याह—अर्थाप्यत इति । हे भैमि ! भवत्या किंवा इयदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमर्थमयमर्थो द्विजराजपाणिग्रहवदति दुर्लभत्वेनाख्यायत इत्यर्थः । अर्थशब्दात्तदाचष्टे इत्यर्थे णिचः 'अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्य' इत्यापुगागमः । कुतस्तथा नाख्येय इत्यत आह—योऽर्थ एकः पादो यस्यामित्येकपदी एकपादसञ्चारयोग्यमार्गः । 'वर्त्तन्येकपदीति चे'त्यमरः । 'कुम्भपदीषु चे'ति निपातनात् साधुः । चित्तैकपद्यां मनोमार्गेऽपि वर्त्तते चक्षुराद्यविषयत्वेऽपीत्यपि-शब्दार्थः । स कथं दुर्लभ इति भावः । तथाहि—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्धकारः प्रतिबन्धः तद् ब्रह्म जिह्मेतरैरकुटिलैः कुशलधीभिरिति यावत् । अवाप्यं सुप्रापम् अमनोगम्यं ब्रह्मापि कैश्चिद् गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमर्थः । अतएवार्थापत्तिरलङ्कारः । 'कैमुत्येनार्थान्तरापतनमर्थापत्तिरि'ति वचनात् ॥ ६३ ॥

तुमने इतना (दुर्लभ होना) क्यों कहा ? जो चित्तरूपी पगडण्डी (आगे-पीछे होकर १-१ आदमीके चलने योग्य पतला रास्ता) में भी है, उसे प्राप्त किया जाता है, क्योंकि जहांपर चित्तका भी अन्धकार है अर्थात् जिसे मन भी नहीं देखता—जो मनोऽगोचर है— उस ब्रह्मको उद्योगी लोग (या—सीधे रास्तेसे चलनेवाले लोग) प्राप्त कर लेते हैं। [तुमने चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी बात कहकर उसे इतना असाध्य क्यों बना दिया ?, क्योंकि बहुत सङ्कीर्ण मार्ग (पगडण्डी) में भी स्थित वस्तुको प्राप्त कर लिया जाता है, और जिस ब्रह्मका मन भी नहीं प्रत्यक्ष करता, उसे भी प्रयत्न करनेवाले प्राप्त कर लेते हैं; अतएव तुमने जो कहा उसका अभिप्राय मैंने समझ लिया है, मुझसे अपना अभिप्राय छिपाना व्यर्थ है। तथा जिसे तुम चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेके समान अशक्य समझती हो, वह नलप्राप्तिरूप कार्य वैसा अशक्य नहीं है, उसके लिये तुम्हें प्रयत्न करना होगा] ॥ ६३ ॥

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये ।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

अथ मयि मृषावादित्वाशङ्कया वक्तुं सङ्कोचस्तच्च न शङ्कितव्यमित्याह—ईशेत्या-दिना त्रयेण। ईशस्य यदणिमैश्वर्यं तस्य विवर्त्तो रूपान्तरं मध्यो यस्याः सा तथोक्ता हे कृशोदरीत्यर्थः। लोकेशलोके शेरत इति लोकेशलोकेशयाः ब्रह्मलोक-वासिनः 'अधिकरणे शेतेरि'त्यच्प्रत्ययः। 'शयवासवासिष्वकालादि'त्यलुक्, तेषां लोकानां जनानां मध्ये अज्ञं मूढं तिर्यञ्चं पक्षिणमपि मामिति शेषः। मृषा अनृतं तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भावस्तत्ता सत्यवादितेत्यर्थः। उपज्ञायत इति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादि'त्यमरः। 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्वं तथात्वेन ज्ञातं तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायामि'ति नपुंसकत्वम्। समं साधारणं सर्वैर्ज्ञायत इति समज्ञा कीर्तिः पूर्ववदङ्प्रत्ययः, तदुपज्ञं तथात्वेनादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्त्तिर्येन तं तथोक्तं मामञ्च, सत्यवादिनं विद्धीत्यर्थः। अञ्चतेर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

(मुझे अपना अभिप्राय नहीं कहने पर भी उसे जाननेका अभिमान क्यों करते हो, ऐसे दमयन्तीके आक्षेपका समाधान राजहंस करता है—) हे कृशोदरि (दमयन्ती) ! ब्रह्मलोकके निवासी लोगोंमें सत्यवादिता एवं सहृदयताके आद्य ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ भी मुझ तिर्यञ्चको अज्ञ (मूर्ख, या असत्यवक्ता हृदयहीन—जैसा चाहो, वैसा) समझो, [अथवा—.........मूर्ख तिर्यञ्चको भी सत्यवादिता तथा सहृदयताके प्रथम ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ समझो, या—उक्तरूप मेरी पूजा करो। अथवा—असत्य-भाषण नहीं करनेवाली जीभके भाव (वचन) से युक्त आद्यज्ञानसे कीर्तिवाले मुझ तिर्यञ्चको भी अज्ञ (मूर्ख, या—अस-हृदय असत्यवक्ता—चाहे जैसा समझो......) ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः ।

ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न[1] संसर्गगुणेन बद्धा ॥ ६५ ॥

मध्य इति । किं च, प्रतिवेशिनीनां प्रतिवेश्मनां श्रुतीनां वेदानां ब्रह्ममुखस्थानां श्रुतीनां मध्ये वासवती निवसन्ती इयं नोऽस्माकं मुखे सरस्वती वाक् संसर्ग एव गुणः श्लाघ्यधर्मः तन्तुश्च तेन बद्धा सती ताभ्यः श्रुतिभ्यो ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा । अद्धापथात्सत्यमार्गान्न चलति संसर्गजा दोषगुणा भवन्तीति भावः । 'सत्ये त्वद्धाऽञ्जसाद्वयमि'त्यमरः ॥ ६५ ॥

हमलोगोंके मुखमें वर्तमान सरस्वती (वाणी) पड़ोसिन श्रुतियोंके बीचमें बसती है, अतएव संसर्ग-गुणसे बँधी हुई वह मानो उन (श्रुतियों) से लज्जाके कारण निश्चितरूपसे पथभ्रष्ट नहीं होती है । [ब्रह्माके चारो मुखसे वेद निकले हैं, जो वेद-वचन सर्वथा सत्य एवं सत्पथगामी ही हैं, और हमलोग ब्रह्माके वाहन होनेसे उनके साथ सदा रहते हैं, अतएव श्रुतियां हमलोगोंके मुखमें रहनेवाली सरस्वती अर्थात् हमारे वचनकी पडोसिन हैं, इस कारण सदा सत्य उन श्रुतियोंसे लज्जा करती हुई हमारी वाणी कभी असत्पथमें नहीं जाती अर्थात् हमलोग कभी असत्यभाषण नहीं करते । लोकमें भी पड़ोसी व्यक्तिसे लज्जा होनेके कारण कोई भी व्यक्ति उनके अनुसार ही सदा आचरण करता है] ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीमप्यभिलापि चित्तम् ।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६६ ॥

ततः किमित्यत आह—पर्यङ्केति । कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तरस्थेऽपीति भावः । अभिलापि साभिलापं ते तव चित्तं कर्तृ पर्यङ्कतां वाससक्थिकात्वमापन्नः, सरस्वान् सागरोऽङ्कश्चिह्नं यस्यास्तामतिदुर्गमामित्यर्थः । तां लङ्कापुरीमपि प्रयाति चेत्तदपि तद्दुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयालु स्थितमवेहि । पर्यस्तमपि पर्यङ्कस्थमिव जानीहि ॥ ६६ ॥

(अब राजहंस अपने सामर्थ्यातिशयको प्रकट करता हुआ कहता है—) पर्यङ्क (पलंग) बना है समुद्र-मध्य जिसका (पलँग के समान समुद्र-मध्यमें सुखसे स्थित) लङ्कापुरी या अन्य किसी भी वस्तुको भी यदि तुम्हारा मन चाहता है (अथवा किसी वस्तुको चाहने वाला तुम्हारा चित्त लङ्कामें उस वस्तुके होनेसे यदि उक्तरूप लङ्कापुरीको भी जाना चाहता है) तो उसे भी अपने हाथमें स्थित समझो । [पक्षा०—कुत्रापि-पृथ्वीके रक्षक नलमें अभिलापयुक्त तुम्हारा चित्त उक्तरूप लङ्काको भी जाना चाहता है तो............] ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।
चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥ ६७ ॥

इतीति । तेन पत्त्ररथेन पक्षिणा हंसेन इतीत्थमीरिता उक्ता भैमी ह्रीणा स्वयमेव

१. 'मत्सङ्गगुणेन नद्धा' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

स्वाकूतकथनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नुदविदे'त्यादिना विकल्पाच्निष्ठानत्वम्। हृष्टा उपायलाभान्मुदिता च सती बभाण। किमिति? मदीयं चेतो लङ्कां नायते, किन्तु नलं राजानं कामयत इति श्लेषभङ्ग्या बभाणेत्यर्थः। अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलापं न॥ ६७॥

उस पक्षी (हंस) के ऐसा (३।६२-६६) कहनेपर प्रसन्न एवं लज्जित दमयन्ती बोली कि—मेरा मन लङ्काको नहीं जाता अर्थात् मैं लङ्कापुरीको नहीं चाहती (पक्षा०—मेरा मन नलको चाहता है), दूसरे किसी वस्तुको (या—दूसरे किसी (राजाको) नहीं चाहता, (अथ च—नलके नहीं मिलनेपर मेरा चित्त अनल (अग्नि) को चाहता है कि मैं उसमें जलकर भस्म हो जाऊं, किसी दूसरेको नहीं चाहता)॥ ६७॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम्।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः॥ ६८॥

विचिन्त्येति। विस्पष्टमभाषमाणां श्लेषोक्तिवशात्संदिग्धमेव भाषमाणामित्यर्थः। एनां दमयन्तीं सः चक्राङ्गपतङ्गशक्रः हंसपक्षिश्रेष्ठः बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य शीलं स्वभावमेव शैलं लज्जायामेव नद्यां मज्जदनङ्गनागो यस्य तं विचिन्त्य विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मथत्वं ज्ञात्वा लज्जाविसर्जनार्थं वाक्यमुवाचेत्यर्थः॥६८॥

वह राजहंस बालाओंके पर्वताकार (बहुत बड़े) शीलको तथा लज्जारूपिणी नदीमें गोता लगाते हुए कामदेवरूपी हाथी वाला समझकर स्पष्ट नहीं कहती हुई इस दमयन्तीसे बोला—। ['लज्जावश कामपीडित होती हुई भी बाला यह दमयन्ती पर्वताकार शीलका उल्लङ्घनकर अपने मनोरथको स्पष्ट नहीं कहती है, यह सोचकर राजहंस बोला—]॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थस्सुधिया मया किम्?॥६९॥

नृपेणेति। श्लेषकवेः श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्याः श्लिष्टशब्दप्रयोक्त्र्या इत्यर्थः, कवृ-वर्णने इति धातोरौणादिक इकारप्रत्ययः। भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्रा पाणिग्रहणं पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्तौ कर्म्मणी'ति विहितायाः षष्ठ्याः 'कर्म्मणि चे'ति समासनिषेधेऽपि शेषे षष्ठीसमासः। तत्र स्पृहेति मम मनो नलं कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेतो नलं कामयत इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि नाग्राहि किं? गृहीत एवेत्यर्थः॥ ६९॥

'राजा (नल) के साथ विवाह करनेकी इच्छा है, मेरा मन नलको चाहता है' ऐसे श्लेषपण्डिता तुम्हारे पूर्वोक्त दो श्लोकों (३।५९ तथा ६७) के अर्थको विद्वान् मैंने नहीं समझा क्या? अर्थात् 'यद्यपि तुमने स्पष्ट नहीं कहकर श्लेषद्वारा अपना मनोरथ बतलाया है, तथापि तुम नलको चाहती हो' ऐसा तुम्हारे अभिप्रायको मैंने समझ ही लिया है॥६९॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ एव ।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥ ७० ॥

तर्हि किमर्थं करेण वाञ्छेत्यादिकमज्ञवदुक्तमित्यत आह—त्वच्चेतस इति । किन्तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययमस्थिरत्वं संभाव्य आशङ्क्य तदज्ञः कस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञः अनभिज्ञः भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादय' इति साधुः अस्मि । त्वच्चित्तनिश्चयपर्यन्तमित्यर्थः । धातुसम्बन्धे प्रत्यया इति भविष्यत्ताया गुणत्वाद्वर्तमानतानुरोधः । नन्वेदमनुरक्तायां मयि कुत इयं शङ्केत्याशङ्क्य स्त्रीणां चित्तचाञ्चल्यसम्भवादित्याह—लक्ष्य इति । लोलशीले चञ्चलस्वभावे बालाहृदि चित्त एव स्मरोऽपि दरापराद्धेषुरीषच्च्युतसायकः स्यात्, कुशलोऽपि धन्वी चललक्ष्यात्कदाचिदपराध्यत इति भावः । 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद् यश्च्युतसायकः' इत्यमरः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ७० ॥

(बाला होनेके कारण) तुम्हारे मनकी अस्थिरताको सम्भावना कर मैं उसका अनभिज्ञ (अजानकार) ही बना हूं (या—अनभिज्ञ सा बना हूं); क्योंकि सदा चञ्चल बालाके हृदयमें कामदेव लक्ष्यभ्रष्ट भी हो जाता है । [बालामें कामवासना तीव्र नहीं रहनेसे वह अधिक कामपीडित नहीं होती, अत एव सम्भव है बाला होनेसे तुम्हारा मन भी बादमें परिवर्तित हो जाय, इस कारण तुम्हारे मनोरथको जानकर भी मैं अजानकार ही बना था]॥

महीमहेन्द्रः खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीयः कथमित्थमेव ? ।
प्रयोजनं सांशयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥ ७१ ॥

महीति । नैषधः इन्दुरिव नैषधेन्दुर्नलचन्द्रः महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः खलु तस्मात् स नलः । पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्विधेन मादृशा विदुषा ईदृक् सांशयिकं सन्देहदुःस्थम् अस्थिरं प्रयोजनं प्रति इत्थमेव मुग्धाकारेणैव कथं बोधनीयः? अनर्हमित्यर्थः । 'गतिबुद्धी'त्यादिना अणि कर्तुर्नलस्य कर्मत्वं,'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति अभिधानाच्च ॥

इस कारण सन्देहयुक्त कार्यके लिये नैषधचन्द्र राजा नलसे हीन व्यक्तिके समान मुझ-जैसा प्रामाणिक व्यक्ति इसी प्रकार (सन्देहयुक्त होनेसे बिना विचार किये ही) कैसे कहे ? । [सामान्य व्यक्ति भले ही किसी सन्दिग्ध कार्यके लिये भी नलसे निवेदन कर दे, किन्तु मुझ जैसे प्रामाणिक व्यक्तिको सन्दिग्ध कार्यके लिये नलसे निवेदन करना कदापि उचित नहीं है] । ७१ ॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे ।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

अथेत्थमेव बोधने को दोषस्तत्राह—पितुरिति । पितुर्नियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अन्यं नलादयं युवानं यदि वृणीषे वृणोषि यदि, तदा निषधेश्वरस्य

१. 'तमश्च' इति पाठान्तरम् ।

नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्यं, 'चतुर्थी तदर्थे'त्यादिना चतुर्थी समासः, 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्'। तद्यत्तथा अर्थित्वकृतिः अर्थित्वभजनं तत्र प्रतीतिर्विश्वासः कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थः। तस्मादसन्दिग्धं वाच्यमिति भावः॥

यदि तुम पिता (भीम) की आज्ञासे या स्वच्छासे दूसरे युवकका वरण कर लोगी तो तुम्हारे लिए याचना करनेवाले मेरे विषयमें नलका कैसे विश्वास रह जायेगा [अर्थात् सर्वदाके लिए मुझसे उनका विश्वास उठ जायेगा, अतः विना दृढ निश्चय किये मैं नलसे तुम्हारे लिए नहीं कहना चाहता]॥ ७२॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम्।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि! सर्वम्॥ ७३॥

अन्यथा तथा वक्तुं न शक्यते तर्हि ततोऽन्यदीप्सितं करिष्ये प्रतिज्ञाभङ्गपरिहारायेत्याह—त्वयेति। हे उर्वीपतिपुत्रि! भैमि! त्वयापि वा किं विधातुं किं कर्तुं शङ्कितविक्रिये सम्भावितविपर्यये अस्मिन् विषये राजपाणिग्रहणसंघटनकार्ये अहम्, अधिक्रिये विनियुज्ये, अनियोज्य इत्यर्थः। करोतेः कर्मणि लट्, किन्तु इतः पृथगस्मादन्यत् यद्यत्प्रार्थयसे तत्सर्वं कुर्वे करोमीत्यर्थः॥ ७३॥

तुमभी परिवर्तनकी सम्भावना वाले इस (नल–विवाहरूप) विषयमें कार्य करनेके लिए मुझे क्यों अधिकारी बनाती हो? अतः हे राजकुमारी दमयन्ती! इससे भिन्न जो जो तुम चाहोगी, वह सब मैं करूंगा॥ ७३॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना।
ऊचे ह्रिया विश्लथितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री॥ ७४॥

श्रव इति। धरित्रीपुरुहूतपुत्री भूमीन्द्रसुता भैमी श्रवःप्रविष्टा इव न तु सम्यक् प्रविष्टाः तद्गिरो हंसवाचः। वैमत्येन असम्मत्या धुतेन कम्पितेन मूर्ध्ना विधूय प्रतिषिध्य ह्रिया कर्त्र्या विश्लथितानुरोधा शिथिलितवृत्तिस्त्यक्तलज्जा सती पुनरप्यूचे उवाच॥ ७४॥

कानमें प्रविष्ट हुएके समान उस हंसके वचनोंको असम्मतिसे कम्पित किये गये मस्तकसे निकालकर लज्जासे शिथिलित अनुरोध वाली अर्थात् अत्याज्य लज्जाको भी शिथिल, की हुई राजकुमारी दमयन्ती बोली—। [हंसके कहनेपर ऐसा कहीं हो सकता कि मैं पिताकी आज्ञासे या स्वेच्छासे दूसरे युवकका वरण कर लूँ' इस अभिप्रायसे निषेध करती हुई दमयन्तीने जब मस्तकको हिलाया, तब ऐसा ज्ञात होता था कि हंसोक्त अनभिलषित वचन जो उसके कानोंमें घुस गये हैं, उन्हें निकालनेके लिए उसने मस्तक हिलाया हो; लोकमें भी कानमें अनभिलषित कीड़ा आदि घुसनेपर मस्तकको हिलाकर लोग उसे बाहर करते हैं]॥ ७४॥

मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।

निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥ ७५ ॥

मदिति । मम अन्यदानमन्यस्म दानं प्रति दानमुद्दिश्य या कल्पना पितुर्नियोगे-ऽस्मदि श्लोकस्तर्कः । एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्सत्य एवेत्यर्थः । निशो निशाया अपि 'पद्दन्नि'त्यादिना निशाया निशादेशः सोमाच्चन्द्रादितरकान्तशङ्कां पुरुषान्तरकल्पनामेव ओङ्कारं प्रणवम् अस्य वेदस्याग्रेसरमाद्यं कुर्याः कुरु सर्वस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भावः । यथा निशायाःनिशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीयः, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थः । रूपकालङ्कारः ॥ ७५ ॥

मुझे दूसरे युवकके लिए देनेकी यदि कल्पना तुम्हारे हृदयमें वेद अर्थात् वेदवत् प्रामाणिक है, तो रात्रिके भी चन्द्रभिन्न पति होनेकी शङ्काको इस वेदके आगे करो। [वेदके पहले ॐकार होता है, अतः यदि तुम्हें शङ्का है कि पिताकी आज्ञासे या स्वयं दूसरे युवकका मैं वरण कर लूँगी (३।७२), तो रात्रिका भी पति चन्द्रमासे भिन्न कोई हो सकता है, इस बातको भी तुम्हें प्रामाणिक मानना चाहिये। अत एव जिस प्रकार रात्रि का पति चन्द्रमासे भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता, उसी प्रकार मेरा भी पति नलसे भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता] ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

सरोजिनीति । सरोजिन्याः मानसरागवृत्तेर्मनोऽनुरागस्थितेरभ्यन्तरारुण्यप्रवृत्तेश्च अनर्कसम्पर्कमर्केतरकान्तसंक्रान्तिमतर्कयित्वा अनूहित्वा तवेयं मम अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रहं शङ्कत इति तच्छङ्कितस्य भावस्तत्ता महीयो महत्तरं साहसिक्यं साहसिकत्वम् अहो असम्भावितसम्भावनादाश्चर्यम् ॥ ७६ ॥

कमलिनीके मनोऽनुरागके व्यापारको सूर्येतरके साथ बिना तर्क किये नलेतरके साथ मेरे विवाहकी शङ्का करना तुम्हारा बहुत बड़ा साहस है, (तुम्हारे ऐसे साहस करनेपर) आश्चर्य है। [सूर्यके अतिरिक्त किसी दूसरेसे कमलिनी विकसित नहीं हो सकती, तो नलके अतिरिक्त किसी दूसरेसे मेरा विवाह नहीं हो सकता, अत एव बे-सिर पैरकी बातोंकी शङ्का करनेसे तुम्हारे महान् साहसपर मुझे आश्चर्य होता है] ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाऽतर्कि तदेकमेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषा गिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

साध्विति । किन्तु स्वेन स्वेच्छया अनलं नलादन्यम् अग्निं च संश्रयिष्ये प्राप्स्यामीति यत् त्वया अतर्कि ऊहितं तदेकमेव साधु अतर्कि, किन्तु अमुना नलेन विना तवलाभ इत्यर्थः । स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं कर्मणोऽधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमी । 'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वतोभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥' इति वचनादनलं संश्रयिष्ये' इत्यनुषङ्गः नृपतौ नले विषये त्वां

ऋपागिरमसत्यवाचं कर्तुमनल एव शरणम् अन्यथा मरणमेव शरणमिति भावः॥

हां, तुमने सचमुच यह ठीक तर्क किया है कि मैं स्वयं अनल (अग्नि, पक्षा०—नलभिन्न) का आश्रय कर लूंगी, इस (नल) के बिना अपनी आत्मापर प्रहार करनेके लिए तैयार हूँ अर्थात् नलके नहीं मिलनेपर अग्निमें जलकर मर जाऊँगी, किन्तु तुम्हें राजा नलके यहां असत्यवक्ता नहीं बनाऊंगी॥ ७७॥

मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कस्स किं तत्फलवाचि मूकः?।
अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु?॥ ७८॥

मदिति। किञ्च, यस्तर्क ऊहः मद्विप्रलभ्यं मया विप्रलम्भनीयं 'पोरदुपधादि'ति यत्प्रत्ययः। आह बोधयतीत्यर्थः स तर्कः तस्य विप्रलम्भस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूकः अशक्तः किम्? अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थः। कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चयः अत आह—अशक्या शङ्का यस्य सः अशक्यशङ्कः शङ्कितुमशक्यः व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सालक्षणो यस्याः सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाणं चेत्तर्हि के तु वेदाः सन्तु? न केऽपीत्यर्थः, सम्भावनायां लोट्। वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वम्, नान्यथेति भावः॥ ७८॥

जिस तर्कसे तुम यह समझते हो कि 'यह दमयन्ती मुझे (हंसको) असत्य कहकर ठग रही है', वह तर्क उस ठगनेके परिणामको कहनेमें मूक क्यों है (तुम्हें झूठाकर मुझे क्या लाभ होगा, यह भी तुम्हें उसी तर्कसे पूछना चाहिये), जिसमें कोई शङ्का नहीं हो सकती ऐसे व्यभिचार कारणवाले वचन वेद (वेदके समान सत्य) नहीं हैं, तो वेद क्या है?, [जिसमें व्यभिचार होनेकी शङ्का ही नहीं उठती, ऐसे ही वचन वेदतुल्य सत्य हैं, अतः तुम्हें ठगनेपर मुझे कोई फल (लाभ) नहीं होगा, इस कारण मैं तुम्हें नलको पति बनानेके लिए कहकर ठग नहीं रही हूँ, किन्तु सत्य कह रही हूँ]॥ ७८॥

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम्?।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलस्स एव॥ ७९॥

एवं निजेच्छया नलान्यशङ्कां निरस्य पित्राज्ञयापि तां निरस्यति—अनैषधायेति। तातो मम जनकः। 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः। मामनैषधाय नैषधादन्यस्मै एव जुहोति ददातीति काकुः, तदा शरीरशेषां मृतां तत्रापि कृशानौ न किं नु जीवन्तीं नाग्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थः। तदङ्गीकर्त्तव्यमेवेति भावः। कुतः? स जनकः तनूजन्मतनोः आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी, भवतीत्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणी'ति शेषे षष्ठी। तथापि शरीरस्य पितृस्वामिकत्वेऽपीत्यर्थः। मत्प्राणनाथस्तु नल एव, प्राणानामतज्जन्यत्वादिति भावः। अतो मय्यविश्वासं मा कुर्वित्यर्थः॥ ७९॥

यदि पिताजी मुझे नल-भिन्नके लिए देते हैं तो शरीरशेष (प्राणहीन-मृत) मुझको अग्निमें ही क्यों नहीं फेंक देते? कहो, वे (पिताजी) सन्तानके शरीरके अधिकारी

अवश्य हैं, तथापि मेरे प्राणनाथ तो नल ही हैं। [यदि पिताजी किसी दूसरेके साथ मेरा विवाह करना चाहेंगे तो जन्मान्तरमें भी नलको पतिरूपमें पानेके लिए मैं प्राणत्याग कर दूंगी] ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

फलितमाह–तदेकेति । तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्वं तदेव पदमधिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते पत्नीस्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुतैव साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः। साध्विति सामान्योपक्रमान्नपुंसकत्वम्, 'शक्यं श्वमांसेनापि क्षुत्प्रतिहन्तुमि'ति भाष्यकारप्रयोगात्। ननु किमत्राभिनिवेशेन गुणवत्तरं येयुवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह–अहेलिनेति। नलिनी सुधाकरेण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते? किं तेन तस्या इत्यर्थः। तद्वन्ममापि किं युवान्तरेणेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ८० ॥

उस (नल) की एकमात्र दासी-पदसे भी श्रेष्ठ मेरे अभीष्ट को पूरा करनेकी तुम्हारी चाहना अच्छी है ? अर्थात् कदापि नहीं, क्योंकि सूर्यभिन्न अमृतकर भी चन्द्रमासे कमलिनी क्या करती है ? अर्थात् कुछ नहीं। [जिस प्रकार कमलिनी अमृतकिरण भी चन्द्रमाकी इच्छा नहीं करके सूर्यको ही चाहती है, उसी प्रकार मैं नलका दासी बनकर ही रहना चाहती हू, दूसरे किसीकी पटरानी भी नहीं होना चाहती, अत एव तुमने नल-प्राप्तिसे भिन्न मेरे दूसरे मनोरथकी जो साधना चाहते हो, वह दूसरा कोई भी मेरा मनोरथ नहीं है] ॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम् ।
वित्ते ममैकस्स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखस्स एव ॥ ८१ ॥

तदिति । तस्मिन्नेवैकस्मिन् लुब्धे लोलुपे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिमपि लब्धुं चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते धनविषयेऽपि मम स नलस्त्रिलोकीसारस्त्रैलोक्यश्रेष्ठः पद्ममुखः पद्माननः एकः स नल एव त्रैलोक्यसारः, पद्मनिधिश्च । नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति । किमुत युवान्तर इति भावः ॥ ८१ ॥

इस कारण उस नलमात्रके लोभी (पानेकी इच्छा करनेवाले) मेरे मनमें बहुमूल्य चिन्तामणिको भी पानेकी चिन्ता नहीं है, सम्पूर्ण त्रिलोकीका सारभूत कमल तुल्य सुन्दर मुखवाले वे (नल) ही हमारे निधि (प्राणसर्वस्व स्वामी) हैं [अथ च—पद्म हैं, प्रथम जिसके, ऐसे वे ही मेरे कोष हैं, अतः चिन्तामणिको भी मैं नहीं चाहती हूँ] ॥ ८१ ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम् ।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

श्रुतश्चेति । किं बहुना स नलः श्रुतः दूतद्विजवन्द्यादिमुखादाकर्णितश्च, मोहात्

भ्रान्तिवशात् हरित्सु दृष्टः साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रितबुद्धिधारं निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाहं यथा तथा ध्यातश्च । अथाद्य मम तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिरसुव्ययः प्राणत्यागो वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थः । शेषः कार्यशेषः स च तव हस्ते आस्ते त्वदायत्तः तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र तत्पदार्थश्रवणमननानेदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिदुःखोच्छेदलक्षणमोक्षो गुर्वायत्त एवेत्यर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव अभिधायाः प्रकृतार्थनियन्त्रणादिति सङ्क्षेपः ॥ ८२ ॥

मैंने नलको (दूत, बन्दी तथा द्विज आदिके मुखसे) सुना है, भ्रमवश दिशाओंमें देखा है तथा निरन्तर बुद्धिप्रवाहसे उनका ध्यान किया है; (इस प्रकार मैंने चक्षुःप्रीति आदि नव प्रकारकी अवस्थाओंका अनुभव किया है और अब) मुझे नलको पाना या मेरा मरना—दोनों तुम्हारे हाथोंमें है, उनमें एकका शेष होगा अर्थात् मैं नलको वरूँगी, या मर कर दशमी अवस्थाको पाऊँगी ? ['सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) से समानरूप वालोंका ही एकशेष होता है, परन्तु यहाँ विभिन्न रूपवालोंका भी एकशेष होना आश्चर्यजनक है । अथ च—जिस प्रकार श्रवण, दर्शन तथा ध्यानसे प्रत्यक्ष किये हुए ब्रह्मकी प्राप्ति किसी पुण्यात्माको ही होती है, उसी प्रकार उक्त प्रकारसे श्रवणादिसे प्रत्यक्ष किये गये नलकी प्राप्ति मुझे तुम्हारे अनुग्रह-विशेषसे होगी, अन्यथा नहीं । तथा—ब्रह्मप्राप्तिमें अद्वय (दो अवयव वालों) से ज्ञान एकका ही शेष होता है] ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम् ।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ? ॥८३॥

सञ्चीयतामिति । हे हंस ! आश्रुतपालनोत्थं प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहणोत्पन्नम् 'अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातमि'त्यमरः । मत्प्राणानां विश्राणनं दानं तज्जञ्च पुण्यं सुकृतं सञ्चीयतां संगृह्यतां, हे आर्य ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम् । अये ! अङ्ग ! भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये भृशङ्केयं मुद्रा औदासीन्यं, श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

('मेरा कार्य करनेसे तुम्हें पुण्यातिशय प्राप्तिरूप महान् लाभ होगा' इस आशयसे दमयन्ती कहती है—) प्रतिज्ञाके पालनसे उत्पन्न मेरे प्राणदानरूप पुण्यका संग्रह करो, हे आर्य ! व्यर्थकी विपरीत शङ्का (या—विशिष्ट शङ्का) को छोड़िये, अरे ! शुभ कार्यमें भी अत्यधिक यह मुद्रा (चुप रहनेकी चेष्टा) क्यों है? [अथवा—सज्जन, या विचारशील तुममें यह (मौनधारण रूप) चेष्टा क्यों है ? अब तुम मौन छोड़कर पूर्व स्वीकृत वचनको पूरा करनेके लिये स्पष्टरूपसे कहो] ॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय[1] ! विज्ञ ! याञ्चां कृत्वापि वाक्यं विविधं विधेये ।
यशःपथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वाऽस्तखलोक्तिखेलात् ॥८४॥

१. 'प्रियविज्ञ !' इति पाठान्तरम् ।

अलमिति । हे प्रिय ! प्रियङ्कर विज्ञ ! विशेषज्ञ ! उभयत्र 'इगुपधे'त्यादिना कप्रत्ययः । याच्ञां प्रार्थनां विलङ्घ्य अलं याच्ञाभङ्गो न कार्य इत्यर्थः । विधेये विनीतजने विविधं वक्रयं वक्रतां कृत्वापि अलं, तच्च न कार्यमित्यर्थः । आश्रवो यथोक्तकारी, 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता सैव पदं पदक्षेपः तदुत्थात् अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला मिथ्यावादविनोदो येन तस्माद्यशःपथात् स्खलित्वा चलित्वा खलु न स्खलितव्यमित्यर्थः । अन्यथा हानिः स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः । 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वे'ति उभयत्रापि क्त्वाप्रत्ययः, इह 'न पादादौ खल्वादय' इति निषेधस्योद्वेजकत्वाभिप्रायत्वान्नञर्थस्य खलुशब्दस्यानुद्वेजकत्वान्नञ्वदेव पादादौ प्रयोगो न दूष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥८४॥

हे प्रिय ! हे विज्ञ (विचारशील ! अथवा—पक्षियोंमें ज्ञानी राजहंस !, अथवा—प्रिय पक्षियोंमें ज्ञानी—राजहंस !, अथवा—प्रिय (नल) को विशेष जाननेवाले) ! मेरी याचनाका उल्लङ्घन मत करो, (या—प्रिय तथा विज्ञ नल-विषयक मेरी (याच्नाका उल्लङ्घन मत करो) विनीतमें (या—कर्तव्य कार्यमें) अनेक प्रकारकी कुटिलता भी मत करो और कहे हुए वचनको पालनेवालोंके चरण (या—तल्लक्षण श्रेष्ठ स्थान) से उत्पन्न तथा दुष्टोक्ति क्रीडासे वर्जित कीर्तिमार्गसे स्खलित भी मत होवो । [लोकमें हंसको पक्षियों में श्रेष्ठतम माना जाता है, अत एव उसे अपनी उस कीर्तिसे विचलित न होनेका यहाँ निषेध ही किया गया है] ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्त्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।
मह्यं मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मः कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौतः ॥ ८५ ॥

स्वेति । ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कष्टलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीवं ददद्भ्यः स्वप्राणव्ययेन परत्राणं कुर्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थः । 'जीवञ्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकुः, त्रपाया मनःप्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सोः तव कीर्त्या धौतः शुद्धो धर्मः कराद्धस्ताद् भ्रश्यति, न चैतत्तवार्हमिति भावः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार मुट्ठी बांधे हुए (ऐसे महाकृपण, अत एव) मेरे प्राणोंको ही मुझे नहीं देनेकी इच्छा करनेवाले तुमको, दुःखियोंके हर्षके लिए अपना जीवन तक देनेवालों (शिवि, दधीचि, जीमूतवाहन, राजा कर्ण आदि दाताओं) से लज्जा नहीं होती, अत एव उक्तरूप कीर्तिसे धोया गया (स्वच्छतम) धर्म भी तुम्हारे हाथसे गिर (नष्ट हो) रहा है । [दूसरे का धन लेकर पुनः उसे समर्पित नहीं करनेवाले व्यक्तिको आर्त्तोंके लिए अपना जीवनतक देनेवालोंसे लज्जा कैसे हो ? यदि लज्जा हो तब तो वह दूसरेकी ली हुई वस्तु उसे समर्पित ही कर देता, वैसा तुम नहीं करते, अत एव धर्मके साथ लज्जाको भी तुम नष्ट कर रहे हो । जो दूसरेकी वस्तुको ही नहीं लौटाना चाहता, वह अपनी वस्तु कैसे दे सकता है ?

अर्थात् कदापि नहीं दे सकता अत एव तुम नलदानद्वारा मेरे प्राणोंको मुझे देकर अपने धर्म तथा लज्जा दोनोंकी रक्षा करो] ॥ ८५ ॥

दत्त्वाऽऽत्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन ।
विधेहि तन्मां त्वदृणे¹ऽशोद्धुमसुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

दत्त्वेति । किं च, जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीवं मत्प्राणं दत्त्वापि शुध्यामि आनृण्यं गमिष्यामीत्यर्थः । किन्तु जीवादधिकः प्रियः तद्दे त्वयि केन शुध्यामि ? न केनापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थः । सम्प्रति प्राणैः समं तु न किञ्चिदस्तीति भावः । तत्तस्मादभावादेव मां त्वदृणेषु विषये अशोद्धुमऋणग्रस्तां भवितुमेव असुद्रे अपरिमिते दारिद्र्यं त्वद्देयवस्त्वभावरूपं तस्मिन्नेव समुद्रे । मग्नां विधेहि नलसङ्गम-नेन मामृणग्रस्तां कुर्वित्यर्थः । अशोद्धुं, मग्नामिति मग्नत्वानुवादेन अशुद्धिर्विधीयते दरिद्राणामृणमुक्तिर्नास्तीति भावः ॥ ८६ ॥

तुम्हें जीव-दान करनेपर मैं अपना जीवन-दान करके भी शुद्ध (ऋणहीन—अनृणी) हो सकती हूँ, किन्तु जीवसे अधिक (नल) के देनेपर (जीवाधिक पदार्थान्तर नहीं होनेसे) मैं किससे अर्थात् तुम्हारे लिए क्या देकर शुद्ध होऊंगी (तुम्हारे ऋणसे छुटकारा पाऊंगी) ? इस कारण तुम तुम्हारे ऋणको नहीं चुकानेके लिए मुझे अपरिमित दारिद्र्यरूपी समुद्रमें मग्न कर दो । [मेरे जीवनसे भी अधिक नलको मुझे देकर सदाके लिए अपना ऋणी बना लो] ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यं न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम् ।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥ ८७ ॥

क्रीणीष्वेति । हे जीवेशदातः प्राणेश्वरद ! मज्जीवितमेव पण्यं क्रेयं वस्तु क्रीणीष्व, जीवेशरूपमूल्यदानेन स्वीकुरुष्वेत्यर्थः । अन्यदेतन्मूल्यानुरूपं वस्त्वन्तरं नास्ति चेत्तर्हि पुण्यं सुकृतमस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुभ्यं दातुं न प्रभवामि न शक्नोमि ताव-त्तर्हि यशोऽपि कीर्त्तिं गातुं प्रभवामि, ख्यातिसुकृतार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

(नलको बिना पाये मेरा मर जाना निश्चित है, अत एव तुम नलको देकर) मेरे जीवनरूप सौदेको खरीद लो । (यद्यपि जीवनदान तथा जीवनाधिकदानमें जीवनाधिक-दानके बिना दूसरा कोई भी मूल्य नहीं हो सकता), तथापि तुम्हें पुण्य ही हो । हे प्राणनाथके दाता राजहंस यदि मैं कुछ नहीं दे सकती हूँ तो तुम्हारा यश भी नहीं गा सकती ? अर्थात् तुम्हारा यश ही गाया करूंगी [इसी प्रकार पुण्यरूप पारलौकिक फलमें अनिच्छा या अविश्वास रखनेवाले तुमको ऐहिक यशोगानरूप फल तो मिल ही जायेगा] ॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यान्नेभ्याः कृतज्ञानथवाद्रियन्ते ।

---

१. त्वदृणान्यशोद्धु—' इति पाठान्तरम् । २. '—असोढु—' इति पाठान्तरम् ।

प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥८८॥

अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकारं कुर्वित्याह—वराटिकेति । वराटिकोपक्रियया कपर्दिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान् उपकारज्ञान् इभ्याः धनिकाः, 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी'त्यमरः । नाद्रियन्ते धनलोभान्नोप कुर्वन्तीत्यर्थः। सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मानं निपुणं भणन्तः, सन्त एते वयं त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यर्थः । तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणैः क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत जनैरित्यर्थः । अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाऽहमुपकर्तव्येति भावः । हन्त हर्षे ॥ ८८ ॥

धनिकलोग एक कौड़ीके भी उपकारसे मिलनेवाले कृतज्ञोंका आदर नहीं करते, और अपनेको चतुर कहते हुए सज्जन लोग प्राणरूप मूल्यसे भी उन्हें खरीद लेते हैं । [अतः पूर्व श्लोकोक्त पुण्य तथा यशकी चाहना तुम्हें यदि नहीं हो, तथापि (निरपेक्ष होते हुए भी) सज्जन होनेके कारण मुझे उपकृत करो] ॥ ८८ ॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधियः प्रसेदे ।
न हीतरस्माद्घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥ ८९ ॥

स इति । किञ्च स भूभृन्नलः अष्टावपि लोकपालाः, तदात्मक इत्यर्थः । 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति स्मरणात् । अत एव तदेकाग्रधियो नलैकतानबुद्धेः मे मम तैर्लोकपालैः प्रसेदे प्रसन्नं भावे लिट् । देवता ध्यायतः प्रसीदन्तीति भावः । कुत ? इतरस्मात् प्रसादादन्यथेत्यर्थः । स्वयं स्वयमेवागत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः नलप्राप्तिलग्नकोऽभूरिति यत् , तन्न घटते हि । तत्प्रसादाभावे कुतो ममेदं श्रेयः ? इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

वे नल आठों लोकपाल हैं, उन (नल) में एकाग्र बुद्धिवाली मुझपर वे लोकपाल प्रसन्न हो गये हैं, उस (नल) की प्राप्तिके विषयमें तुम स्वयं आकर मेरा प्रतिभू (जामिनदार, मध्यस्थ) बने हो, यह बात अन्यथा (नलको मुझे देनेके लिए लोकपालोंके मुझपर प्रसन्न नहीं होनेपर) नहीं घटित होती । [अत एव दाता तथा ग्रहीताके बीचमें दोनों ओर कार्य करनेवाले प्रतिभूको ही दबाकर नियत धनादि मांगा जाता है, अत एवं मैं भी तुमसे ही नलको देनेके लिए बार-बार हठपूर्वक कह रही हूँ] ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्मभुवाऽर्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य ।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

अकाण्डेति । हे हंस ! विः पक्षी 'विर्विष्किरपतत्रिणः' इत्यमरः । 'रोरी'ति रेफलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्ये'ति दीर्घः । भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया' आत्मभुवा कामेन मयि विषये अर्जितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहारलक्षणस्य मूलं हंसानामुद्दीपकत्वेन निदानं भूत्वाऽपि अन्यत्र काण्डो दण्डः तद्वर्जितमकाण्डं यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अर्जितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूलं मूलावयवो

भूत्वा अत एव नलदत्वं नैषधदातृत्वम् । अन्यत्र उशीरत्वं चेत्यर्थः । हृदः चन्दनलेपकृत्यं शैत्योत्पादनं न कर्त्ता करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिति भावः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु ।', 'स्याद्वीरणं वीरतरुर्मूलस्योशीरमस्त्रियाम् ।' 'अभयं नलदं सेव्यमि'ति चामरः । वीरणस्येति शब्दश्लेषः । अन्यत्रार्थश्लेषः । तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृताप्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हंसे आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृत्या तादात्म्येन चन्दनकृत्यलक्षणप्रकृतकार्य्योपयोगात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति सङ्करः ॥ ९० ॥

असमय अर्थात् बाल्यमें ही कामदेवसे उत्पादित रहस्य-कथनका मूल पक्षी होकर भी (अथवा—नलका प्रस्ताव उपस्थित कर बाणहीन कामदेवके युद्धका मूल (जड़) पक्षी होकर भी। अथवा—विना गांठ (पर्व-पोर) के ही ब्रह्माके द्वारा मेरे लिए रचे गये खसका मूल—जड़ होकर भी आप मेरे लिए नल (राजा नल, पक्षा०—उशीर = खश) को देकर हृदयके चन्दन-लेपके कार्यको नहीं करेंगे क्या ? (जब आप मेरे लिए ब्रह्मसृष्ट खशकी जड़ बने हैं, तब आपको मेरे लिए नल (खश) को देकर हृदयपर चन्दनलेपके कार्यको पूरा कराना ही चाहिये। अथ च—मेरे कौमार अवस्थामें ही आप सहसा कहींसे आकर कामयुद्धका मूल बन गये हैं तो नलको मेरे लिए देकर मेरे हृदय पर चन्दन लेपका कार्य-सम्पादन आपको करना ही चाहिये, अन्यथा यदि अन्य-नलको मेरे लिए नहीं देंगे तो मैं हृदय पर चन्दनका लेपकर शृङ्गार भी नहीं करूंगी] ॥ ९० ॥

अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः ।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः ॥ ९१ ॥

अलमिति । हे हंस ! विलम्ब्यालं न विलम्बितव्यमित्यर्थः । 'अलङ्खल्वोरि'त्यादिना क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशः । त्वरितुं वेला हि त्वराकालः खल्वयमित्यर्थः । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' कुतः ? स्थैर्यसहे विलम्बसहे कार्ये विचारो विमर्शः किलेति प्रसिद्धौ, अन्यथा विपत्स्यत इति भावः । तथाहि तीक्ष्णा शीघ्रग्राहिणी प्रतिभा प्रज्ञा गुरूपदेशमिव आर्त्तिराधिर्जातु कदापि कालं न प्रतीक्षते, कालक्षेपं न सहत इत्यर्थः । उपमार्थान्तरन्यासयोः संसृष्टिः ॥ ९१ ॥

यह समय शीघ्रता करनेका है, अत एव विलम्ब मत करो, क्योंकि विलम्बको सह सकनेवाले कार्यमें विचार किया जाता है। जिस प्रकार तीक्ष्ण बुद्धि गुरुके उपदेशकी प्रतीक्षा कभी नहीं करती, उसी प्रकार पीड़ा (नल-विरह पीडा) समय (विलम्ब) की प्रतीक्षा नहीं करती ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।
प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥ ९२ ॥

अथानन्तरकृत्यं सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोकपञ्चकेन । गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगतः अन्तःपुरस्थो मदर्थं मत्प्रयोजनं नाभ्यर्थनीयो न वाच्यः, दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनामि'ति राज्ञोऽभिहितकर्मत्वम् कुतः ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणामास्यदाक्षिण्यं मुखावलोकनोत्थापितच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः । तेन बलात् कृतो बलात्प्रतिवर्त्तितो अन्यवधूनिषेधः उदयेत् उत्पद्यते ॥ ९२ ॥

(अब चार श्लोकों (३।९३-९५) से नलसे प्रार्थना करनेके उचित अवसरको कहती है—) यहाँसे गये हुए तुम रानियोंके बीचमें स्थित राजा नलसे मेरे लिए प्रार्थना मत करना, (अथवा —यहाँसे गये हुए तुम मेरे लिए राजा नलसे प्रार्थना करना, किन्तु रानियोंके बीचमें प्रार्थना नहीं करना), क्योंकि उस समय प्रियाओंके मुख देखनेसे उत्पन्न लज्जा एवं प्रेमसे दूसरी स्त्रीके विषयमें निषेध हो सकता है ॥ ९२ ॥

शुद्धान्तसंभोगनितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुस्सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥९३॥

शुद्धान्तेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तःपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अत्यन्तसन्तुष्टे नैषधे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्यं न निगदितव्यम्, 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमदे'त्यादिना सोपसर्गाद्यतो निषेधात् । यथाहि अपां तृप्ताय अद्भिस्तृप्तायेत्यर्थः । 'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात् षष्ठी 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स्वादुर्मधुरा सुगन्धिः कर्पूरादिवासनया शोभनगन्धा । अत्र कवीनां निरङ्कुशत्वाद्गन्धस्येत्वे तदेकान्तत्वनियमानादरः । तुषाराः शीतला वारिधारा न स्वदते न रोचते हि । दृष्टान्तालंकारः ॥ ९३ ॥

रानियोंके साथ सम्भोग कर अत्यन्त सन्तुष्ट नलसे इस कार्यको मत कहना, क्योंकि जलसे सन्तुष्ट व्यक्तिको स्वादिष्ट सुगन्धयुक्त एवं ठण्डी जलकी धारा नहीं रुचती । [उक्त दृष्टान्तद्वारा दमयन्तीने नलकी अन्य रानियोंको सामान्य जलतुल्य तथा अपनेको मधुर सुगन्धित एवं शीतल जलतुल्य कहकर उनकी अपेक्षा अपनेको बहुत श्रेष्ठ ध्वनित किया है] ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस ! ॥ ९४ ॥

विज्ञापनीया इति । हे हंसकुलावतंस ! नैषधस्य नलस्य हृदि हृदये क्रुधा क्रोधेन कदुष्णे ईषदुष्णे चकारात्कोः कदादेशः । मद्यमिमाः मदर्थाः 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' गिरो वाचो न विज्ञापनीया न विधेयाः न विज्ञाप्या इत्यर्थः । तथाहि पित्तेन पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रसनेन्द्रिये सिता शर्करापि तिक्तायते तिक्तीभवति लोहितादित्वात् क्यष्, 'वा क्यष' इति आत्मनेपदम् । अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९४ ॥

हे हंसवंशके भूषण ! नलसे क्रोधसे हृदयके कुछ गर्म रहनेपर मेरे लिए बातको मत कहना, क्योंकि पित्तसे जीभके दूषित होनेपर शक्कर भी तीता लगता है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते।
तदाऽर्थितस्यानवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

धरेति। तुरं त्वरितं सहयत्यभिभवत्यरीनिति तुरापाडिन्द्रःसहतेश्चौरादिकत्वात् क्विप, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः, प्रकृतिग्रहणे ण्यन्तस्यापि ग्रहणात्, मुग्धभोजस्तु तुराशब्दं टावन्तमाह। तस्मिन् धरातुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु असाड्रूपत्वात् 'सहेः साडः स' इति षत्वं नास्ति। कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्थयाच्ञा मत्प्रयोजनप्रार्थना न कार्या। तथाहि—तदा व्यासङ्गकाले अर्थितस्य अनवबोधः अबोधः स एव निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभिज्ञानं बिभर्ति, अनादरप्रतीतिं करोतीत्यर्थः। तच्चातिकष्टमिति भावः ॥ ९५ ॥

राजा (नल) के चित्तके दूसरे कार्यमें आसक्त रहनेपर तुम मेरे लिए प्रार्थना मत करना, क्योंकि कार्यान्तरमें चित्तके आसक्त रहने पर याचित विषयको नहीं सुनना अपमान करने (या—अभीष्ट नहीं होने) के रूपको ग्रहण कर लेता है। [कार्यान्तरमें चित्तके आसक्त रहनेके कारण यदि व्यक्ति किसीकी याचनाको नहीं सुननेके कारण उसके विषयमें कोई उत्तर नहीं देता तो प्रार्थयिता समझता है कि इनको यह बात नहीं रुचती, और ऐसा समझ पुनः उस विषयमें उस व्यक्तिसे प्रार्थना करना भी नहीं चाहता] ॥ ९५ ॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन् समयं समीक्ष्य।
आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति ? ॥९६॥

विज्ञेनेति। तस्मात् कारणाद् विज्ञेन विवेकिना त्वया समयं समीक्ष्य इदं कार्यमस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम्। विलम्बः स्यादित्याशङ्क्याह—आत्यन्तिकेति। हे हंस ! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योर्मध्ये आर्यस्य विदुषस्ते का कतरा शुभा समीचीना विभाति ? अनवसरविज्ञापने कार्यविघाताद्वरं विलम्बनेनापि कार्यसाधनमिति भावः ॥ ९६ ॥

इस कारणसे विद्वान् आप इस राजा (नल) से अवसर देखकर इस विषयमें प्रार्थना करना। आपको कार्यकी सिद्धि सर्वथा नहीं होनेमें तथा विलम्बसे सिद्धि होनेमें कौन-सी उत्तम मालूम पड़ती है ? अर्थात् सर्वथा असिद्धि होनेसे विलम्बसे सिद्धि होना ही उत्तम है ॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा साऽनौचिती चेतसि नश्चकास्तु।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥ ९७ ॥

इतीति। इत्थमुक्तवत्या तया लज्जा अलोपि त्यक्तेति यत्। सा, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, अनौचिती अनौचित्यङ्गतमेतत् नोऽस्माकं शृण्वतां चेतसि चकास्तु। किन्तु लज्जात्यागस्य अदोषतायां स्मरः साक्षी प्रमाणं, यः स्मरः तां भैमीमुन्माद्य

उन्मादावस्थां प्राप्यैतत्तदनुचितं वचनमवीवदत् वादयतिस्म । वदतेर्णौ चङि 'गतिबुद्धी' त्यादिना वदेरणि कर्तुः कर्मत्वम् । प्रकृतिस्थस्यायं दोषो न कामोपहत-चेतस इति भावः ॥ ९७ ॥

ऐसा (३।७५-९६) कहनेवाली दमयन्तीने जो लज्जाको छोड़ दिया, वह हम लोगोंके मनमें अनुचित भले ही मालूम हो, किन्तु उस (दमयन्ती) के निर्दोष होनेमें कामदेव साक्षी है, जिसने उसे उन्मादयुक्त करके उससे वह (३।७५-९६) कहलवा दिया। (उन्मादयुक्त पुरुषका कोई अपराध नहीं माना जाता, अतः कामोन्मादयुक्त बाला दमयन्ती-ने युवतीके समान लज्जा त्यागकर वह सब कह दिया तो उसमें उसका कोई दोष नहीं मानना चाहिये] ॥ ९७ ॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते ।
पूर्वस्स्मरस्पर्धितया प्रसूनं नूनं द्वितीयो विरहाधिदूनम् ॥ ९८ ॥

कामो वा किमर्थमेवं कारयतीत्याशङ्क्य तस्यायं निसर्गो यदुन्मत्तेन क्रीडतीति सदृष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हरः स्मरश्च द्वावपि उन्मत्तमासाद्य असीमां दुरन्तां मुदमुद्वहेते दधतुः । वहेः स्वरितेत्वादात्मनेपदम् किन्तु तत्र निर्देशक्रमात् पूर्वो हरः स्मरस्पर्द्धितया स्मरद्वेषितया प्रसूनं धुत्तूरकुसुमं तस्यायुधतयेति भावः । अन्यस्तु द्वितीयः स्मरस्तु विरहाधिदूनं विरहव्यथादुःस्थमुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थः । अन्यत्र विनोदलाभादित्यर्थः । 'उन्मत्त उन्मादवति धुत्तूरमुचुकुन्दयोरि'ति विश्वः । उभयोर-भेदाध्यवसायात् समानधर्म्मत्वविशेषणमत्राश्लेषात्प्रकृताप्रकृतगोचरत्वाच्च उभय-श्लेषः तेन हरवत् स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

शिवजी तथा कामदेव—दोनों ही उन्मत्तको प्राप्तकर परस्पर स्पर्द्धापूर्वक असीम हर्ष को पाते हैं, उनमें पहला (शिवजी) उन्मत्त पुष्प अर्थात् धतूरेके फूलको तथा दूसरा काम-देव उन्मत्त अर्थात् प्रिय-विरहसे सन्तप्त होनेसे उन्मादयुक्त व्यक्तिको प्राप्तकर असीम हर्ष पाते हैं । [शिवजी तथा कामदेव एक दूसरेके शत्रु हैं, अतः प्रथम शिवजी पुष्पबाण कामदेवके बाणरूप उन्मत्तपुष्प (धतूरेके फूल) को पाकर तथा कामदेव धतूरपुष्पसे प्रसन्न होते हुए शिवजीको देखकर मुझे भी उन्मत्त (उन्मादयुक्त व्यक्ति) को पाकर हर्षित होना चाहिए, यह जानकर प्रिय-विरहित उन्मत्त व्यक्तिको पाकर हर्षित होता है । अथ च—कामदेव शिवजीके गणभूत उन्मत्त पिशाचको पाकर हर्षित होता है । शत्रुकी प्रिय वस्तुको वशमें करनेपर हर्ष होना सर्वविदित है । कामदेव शिवजीसे तथा शिवजी कामदेवसे अधिक हर्षित होना चाहते हैं, अतः दोनों हर्षित होनेके लिए परस्परमें स्पर्द्धा किए हुए हैं, शत्रुके साथ किसी बातमें स्पर्द्धाकर उससे आगे बढ़नेकी इच्छा होना भी लोक-विदित है] ॥ ९८ ॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निर्णीय तां नैषधबद्धरागाम् ।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः ॥ ९९ ॥

तथेति । तथाऽभिधात्रीं तां राजपुत्रीं भैमीं नैषधे नले बद्धरागां निर्णीय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूयः चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्वममोचि आवादीदित्यर्थः ॥ ९९ ॥

इसके बाद वैसा (३-७५-९९) कहनेवाली राजकुमारीको नलमें अनुरक्त निश्चित कर वह राजहंस हँसकर चन्चुपुटकी मौनमुद्राका त्याग किया अर्थात् बोला—॥ ९९ ॥

इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

इदमिति । हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इदं त्वदुक्तं तत्त्वं यदि सत्यं यदि तत्तर्हि अस्मिन् विषये स्वविधेयं मत्कृत्यं न पश्यामि, किन्तु त्वां नृपं च उच्चकैरत्यन्तं तापयता पञ्चेषुणैव इयं योजना युवयोः सङ्घटना अजनि जाता। जनेःकर्मणि 'चिणो लुक्' ॥१००॥

हे राजकुमारी ! यदि यह सत्य है, तो इस विषयमें मैं अपना कोई कार्य नहीं देखता हूँ अर्थात् मुझे कुछ करना नहीं है; क्योंकि तुम्हें तथा राजा (नल) को अत्यन्त सन्तप्त करते हुए कामदेवने ही यह योजना (दोनोंका मिलन) तैयार की है। [लोकमें भी लाख, लोहा आदि धातुको सन्तप्तकर संयुक्त होते हुए देखा जाता है] ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः ।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

त्वदिति । किन्तु त्वद्बद्धबुद्धेः त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव ध्यायत इत्यर्थः । अत एव तस्योपवासव्रतिनां त्वदासङ्गाद्विषयान्तरव्यावृत्तानां तपोभिरुक्तोपवासव्रतरूपैरद्य त्वां लब्ध्वा मन्मुखेन लब्धप्रायां निश्चित्य साक्षात्कृत्येति च गम्यते, अत एव अमृतेन या तृप्तिस्तद्भाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं स्वकीयं देवभूयं देवत्वमिन्द्रियत्वं सुरत्वञ्च, 'देवः सुरे राज्ञि देवमाख्यातमिन्द्रियमि'ति विश्वः । चरितार्थं सफलमस्तु । अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्वं स्यादिति भावः । अर्थान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥

तुममें ही बुद्धि लगाये हुए उस (नल) की (बाह्य विषयोंको ग्रहण नहीं करनेसे) उपवास व्रत करनेवाली तथा तपस्याओंके द्वारा (मुझसे सुनकर; या भविष्यमें प्रत्यक्षतः) तुम्हें पाकर अमृततुल्य तृप्तिको प्राप्त करनेवाली इन्द्रियोंका अपना देवत्व सार्थक होवे । [जिस प्रकार कोई तपस्या करता हुआ भोजन नहीं करता तथा एकमात्र ब्रह्मका ध्यान करता रहता है, फिर वह उन तपस्याओंके प्रभावसे ब्रह्मको पाकर अमृतभोक्ता देवके भावको प्राप्त करता है; उसी प्रकार नल भी सदा एकमात्र तुम्हारा ही ध्यान करते हैं, उनकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियाँ रूपादि अपने-अपने विषयोंको ग्रहण नहीं करनेसे मानो उपवास कर रही हैं, नलकी वे बाह्येन्द्रियाँ तपस्याके प्रभावसे मेरे कहनेपर तुमको प्राप्त कर लेंगी (या—भविष्यमें प्रत्यक्ष देख लेंगी) इस प्रकार तुम्हारा दर्शन उन नेत्रादि इन्द्रियोंके लिए अमृत भोजन तुल्य होकर 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' इत्यादि

श्रुतियोंके अनुसार उन इन्द्रियोंका देवत्व चरितार्थ हो। आजतक तो उक्त श्रुतिवचनके अनुसार केवल वचनमात्रसे ही नेत्रादि इन्द्रियोंको सूर्यादिदेवभाव प्राप्त था, किन्तु अब पुण्यसे तुम्हें पाकर अमृतभोजी होनेसे उनका देवत्व अर्थतः भी चरितार्थ होगा, अमृतभोजी होनेपर ही देवोंका वास्तविक देवत्व है, अन्यथा नहीं। तुम्हारी प्राप्ति नलके लिए अमृत-प्राप्तिके समान आनन्दकारी होगी ॥ १०१ ॥

तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं साऽस्य न ताप्यतेऽपि ।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

यदुक्तं नृपं पञ्चेषुस्तापयतीति तदाह—तुल्येति । आवयोर्नलस्य मम चेत्यर्थः । 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति सर्वग्रहणादत्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येकशेषः । मूर्तिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपाऽभूत् । तत्र मदीया सा मूर्त्तिः परं निःशेषं दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तनुर्न ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन् ईर्ष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा । अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थः । तस्य नलस्य देहतापं विधत्ते । तस्मात्सिद्धिपदमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भावः ॥ १०२ ॥

'हम दोनोंकी मूर्ति समान है, मेरी (कामदेवकी) मूर्ति तो जल गयी और इस (नल) की मूर्ति तो अधिक उष्ण (गर्म–सन्तप्त) भी नहीं होती' मानो ऐसी ईर्ष्या करता हुआ कामदेव तुम्हारे विरहसे इस (नल) के शरीरको सन्तप्त कर रहा है ॥ १०२ ॥

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।
चक्षुर्भरैरर्पितमात्मचक्षू रागं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥ १०३ ॥

अथास्य दशावस्था वर्णयन् चक्षुःप्रीतिं तावत् श्लोकद्वयेनाह—लिपिमित्यादि । हे भैमि ! स नृपो भित्तिविभूषणं कुड्यालङ्कारभूतां लिपिं चित्रमयीं त्वां दृशा आदरेणास्थया निर्निमेषं पिबन् चक्षुर्भरैरश्रुभिरर्पितं त्वया नु त्वया वा रचितमात्मचक्षुषो रागमारुण्यमनुरागञ्च धत्ते । अत्रोभयकारणसम्भवादुभयस्मिन्नपि रागे जाते श्लेषमहिम्नैकत्राभिधानात्कारणविशेषः सन्देहः ॥ १०३ ॥

(हंस नलकी दस[1] दशाओंका वर्णन करता हुआ प्रथम दशा 'चक्षुः प्रीति' का वर्णन करता है—) राजा नल दिवालकी अलङ्कार अर्थात् दिवालपर बनायी गयी तुमको आदरसे एकटक देखते हुए एकटक देखनेसे (या —अनुरागसे) बहते हुए नेत्र–प्रवाहों (आँसुओं) से किये गये मानो तुमसे रचित चक्षूराग (नेत्रोंमें उत्पन्न लालिमा) को ग्रहणकर रहे हैं। [नल भीतमें बनाये गये तुम्हारे चित्रको आदरपूर्वक एकटक देखते हैं, अतः एकटक देखनेसे (या—तुममें अनुराग होनेसे) उनके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहती रहती है,

१. रतिरहस्ये—'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः ।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ।' इति ।

इससे उनके नेत्र लाल-लाल हो रहे हैं अतः ऐसा ज्ञान होता है कि उनके नेत्रोंमें लालिमाको तुम्हींने उत्पन्न कर दिया है। एकटक देखनेसे या किसीमें अनुरागाधिक्य होनेसे नेत्रसे आँसू आना और उनका लाल-लाल हो जाना अनुभूत है]॥ १०३॥

पातुर्दृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयाऽस्ति।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः॥ १०४॥

इममेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—पातुरिति। अस्तनिमीलया निर्निमेषया दृशा आलेख्यमयीं चित्रगतां त्वामादरात्पातुर्द्रष्टुरित्यर्थः, पिबतेस्तृन् प्रत्ययः। अत एव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्त्वामिति द्वितीया। नृपस्य नेत्रवृत्तेः प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्निमेषस्य च्छिदया च्छेदेन सह-नेत्रवृत्त्येति शेषः। भिदादित्वादङ् प्रत्ययः। अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवादः कलहः अस्ति भवतीत्यर्थः॥ १०४॥

(उसी भावको प्रकारान्तरसे कहते हैं—) चित्रमयी तुमको आदरपूर्वक निमेषरहित दृष्टिसे पान करते (सादर देखते) हुए राजा नलकी आँसूके विषयमें नेत्रगत अनुरागका तथा निर्निमेषका 'यह मेरा है' ऐसा विवाद होता हैं। [नल चित्रलिखित तुमको आदरपूर्वक एकटक देखते हुए आँसू बहाते हैं, तो नेत्रगत अनुराग कहता है कि 'इस आँसूको मैंने उत्पन्न किया है' तथा निमेषाभाव (एकटक देखना) कहता है कि 'इसे मैंने उत्पन्न किया है' इस प्रकार दोनोंका झगड़ा चल रहा है। यहाँ पर 'निमेषच्छिदया' में अप्रधान अर्थमें तृतीया विभक्तिका प्रयोगकर नेत्रगत अनुरागजन्य ही आँसू है ऐसा सूचित किया गया है]॥ १०४॥

त्वं हृद्गता भैमि! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या।
न चित्रमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति॥ १०५॥

अथ मनःसङ्गमाह—त्वमिति। हे भैमि! त्वं बहिर्गतापि हृद्गता अन्तर्गता, अपि विरोधे तेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। कया गत्या केन प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे' कर्तुः क्यङ् प्रत्ययः। नासि अस्येवेत्यर्थः। यतः प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेणं आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः। अतएव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्चर्यंरसः चित्तमाक्रामति न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः। कुतः यद्यस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका यस्य तद्भवदेकवृत्ति, भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। जीवितभूतस्य प्राणायितत्वे किं चित्रं, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः॥ १०५॥

(अब नलकी दूसरी दशा 'चित्तासक्ति' का वर्णन करता है—) हे दमयन्ति! बहिः

---

१. 'चित्र—' इति पाठान्तरम्।

प्रदेशमें विद्यमान भी (अनुरागवश) हृदयमें स्थित तुम किस प्रकारसे इस नलके प्राण-तुल्य नहीं हो ? अर्थात् सब प्रकारसे नलके प्राणवत् प्रिया हो । (अथवा—बहिः प्रदेशमें विद्यमान भी नासिका तथा मुखकी गति (सौन्दर्य से नलके अन्तःकरणमें स्थित हो और इसीसे प्राणप्रिया हो । 'वायु नासिका तथा मुखके मार्गसे बारह अङ्गुल बाहर निकलकर 'प्राण' कहलाती)'। उस (प्राणायित होने) में आश्चर्य है एकमात्र त्वन्मात्र परायण (केवल तुमसे ही जीनेवाला) नलका मन जो चित्तको आक्रान्त नहीं करता इसमें आश्चर्य नहीं है । [पाठा०—त्वन्मात्र-परायण नलका मन जो चित्रको आक्रान्त नहीं करता इसमें आश्चर्य है अर्थात् विरह-पीडामें मनको चञ्चल रहना चाहिए, किन्तु वह चित्रवत् व्यापार-शून्य हो जाता है यह आश्चर्य है । त्वन्मात्रपरायण होनेसे नलका मन अन्यत्र कहीं भी नहीं लगता, अतएव तुम उसके प्राणतुल्य प्रिया हो । अथवा—चित्र उक्तरूप नल-मनको जो आक्रान्त (पराधीन) नहीं करता, यह आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं है, क्यों कि वह (नलका मन) त्वन्मात्रपरायण है । अथवा—उक्तरूप नल-मन चित्रको आक्रान्त नहीं करता यह आश्चर्य है; क्योंकि चित्रको सभी लोग देखते हैं, किन्तु नल-मन नहीं देखता, यह आश्चर्य है] ॥ १०५ ॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम् ।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतान्तदाप्य ॥१०६॥

अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति । दूरदीर्घामत्यन्तायतां तदीयां सङ्कल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् ततिं पङ्क्तिमजस्रं त्वमारोहसि, श्वासान् पुनः स नलः अधिकं वर्षति मुञ्चतीति यत्, तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् त्वन्मयतां त्वदात्मकत्वमाप्य प्राप्य, आप्नोतेराङ्, समासे क्त्वो ल्यबादेशः, अन्यथा कथमन्यायासादन्यस्य श्वासमोच इति भावः । अत्र श्वाससोपानारोहणयोः कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्योक्तेरसङ्गत्यलङ्कारः 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि' तिलक्षणात् तन्मूला चेयं तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ १०६ ॥

(अब तृतीया 'सङ्कल्प' दशाका वर्णन करता हैं—) तुम नलकी सङ्कल्परूप सीढ़ियों की श्रेणी पर बहुत दूर तक चढ़ती हो (दमयन्ती मुझे कैसे मिलेगी, उसे पाकर मैं उसके साथ इस प्रकार वार्तालाप, क्रीडा, बिहार आदि करूंगा इत्यादि अनेकविध सङ्कल्प तुम्हारे विषय में नल किया करते हैं)। वे नल जो बार-बार श्वासोंकी अधिक वृष्टि करते हैं अर्थात् अधिक श्वास लेते हैं, वह त्वन्मय (तुम्हारी चिन्तामें लीन) होकर तुम्हारे ध्यानके कारण करते हैं । [जो बहुत दूर तक सीढ़ियोंपर चढ़ता है, वही अधिक श्वास लेता (हांफता) है, परन्तु यहाँ पर जो तुम नलके सङ्कल्परूप सीढ़ियों पर चढ़ती हो, अतः तुम्हें अधिक श्वास लेना चाहिए था, परन्तु नल अधिक श्वास लेते हैं, यह विपरीत बात है । परन्तु नल त्वन्मय (त्वद्रूप) होनेसे अधिक श्वास लेते हैं, यह उचित है, क्योंकि अब नलका तथा तुम्हारा कोई भेदभाव ही नहीं रह गया है] ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत्।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

हृदिति। तस्य नलस्य हृत् हृदयं कर्तृ यां त्वां रहः उपांशु 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः। मन्त्रयते सम्भाषते तां त्वां तन्मुखं कर्तृ व्यक्तं प्रकाशमामन्त्रयते। हे प्रिये! क्व यासि? मामनुयान्तं पश्य इत्येवमुच्चैरुच्चरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशनं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता। तन्मुखस्य तद्वैरिणो नलद्वेषिणः पुष्पायुधस्य मित्रं सखा शरच्चन्द्रः। तेन यत् सख्यं मैत्री सादृश्यञ्च, तस्य औचिती औचित्यं खलु। अरिर्मित्रस्याप्यरित्वादुचितमेतद्रहस्यभेदनमित्यर्थः। अत्र मुखकर्तृकरहस्योद्भेदनस्य उक्तवैरनिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ १०७ ॥

उस नलका अन्तःकरण एकान्तमें जो तुमसे मन्त्रणा (गुप्त परामर्श) करता है, उसको (नलका) मुख बाहरमें प्रकट कर देता है। नल-मुखका यह कार्य तुम्हारे शत्रु कामदेवके मित्र चन्द्रमाके मित्रताके अनुरूप ही है। [नलने सौन्दर्याधिक्यसे कामदेवको जीत लिया है, अत एव नलका कामदेव शत्रु हुआ, उस कामदेवका मित्र चन्द्रमा है, अत एव नल-शत्रु कामदेवके मित्र चन्द्रमाकी समानता रखनेसे उसके साथ मित्रता करनेवाला नल-मुख नलशत्रु कामदेवको सहायता देनेके लिए जो नलके हृदयकी बातको प्रकाशित करा देता है, वह उचित ही है; क्योंकि शत्रुके मित्रके मित्रको भी शत्रुका सहायक होना ठीक ही नीति है] ॥ १०७ ॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ति।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥

अथ एकेन जागरमरतिञ्चाह-स्थितस्येति। रात्रौ शय्यामधिशय्य शय्यायां शयित्वा 'अधिशीङ्स्थासामि'ति अधिकरणस्य कर्मत्वम्। स्थितस्य तस्य मनो मोहे सुखपारवश्ये निमज्जयन्ती सती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वदृते त्वत्तो विना 'अन्यारादितरर्ते' इत्यादिना पञ्चमी। त्वद्विरहाद्धेतोस्त्वदन्या चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अधुना नास्ति, निद्रानिषेधाज्जागरः अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेषलक्षणा अरतिश्चोक्ता अत्र निद्राङ्गनयोः प्रस्तुतयोरेवालिङ्गनाच्चिचुम्बनादिधर्मसाम्यादौपम्यप्रतीतेः केवलं प्रकृतगोचरात्तुल्ययोगितालङ्कारः। 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणात् ॥१०८॥

[अब क्रमागत चतुर्थी अवस्थाका वर्णन करना उचित होनेपर भी लाघवसे 'निद्रा-नाश' नामक चौथी तथा 'विषय-निवृत्ति' नामक छठी अवस्थाओंका वर्णन करता है) रात्रिमें पलंगपर सोकर स्थित उस (नल) के मनको मोहमें मग्न (मदनाक्रान्त) करती हुई जो निद्रा (सम्पूर्ण शरीरका) आलिङ्गन कर दोनों नेत्रोंका चुम्बन करती है, वह निद्रा भी इस समयमें तुम्हारे बिना कोई स्त्री नहीं है। [तुम्हारे विरहमें नल न तो सोते है और न किसी रानीके साथ सम्भोग करते हैं, अत एव वे निद्राहीन तथा विषयनिवृत्त हो रहे हैं]॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव[1] बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि ।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥ १०९ ॥

अथ कार्श्यावस्थामाह—स्मरेणेति । अयं नलः स्मरेण बाणैर्निस्तक्ष्य निशात्य वृथैव लावण्यं कान्तिविशेषः, 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति भूपालः । तदेव शेषो यस्यास्तां तनुतां कार्श्यमनायि नीतः । नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि लुङ् 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणामि'ति वचनात् । वृथात्वं व्यनक्ति—अनङ्गतां कृशाङ्गताम् 'अनुदरे' तिवदीषदर्थे नञ् समासः, आप्यमानो आनीयमानोऽपि अत्र पूर्ववत्प्रधाने शानच् तेन स्मरेण सार्द्धं स्पर्धां न विजहाति, तथापि तं जिगीषत्येवेत्यर्थः । अङ्गकार्श्येऽपि स्पर्द्धाबीजलावण्यस्याकार्श्यादङ्गकर्शनं वृथैवेति भावः । अत एव विशेषोक्तिरलङ्कारः, 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिरलङ्कृतिः ।' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

(अब पाँचवीं 'कृशता' अवस्थाका वर्णन करता है—) कामदेवने बाणोंसे छील—छील कर व्यथमें ही सौन्दर्यावशेष (जिसकी सुन्दरता ही बच गयी है ऐसी दुर्बलताको प्राप्त कराया है, क्योंकि अनङ्गता (अतिशय कृश हो जानेसे अतिक्षीण-शरीरता, पक्षा०—मदनता) को प्राप्त भी ये नल उस कामदेवके साथ स्पर्द्धा करना नहीं छोड़ेंगे । [यद्यपि नल कामपीड़ासे अत्यधिक दुर्बल हो जायेंगे, तथापि सुन्दरताके वैसे ही स्थिर रहनेसे कामदेवके समान ही रहेंगे, अत एव कामदेवका उक्त प्रयत्न वृथा है] ॥ १०९ ॥

त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत् ।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ॥११०॥

अथ द्वाभ्यां लज्जात्यागमाह—त्वदित्यादि । स्मरेण तीक्ष्णैर्बाणैरतितक्ष्य शरीरमिति शेषः। अस्य नलस्य स्वभावोऽपि पापभीरुत्वनीचत्वगर्हत्वताच्छील्यमपि क्रियानल्पोऽपि लूनः किमित्युत्प्रेक्षा, यद्यस्मात्त्वत्प्रापकात् त्वत्प्राप्तिसाधनादेनसः पापादपि न त्रस्यति, 'भीत्रार्थानां भयहेतुरि'ति अपादानत्वात् पञ्चमी त्वय्येव दास्येऽपि त्वदधिगतदास्यविषये न लज्जते ॥ ११० ॥

(अब सातवीं 'निर्लज्जा' वस्थाका वर्णन करता है—आठ[2] प्रकारके विवाहोंमें 'राक्षस' नामक विवाहका वर्णन [3]क्षत्रियके लिए आया है, अत एव) ये नल तुमको प्राप्त

१. 'तथैव' इति पाठान्तरम्—
२. मनुनोक्ता अष्टविधविवाहा यथा—
'ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥' इति (मनु० ३।२१)
३. तदुक्तं मनुना—'चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥' इति (मनु० ३।२४)

करानेवाले पाप ('राक्षस' विवाह करने) से भी नहीं डरते हैं, तथा (क्षत्रियके लिए दासता करनेका निषेध होनेपर भी) तुम्हारी दासता करनेमें भी नहीं लज्जित होते हैं; (इससे अनुमान होता है कि) कामदेवने तीक्ष्ण बाणोंसे इनके स्वरूप स्वभावको भी अधिक छील कर काट (क्षीण कर) दिया है। [पूर्व श्लोक (३।१०९) में नलके शरीर को बाणोंसे छीलकर कृश करनेकी चर्चा की गयी है, अत एव ज्ञात होता है कि बाणोंसे शरीरको छीलकर पतला करते हुए कामदेवने इनके स्वभावको भी अधिक छीलकर पतला (दुर्बल) कर दिया है, जिसके कारण पहले पापकर्मसे डरनेवाले तथा दास्यकर्मसे लज्जित होनेवाले नल इस समय उनके करनेके लिए भी तैयार हो गये हैं]॥ ११०॥

स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोस्सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा॥१११॥

स्मारमिति। घोरं दारुणं स्मारं ज्वरं कामसन्तापं चिकित्सौ प्रतिकर्त्तरि कित-निवास इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्निति निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु इष्यत' इति रोगप्रतीकारे सन् प्रत्ययः, 'सनाशंसभिक्ष उः', 'नलोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। सिद्धागदङ्कारचये सिद्धवैद्यसङ्घे कर्मण्यणि 'कारे सत्यागदस्ये'ति मुमागमः। निदान-मौनाद्रोगनिदानानभिधानाद्धेतोरपत्रपिष्णोर्लज्जाशीलस्य 'अलङ्कृञ्'त्यादिना इष्णुच। तस्य नलस्य विशाला महती लज्जा संक्रमादागता सांक्रामिकी रुजेव, 'अक्षि-रोगो ह्यपस्मारः क्षयः कुष्ठो मसूरिका। दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् संक्रमन्ति नरान्नरम्॥' इति उक्तक्षयादिरोगा इवेत्यर्थः, भिदादित्वादङ् प्रत्ययः, अविशत्॥ १११॥

भयङ्कर कामज्वरकी चिकित्सा करनेकी इच्छा करनेवाले अनुभवी वैद्य-समूहमें लज्जा-हीन उस नलकी विशाल लज्जा (रोगके कारणको ठीक नहीं समझ सकनेके कारण) निदानमें मौन धारण करनेसे मानो सङ्क्रामक रोगके समान प्रविष्ट हो गयी। [नलको भयङ्कर कामज्वर होनेपर अनुभवी बहुतसे वैद्य उनकी चिकित्सा करना चाहते थे, किन्तु रोगका निदान ठीक नहीं कर सकनेके कारण वे लज्जित हो गये अत एव ज्ञात होता है कि नलने तुम्हारे विरहमें जो लज्जा त्याग कर दिया है, वही विशाल लज्जा संक्रामकरोग (कुष्ठ, अपस्मार आदि छुतही बीमारी) के समान उन वैद्योंमें प्रविष्ट हो गयी है। रोगका ठीक निदान नहीं करनेसे वैद्य—समूहका लज्जित होकर मौन धारण करना उचित ही है। अथवा जब वे रोगका ठीक निदान नहीं कर सके, तब नलसे ही रोगका कारण पूछे और उन्होंने 'दमयन्ती–विरहजन्य यह कामज्वर है' ऐसा लज्जा छोड़कर स्पष्ट कह दिया अत एव वे 'लज्जित हो गये कि बिना इनके कहे हम रोग–निदान नहीं कर सके। इस प्रकार मानो नलकी लज्जा उन वैद्योंमें प्रविष्ट हो गयी]॥ १११॥

तथा—'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ।' इति च (मनु० ३।२६) एतद्विषयकविशेषजिज्ञासायां मत्कृतो मनुस्मृतेः 'मणिप्रभा'नुवादो द्रष्टव्यः।

बिभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां¹ किलोपेत्य हसत्यकाण्डे।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम्॥ ११२॥

अथ उन्मादावस्थामाह—बिभेतीति। स नलः अकस्मादकाण्डे रुष्टा कुपिताऽसीति बिभेति, अकाण्डे अनवसरे उपेत्य किल प्राप्येव हसति, अहेतोरकस्माद्यान्तीं गच्छन्तीं किल त्वामनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं निर्विषयं प्रतिवक्ति। सर्वोऽप्ययमुन्मादानुभावः। उन्मादश्चित्तविभ्रमः॥ ११२॥

(अब आठवीं 'उन्माद' दशाका वर्णन करता है—) वे (नल) 'तुम रुष्ट हो गयी हो' ऐसा समझकर एकाएक डर जाते हैं, मानो तुम्हारे पास जाकर (पाठा०—तुम्हें पाये हुए-से अर्थात् 'तुम्हें पा लिया है' ऐसा समझकर) एकाएक हँसते हैं। जाती हुई-सीके समान (मानो 'तुम जा रही हो' ऐसा समझकर) तुम्हारा अनुगमन करते हैं और 'तुमने कहा (नलसे बातचीत की)' ऐसा समझकर व्यर्थ प्रत्युत्तर देते हैं॥ ११२॥

भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निश्शरण्यः।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हा हा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम्॥ ११३॥

अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति। भवत्या वियोगो भवद्वियोगः, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः'। तस्मिन्नच्छिदुरा अविच्छिन्ना 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्'। आर्तिधारा दुःखपरम्परा तस्या एव यमस्वसुर्यमुनाया मूर्च्छामयं मूर्च्छावस्थारूपं यद्द्वीपं तत्र यन्महान्ध्यं महामोहस्तस्मिन्नेव पङ्के महीभृद्भटो राजवीरः स एव कुञ्जरः निःशरण्यो निरालम्बः सन् मज्जति हा हेति खेदे। रूपकालङ्कारः। आर्तिधारायास्तमोविकारत्वेन रूपसाम्याद्यमुना रूपणम्॥ ११३॥

(अब राजहंस नवीं 'मूर्च्छा' वस्थाका वर्णन करता है—) यह राजश्रेष्ठरूप हाथी नल तुम्हारे विरहसे उत्पन्न शाश्वत पीडाप्रवाहरूपी यमुनाके मूर्च्छारूप द्वीप (टापू—चारों ओर जलसे घिरा हुआ निर्जल स्थान-विशेष) में घोर अन्धकाररूपी कीचड़ (दलदल भूमि) में शरण-रहित होकर धस रहा है, हाय! महादुःख है। [जिस प्रकार हाथीवान्के बिना पर्वताकार विशाल हाथी यमुनाके दलदलमें धसकर पीडित होता है, उसी प्रकार ये नल तुम्हारे विरहसे निरन्तर होनेवाली पीडाओंसे मूर्च्छाजन्य अन्धकारमें डूब रहा है, यह महान् दुःख है]॥ ११३॥

सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु।
दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभः पुष्प्यतु कोरकेण॥ ११४॥

दशमावस्था तु तस्य कदापि माभूदित्यत आह—सव्येति। सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणाभ्यां व्यसनान्मोचनात् द्विरुक्तैर्द्विगुणीकृतैर्दशभिरित्यर्थः। पञ्चेषुबाणैः

१. 'किलापेति' इति पाठान्तरम्।

पृथगर्जितासु प्रत्येकमुत्पादितासु दशसु 'दृङ्मनःसङ्गसङ्कल्पा जागरः कृशताऽरतिः । ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ।' इत्युक्तासु चक्षुःप्रीत्यादिदशावस्थासु शेषा अवशिष्टा या तद्दशा दशमावस्थेत्यर्थः । तयैव कोरकेण कलिकयेति रूपकम् । नभः, पुष्प्यतु पुष्पितमस्तु । अस्य सा दशा खपुष्पकल्पाऽस्तु, कदापि मा भूदित्यर्थः । तच्च त्वत्प्राप्तिलाभादिति भावः पुष्प-विकसन इति धातोर्लोट् ॥ ११४ ॥

(अब उक्ति विशेषसे दशमी 'मरणा' वस्थाका निषेध करते हुए वर्णन करता है—) बायें तथा दहनेके फेर-बदलसे द्विगुणित कामबाणसे उत्पन्न दश दशाओंमें जो बाकी (दशवीं) दशा (मृत्यु) है, उस कलिकासे आकाश पुष्पित हो । [जिस प्रकार आकाश-पुष्पका होना सर्वथा असम्भव है, उसी प्रकार नलकी वह दशवीं अवस्था (मृत्यु) असम्भव हो जावे । कामदेवके पाँच बाण हैं, उनको उसके बाँयें तथा दहने—दोनों ओरसे छोड़नेसे उसकी दश दशा विरहिजनोंको उत्पन्न होती है । वे दश दशाएँ ये हैं—१ नेत्र-प्रीति, २ चित्तासङ्ग, ३ सङ्कल्प, ४ अनिद्रा, ५ कृशता, ६ विषय-निवृत्ति (अरति), ७ निर्लज्जता, ८ उन्माद, ९ मूर्च्छा और १० मृत्यु[1]] ॥ ११५ ॥

त्वयि स्मराधेस्सततास्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।
आगत्य भूतस्सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥ ११५ ॥

त्वयीति । त्वयि विषये स्मराधेः स्मरपीडादुःखाद्धेतोः सततमस्मितेन स्मितरहितेन खिन्नेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितोऽस्मि । अथ आगत्य गुणलोभवत्याः भवत्यास्तव भावप्रतीत्या अभिप्रायज्ञानेन सफलो भूतः सिद्धार्थोऽस्मीत्यर्थः ॥ ११५ ॥

कामपीडासे सर्वदा हासरहित उस राजा (नल) ने तुम्हारे पास मुझे भेजा है, यहाँ आकर गुणका लोभ करनेवाली अर्थात् गुणग्राहिणी आपके प्रेमका विश्वास होनेसे मैं सफल (कृतकार्य) हो गया ॥ ११५ ॥

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु [2]चन्द्रिका या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥११६॥

धन्येति । हे वैदर्भि ! भैमि ! वैदर्भीरीतिरपि गम्यते । धनं लब्धा धन्या असि कृतार्थासीत्यर्थः । 'धनगणं लब्धे'ति यत्प्रत्ययः । कुतः ? यया त्वया उदारैरुत्कृष्टैर्गुणैर्लावण्यादिभिरन्यत्र श्लेषैः प्रसादादिभिः पाशैश्चेति गम्यते, नैषधो नलोऽपि तादृक् धीरोऽपीति भावः । समाकृष्यत सम्यगाकृष्टो वशीकृत इति भावः । एतेन

---

१. उक्ता कामदशा रतिरहस्यकृन्मतेन, साहित्यदर्पणकृन्मते तु—
'अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥' इति । (सा० द० ३।२२८)

२. 'चन्द्रिकाया' इति षष्ठयन्तपदमिति 'प्रकाशः' ।

वैदर्भीत्यादिविशेषणाद् गुणैर्भावुकमिवेत्युपमालङ्कारो युज्यते । तथाहि—चन्द्रिका या अब्धिमपि गभीरमपीति भावः । उत्तरलीकरोति क्षोभयतीति यत् इतोऽपि अभ्यधिका स्तुतिर्वर्णना का खलु ? न कापीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः । एतेन नलस्य समुद्रगाम्भीर्यं दमयन्त्याश्चन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते ॥ ११६ ॥

हे दमयन्ति ! (पक्षा०—वैदर्भी रीति ध्वनित होती है), तुम धन्य हो, जिस तुमने उदार गुणों (पक्षा० श्रेष्ठ श्लेषादि गुणों, या—उत्तम रस्सियों—जालों) से नलको भी आकृष्ट कर लिया (अथवा—तम उदार गुणोंसे धन्य हो, जिस तुमने नलको भी आकृष्ट कर लिया), इससे अधिक प्रशंसा क्या है ? जो (चाँदनी) (अतिशय गंभीर) समुद्रको भी चञ्चल करती है । पाठा०—इससे अधिक चाँदनीकी क्या प्रशंसा है ? जो समुद्रको भी......। [वैसे ही तुमने परम गंभीर नलको भी अपने सौन्दर्यादि गुणोंसे आकृष्ट कर लिया, अतः धन्य हो । इससे नल समुद्रके समान गम्भीर हैं तथा दमयन्ती चाँदनीके समान सुन्दर एवं आह्लादिका है, यह सूचित होता है] ॥ ११६ ॥

नलेन भायाश्शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव ।
पुनःपुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवां युयुक्षुः ॥ ११७ ॥

फलितमाह—नलेति । शशिना निशेव त्वं नलेन भायाः । भातेराशिषि लिङ् । सोऽपि निशया शशीव त्वया भायात्, भातेः पूर्ववदाशिषि लिङ् । किं च अत्र दैवानुकूल्यमपि सुभाव्यमित्याह-पुनः पुनस्तयोर्निशाशशिनोर्युगं युनक्ति योजयतीति तद्युगयुक् विधाता युवां नलं त्वाञ्च 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति एकशेषः । योक्तुमिच्छतीति युयुक्षुर्युजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः स्वभ्यासमभ्यासस्य समृद्धौ निरन्तराभ्यास इत्यर्थः । समृद्ध्यर्थेऽव्ययीभावः । ततः परस्याः सप्तम्या वैकल्पिकत्वादम् भावः । आस्ते नु ? तथाऽभ्यस्यति किमित्यर्थः । अत्र तादर्थ्ये चतुर्थ्या अभाव इति व्याख्याने अभ्यासार्थमभ्यस्यतीत्यर्थः स्यात् तदास्माश्रयत्वादित्यपेक्षणीयम् । अत्र दमयन्तीनलयोरन्योन्यशोभाजननोक्तेरन्योन्यालङ्कारः । 'परस्परक्रियाजननमन्योन्यमि'ति लक्षणात् । उपमाद्वयानुप्राणित इति सङ्करः । तन्मूला चेयं विधातुः पुनर्निशाशशियोजनायां दमयन्तीनलयोजनाभ्यासत्वोत्प्रेक्षेति ॥ ११७ ॥

(अब आशीर्वाद देता हुआ कहता है—) तुम चन्द्रमासे रात्रिके समान नलसे शोभित होवो, वे नल रात्रिसे चन्द्रमाके समान तुमसे शोभित होवें, बार-बार उन दोनों (रात्रि तथा चन्द्रमा) की जोड़ीको संयुक्त करनेवाले ब्रह्मा तुम दोनों (तुम्हें तथा नल) को संयुक्त करनेके लिये मानो अभ्यास करते हैं । [लोकमें भी कोई कारीगर श्रेष्ठ वस्तुकी रचना करनेके लिए बार-बार वैसी एक ही वस्तुकी रचनाकर जैसे अभ्यास करता है, वैसे ही मानो तुम दोनोंको संयुक्त करनेके लिए ही ब्रह्मा चन्द्रमा तथा रात्रिको बार-बार संयुक्तकर अभ्यास करते हैं, अन्यथा अनेक बार चन्द्रमा तथा रात्रिको संयुक्त करना व्यर्थ हो जाता] ॥ ११७ ॥

स्तनद्वये तन्वि ! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धनीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिम् ॥ ११८ ॥

स्तनद्वय इति। हे तन्वि! किञ्च नैषधस्य नलस्य अनल्पेन महता वैदग्ध्येन नैपुण्येन विवर्धनीनामुज्जृम्भणीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिं सम्पूर्णतां प्राप्स्यति यदि, तर्हि पृथौ पृथुनि भाषितपुंस्कत्वाद्विकल्पेन पुंवद्भावः। तवैव स्तनद्वये परं प्राप्स्यति, नान्यस्या इत्यर्थः। अन्यस्या अयोग्यत्वादितिभावः ॥ ११८ ॥

नलकी अत्यधिक चातुर्यसे बढ़नेवाली पत्रावलि-श्रेणियोंकी रचना यदि समाप्त हो सकती है, तो केवल तुम्हारे विशाल दोनों स्तनोंपर ही हो सकती है। [नल स्त्री-स्तनों पर पत्रावलिश्रेणिको बनानेमें इतने चतुर हैं कि अन्य स्त्रियोंके छोटे-छोटे स्तनोंपर उनकी पत्त्रावलिरचना समाप्त ही नहीं होती, किन्तु तुम्हारे स्तन बड़े-बड़े हैं, अतः मैं सम्भावना करता हूं कि इन दोनों स्तनोंपर नलकी पत्त्रावलि-रचना की निपुणता पूरी हो जायेगी] ॥ ११८ ॥

एकस्सुधांशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युतिसद्द्वितीयः ॥ ११९ ॥

एक इति। एकः सुधांशुस्त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन कथञ्चिदपि तृप्तौ प्रीणने क्षमो न स्यात्तत्तस्मान्नलास्यशीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्द्वितीयः सन् त्वल्लोचनयोरासेचनकस्तृप्तिकरोऽस्तु। 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनादि'त्यमरः। आसिच्यते अनेनेत्यासेचनकं, करणे ल्युट्, स्वार्थे कः ॥ ११९ ॥

एक चन्द्रमा तुम्हारे (चकोरतुल्य) दो नेत्रोंकी तृप्ति करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, इस कारण नलके मुखरूप चन्द्रमासे सहायक युक्त चन्द्रमा तुम्हारे दो नेत्रोंकी पूर्ण तृप्ति करने वाला होवे। [तुम्हारे नेत्र चकोर-नेत्रके समान हैं, चकोरनेत्र चन्द्रमाका पान करते हैं। और एक चन्द्रमा तुम्हारे दो नेत्रोंको कदापि सन्तृप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, अतः नलके मुखरूप चन्द्रमासे मिलकर दो चन्द्रमा होने पर तुम्हारे दो नेत्र पूर्णतः सन्तुष्ट हो सकते हैं। तुम्हारे नेत्र चकोरनेत्रतुल्य और नलमुख चन्द्रतुल्य है, अत एव चकोर चन्द्रमाको देखकर जिस प्रकार अधिक सन्तुष्ट होता है, वैसे ही तुम नलके मुखचन्द्रको देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट होओगी] ॥ ११९ ॥

(युग्मम्)

अहो तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः।
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरो रज्यति यत्कलम्बः ॥ १२० ॥
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥१२१॥

अथ द्वाभ्यां नलतपःसाफल्यमाह-अहो इत्यादिना । नलस्यायं नलीयः, 'वा नामधेयस्ये'ति वृद्धसंज्ञायां वृद्धाच्छः । अत एव कल्पतरुः अभिनवः प्रसिद्धकल्पतरुविलक्षण इत्यर्थः । अत एव अहो इत्याश्चर्यं वैलक्षण्यमेवाह-त्वदित्यादि । अत्रापि यच्छब्दो द्रष्टव्यः यः कल्पतरुः तव पाणिजाग्रैः करुहाग्रैर्नित्यं स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीर्यस्य सः अङ्कुरवानित्यर्थः, यस्य त्वद्भ्रुयुगमेव द्वयोः पत्रयोः समाहारो द्विपत्री प्रथमोत्पन्नपत्रद्वयं खलु, तवाधरो यत्कलम्बो यस्य नालिका किसलयकाण्ड इत्यर्थः, 'अस्य तु नालिका' कलम्बश्च कडम्बश्चे'त्यमरः ? रज्यति स्वयमेव रक्तो भवति, 'कुपिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदञ्चे'ति कर्मकर्तरि रूपम् । य इति । यस्ते तव कराभ्यां पल्लवितः सञ्जातपल्लवः, यस्तव स्मितेन कोरकितः सञ्जातकोरकः सन् आस्ते, यस्तवाङ्गानां म्रदिम्ना मार्दवेन पुष्पितः सञ्जातपुष्पः, यस्तवैव स्तनश्रिया स्तनसौन्दर्येण फलितः सञ्जातफलः । सर्वत्र तारकादित्वादितच् प्रत्ययः । अत्र श्लोकद्वयेन तपसि दमयन्तीनखादिषु च कल्पतरुतावयवत्वरूपणात्सावयवरूपकं तथा अवयविनि कल्पतरोरवयवानां नखाङ्कुरादीनाञ्च मिथः कार्यकारणभूतानां भिन्नदेशत्वादसङ्गत्याश्रितमिति सङ्करः, 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि'ति लक्षणात् ॥ १२०-१२१ ॥

नल-सम्बन्धी तपोरूप कल्पवृक्ष आश्चर्यकारक है, जिसका अङ्कुर तुम्हारे हाथका नखाग्र हैं, उसके बाद होनेवाले दो पत्ते तुम्हारे दोनों भ्रू हैं, जिसका डण्ठल तुम्हारा लाल ओष्ठ है, जो तुम्हारे दोनों हाथोंसे पल्लवित हुआ है अर्थात् जिसके पल्लवद्वय तुम्हारे हाथ हैं, जो तुम्हारे स्मितसे कोरकित हुआ है अर्थात् तुम्हारा स्मित जिसका कोरक (पुष्पकलिका) है, जो तुम्हारे शरीरकी कोमलतासे पुष्पित हुआ है अर्थात् जिसका फूल तुम्हारे शरीरकी कोमलता है, और तुम्हारे स्तनोंकी शोभासे ही फलित (फलयुक्त) हुआ है अर्थात् तुम्हारे स्तन ही जिसके फल हैं । [वृक्षमें क्रमशः अङ्कुर, दो पत्ते, उनके बीचमें डण्ठल, पल्लव, पुष्पकोरक, पुष्प और फल लगते हैं; ये सब तुम्हारे ही शरीरमें विद्यमान हैं, अत एव नलने कल्पतरु तुल्य तुमको तपस्यासे प्राप्त किया है] ॥ १२०-१२१ ॥

[1]कंसीकृतासीत्खलु मण्डलीन्दोः संसक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण ।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥१२२॥

किञ्च समानुरागत्वाच्च युवयोः समागमः श्लाघ्य इत्याशयेनाह-कंसीति । स्मरेण कर्त्रा वां युवयोर्मिथोऽनुरागस्य अन्योन्यरागस्य, यस्तव तस्मिन्, यश्च तस्य त्वयि, तयोरनुरागयोरित्यर्थः । समीकृतौ समीकरणे निमित्ते तदर्थमित्यर्थः । संसक्तः संयोजितः रश्मीनामंशूनां सूत्राणाञ्च प्रकरः समूहो यस्यां सा 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । इन्दोर्मण्डली बिम्बं कंसीकृता आसीत् । 'कंसोऽस्त्री लोहभाजनमि'ति शाब्दिकमण्डने । मण्डले निजा नाराचलता बाणवल्ली सैव तुला तुलादण्डीकृतेति

१. कंसी-इति पाठान्तरम् ।

शेषः । तत्रेन्दुमण्डलादौ कंसादिरूपणादेवस्मरस्य कार्यकारणरूपसिद्धेरेकदेशविवर्ति रूपकम् ॥ १२२ ॥

कामदेवने तुम दोनोंके पारस्परिक अनुरागको बराबर करने (तौलने) में किरण-समुहसे युक्त (पक्षा०—रस्सियोंसे वंधे हुए) चन्द्रमण्डलको कांसेका पलड़ा और अपने वाणको तराजू (की डण्डी) वनाया था । [कामदेवने किरणयुक्त गोल चन्द्रमण्डलको रस्सोंसे वंधा हुआ कांसेका पलड़ा तथा अपने वाणको तराजूका डण्डी बनाकर तुम्हारा तथा नलके परस्परानुरागको तौलकर वरावर किया है, यही कारण है कि नलमें तुम्हारा जितना अधिक अनुराग है, उतना ही अधिक अनुराग तुममें भी नलका है] ॥ १२२ ॥

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु ।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूयः ॥१२३॥

सत्त्वेति । किं च मदनोत्सवेषु रतिकेलिषु सत्त्वेन मनोविकारेण स्रुतो यः स्वेदः सात्त्विकविकारविशेषः तेनैव मधूत्थेन मधूच्छिष्टेन सान्द्रे निरन्तरे अत एव तस्य नलस्य पाणिपद्मे लग्नाः संक्रान्ताः । अतएव उत्थिताः त्वत्कुचतटाद्विश्लिष्टाः । मधूच्छिष्टे निकषस्थकनकरेखावदिति भावः । स्नातानुलिप्तवत्पूर्वकालसमासः । तन्निर्गताः । तत्पाणिपद्मोत्पन्नाः त्वत्कुचपत्ररेखाः भूयः तत् पाणिपद्मं 'वा पुंसि पद्मं नलिनमि'त्यमरः । प्रविशन्तु । कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भावः । युवयोः समागमोऽस्तु इति तात्पर्यम् ॥ १२३ ॥

कामोत्सवोंमें सात्त्विक भावसे उत्पन्न पसीना रूपि मोमसे सान्द्र, नलके हस्तकमलमें पहले लगकर (संसक्त होकर) उठी हुई तुम्हारे स्तनोंपर बनायी गयी पत्रावलियां नलके हाथसे निर्गत (नलके हाथसे वनी हुई) होनेसे फिर उसीमें प्रविष्ट हो जांय । [नल अपने हस्तकमलसे तुम्हारे स्तनद्वयपर पत्रावलियोंकी रचनाकर रति करनेके समय उन स्तनोंका स्पर्श करेंगे तो सात्त्विक भावसे उत्पन्न पसीनेसे वे पत्रावलियां उनके हाथमें उस प्रकार अङ्कित हो जायेंगी, जिस प्रकार मोमके बने ठप्पेपर कोई चित्रादि अङ्कित हो जाता है' इस प्रकार नलके हाथसे ही बनायी गयी कार्यरूपिणी पत्रावलियां पुनः कारण रूप नलके हाथमें लीन हो जावें । कारणमें कार्य का लय होना उचित ही है । तुम्हारे स्तनद्वयपर अपने हाथसे बनायी गयी पत्रावलियोंको रतिकालमें नल सात्त्विकभावसे स्वेदयुक्त हाथसे पोंछे] ॥ १२३ ॥

बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः ।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवां युवानौ ॥ १२४ ॥

बन्धेति । किं च हे भैमि ! बन्धैरुत्तानादिकरणैः कामतन्त्रप्रसिद्धैराढ्यं समग्रं नानारतमुत्तानकादिविविधसुरतं तदेव मल्लयुद्धं तेन प्रमोदितैः सन्तोषितैः केलिवने मरुद्भिः वायुभिर्देवैश्च 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । पुनरुक्तं सान्द्रं यथा तथा मुक्तां

प्रसूनवृष्टिं युवतिश्च युवा च युवानौ, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः । युवां प्रतिच्छतं स्वीकुरुतम् । युद्धविक्रान्ता हि देवैः पुष्पवृष्ट्या सम्भाव्यन्त इति भावः ॥ १२४ ॥

हे दमयन्ती ! युवक तथा युवती तुम दोनों क्रीडावनमें (रतिकालमें किये गये) अनेक प्रकारके आसनोंसे अनेकविध सुरतरूप मल्लयुद्धसे अतिशय हर्षित वायुओं (पक्षा०—मल्लयुद्धसे हृष्ट देवों) से बारबार की गई पुष्पवृष्टिको ग्रहण करो । [क्रीडोद्यानमें रति करते हुए तुम दोनों पद्मबन्ध आदि आसनोंको करते हुए अनेक प्रकारकी रति करोगे, जो मल्लयुद्ध-सा होगा, उस समय हृष्ट देवगण बार-बार पुष्पवृष्टि करेंगे' अथ च-तुम्हारे मस्तकसे पुष्प गिरेंगे, या-वायुसे कम्पित वृक्षोंसे पुष्प गिरेंगे, उन्हें तुमलोग ग्रहण करोगे दो शूरवीरोंके युद्धसे हर्षित देवलोग पुष्पवृष्टि करते हैं तथा उन पुष्पोंको वे शूरवीर ग्रहण करते हैं] ॥ १२४ ॥

अन्योन्यसङ्गमवशादधुना विभातां तस्यापि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे ।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत्परमाणुयुग्मम् ॥१२५॥

अन्योन्येति । किं च, अधुना अन्योन्यसङ्गमवशाद्विकसद्विलासे वर्धमानोल्लासे तस्यापि तेऽपि नलस्य तव च मनसी मनसिजस्य कामस्य तनुं शरीरं पुनः स्रष्टुमारब्धुं प्रवृत्तमत एवादौ द्वाभ्यामारब्धं कार्यं द्व्यणुकं तत्करोतीति तत्कृत् तदारम्भकं, करोतेः क्विप् । तत्परमाणुयुग्ममिवेत्युत्प्रेक्षा । तार्किकमते मनसोऽणुत्वादिति भावः । विभातां कार्यारम्भकपरमाणुयुगलवदविश्लेषेण विराजतामित्यर्थः । भातेर्लोट्, 'तस्थे'ति तसः तामादेशः ॥ १२५ ॥

इस समय परस्परके समागम होनेसे बढते हुए विलासवाले उस (नल) का भी तथा तुम्हारा भी (एक-एक परमाणु मिलनेसे दो परमाणु मात्रावाले) मन फिर कामदेवके शरीरकी रचना करनेके लिए तत्पर पहले द्व्यणुकको बनानेवाले परमाणुद्वयके समान शोभित होवें । [मनकी मात्रा एक परमाणुके बराबर है । किसी शरीरादिकी रचना करनेके लिए सर्वप्रथम दो परमाणुओंको मिलाकर द्व्यणुक बनाया जाता है, इसी क्रमसे बढ़ाते-बढ़ाते इष्ट रचनाको पूरा किया जाता है । तुम्हारा तथा नलका इतना गाढ़ अनुराग है कि परमाणुरूप तुम दोनोंका मन एक होकर द्व्यणुकरूप हो जायेगा, और इस क्रमसे कामदेवकी शरीरकी रचना पुनः हो जानेसे सम्भव है वह शरीर हो जायेगा] ॥ १२५ ॥

कामः कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥ १२६ ॥

काम इति । असौ यो नलजिगीषुरिति भावः । कामः कौसुमेन चापेन दुर्जयं जितेन्द्रियत्वादिति भावः । अमुं नृपं नलं जेतुमव्रणवंशजां सत्कुलप्रसूतां दृढवेणु-

जन्याश्च, 'द्वौ वंशौ कुलमस्कराविं'त्यमरः । अधिगुणामधिकलावण्यादिगुणामधिज्याश्च निवसदनुवर्तमानं सिन्दूरस्याङ्कुरावस्थायां नालान्तराले त्विषस्य सौन्दर्यं शोभा यस्यां तया कषरेखया कालान्तरे सिन्दूरसंक्रान्तिपरीक्षार्थं कृतघर्षणरेखयेवेत्युत्प्रेक्षा । पृष्ठे ग्रीवापश्चाद्भागे कियत् किञ्चिद्यथा तथा लम्बया स्रस्तया ग्रीवालङ्कृतिः ग्रीवालङ्कारभूता या पट्टसूत्रलता तया भ्राजिष्णुं, ताच्छील्ये 'भुवश्चे'ति चकारादिष्णुच् । भ्राजमानां त्वामेव धनुर्वल्लीं चापलतामासाद्य माद्यति हृष्यति । श्लेषोत्प्रेक्षासङ्कीर्णो रूपकालङ्कारः ॥ १२६ ॥

कामदेव पुष्पोंके बाणोंसे दुर्जय (दुःखसे जीते जाने योग्य) इस राजा (नल) को जीतनेके लिए दोषरहित वंशमें उत्पन्न (पक्षा०—छिद्ररहित बांससे बनी हुई) तथा अधिक गुणवाली (पक्षा०—डोरी चढ़ी हुई) तुमको धनुर्लता पाकर हर्षित हो रहा है, जो धनुर्लता (तुम्हारी) पीठपर कुछ लटकती हुई कण्ठभूषणके लाल पट्टसूत्रलतासे सिन्दूरकी शोभावाली अर्थात् बांसकी परीक्षाके लिए सिन्दूर रगड़नेसे उत्पन्न लाल रेखासे युक्तके समान शोभती है। [सिन्दूर लगाकर बांसकी परीक्षा करनेके लिए धनुषको पीछे रगड़ते हैं, यदि लाल सिन्दूर की रेखा धनुषके पीछे स्थित हो तो वह बांस धनुषके लिये उत्तम होता है प्रकृतमें तुमने कण्ठभूषण पहना है, जिसकी लाल कपड़ेकी पट्टी कण्ठके पीछेसे होकर पीठपर थोड़ा लटक रही है, यही पट्टी धनुषके पीछेवाली पूर्वोक्त सिन्दूर रेखा है, जिससे परीक्षित बांसवाला धनुष शोभता है (और पक्षा०—जिसके थोड़ा पीठपर लटकने वाली कण्ठभूषणकी लाल पट्टीसे तुम शोभती हो) ऐसी श्रेष्ठ वंशोत्पन्न गुणवती तुमको ही छिद्ररहित बांससे बनी, तथा डोरी चढ़ी हुई धनुर्लतासी पाकर कामदेव प्रसन्न हो रहा है कि पुष्प-धनुषसे दुर्जय नलको अब मैं सरलतासे जीत लूंगा] ॥ १२६ ॥

त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकास्तं राजहंसं विभो-
र्वेध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम् ।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्यं भुज्यमानं लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिलं रोमालिरालम्बते ॥ १२७ ॥

त्वदिति । विभोर्मनोभुवः कामस्य पत्त्रिवेद्धुरिति शेषः । तव गुच्छावलेर्मुक्ताहारविशेषस्य मुक्ता एव मौक्तिकानि, 'विनयादित्वात् स्वार्थे ठगि'ति वामनः । गुटिकाः गुलिकाः विद्धि जानीहि । तं राजहंसं राजश्रेष्ठं तमेव राजहंसं कलहंसं श्लिष्टरूपकम् । 'राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयो'रिति विश्वः । वेधितुं प्रहर्तुमर्हं वेध्यं लक्ष्यं, विधविधाने 'ऋहलोर्ण्यत्' अनेकार्था धातवः एवमाह—वेधितच्छिद्रितावित्यत्र स्वामी । अन्ये त्वाहुः—स्वप्नेऽपि विधानार्थं एव प्रयोगाच्च विध–वेधन इत्येवाकरस्थः पाठः, पाठान्तरं तु प्रामादिकमन्धपरम्परायातमिति विद्धि । स्वमात्मानमपि 'स्वो

१. '—भज्यमानम्' इति पाठान्तरम् ।

ज्ञातावात्मनि स्वमि'त्यमरः। तां वक्ष्यमाणप्रकारां मञ्जुं मञ्जुलां धनुर्मञ्जरीं चापवल्लरीं विद्धि, यस्याः नित्यमङ्कनिवासेन समीपस्थित्या लालिततमया अत्यादृतया ज्यया मौर्व्या भुज्यमानमनुभूयमानमखिलं विलासं शोभां ज्यारूपतामित्यर्थः। लग्नास्येव मध्यः बिलङ्गुलिकास्थानं यस्याः सा रोमालिस्त्वद्रोमराजिरालम्बते भजति। अत्र मौक्तिकादौ गुटिकाद्यवयवरूपणादवयविनि कामे वेद्धृत्वरूपणस्य गम्यमानत्वादेकदेशविवर्त्तिसावयवरूपकमलङ्कारः॥ १२७॥

हे दमयन्ति! तुम समर्थ कामदेवके, तुम्हारे बत्तीस लड़ीवाले हार[1]-विशेषके मोतियोंको (मिट्टीकी बनी हुई) गोलियाँ समझो, उस राजश्रेष्ठ (नल, पक्षा०—राजहंस पक्षी) को वेध्य (मारने योग्य शिकार) समझो तथा अपनेको मनोहर वह धनुर्लता समझो जो शोभमान नाभिरूप बिल (गोलियोंको फेंकनेके लिए धनुषमें बना हुआ छिद्र) वाली रोमपङ्क्ति जिस (धनुर्लता) के मध्यमें सर्वदा रहनेसे अतिशय लालित (नचायी गयी) डोरीसे सेवित (अनुभूत) होते हुए सम्पूर्ण विलासको प्राप्त करती है। [मिट्टीकी गोली फेंकनेवाले धनुषमें छिद्र रहता है, इसीसे गोलियोंको फेंककर लक्ष्यवेध किया जाता है। यहाँपर समर्थ कामदेव धनुर्धर, तुम्हारे हारके मोती गोली, राजश्रेष्ठ नल लक्ष्य, तुम धनुर्लता, रोमश्रेणी धनुषकी डोरी, नाभि गोली रखनेके स्थानका धनुश्छिद्र है; ऐसा समझो। इस प्रकार कामदेव नलको सरलतासे जीत लेगा अर्थात् तुम्हें लक्ष्य कर शीघ्र नल कामपीडित हो जायेंगे]॥ १२७॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे।
निर्विद्याश्रयदाश्रमं स त्रितनुस्त्वां तज्जयायाधुना
पत्रालिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते॥ १२८॥

पुष्पेषुरिति। यः पुष्पेषुः कामो यज्जितो येन नलेन सौन्दर्यात्पराभूतः अतएव निर्विद्य ईर्ष्यया जीवनवैयर्थ्यं मत्वेत्यर्थः। 'तत्त्वज्ञानोदितेर्ष्यादेर्निर्वेदो निष्फलत्वधी' रिति लक्षणात्। ते तव चिकुरेषु केशेषु स्वं स्वकीयं शरचयं त्वद्धृतकुसुमव्याजादिति भावः। भालमूले ललाटभागे धनुः भ्रूव्याजादिति भावः। तथा रौद्रे रुद्रसम्बन्धिनि चक्षुष्येव अनुभ्राष्ट्रमम्बरीषे, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना' इत्यमरः। तनुं शरीरं च चिक्षिपे क्षिप्तवान्। पूर्वमेव दग्धतनुव्याजा-

१. तदुक्तममरसिंहेन—'हारभेदा यष्टिभेदाद् गुच्छगुच्छार्द्धगोस्तनाः।
अर्द्धहारो माणवक एकावल्येकयष्टिका॥' इति।
(अमर २।६।१०५-१०६)

एषां यष्टिसङ्ख्याज्ञानार्थं मत्कृतममरकोषस्य 'मणिप्रभा'ख्यमनुवादम्, 'अमरकौमुदी'ख्यां टिप्पणीञ्च विलोकयन्तु जिज्ञासव इति।

दिति भावः। स्वरितेत्त्वात्तङ्। स पुष्पेषुर्वितनुरनङ्गः सन् अधुना तज्जयाय नल-विजयार्थन्त्वामेवाश्रमं तपोवनमाश्रयत् आश्रितवान् तपश्चर्यार्थमिति शेषः। अन्यथा कथं तं जेष्यतीति भावः। अतएव त्वदुरोज एव शैलो निलयो यस्याः सा तन्निष्ठेत्यर्थः। पत्त्रालिः पत्त्ररचना पर्णचयश्च तस्य कामस्य पर्णशालायते सेवाचरति। उपमानात् कर्त्तुः क्यङ्। अत्र पूर्वार्द्धे शरचापादीनां पूर्वोक्तपुष्पादिविषयनिगरणेन तदभेदाध्यवसायाद्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्तिः, तत्पर्णशालायत इत्युपमा चोत्थापितेन त्वमाश्रममिति रूपकेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या कामस्याश्रमाश्रयणोत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ १२८॥

उस (नल) से (सौन्दर्यमें) हारे हुए जिस कामदेवने खेदसे विरक्त होकर तुम्हारे केशोंमें बाणसमूहको फेंक दिया, तुम्हारे ललाटमूलमें धनुषको फेंक दिया तथा शिवजीके (पक्षा०—दारुण = भयङ्कर) नेत्ररूप भाड़में अपने शरीरको फेंक दिया; वह कामदेव इस समय उस नलको जीतनेके लिए नितनु (विशेष दुर्बल, पक्षा०—शरीरहीन) होकर तुम्हारा आश्रय किया है और तुम्हारे स्तनरूप पर्वतपर वर्तमान पत्त्रालि (पत्तोंका समूह, पक्षा०—चन्दनादिरचित पत्त्रावलि) उस (कामदेव) की पर्णशालाके समान हो रही है। [जिस प्रकार किसी प्रबलसे पराजित दुर्बल व्यक्ति दुःखसे खिन्न होकर अपने बाण, धनुष तथा अपने शरीरतकको फेंक देता है और उस प्रबलको जीतनेके लिए किसीका आश्रयकर पर्वतपर पत्तोंकी कुटिया बनाकर तपस्या करता है; वैसे ही कार्य नलको जीतने के लिए कामदेवने किये हैं। तुम्हारे केशसमूहमें लगे हुए पुष्प कामदेवके बाण-समूह हैं, तुम्हारा भ्रू कामदेवका धनुष हैं, शिवजीका नेत्र भयङ्कर (शीघ्र जलानेवाला) भाड़ है, तुम्हारे विशाल स्तन पर्वत हैं तथा उनपर चन्दनादिसे बनायी गयी पत्त्रावलि पत्तोंकी झोपड़ी है। अब तक तो नलने कामदेवको जीत लिया था, किन्तु अब कामदेव तुम्हारे सहारेसे नलको जीतेगा अर्थात् तुम्हें पाकर नल कामके वशीभूत होंगे]॥ १२८॥

इत्यालपत्यथ पतत्त्रिणि तत्र भैमीं सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपराः परीयुः।
शर्मास्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य वेगाज्जगाम निषधाधिपराजधानीम्॥

इतीति। तत्र तस्मिन् पतत्त्रिणि हंसे भैमीमिति इत्थमालपति भाषमाणे सति अथास्मिन्नवसरे चिरात्प्रभृति तस्या भैम्या अनुसन्धिरन्वेषणम्, 'उपसर्गे घोः किरि'ति किः। तत्पराः सख्यः परीयुः परिवव्रुः, इणो लिट्। हंसोऽपि 'ते तव शर्मास्तु सुखमस्तु, मां विसृज' इत्युदीर्य उक्त्वा वेगान्निषधाधिपराजधानीं जगाम॥ १२९॥

इसके बाद उस हंसके दमयन्तीसे ऐसा (३।१००-१२८) कहते रहनेपर उसे (दमयन्ती को) खोजनेमें तत्पर सखियोंने दमयन्तीको चारो तरफसे घेर लिया। वह हंस भी 'तुम्हारा कल्याण हो, मुझे छोड़ो अर्थात् विदा करो' ऐसा कहकर वेगसे नलकी राजधानी को चला॥ १२९॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रय-
त्प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ॥ १३० ॥

चेत इति । सा भैमी चेतोजन्मनः कामस्य शरप्रसूनानां शरभूतपुष्पाणां मधुभिस्तद्रसैः क्षौद्रैश्च 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रे' इत्यमरः । व्यामिश्रतामाश्रयत् तथा मिश्रं सदित्यर्थः । असीमं निःसीमम् अपरिमितमित्यर्थः । नकारान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः । मृष्टं शुद्धम् । अन्यत्रामलं तच्च तत् सुरभि सुगन्धि च, खञ्जकुब्जवद्विशेषणसमासः । प्रेयसो नलस्य दूतः सन्देशहरो यः पतङ्गः पुङ्गवः इव पतङ्गपुङ्गवो हंसश्रेष्ठः पुमान् गौः पुङ्गवः । 'गोरतद्धितलुकी'ति टच्, तस्य गौर्वाक् तद्गवी पूर्ववत् टचि 'टिड्ढाणञि'त्यादिना ङीप् । सैव हैयङ्गवीनं ह्योगोदोहोद्भवं घृतमिति रूपकम् । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायामि'ति निपातः । तद्गवी तद्धेनुः तस्या इति च गम्यते रसाद्रागात् स्वादं स्वादं पुनः पुनरास्वाद्य आभीक्ष्ण्ये णमुल्प्रत्ययः । पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्यम् 'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत' इति उपसंख्यानात् द्विरुक्तिः । तृप्तिं प्राप्तापि अपिर्विरोधे अन्तः नितान्तं तापं न प्राप अतुलां मूर्च्छामपि नानर्च्छ न प्राप, 'ऋच्छत्यृतामि'ति गुणः । 'अत आदेरि'त्यभ्यासाकारस्य दीर्घः । 'तस्मान्नुड् द्विहल' इति नुट् । मधुमिश्रघृतस्य विषत्वात्तत्पाने तापाभावादिति विरोधः । स च पूर्वोक्तपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन इति रूपकोत्थापित इति सङ्करः । 'मधुनो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी' इति वाग्भटः ॥ १३१ ॥

कामबाणरूप पुष्पके मधु (पराग, पक्षा०—शहद) से मिश्रित तथा इष्ट एवं सुगन्धयुक्त प्रियतम (नल) के दूत पक्षिश्रेष्ठ (राजहंस) की वाणीरूपी (पक्षा०—······की गायके) मक्खन (नेनू घी) को अपरिमित बार-बार स्वाद लेकर (खाकर, पक्षा०—हंसके वचन को आदरपूर्वक सुनकर) भी वह दमयन्ती तृप्त हो गयी और अन्तः अधिक सन्तापको नहीं पाया, तथा अपरिमित मूर्च्छाको भी नहीं पाया (अथवा—·········वह दमयन्ती तृप्त नहीं हुई; उसका अन्तःकरण अधिक सन्तापको पाया तथा अपरिमित मूर्च्छाको पाया) [घी तथा मधु समान मात्रामें मिलाकर अधिक खानेसे भी तृप्ति नहीं होती और भी खानेकी इच्छा बनी रहती है, परन्तु उसे खानेसे अन्तःकरणमें दाह होता है तथा मूर्च्छा भी आती है; वे सब दमयन्तीको नहीं हुए यह आश्चर्य है । अथवा—द्वितीय अर्थके पक्षमें हंसके वचनको दमयन्ती और भी सुनना चाहती थी, अत एव उसकी तृप्ति नहीं हुई तथा उसके चले जानेसे दमयन्तीके अन्तःकरणमें सन्ताप भी हुआ तथा वह मोहयुक्त भी हुई यह उचित ही है । 'असीमम् + इष्टसुरभि' पदच्छेदका अर्थ ऊपर लिखा गया है, 'असीममृष्टसुरभि' समस्त एक पद को 'हैयङ्गवीनम्' का विशेषण मानकर 'अपरिमित

मधुर तथा सुगन्धयुक्त' उक्तरूप घीको बार-बार खाकर भी............ऐसा अर्थ भी हो सकता है]॥ १३० ॥

तस्या दृशो वियति[2] बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्वाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः॥१३१॥

तस्या इति। वियत्याकाशे बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तस्या दृशो भैमीदृष्टेः तद्वाष्पवारि बन्धुजनविप्रयोगजन्यं तद्दृग्जलं न चिरादचिरादवधिर्बभूव, 'ओदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि'ति शास्त्रात्तद्दृक् सीमाभूदित्यर्थः। ततः तस्माद् बाष्पोपगमादेव हेतोरनेन हंसेन दृष्टेः पार्श्वे समीपे विप्रचकृषे विप्रकृष्टेनाभावि। बाष्पावरणात् समीपस्थोऽपि नालक्ष्यतेत्यर्थः। चित्तवृत्तेस्तु आराद् दूरेऽपि न व्यवदधे व्यवहितेन, नाभावि, स्नेहबन्धान्मनसो नापेत इत्यर्थः। उभयत्रापि भावे लिट्। समीपस्थस्य विप्रकृष्टत्वं दूरस्थस्य सन्निकृष्टत्वं चेति विरोधाभासः॥ १३१ ॥

नेत्रजल (प्रियदूत हंसके विरहसे उत्पन्न आँसू) जो आकाशमें जाते हुए बन्धु (रूप राजहंस) का अनुगमन करती हुई उस (दमयन्ती) की दृष्टिके शीघ्र ही अवधि हो गया, अत एव समीप होनेपर भी इस हंससे वह दूर हो गई, किन्तु दूर चले जाने पर भी वह हंस दमयन्तीकी चित्तवृत्तिसे दूर नहीं हुआ। [बाहर जाते हुए बन्धुका तडाग, वाटिका, नगरसीमा आदि तक अनुगमन करनेका नियम है, अतः जब प्रियावेदक होनेसे बान्धवरूप हंस नलकी राजधानीको जाने लगा तब शीघ्र ही दमयन्तीके नेत्र उसके विरह-दुःखसे अश्रुयुक्त हो गये, अत एव नेत्राश्रु ही हंसका अनुगमन करनेवाले दमयन्ती-नेत्रको आगे बढ़नेसे रोकनेके लिए जलाशयरूप गमनावधि हो गये, इसी कारण हंसके थोड़ी दूर ही जानेपर भी वे (नेत्र) उससे दूर हो गये; किन्तु दमयन्तीने उस हंसको अन्तःकरणमें रख लिया था, अत एव हंस बहुत दूर तक जानेपर भी उसके अन्तःकरणसे दूर नहीं हुआ, उसके अन्तःकरणमें ही रहा। पाठा०—नृपति (राजा नल) के बन्धु—राजहंसका अनुगमन......अर्थ करना चाहिये]॥ १३१ ॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्पभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि! पदवी विस्मृता किन्नु मुग्धे ?
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः॥ १३२॥

अस्तित्वमिति। अथ एकः अनयोरेकतरो हंसः पक्षयोः कम्पभेदैश्चेष्टाविशेषैः कार्यसिद्धेरस्तित्वं सत्ताम् 'अस्ती'त्यव्ययं विद्यमानपर्यायस्तस्मात्त्वप्रत्ययः। स्फुटं

---

१. 'दृशाऽधिपतिबन्धु—' इति पाठान्तरम्। २. 'नृपतिबन्धु—' इति पाठान्तरम्।

कथयन् वृत्तं निष्पन्नमेतत्सर्वं निषधनरपतौ नले विषये आख्यातुं तस्मै निवेदयिष्यन्नित्यर्थः, प्रतस्थे । अन्यां दमयन्तीं वयसा तुल्या वयस्याः सख्यः 'नौवयो' इति यत्प्रत्ययः । हे प्रियसखि ! मुग्धे ! कान्तारे विषमे निर्गतासि सङ्कटं प्रविष्टासि, पदवी विस्मृता किम् नु ? मा रोदीः, एहि, याम गच्छाम, इत्युपहृतवचसो दत्तवचनाः सख्यः एनां निन्युः ॥ १३२ ॥

(उड़ते समय) दोनों पङ्खोंको कँपानेसे कार्यसिद्धिके अस्तित्वको स्पष्ट कहता (सूचित करता) हुआ उनमेंसे एक (हंस) सब वृत्तान्तको निषधेश्वर (नल) से कहनेके लिये (निषध देशको) गया तथा दूसरी (दमयन्ती) को 'हे प्रियसखि ! दुर्गम मार्गमें आ पड़ी हो । हे मुग्धे (भोली या सुन्दरी !) क्या तुम रास्ता भूल गई हो, मत रोओ, आओ चलें इस प्रकार कहती हुई उसकी सखियाँ इसे (राजमहलमें) ले गयीं ॥ १३२ ॥

सरसि नृपमपश्यद्यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम् ।
किसलयदलतल्पग्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

सरसीति । हंसो यत्र सरसि नृपमपश्यत् दृष्टवान् तस्य सरसस्तीरभाजस्तटरुहस्य ज्वलद्भिरसमशरस्य पञ्चेषोरिषुभिः स्पर्द्धत इति तत्स्पर्धिनी तत्सदृशी । पुष्पर्धिः पुष्पसमृद्धिः मौलिः शिखरं यस्य तस्याशोकानोकहस्य अशोकवृक्षस्य उपमूलं मूले विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः । स्मरेण तरलं चञ्चलं किसलयदलतल्पं पल्लवपत्रशयनं ग्लापयति स्वाङ्गदाहेन ग्लापयतीति तथोक्तं तं नृपं प्राप ॥ १३३ ॥

उस (हंस) ने जिस तडागपर नलको (दमयन्तीके पास जानेसे पहले) देखा था, उसीके किनारे पर स्थित जलते हुए कामबाणोंके साथ स्पर्द्धा करनेवाले पुष्पोंकी अधिकतासे युक्त शिखर (अग्रभाग) वाले (जिसके ऊपर फूले हुए पुष्प जलते हुए कामबाणके तुल्य प्रतीत हो रहे हैं, ऐसे) अशोक वृक्षके नीचे, काम (जन्य पीडा) से चञ्चल (छटपटाते हुए) तथा नव पल्लवोंकी शय्याको (काम–सन्तापसे) मलिन करते हुए उस (नल) को पाया । [दमयन्तीके पास जानेके पहले हंसने जिस तडागपर नलको देखा था, उसीके तीरपर स्थित पुष्पित अशोक वृक्षके नीचे कामपीडासे छटपटाते हुए तथा नवपल्लवोंकी शय्याको तापसे मलिन करते हुए नलको दमयन्तीके यहाँसे लौटकर भी पाया । यद्यपि नल हंसको दमयन्तीके पास भेजकर वहाँसे उद्यानगृहमें चले गये थे (२।६३) तथापि वहाँसे लौटे हुए हंससे मिलनेके लिए उसी तडाग पर पुनः आ गये थे] ॥ १३३ ॥

परवति ! दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनम किं मामाह सा शंस हंस ! ।

इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः॥ १३४॥

परवतीति। परवति ! पराधीने दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि नोपालभे किन्तु हे हंस ! द्रुतं शीघ्रमुपनम आगच्छ, सा दमयन्ती मां किमाह, शंस कथयेति नले वदति भ्रान्त्या पुरोवर्तिनमिव सम्बोध्य आलपति सति। असौ हंसः उपनम्रः पुरोगतः सन् कार्यज्ञः तत् वृत्तं शशंस कथयामास। तथाहि-सुकृतां साधुकारिणां 'सुकर्मपापपुण्येषु कृञः' इति क्विप्। प्रियमनु इष्टार्थं प्रति स्वस्पृहायाः स्वेच्छाया एव विलम्बः। न स्विच्छानन्तरं तत्सिद्धेर्विलम्ब इति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १३४॥

हे परवश दमयन्ति ! मैं तुम्हें कुछ नहीं कहता (अपने पिता आदिके अधीनस्थ होने से तुम्हें कोई उपालम्भ नहीं देता), 'हे हंस ! शीघ्र आवो तथा उस (दमयन्ती) ने मुझसे क्या कहा, कहो' ऐसा नलके कहते रहनेपर समीपमें आये हुए उस हंसने उस वृत्त को कहा; क्योंकि पुण्यात्माओंको अभीष्टके लिए केवल अपनी इच्छाका विलम्ब होता है। [पुण्यात्माओंको इच्छा करते ही अभीष्ट प्राप्ति हो जाती है।] ॥ १३४॥

कथितमपि नरेन्द्रश्शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः।
अधिगतमतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथाऽन्वाचचक्षे॥ १३५॥

कथितमिति। स नरेन्द्रः नलः कथितमपि प्रियायाः दमयन्त्याः भाषितं वचनं किमिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास, पुनराख्यापयामास, किं च अतिवेलः अतिमात्रो यः आनन्दः स एव मार्द्वीकं मृद्वीकाविकारो द्राक्षामद्यं 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यमरः। तेन मत्तः सन् अधिगतं सम्यक् गृहीतं तदुक्तं स्वयमपि शतकृत्वः शतवारं 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्'। तथा तदुक्तप्रकारेण अन्वाचचक्षे अनूदितवान्। मत्तोऽप्युक्तमेव पुनः पुनर्वक्तीति भावः॥ १३५॥

राजा (नल) ने 'क्या कहा, क्या कहा ?' ऐसा पूछते हुए, कहे हुए भी प्रिया (दमयन्ती) के समाचारको हंससे बार-बार कहलवाया। तथा मर्यादातीत आनन्दरूप दाखकी बनी मदिरासे मत्त होते हुए के समान सुने हुए भी उसे (दमयन्ती-समाचारको) सैकड़ों बार वैसे ही अनुवाद किया (फिर-फिर कहा)॥ १३५॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।

---

१. '—माध्वीक—' इति पाठान्तरम्।

तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३६ ॥

श्रीहर्षमित्यादि । तृतीय एव तार्तीयीकः । 'द्वितीयतृतीयाभ्यामीकक् स्वार्थे वक्तव्यः' तस्य भावस्तत्ता तया मितस्तृतीय इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥ १३६ ॥

इति मल्लिनाथ-सूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां 'नैषध' टीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

कविराज·········उत्पन्न किया, उसके मनोहर रचनारूप 'नैषधीयचरित' नामक महाकाव्य में तृतीय सर्ग समाप्त हुआ। (शेष व्याख्या प्रथम सर्ग के समान जाननी चाहिये ॥ १३६ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

नैषधमहाकाव्यम्

चतुर्थः सर्गः

अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशःकुसुमं धनुः।
श्रुतिपथोपगत सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम्॥ १॥

अथ राज्ञः स्वयंवरं प्रत्युपोद्धातत्वेनास्मिन्सर्गे भैम्या मदनावस्थां वर्णयितुमारभते—अथेत्यादि। अथ भैम्याः प्रियसन्देशश्रवणानन्तरं, आत्मभूः कामः, नलस्य गुण आत्मोत्कर्षहेतुशौर्यसौन्दर्यादिको धर्मः, तमेव गुणं मौर्वीं, विधाय। सुरभि सुगन्धि, मनोज्ञश्च। 'सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत् सुरभिः स्मृतः' इति विश्वः। तस्य नलस्य, यशः, तदेव कुसुमं धनुर्विधाय। तथा सुमनस्तया सुमनस्कत्वेन पुष्पत्वेन च, श्रुतिपथोपगतं कर्णपथं गतं, पुनः पुनः भैम्या श्रुतमित्यर्थः। आकर्णमाकृष्टश्च, तं नलमेव, इषुं विधाय। तां भैमीं जिगाय। तदेकासक्तचित्तां चकारेत्यर्थः। 'सन्लिटोर्जेः' इति कुत्वम्। रूपकालङ्कारः। अस्मिन्सर्गे द्रुतविलम्बितं वृत्तम्। 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात्॥ १॥

शारदाके चरण कमलों में विनत प्रणिपातकर।
राष्ट्रभाषामें लिखूँ नैषधचरित अनुवाद वर॥
पूज्य विबुधों का सदा ही यह मनोरञ्जक बने।
सरलतासे छात्रगणका भी यही बोधक बने॥

कामदेवने कान तक पहुँचे (पक्षान्तर में—खींचे) हुए, नलके गुणको धनुषकी डोरी विख्यात (पक्षान्तरमें—सुगंधित) यशोरूपी फूलको धनुष और मनस्विता (पक्षान्तरमें—पुष्पता) होनेसे नलको बाण बनाकर उसे (दमयन्तीको) शीघ्र ही जीत लिया। [धनुर्धारी योद्धा भी कानतक प्रत्यञ्चाको खींचकर बाणप्रहारद्वारा अपने प्रतिपक्षीको जीत लेता है। नलको बाण बनाकर कामदेवने दमयन्तीके हृदयमें प्रहार किया, वह नलरूप बाण दमयन्ती के हृदयमे पहुँचकर बहुत पीड़ा देने लगा अर्थात् दमयन्ती नलके गुणोंको सुनकर अत्यन्त कामपीडित हो गयी]॥ १॥

यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम्।
सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत॥ २॥

यदिति। सा भैमी, अतनुज्वरमनङ्गज्वरम्, अधिकज्वरञ्च, भजतीति तद्भाक् सती। भजो ण्विः। प्रियकथैव सरसी सरः तस्यां रसो रागः, जलञ्च तत्र मज्जनमासक्तिमवगाहञ्च, तनुते स्म चकारेति यत्। 'लट् स्मे' इति भूते लट्। तस्य मज्जनस्य, सपदि चिरं दीर्घकालं, अन्तरमभ्यन्तरं, तापयतीति तत्तापिनी, विषमा

उद्दीपनात्मिका, परिणतिः परिपाकः, समपद्यत सञ्जाता। अत एव ज्वरशान्त्यर्थाद्रसमज्जनात्तदुद्रेकरूपानर्थोत्पत्तेर्विषमालङ्कारभेदः। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिस्त्रिधा॥' इति लक्षणात्। एतेन द्वादशावस्थापक्षे नवमी संज्वरावस्थोक्ता। तदुक्तं—'चक्षुःप्रीतिर्मनःसङ्गः सङ्कल्पोऽथ प्रलापिता। जागरः कार्श्यमरतिर्लज्जात्यागोऽथ संज्वरः। उन्मादो मूर्छनं चैव मरणञ्चरमं विदुः' ॥ २ ॥

कामज्वर (पक्षान्तरमें—अधिक ज्वर) पीडित उस दमयन्तीने जो नल—कथारूपी तडागके जल (पक्षान्तरमें—विप्रलम्भ शृङ्गार रस) में मज्जन (स्नान) किया अर्थात् डुबकी लगायी, उसका शीघ्र ही बहुत अधिक सन्ताप देनेवाला भयङ्कर परिणाम हो गया। [दमयन्तीने नल-विरहके कामज्वरसे पीडित होकर उसकी शान्तिके लिये सखी आदिके द्वारा नल के गुणोंको प्रेमसे सुना, किन्तु कामपीडा शान्त होने के बदले और अधिक बढ़ गयी। अन्य भी कोई ज्वरसे सन्तप्त रोगी सन्ताप की शान्तिके लिये तडागके जलमें (ठंडा होनेसे सन्ताप को शान्त करनेवाला समझकर) यदि स्नान करता है, तो उसका भयङ्कर फल हो जाता है अर्थात् ज्वर–सन्ताप शान्त होने के बदले अधिक बढ़ जाता है, वही दशा दमयन्ती की भी हुई] ॥ २ ॥

ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः।
स्थितिविरोधकरीं द्व्यणुकोदरी तदुदितः स हि यो यदनन्तरः॥३॥

ध्रुवमिति। द्व्यणुकोदरी सूक्ष्ममध्या, इयं दमयन्ती, स्थितिर्मर्यादा गतिनिवृत्तिश्च, तद्विरोधकरीं, तद्विरोधहेतुमित्यर्थः। गत्युत्पत्तेस्तत्प्रागभावविरोधित्वादिति भावः। 'कृञो हेतु' इत्यादिना हेत्वर्थे टप्रत्यये ङीप्। अधीरतां चपलताम्, एकत्रानवस्थानलक्षणां, दयितदूतो यः पतन् पतत्री हंसः। 'पतत्पत्ररथाण्डजा' इत्यमरः। तस्य गतिवेगतः गमनवेगादधीतवती गृहीतवती, प्राप्तवतीत्यर्थः। एतेन चापलाख्यः सञ्चारी भाव उक्तः। 'चापलं त्वनवस्थानं रागद्वेषादिसम्भवम्' इति लक्षणात्। तस्य हंसपक्षवेगजन्यत्वमुत्प्रेक्षते–ध्रुवमिति। ननु कथमन्यवेगादन्यत्र क्रियोत्पत्तिरित्याशंक्य यदनन्तरन्यायेन समर्थयति। योऽर्थो यस्यानन्तरस्सन्निहितः स तस्मादुदित उत्पन्न इत्युत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३ ॥

कृशोदरी उस दमयन्तीने प्रिय–दूत हंसके पंखोंके वेगसे (स्त्री–) मर्यादा–विरोधिनी अधीरताको धारण किया (सीखा) अर्थात् प्रिय नलके दूत हंसके उड़कर चले जानेपर अधीर हो गयी, क्योंकि जिसके बाद जो होता है, वह उसीसे उत्पन्न समझा जाता है। [हंसका उड़ना स्थिरताविरुद्ध (चंचल = अधैर्ययुक्त) था, अत एव उसके जानेके बाद दमयन्तीको जो अधीरता हो गई है, वह मानों उसी हंस–गमन–शिक्षासे हो उत्पन्न हुई है] ॥ ३ ॥

अतितमां समपादि जडाशयं स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम्।
अजनि पङ्करपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः॥ ४॥

अतितमामिति । तस्या भैम्याः आननं, स्मितलवस्य हासलेशस्य स्मरणेऽपि-किमुत करण इति भावः । अतितमामतिमात्रम् । 'किमेत्तिङ्' इत्यादिना अव्ययादाम्प्रत्ययः । जडाशयं मूढचित्तं, समपादि सम्पन्नं, तदज्ञ जातमित्यर्थः । 'चिण्ते पदः' इति कर्तरि चिण् । तस्या ईक्षणमेव नयनमेव, खञ्जनः खञ्जरीटः, अपाङ्ग एव निजाङ्गणं, तत्र भ्रमिर्भ्रमणं, तस्याः कणे लेशेऽपि पङ्गुरसमर्थः, अजनि जातः । 'दीपजन' इत्यादिना जनेः कर्तरि चिण् । ज्वरवेगात् स्मितवीक्षणे लुप्तो इति भावः ॥ ४ ॥

उस (दमयन्ती) का मुख थोड़ी–सी मुस्कुराहटके स्मरण करने में भी जडताको धारण किया (नल–विरहसे पीडित दमयन्तीने लेशमात्र भी मुस्कराना छोड़ दिया) । तथा उसका नेत्ररूपी खञ्जन (खञ्जरीट नामक पक्षी । उसके नेत्र खञ्जन पक्षीके तुल्य थे यह भी ध्वनित होती है) नेत्रप्रान्तरूप अपने आँगन में थोड़ा–सा भ्रमण करने में भी पङ्गु हो गया (दमयन्तीके नेत्रों ने विरह के कारण कटाक्षपूर्वक देखना भी छोड़ दिया) । [अन्य भी कोई जड=मूर्ख व्यक्ति छोटी छोटी बातों को भी स्मरण करने में तथा लँगड़ा व्यक्ति अपने अर्थात् अतिनिकटवर्ती आंगनमें थोड़ा भी घूमनेमें असमर्थ हो जाता है । नलविरह–पीडित दमयन्तीने हंसना तथा कटाक्ष करना छोड़ दिया] ॥ ४ ॥

किमु तदन्तरुभौ भिषजौ दिवः स्मरनलौ विशतः स्म विगाहितुम् ।
तदभिकेन चिकित्सितुमाशु तां मखभुजामधिपेन नियोजितौ ॥ ५ ॥

अथास्याः स्मरनलयोर्निरन्तरान्तःप्रवेशमालक्ष्योत्प्रेक्ष्यते—किमिति । तदभिकेन भैमीकामुकेन, 'अनुकामिकाभीकः कमिता' इति निपातितः । मखभुजामधिपेन देवेन्द्रेण, तां भैमीमाशु चिकित्सितुमगदीकर्तुं, नियोजितौ प्रेषितौ उभौ, दिवो भिषजौ स्वर्वैद्यावश्विनौ, स्मरनलौ सन्तौ, विगाहितुं रोगनिदानं निश्चेतुम्, तस्याः दमयन्त्याः, अन्तरन्तश्शरीरं प्रविशतः स्म किमु । प्रविश्य स्थितावश्विनावेव तौ किमित्युत्प्रेक्षा । तेनास्य मदनाश्विसमानसौन्दर्यं व्यज्यते । अत्र चिन्ताख्यः सञ्चारी भावः सूचितः । 'ध्यानच्छिन्तेष्सितानाप्तिः शून्यताश्वासतापकृत्' इति लक्षणात् ॥

जो कामदेव तथा नलने दमयन्तीके अन्तःकरण (हृदय) में प्रवेश किया था, वह उस दमयन्ती के कामुक देवराज इन्द्र के द्वारा, शीघ्र चिकित्सा करनेके लिये (या उसके अन्त करण को स्थिति जाननेके लिये) नियुक्त स्वर्गके वैद्य अश्विनी–कुमार थे क्या ? [यह 'नलकी कान्ति अश्विनीकुमारके समान थी यह तथा 'भावी दमयन्ती–स्वयंवरमें दमयन्तीको पत्नीरूपमें पानेके लिये इन्द्रका आगमन' ध्वनित होता है । अन्य भी किसी सुन्दरीका कामुक व्यक्ति 'उसकी मनोवृत्ति मेरे प्रतिकूल है, या अनुकूल' यह जाननेके लिये अथवा उसके रोगी होनेपर औषधोपचारके लिये वैद्यको भेजकर अपनी मनोभिलषित प्रियाको नीरोग कराना चाहता है] ॥ ५ ॥

कुसुमचापजतापसमाकुलं कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम् ।
अहरहर्वहदभ्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम् ॥ ६ ॥

अथ चिन्तानुभावं सन्तापं वर्णयति—कुसुमेत्यादि । कुसुमचापजेन स्मरसमुत्थेन, तापेन समाकुलं विह्वलम्, अत एवाहरहः अहन्यहनि' । अत्यन्तसंयोगे वीप्सायां द्विर्वचनम् । 'रोः सुपि' इत्यह्नो नकारस्य रेफादेशः । अभ्यधिकाधिकामत्यन्ताधिकाम् । आभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः । रविरुचिग्लपितस्य अर्कांशुहतस्य, विधोरिन्दोः, विधां प्रकारं, तादृशीमवस्थामित्यर्थः । अत एव सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धान्निदर्शनालङ्कारः । वहत् प्राप्नुवत्, कमलकोमलं तन्मुखमैक्ष्यत दृष्टं सखीजनेनेति शेषः । सकरुणमिति भावः ॥ ६ ॥

काम-ज्वरसे पीडित उस दमयन्ती का कमल के समान कोमल मुख सूर्य के सन्ताप से दिनपर दिन क्रमशः क्षीणकान्ति चन्द्रमाके समान होता जाता था । [कृष्ण पक्षका चंद्रमा जिस प्रकार दिनपर दिन सूर्यके धूप से फीका पड़ता जाता है, उसी प्रकार नल–विरह से काम–पीडित दमयंती का मुख भी संस्कारादि के छोड़ने से मलिन एवं क्षीण हो रहा था] ।६॥

तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम तत्कुचकुम्भयुगं तथा ।
अनलसङ्गतितापमुपैतु नो कुसुमचापकुलालविलासजम् ॥ ७ ॥

तरुणतेति । तस्याः कुचावेव कुम्भौ तयोर्युगं (कर्तृ), तरुणता तारुण्यमेव, तपनद्युतिरातपस्तया निर्मितः कृतो द्रढिमा काठिन्यं यस्य तत्तथा, कुसुमचाप एव कुलालः कुम्भकारस्तस्य विलासेन व्यापारेण जातं तज्जम्, अनलसङ्गतिः नलसङ्गस्याभावः । क्वचित् प्रसज्यप्रतिषेधे नञ्समास इष्यते । अर्थाभावेऽव्ययीभावे वा नपुंसकत्वम् । सैवानलसङ्गतिरग्निसंयोग इति श्लिष्टरूपकम्, तया तापमुपैतु नो काकुः उपेयादेवेत्यर्थः प्राप्तकाले लोट् । तथा हि—आमो घटः कुलालेन दार्ढ्याय प्रथममातपेन पक्त्वा पश्चादग्निना पच्यते । रूपकालङ्कारः ॥ ७ ॥

उस समय कामदेवरूपी कुम्हार के विलास (क्रीडा या चाहना) से उत्पन्न (बनाया गया), तारुण्यरूप सूर्यकी द्युति (शोभा, पक्षान्तरमें—घाम) से कठिन (पक्षान्तरमें–सूखकर कड़ा) हुआ, उस दमयन्तीका स्तनरूप दो घट अर्थात् स्तन–कलश-द्वय अनल–संगति (अग्निका संसर्ग) आवोंमें पड़ने (पक्षान्तरमें—नलके विरहमें रहने) के सन्तापको नहीं प्राप्त करें क्या ? अर्थात् अवश्य प्राप्त करें । ['कामदेव······उत्पन्न' यह सन्ताप का भी विशेषण हो सकता है । जिस प्रकार कुम्हार घड़ों को बनाकर उन्हें धूप में सुखानेसे कड़ा होनेके बाद आगमें पकाता है, उसी प्रकार कामकृत युवावस्थासे कठिनीभूत घटद्वयके समान दमयंतीका स्तनद्वय अनल (नलका अभाव) अर्थात् नल-विरहसे संतप्त होते थे, यह ठीक है] ॥ ७ ॥

अधृत यद्विरहोष्मणि मज्जितं मनसिजेन तदूरुयुगं तदा।
स्पृशति तत्कदनं कदलीतरुर्यदि मरुज्वलदूषरदूषितः ॥ ८ ॥

अधृतेति। तदा यत्तस्या ऊरुयुगं मनसिजेन विरहोष्मणि विरहदाहे मज्जितम्, अधृत अवस्थितम्। धृङवस्थान इति धातोर्लुङि तङ्। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः। कदलीतरुः, मरौ मरुदेशे ज्वलता तप्यमानेन ऊपरेणोषरक्षेत्रेण, दूषितो यदि दूषितश्चेत्। तत्कदनं, तेनोरुयुग्मेन कदनं कलहं साम्यमित्यर्थः। स्पृशति। अत्रोपमानस्य कदलीतरोरुपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपालङ्कारभेदः। 'उपमानस्याक्षेपे उपमेयत्वकल्पनं प्रतीपम्' इति लक्षणात्। ऊषरप्ररूढकदलीकाण्डकल्पं तदासीदित्यर्थः ॥८॥

कामदेवके द्वारा (नल) विरहाग्निमें ढाला गया उस दमयन्तीका ऊरुद्वय (दोनों जांघें) उस समय जैसा हो रहा था, यदि मरुस्थलकी जलती हुई ऊसर भूमिमें झुलसा हुआ केलेका वृक्ष हो तो उस (दमयन्तीके दोनों जंघाओं) की समानता करे, [कामपीडाजन्य सन्तापसे दमयंतीका जघनद्वय मरुस्थलकी संतप्त भूमिमें उत्पन्न केलेके वृक्षके समान हो गया था] ॥ ८ ॥

स्मरशराहतिनिर्मितसंज्वरं करयुगं हसति स्म दमस्वसुः।
अनपिधानपतत्तपनातपं तपनिपीतसरस्सरसीरुहम् ॥ ९ ॥

स्मरेति। स्मरशराहत्या निर्मितसंज्वरं जनिततापं, दमस्वसुः करयुगं (कर्तृ) अनपिधानादनावरणात (हेतोः), पतन् प्रविशन्, तपनातपः सूर्यातपः, यस्मिन् तत्तथा, तपेन ग्रीष्मेण निपीते शोषिते सरसि यत्सरसीरुहं पद्मं, तद्धसति स्म तत्सदृशमभूदित्यर्थः। 'हसतीर्ष्यत्यसूयती'ति दण्डिना सदृशपर्याये पठितत्वात्। अत एवोपमालङ्कारः ॥ ९ ॥

कामदेवके बाणोंके प्रहारसे उत्पन्न दाहसे युक्त, दमयंतीके दोनों हाथ, आवरण—हीन सूर्य—संतापसे युक्त, घामसे सूखे हुए तडागके कमलोंको हँसते थे। (सूर्यसंतापसे निरावरण संतप्त, सूखे तडागके कमलोंकी अपेक्षा कामपीडाजन्य नल–विरहसंतप्त दमयंतीके दोनों हाथ अधिक क्षीण कांतिवाले हो रहे थे] ॥ ९ ॥

मदनतापभरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसुः।
निविडपीनकुचद्वययन्त्रणा तमपराधमवात्प्रतिबध्नती ॥ १० ॥

मदनेति। दमनस्वसुः, हृदा हृदयेन (कर्त्रा) मदनतापस्य भरेण औत्कट्येन (हेतुना) विदीर्य, नो उदपाति नोत्पतितमिति यत्, भावे लुङ्। तमनुत्पतनरूपमपराधं प्रतिबध्नती निरुन्धती, निविडपीनकुचद्वयेन यन्त्रणा बन्धः (कर्त्री), अधात्। हृदयकृतापराधं स्वयमुवाहेत्यर्थः। अत्रातिदाहेऽप्यस्फुटनं हृदयस्यायुःशेषनिबन्धनं, तस्य कुचयन्त्रणानिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते। सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥१०॥

दमयंतीका हृदय कामदेवजन्य संतापकी अधिकता से विदीर्ण हो (फट) कर जो नहीं

उछल (बाहर निकल) गया, उस अपराधको, रोकनेवाले सटे हुए बड़े-बड़े स्तनोंके दबावने धारण किया अर्थात् सटे हुए बड़े-बड़े स्तनोंके बोझके कारण ही विरह-पीडामें भी दमयन्तीका हृदय फटकर टुकड़ा-टुकड़ा नहीं हो गया। [अन्य भी कोई वस्त्र आदि हलकी वस्तु वजनदार बड़े पत्थरोंके दबावसे ऊपरको नहीं उड़ने पाती। अथवा—'उस अपराधको रोकनेवाले सटे हुए बड़े-बड़े दोनों स्तनोंने पी लिया'। यह भी अर्थान्तर हो सकता है]॥ १० ॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्[1]।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः ॥ ११ ॥

निविशत इति। शूकशिखा कण्टकाग्रं, पदे चरणे निविशते प्रविशति यदि, 'नेर्विश' इत्यात्मनेपदम्। सा प्रविष्टा शूकशिखा। कियतीमिव व्यथां पीडाम्, इव-शब्दो वाक्यालङ्कारे। कीदृशीं व्यथामित्यर्थः। न सृजति नोत्पादयति, सहतीमेव सृजतीत्यर्थः। अवनिभृद्राजा नलः, पर्वतश्च। स तु, हृदि निविश्य स्थितः सन्, मृदुतनोः कोमलाङ्ग्याः, तां तथाविधां, व्यथां कथं न वितनोतु तनोत्वेवेत्यर्थः। सम्भावनायां लोट्। अत्र पदे सूक्ष्मकण्टकप्रवेशे दुस्सहा व्यथा। किमुत मृद्वङ्ग्या हृदि महत्प्रवेशेनेति कैमुत्यन्यायेनार्थापत्तिरर्थालङ्कारः ॥ ११ ॥

यदि परम शूक (यव या गेहूँ आदि धान्योंके बालिमें होनेवाला महीन ठूँड़) का नोक भी घुस जाता है, तो वह कितनी पीडा नहीं पहुँचाता अर्थात् अत्यधिक पीडा पहुँचाता है। तब सुकुमार शरीरवाली दमयंतीके हृदयमें घुसकर (पूर्णतया प्रवेशकर) स्थित महाभृत् (पर्वत, पक्षांतरमें—राजा=नल) उस व्यथाको क्यों नहीं बढ़ावें ? (पैर—जैसे कठिनतम अङ्गमें सूक्ष्मतम शूकका अग्रभाग भी जब व्यथा करता है, तब हृदय—जैसे कोमलतम मर्मस्थलमें पूर्णरूपेण प्रविष्ट हुए पहाड़ (पक्षांतरमें—नल)—जैसा विशालतम कठिन पदार्थसे सुकुमार शरीरवालीको व्यथाका अधिक बढ़ना ठीक ही है ॥ दमयंतीके हृदयमें नल थे, अतः उनके विरहसे वह अधिक व्यथित हो रही थी]॥ ११ ॥

मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयान्तरुपेतयोः।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि ॥ १२ ॥

मनसीति। मनसि सन्तं हृदि वर्तमानं प्रियमीक्षितुं स्पृहया अन्तरुपेतयोरन्तः-प्रविष्टयोरिव, इदमीययोरस्याः सम्बन्धिनोः। इदंशब्दात्स्यदादेः 'वृद्धाच्छः'। नय-नयोः सम्मुखं पुरोदेशः वास्तु स्थानं यस्य तस्मिन्नपि पुरोवर्तिन्यपि वस्तुनि, ग्रहण-शक्तिः साक्षात्करणसामर्थ्यं नाभूत्। नलव्यासङ्गाच्च किञ्चिदन्यद्राक्षीदित्यर्थः। तद्-व्यासङ्गनिमित्तस्य बाह्यादर्शनस्य चक्षुषोरन्तःप्रवेशननिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते। चिन्ताख्यः सञ्चारी भावः ॥ १२ ॥

मनमें स्थित प्रिय नलको देखनेके लिए मानों भीतरको घुसी (चिन्तासे भीतरको ओर

1. 'व्यथाम्' इति पाठान्तरम्।

धँसी) हुई दमयंतीकी आँखोंको सामने पड़ी हुई वस्तुओंको भी देखने का सामर्थ्य नहीं रहा। [चिन्ताके कारण दमयंतीकी आँखें भीतर धँस गई थीं तथा वे सामने भी पड़ी हुई वस्तुओंको नहीं देख सकती थीं]॥ १२॥

हृदि दमस्वसुरश्रुझरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानतेः।
हृदयभाजमराजत चुम्बितुं नलमुपेत्य किलागमितं मुखम्[1]॥ १३॥

हृदीति। विरहेणात्ता प्राप्ता मुखानतिर्यया सा तस्या नम्रमुखायाः दमस्वसुः मुखम्। अश्रुझरेणाश्रुप्रवाहेण, प्लुते सिक्ते, हृदि हृदये प्रतिफलम् प्रतिबिम्बितं सत्, हृदयभाजं हृदि स्थितं, नलं चुम्बितुमुपेत्य गत्वा, आगमितं सञ्जातागमनं किल, प्रत्यागतमित्युत्प्रेक्षा। तारकादित्वादितच्। किलेति सम्भावनायाम्। 'वार्ता-सम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः। अराजत रराज। सम्भावनायामुत्प्रेक्षा॥ १३॥

(नल-) विरहसे नीचेकी ओर मुख की हुई दमयंतीके आँसुओंके प्रवाह (अश्रुधारा) से भीगे हुए हृदयमें (छातीपर पड़ी हुई आँसुओंकी बूँदोंमें) प्रतिबिम्बित उस दमयंतीका मुख, मानो हृदयस्थित नलका चुम्बन करनेके लिये पास गये हुएके समान शोभायमान होता था। [चिन्तासे नीचे की ओर मुख किये दमयंती रो रही थी, अश्रुप्रवाह-जन्य बूँदें छाती पर पड़ी हुई थीं, उनमें उसका मुख प्रतिबिम्बित हो रहा था, उसे देखनेसे मालूम होता था कि हृदयमें रहनेवाले प्रियतम नलके पास जाकर दमयन्तीका मुख चुम्बन कर रहा है]॥१३॥

सुहृदमग्निमुदञ्चयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः।
अकलि निःश्वसितेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता॥ १४॥

सुहृदमिति। गन्धवहेन बाह्यवायुना, सुहृदं सखायम्। 'रोहिताश्वो वायुसखः' इत्यग्नेर्वायुसखत्वाभिधानात्। मृगीदृशः भैम्याः, मनसि, स्मरमेवाग्निमुदञ्चयितु-मुद्दीपयितुं, निःश्वसितेन निःश्वासवातव्याजेन, विनिर्गमेण बहिर्निस्सारणेन, अनु-मितं निह्नुतं, प्रागज्ञातं, यद्वेशनमन्तःप्रवेशस्तत्र मायिता मायाविरवम्। तत्कल्प-नापाटवं व्रीह्यादित्वादिनिः अकलि कलितं प्राप्तम्, नूनमिति शेषः। अग्निदो हि गूढं प्रविश्य प्रकाशं निर्गच्छति, तद्वद्वायुरपि याहकनिःश्वासव्याजेन तथा कृत्वा निर्गत इत्युत्प्रेक्षा॥ १४॥

मृगनयनी दमयन्तीके निःश्वासरूपी मलय-वायुने दमयन्तीके हृदयमें रहनेवाले (या कैद) मित्रभूत कामाग्निको उत्तेजित करने (या बाहर निकालने) के लिये बाहर निकलने पर अनुमान किये गये गुप्तरूपसे भीतर प्रवेशरूप मायाको धारण किया। ['अग्निका वायु मित्र है' यह सर्वविदित है, अतः मित्र होनेके कारण दमयन्तीके हृदयरूप जेलमें कैद कामाग्निको छुड़ानेके लिये या उसकी उत्तेजित करनेके लिये दमयन्तीका सुगन्धित निःश्वासरूप वायु चुप-चाप उसके हृदयमें भीतर प्रवेशकर जब बाहर निकलने लगा तब उसका गुप्त रूपसे प्रवेश

---

1. 'किलागमि तन्मुखम्' इति पाठान्तरम्।

करनेका कपटाचरण लोगोंको मालूम पड़ा। अथवा परमसुगन्धित मलयवायु कामदेवका मित्र है, अतः सर्वदा विरहियोंके कामको वह उत्तेजित करता (बढ़ाता) है, दमयन्तीका सुगन्धित निःश्वास मलयवायुके समान कल्पित किया गया हैं। दूसरा भी कोई जेल या हवालात आदिमें बन्द मित्रको छुड़ानेके लिये अवसर पाकर चुपचाप उसके पास पहुँचकर उसे छुड़ानेकी चेष्टा करता हैं और जब बाहर निकलते हुए उसे कोई देख लेता है तो उसके गुप्तरूपसे भीतर प्रवेश करनेके मायाचारको जान जाता है। दमयन्तीके निःश्वासके साथ ही उसका कामसन्ताप भी बढ़ गया]॥ १४॥

विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः॥ १५॥

विरहेति। तस्या दमयन्त्याः, दृग्दृष्टिरेव, लिपिकरी चित्रकरी, विरहेण पाण्डिमा शरीरश्वैत्यं, रागोऽनुरागः, स एव रागो रक्तिमा। श्लिष्टरूपकम्। तमो मोहस्तदेव मषी तस्याः शितिमा नीलिमा। तस्या भैम्याः, निजो नैसर्गिकः पीतिमा कनकवर्णः, चतुर्णां द्वन्द्वः, तैरेव वर्णकैः चित्रसाधनैः, दश दिशस्ता एव भित्तीरिति शेषः। नलस्य रूपकैः प्रतिकृतिभिः चित्रिताः सञ्जातचित्राः, तारकादित्वादितच्। अकल्पयदसृजत्खलु। निरन्तरचिन्ताजनितया भ्रान्त्या प्रतिदिशं मिथ्यानलानद्राक्षीदित्यर्थः॥ १६॥

दमयन्तीकी दृष्टिरूपिणी चित्रकारिणी (चितेरी—चित्र बनानेवाली) ने (उसके शरीर में) विरहसे उत्पन्न पाण्डुरता, राग (लाल रङ्ग, पक्षान्तरमें—अनुराग), मूर्च्छारूपी स्याही की कालिमा (काला रङ्ग) और सर्वप्रसिद्ध (स्व-देह-सौन्दर्यरूप) पीलापन (पीला रङ्ग), इन रङ्गोंसे दशो दिशाओंको (सब ओर) नलके चित्रोंसे चित्रित कर दिया। [दूसरी कोई चितेरी भी श्वेत, लाल, काले और पीले रङ्गोंसे सब ओर चित्र बना देती है। नलविषयक अनुरागके कारण विरहसे दमयन्तीके शरीरमें पाण्डुता, मूर्च्छा आदि विकार होने लगे और उसे सब ओर नल ही दिखलाई पड़ने लगे]॥ १५॥

स्मरकृतिं हृदयस्य मुहुर्दशां बहु वदन्निव निःश्वसितानिलः।
व्यधित वाससि कम्पमदः श्रिते त्रसति कः सति नाश्रयबाधने॥ १६॥

स्मरकृतिमिति। निःश्वसितानिलः,स्मरकृतिमदनकर्तृकसृष्टिरूपां, हृदयस्य हृत्पिण्डस्य, दशामवस्थां बहु बहुवारं (क्रियाविशेषणम्), वदन्निव एवं कम्पत इति कथयन्निवेत्युत्प्रेक्षा। अदो हृदयं, श्रिते वाससि, कम्पश्चलनं, तत्कारणं त्रासशङ्का, मुहुः व्यधित विहितवान्। दधातेर्लुङि तङ्। 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः। तथा हि—आश्रयबाधने सति, को नाम न त्रसति। सर्वोऽपि त्रसस्येवेत्यर्थः। तद्बाधे तदाश्रितस्य स्वस्यापि बाधादिति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः॥

(दमयन्तीको) निःश्वासवायु उसके हृदयकी कामजन्य दशा (पीडा, अवस्था) को बार-बार अधिक कहती हुईके समान (दमयन्तीके) हृदयपर स्थित वस्त्रको कम्पायमान करने

लगी। ठीक है—आश्रयको पीड़ा होनेपर कौन नहीं डर जाता अर्थात् सभी डर जाते हैं। [विरहावस्थासे उत्पन्न निःश्वासाधिक्यके कारण हृदयस्थित वस्त्र अधिक कम्पित होने लगा, हृदयके कम्पित होनेपर उसपर स्थित वस्त्र भी कम्पित होने लगा। एवं जो कोई व्यक्ति किसीकी अवस्थाको कहने लगता है, तब उसके ओष्ठ आदि अङ्ग कम्पित होने ही लगते हैं। दमयंतीका निःश्वास तथा हृदय-कम्पन विरहके कारण बहुत बढ़ गया] ॥ १६ ॥

करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे।
रविमहो बहुपीतचरं चिरान्निशतापमिषादुदसृज्यत ॥ १७ ॥

करेति। करौ पदे आननं लोचने इति नामानि येषां तैः, तदाकारपरिणामात्तन्नामधारिभिः शतदलैः कुशेशयैः (कर्तृभिः) चिरात् चिरात्प्रभृति, पीतचरं रसवशात् पूर्वपीतं, भूतपूर्वे चरट्प्रत्ययः। बहु भूरि, रविमहः सूर्यतेजः, सुतनोः, दमयन्त्याः, विरहज्वरे ज्वरावस्थायां, अनिशतापमिषान्निरन्तरोष्मव्याजात्, उदसृज्यत उत्सृष्टम्। नूनमिति शेषः। अत्र पद्मानां भैमीकरचरणादिभ्यो नाममात्रभेदः। न रूपभेद इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः। तन्मूला चेयं पूर्वपीततेजोवमनोत्प्रेक्षा। सा च तापव्याजादित्यपह्नवानुप्राणितेति सङ्करः ॥ १७ ॥

सुंदर अङ्गोंवाली दमयंतीके (नल-) विरहजन्य ज्वर (संताप) में हाथ, पैर, मुख तथा नेत्ररूप कमल मानो पहले अधिक मात्रामें पाये हुए सूर्य-संतापको बहुत समयके बाद निरंतर संताप (विरहजन्य सतत ज्वर) के बहानेसे छोड़ने (वमन करने लगे। [सर्वाङ्गसुंदरी दमयंतीके हाथ, पैर, मुख तथा नेत्र कमलके समान या कमलरूप ही है, कमलोंका निरंतर सूर्य-संतापसे विकसित होना स्वभाव-सिद्ध है, अतः सूर्यतापको दमयंतीके हाथ-पैर आदि कमलोंके द्वारा पहले पीनेकी तथा अधिकताके कारण बादमें विरहजन्य ज्वरके ब्याजसे वमन (उल्टी) करनेकी कल्पना की गयी है। अन्य भी कोई व्यक्ति यदि किसी वस्तुको अधिक प्रमाणमें पीता है, तो उसे बादमें वमन कर देता है। विरहज्वरसे दमयन्ती के कमलतुल्य हाथ-पैर आदि अङ्ग अधिक सन्तप्त होने लगे] ॥ १७ ॥

उदयति स्म तदद्भुतमालिभिर्धरणिभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत्।
अनुमितोऽपि च बाष्पनिरीक्षणाद्व्यभिचचार न तापकरो नलः ॥

उदयतीति। आलिभिः सखीभिः, तत्र तस्यां धरणिभृतो भीमभूपाद्भवतीति तद्भूः भैमी तस्यां पर्वतभूमौ च विमृश्य व्याप्तिमनुसन्धाय, बाष्पनिरीक्षणादश्रुलिङ्गदर्शनात्। अन्यत्र, धूमदर्शनात्। 'बाष्पोऽश्रुण्यम्बुधूमे च' इति वैजयन्ती। अनुमितः अभ्यूहितः, अन्यत्र लिङ्गमात्रावधारितोऽपि तापकरः सन्तापजनकः, नलो नैषधः, अन्यत्र अनलोऽग्निः, न व्यभिचचार नान्यथा बभूवेति यत्, तदद्भुतमुदयति स्म उत्पन्नमित्यर्थः। 'अय गतौ' इति धातोर्भूते लट्। नलचिन्ताजन्योऽयं सन्ताप इत्यश्रुदर्शनात्सखीभिरूहितमहो इति परमार्थः। अत्रबाष्पलिङ्गदर्श-

नादनलज्ञानम् । तच्चाव्यभिचारीति स्फुरतो विरोधस्याश्रुलिङ्गात्सन्तापकरो नलो निश्चित इत्यभासीकरणाद्विरोधाभासः । स च श्लेषानुप्राणितः । सन्तापकरो नल इति शब्दश्लेषः । अन्यत्रार्थश्लेषः । अपिर्विरोधे ॥ १८ ॥

सखियोंके द्वारा उस राजकुमार (पक्षान्तरमें—पर्वतभूमि) में बाष्प (आँसू—पक्षान्तरमें—भाप) को देखनेसे विचार किया गया संतापकारक नल (पक्षान्तरमें—अनल—अग्नि) का अनुमान जो व्यभिचरित नहीं हुआ (ठीक निकला) यह आश्चर्य है । [जैसे पर्वतकी भूमिमें भाप देखकर किया गया अग्नि-विषयक अनुमान आश्चर्यजनक होता है, वैसे ही बाष्प देखनेसे अनुमित सन्तापकारकत्व आश्चर्यजनक है । दमयंती का रोना देखकर उसकी सखियाने जो 'नल-विरहके कारण वह रो रही है' अनुमान किया, यह आश्चर्य है । पहले पाण्डुता आदिसे और बादमें रोनेसे बिना बतलाये ही सखियों द्वारा नलविरहजन्य सन्तापका अनुमान करना आश्चर्यजनक है] ॥ १८ ॥

हृदि विदर्भभुवं प्रहरन् शरै रतिपतिर्निषधाधिपतेः कृते ।
कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिरमूर्च्छदलं खलु ॥ १९ ॥

हृदीति । निषधाधिपतेः कृते नलस्यार्थं, तत्प्रहारार्थमित्यर्थः । 'अर्थे कृते च शब्दौ द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ' इति वचनात् । विदर्भभुवं दमयन्तीं, शरैर्हृदि प्रहरन्, नलस्य सदा तद्गतत्वादिति भावः । रतिपतिः कामः, कृता तदन्तरगस्य अमीहृद्गतस्य स्वस्य दृढव्यथा येन सः, स्वयमपि तद्गतत्वात् प्रहृतः सन्नित्यर्थः । फलन्ती अनीतिर्दुर्नीतिर्यस्य सोऽलमत्यन्तममूर्च्छदवर्धत खलु । असुह्यदिति च गम्यते । 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' इत्यनुशासनात्, तदभेदेन मूर्च्छालक्षणकार्यदर्शनाद्रतिपतेः स्मरस्यापि प्रहार उत्प्रेक्ष्यते व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । सा च श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितेति शङ्करः । परप्रहारोद्यतस्य स्वप्रहाररूपानर्थोत्पत्तेर्विषमभेदश्च व्यज्यते ॥ १९ ॥

निषधराज नलको लक्ष्यकर दमयन्तीके हृदयमें बाणोंसे प्रहारकर दमयन्ती हृदय-स्थित अपनेको ही अधिक व्यथित करनेसे दुर्नीतिका फल पानेवाला कामदेव अत्यन्त मूर्च्छित हो गया (पक्षा० में—बढ़ गया) । [कामदेवको नलने अपनी शरीरशोभासे जीत लिया था, अतः वह कामदेवका शत्रु बन गया । दमयंतीके हृदयमें स्थित नलका लक्ष्यकर दमयन्तीके हृदयमें बाणोंसे प्रहार करनेवाला कामदेव वहाँ स्वयं भी स्थित होनेके कारण स्वयं ही बहुत घायल होकर मूर्च्छित हो गया, यह उसने अपनी दुर्नीतिका फल पाया । नलको मारनेके लिये दमयन्तीके हृदयमें प्रहार करना भारी दुर्नीति है, क्योंकि शत्रुको छोड़कर दूसरेपर प्रहार करना अनुचित है, अतएव इस दुर्नीतिका फल कामदेवको स्वयं भोगना पड़ा । अन्य कोई योद्धा किसी दुर्ग आदि गुप्त स्थानमें छिपे हुए शत्रुपर वहाँ जाकर आत्मरक्षाके बाद ही प्रहार करता है, किन्तु कामदेव वैसा न कर सकनेके कारण (आत्मरक्षाऽभावरूपी) दुर्नीति का स्वयं शिकार बन गया । दमयन्तीकी कामजन्य पीड़ा बढ़ गई । अथवा—शत्रुका

आश्रयदाता भी शत्रु हो जाता है, अतः नलको हृदय में आश्रय देनेवाली दमयन्ती भी कामदेवका शत्रु बन गयी। इस कारण दमयन्तीके हृदयमें प्रहार करने से उस कामदेवकी नीति सफल हो गयी। और वह यहाँ स्वयं वृद्धिको (विजय) को प्राप्त किया। यह वास्तविक फलितार्थ धातुके दूसरे अर्थमें होता है] ॥ १९ ॥

विधुरमानि तया यदि भानुमान् कथमहो स तु तद्धृदयं तथा।
अपि वियोगभरास्फुटनस्फुटीकृतदृषत्त्वमजिज्वलदंशुभिः ॥ २० ॥

विधुरिति। तया दमयन्त्या, विधुश्चन्द्रः, भानुमान् सूर्यः, अमानि मेने यदि विरहिजनस्तन्न चित्रम्। किन्तु, सः सूर्यत्वाभिमतो विधुः, वियोग एव भरो भारस्तेनापि यदस्फुटनमविशरणं, तेन स्फुटीकृतं दृषत्त्वं सूर्योपलत्वं यस्य तत्। अन्यथातिभाराल्लोष्टादिवद्विशीर्येतेति भावः। तद्धृदयमपि भैमीहृदयरूपं सूर्यकान्तमपीत्यर्थः। कथं तथा सूर्यवत् अंशुभिः स्वतेजोभिः, अजिज्वलत् ज्वलयति स्म। ज्वलतेर्णौ चङ्। अहो विधुर्विरहिणामुद्दीपकत्वात्-सूर्यवत्तपतु नाम। तद्वदर्कोपलज्वलयितृत्वं तु चित्रमित्यर्थः ॥ २० ॥

यदि (विरहावस्थामें चन्द्रमाको देखकर सन्ताप बढ़नेके कारण) दमयन्तीने चन्द्रमाको सूर्य मान लिया है, किन्तु वह (सूर्य माना गया वास्तविक चन्द्रमा) वियोगकी अधिकता (पक्षान्तर में—अधिक बोझ) से नहीं विदीर्ण होने (पक्षान्तरमें—फूटने) के कारण अपने को पत्थर अर्थात् सूर्यकान्त मणि स्फुट (प्रमाणित) करनेवाले दमयन्ती-हृदयको उस प्रकार (अत्यधिक प्रमाणमें) क्यों सन्तप्त कर रहा था ? [चन्द्रमा विरहि-विरहिणियों का सन्तापकारण होनेसे विरहिणी दमयन्तीके लिये भी सन्ताप-कारक हो रहा था, इसी कारण वह चन्द्रमाको सूर्य मानती थी; किन्तु वह अवास्तविक सूर्य (वास्तविक रूपमें चन्द्रमा) विरहभारसे भी अविदीर्ण (अन्यथा यदि पत्थर नहीं होता तो दबावसे फूटकर चूर्ण हो जाता और सामान्यजातीय पत्थर होने पर भी अधिक सन्तप्त नहीं होता फिर) दमयन्ती-हृदयरूप सूर्यकान्त मणिको क्यों सन्तप्त कर रहा था ? यह आश्चर्य है। जो सूर्य नहीं, अपितु चन्द्रमा है, वह सूर्य माननेमात्र से सूर्यकान्त मणि को कदापि सन्तप्त नहीं कर सकता, अतः वह वस्तुतः चन्द्रमा नहीं, किन्तु सूर्य ही है। विरहिणी दमयन्ती के हृदय को चन्द्रमा अत्यधिक सन्ताप दे रहा था] ॥ २० ॥

हृदयदत्तसरोरुहया तया क सदृगस्तु वियोगनिमग्नया।
प्रियधनुः परिरभ्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमशेत चितार्चिषि ॥ २१ ॥

हृदयेति। वियोगनिमग्नया विरहाग्निमग्नया, अत एव हृदयदत्तसरोरुहया सन्तापशान्तये वक्षोनिक्षिप्तपद्मया, तया समाना दृश्यत इति सदृक् सदृशी स्त्री 'समानान्ययोश्च' इत्युपसङ्ख्यानात्समानोपपदाद्दृशेः क्विन्प्रत्ययः। 'दृग्दृशवतुषु' इति समानशब्दस्य सभावः। कास्तु न कापीत्यर्थः। रतिः कामपत्नी, हृदा वक्षसा

प्रियस्य स्वभर्तुः, धनुःपौष्पमित्यर्थः परिरभ्य, अनुमर्तुम् अनुगमनं कर्तुं, चितार्चिषि, अशेत शयिता किम् । प्रियमनुमर्तुं चितार्चिषि शयाना साक्षाद्रतिरेवेयमित्युत्प्रेक्षा । तज्ज्वराग्निस्तथा प्रज्वलतीति भावः ॥ २१ ॥

विरहमें निमग्न (अत एव तज्जन्य सन्तापकी शान्तिके लिये) हृदयपर कमलको रखी हुई उस दमयन्ती के समान कहाँपर (किस संसार में) कोई स्त्री है ? । प्रिय-(काम-) धनुष को हृदयसे आलिङ्गन (हृदयपर रख) कर रति प्रियतम (कामदेव) के पीछे मरनेके लिये चिताग्निपर सोई थी क्या ? अथवा-……सोई है क्या ? [दमयन्ती की स्वस्थावस्थामें कहींपर कोई भी स्त्री उसके समान सुन्दरी नहीं थीं, किन्तु नल-विरहसे क्षीणकान्ति होकर शय्या-पर पड़े रहनेकी अवस्थामें भी उसके समान कोई स्त्री नहीं थी, इतना ही नहीं, अपि तु सर्व-सुन्दरी रति भी उस दमयन्तीकी समता उस क्षीणावस्थामें भी नहीं कर सकी; क्योंकि दम-यन्ती जो जीवित भी प्रिय (नल) के विरह होनेसे विरहरूप चिताग्निपर सोकर मरने के लिये तैयार हो गई थी, किन्तु प्रिय कामदेवके भस्मावशेष हो जानेपर भी रति उसके कमल-पुष्परूप धनुषको हृदयसे आलिङ्गनकर उस प्रियके पीछे मरने (सती होने) के लिये चिता-ग्निपर नहीं सोई थी अतएव रति भी दमयन्तीकी समानता नहीं कर सकी । अथवा—विरह—सन्तापकी शान्तिके लिये हृदयपर कमलपुष्प रखकर सोई हुई दमयन्तीको देखकर सखीजन आदिको शङ्का हो जाती थी कि—'प्रिय कामके विरह से उसका कमल–पुष्परूप धनुप हृदयपर रखकर सती होने के लिये रति ही चिताग्निपर सोई है क्या ?' ॥ दमयन्ती विरहजन्य तापकी शान्तिके लिये शीतल कमल–पुष्पको हृदयपर रखकर लेटी] ॥ २१ ॥

अनलभावमियं स्वनिवासिनो न विरहस्य रहस्यमबुद्धचत ।
प्रशमनाय विधाय तृणान्यसून् ज्वलति तत्र यदुज्झितुमहत ॥ २२ ॥

अनलभावमिति । इयं दमयन्ती, स्वनिवासिनः स्वनिष्ठस्य, विरहस्य नलवियोगस्य, रहस्यं शमीवह्निवन्निगूढम्, अनलभावमग्नित्वं, नलरहितत्वञ्च गम्यते । नावुद्धयत नाज्ञानादित्यर्थः । कुतः, यद्यस्मात्, तत्र तस्मिन्विरहे, ज्वलति सति, प्रशमनाय प्रज्वलनप्रतीकारार्थम्, असून्, तृणानि विधाय तृणप्रायान् कृत्वा तृणा-त्मकानिति । उज्झितुं त्यक्तुं प्रक्षेप्तुञ्च । ऐहत ऐच्छत् । अग्नित्वज्ञाने कथं तच्छा-न्तये तत्र तृणप्रक्षेप इत्यर्थः । विरहदुःखान्मर्तुमैच्छदिति तात्पर्यार्थः ॥ २२ ॥

उस दमयन्तीने अपनेमें स्थित विरहको अनलभाव (अग्नित्वरूप, पक्षान्तरमें—नलके अप्राप्तिरूप) रहस्यको नहीं समझा, क्योंकि उस अग्निके जलते रहनेपर (पक्षान्तरमें—विरहके बढ़ते रहनेपर) उसकी शान्तिके लिये उसमें प्राणोंको तृण बनाकर छोड़ना चाहा । अथवा—उस दमयन्तीने अपनेमें स्थित विरह—नलका दुर्लभत्वरूप रहस्यको नहीं समझा ? अर्थात् अवश्य समझा; क्योंकि (उस नलको दुर्लभताको समझ कर ही अन्य उपाय न होनेसे)

उस विरहकी शान्तिके लिये अपने प्राणोंको तृणोंके समान मानकर छोड़ना चाहा (जीनेकी अपेक्षा मरना ही अच्छा समझा। अथवा—अपने पासमें रहनेवालेके रहस्यको मनुष्य अवश्य समझता है, अतएव दमयन्तीने भी नलाभावरूपी विरह-रहस्यको समझकर अपने प्राणोंको तृण (तुच्छतम) मानकर प्रशमन (प्र+शमन=उद्दण्ड=यमराज अर्थात् क्रूर यमराज) के लिए देना चाहा। [प्रथम पक्षमें—यदि दमयन्ती अपनेमें निवास करनेवाले विरहके अग्नित्वरूप रहस्यको समझती तो उसकी शान्तिके लिए प्राणोंको तृण बनाकर नहीं छोड़ती, क्योंकि कोई भी समझदार व्यक्ति अग्निकी शांति के लिये उसके जलते रहने पर उसमें तृण नहीं छोड़ता ॥ दमयन्ती नलको दुर्लभ समझकर मृतप्राय हो गयी] ॥ २२ ॥

प्रकृतिरेतु गुणस्स न योषितां कथमिमां हृदयं मृदु नाम यत्।
तदिषुभिः कुसुमैरपि धुन्वता सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा ॥ २३ ॥

प्रकृतिरिति। योषितां हृदयं मृदु नामेति यत्। नामेति प्रसिद्धौ। स इति विधेयप्राधान्यात् पुल्लिङ्गता। प्रकृतिः प्रकृतिसिद्धः, गुणो मार्दवगुणः, इमां दमयंतीं कथं नैतु प्राप्नोत्वेवेत्यर्थः। कुतः? तन्मृदुत्वं कुसुमैरपि इषुभिः, धुन्वता विबुधेन देवेन विदुषा च मनोभुवा, सुविवृतं सम्यग्व्याख्यातम्, विद्वदधिकारत्वात्सन्दिग्धार्थनिर्णयस्येत्यर्थः। कुसुमादपि सुकुमारमस्या हृदयमित्यर्थः ॥ २३ ॥

'क्यों स्त्रियोंका हृदय कोमल होता है' यह प्रसिद्ध है। यह (स्त्रियोंका) स्वाभाविक गुण दमयन्तीरूप स्त्रीको भी क्यों न प्राप्त हो अर्थात् प्राप्त ही है। इस बातको पुष्पवाणोंसे भी कम्पायमान ('दुन्वता' पाठभेदमें—पीडित) करते हुए देवता (पक्षांतरमें—विशिष्ट विद्वान्) कामदेवने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया [सर्वज्ञ देवता या विशिष्ट विद्वान् ही किसी बातको सुस्पष्ट कर सकता है, वैसे कामदेवने भी अतिसुकुमार पुष्प-बाणोंसे दमयन्ती-हृदयको कम्पित या पीडितकर उक्त बातको सुस्पष्ट कर दिया, अन्यथा यदि दमयन्तीका हृदय फूलोंसे भी अधिक कोमल नहीं होता तो वह फूलोंके बाणोंसे कम्पित या पीडित कदापि नहीं होता] ॥

रिपुतरा भवनादविनिर्यतीं विधुरुचिर्गृहजालबिलैर्नु ताम्।
इतरथात्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितुं बिसवेषधराविशत् ॥ २४ ॥

रिपुतरेति। रिपुतराऽतिद्वेषिणी, विधुरुचिश्चन्द्रप्रभा, भवनादविनिर्यतीमनिर्गच्छन्तीं, इणश्शतरि ङीप्। तां भैमीं ज्वलयितुं, सन्तापयितुं, इतरथा निजरूपेण प्रवेशे आत्मनिवारणशङ्कया। स्वप्रवेशप्रतिषेधभिया, बिसवेषस्य धरा सती, गृहस्य जालबिलैर्गवाक्षरन्ध्रैः, अविशन्नु प्रविष्टा किम्। शिशिरोपचारबिसाङ्कुरा निरन्तरान्तःस्थितभैमीबाधनाय प्रच्छन्नप्रविष्टेन्दुकरा इव प्रविभान्ति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥२४॥

(विरहके कारण दमयन्तीको अतिशय पीडित करनेसे) प्रबल शत्रुभूत चाँदनी, घरसे (बाहर) नहीं निकलती हुई दमयन्तीको सन्ताप देनेके लिये अन्यथा (अपने वास्तविक रूपमें घरके मुख्य द्वारसे प्रवेश करनेपर) अपने निवारण (रुकने) की शंकासे (दमयन्तीसन्ताप-

शांतिके लिए उसकी सखियों द्वारा लाये गये) कमल–नालका रूप धारणकर घरकी खिड़कियोंके बिलोंसे प्रवेश किया क्या ? [अन्य भी कोई प्रबल शत्रु अपने प्रतिपक्षी को मारनेके लिये अपने वास्तविक वेषको धारणकर द्वारमार्गसे अ नेके समय अपनी रुकावटकी आशंकाकर अपना वेष बदलकर खिड़की आदिके मार्गसे घरमें घुसकर भयसे घरसे बाहर नहीं निकलनेवाले प्रतिपक्षीपर प्रहार करता हैं । खिड़कियों के बिलोंसे घरमें प्रवेश करती हुई चाँदनी हृद्गत कमल–नालके समान मालूम पड़ती थी, और उसे देखकर विरहजन्य क्षीणतासे घरसे बाहर नहीं निकल सकनेवाली दमयंतीको पीड़ा होती थी] ॥ २४ ॥

हृदि विदर्भभुवोऽश्रुभृति स्फुटं विनमदास्यतया प्रतिबिम्बितम् ।
मुखदृगोष्ठमरापि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिलाः शराः ॥ २५ ॥

हृदीति । विदर्भभुवो वैदर्भ्याः, विनमदास्यतया नम्राननत्वेन (हेतुना) अश्रूणि बिभर्तीत्यश्रुभृत्, क्विप् । तस्मिन्नश्रुसिक्त इत्यर्थः । हृदि वक्षसि, वैमल्यात् स्फुटं यथा तथा प्रतिबिम्बितं, मुखं च दृशौ च ओष्ठश्च मुखदृगोष्ठम् । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । मनोभुवा कामेन, तस्य मुखादेः उपमाकुसुमानि पद्मम् उत्पले बन्धूके च पञ्चधा स्थितान्युपमानपुष्पाणि तान्येव अखिलाः पञ्चापि शराः सदरोपि रोपितम् । तस्यास्तथाविधे वक्षसि प्रतिफलितं मुखाद्यवयवपञ्चकं पञ्चशरनिखातम्, तदुपमानकुसुमशरपंचकमिवालक्ष्यतेत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ २५ ॥

अश्रुयुक्त दमयन्तीके हृदयमें (छातीपर) उस दमयन्तीके मुखके नम्र होनेसे प्रतिबिम्बित उसका मुख, दोनों नेत्र तथा दोनों ओष्ठ (१+२+२=५) रूप उनके उपमानभूत सब (पांचों) पुष्प–बाणोंको मानो कामदेवने सचमुच ही गड़ा दिया था । [कामदेवके पुष्पमय पाँच बाण है, दमयन्तीके आँसुसे भीगे हुए हृदयपर प्रतिबिम्बित उसका कमल तुल्य मुख, नील–कमल–तुल्य दोनों नेत्र, तथा दुपहरियाके फूलके समान दोनों ओठ––इस प्रकार मुख, नेत्र तथा ओष्ठके उपमानभूत पाँचों पुष्पमयबाण कामदेव द्वारा विरहिणी दमयन्तीके अश्रुयुक्त हृदयमें गड़ाये गये मालूम पड़ते थे । दमयन्ती विरहमें अत्यधिक रोती तथा मुखको नीचे किये रहती थी] ॥ २५ ॥

विरहपाण्डुकपोलतले विधुर्व्यधित भीमभुवः प्रतिबिम्बितः ।
अनुपलक्ष्यसितांशुतया मुखं निजमुख मुखमङ्कमृगार्पणात् ॥ २६ ॥

विरहेति । विधुः, भीमभुवः भैम्याः, विरहेण पाण्डुनि कपोलतले गण्डस्थले, प्रतिबिम्बितः सन् , अनुपलक्ष्यसितांशुतया सावर्ण्यात् दुर्लक्ष्यशुभ्रकिरणतया, सुखमनायासेन, अङ्कमृगार्पणादसितकलङ्कमृगसमर्पणात् , मुखं भैमीमुखं निजसखं स्वसदृशं, व्यधित विहितवान् । दोषिणो हि स्वदोषं निर्दोषेऽपि स्वसंसर्गिणि सङ्क्रमय्य समीकुर्वन्तीति भावः । केचित्किंचद्दानेनामित्रं मित्रं कुर्वन्तीति भावं वर्णयन्ति । अत्र चन्द्रस्य कपोलसावर्ण्येन तदेकत्वकथनात् सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

विरहसे पाण्डुवर्णवाले दमयन्तीके कपोलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा (विरहजन्य) दमयन्ती मुखकी श्वेततामें अपनी श्वेत किरणों (या श्वेत भाग) को नहीं मालूम पड़नेसे अपने कलङ्करूप मृग–चिह्नको समर्पणकर उस दमयन्तीके मुखको मित्र बना लिया। [पहले दमयन्तीका मुख गौरवर्ण था तथा उसमें श्वेतवर्ण चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता था तो स्पष्ट मालूम पड़ जाता था, अर्थात् दमयन्तीकी स्वप्नावस्थामें उसका मुख चंद्रमासे भी अधिक सुन्दर था; किन्तु इस समय विरहावस्थामें मुख पाण्डुवर्ण हो गया है और उसमें प्रतिबिम्बित पाण्डुवर्ण चन्द्रमा समानवर्ण होनेसे पृथक् मालूम नहीं पड़ता, केवल उसका कलङ्कभूत मृगचिह्न मालूम पड़ता है। अन्य भी कोई चतुर व्यक्ति अपने विजेताको कोई उपहार (भेंट) देकर उसको अपना मित्र बना लेता है, यहाँपर चन्द्रमा अपना मृगचिह्नरूप कलङ्क दमयंतीके मुखको देकर उसको अपना मित्र बना लिया अर्थात् उसके मुखके समान हो गया। अथवा–अन्य कोई व्यक्ति अपने दोषको दूसरेमें भी लगाकर उसे अपने समान दोषयुक्त बना लेता है, वैसे चन्द्रमाने भी विरह-पाण्डु दमयन्ती मुखको कलङ्क–श्याम बनाकर अपने समान बना लिया। विरहावस्थासे दमयन्तीका मुख भी पाण्डुवर्ण हो गया था]॥ २६॥

विरहतापिनि चन्दनपांसुभिर्वपुषि सार्पितपाण्डिममण्डना।
विषधराभबिसाभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकाम्॥ २७॥

विरहेति। सा दमयन्ती, विरहतापिनि वपुषि, चन्दनपांसुभिः, भस्मधवलैरिति भावः, अर्पितः सम्पादितः, पाण्डिमैव मण्डनं यस्याः सा, विषधराभं शेषाहिकल्पं, बिसमेवाभरणं यस्याः सा सती, रतिपतिं स्मरं, प्रति शम्भुरेवेयमिति विभीषिकां विशेषेण भयोत्पादनं, भीषयतेर्धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्। 'सुप्सुपा' इति समासः। न तु शम्भोर्विभीषिकेति कर्तरि षष्ठीसमासः 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति निषेधात्। दधे दधार, नूनमिति शेषः। उत्प्रेक्षा॥ २७॥

विरहसे सन्तप्त रहनेवाले शरीरमें चन्दन–रेणुओंसे श्वेत भूषणको ग्रहण करनेवाली तथा सर्पके समान मृणाल–नालरूप भूषणको धारण करनेवाली दमयंतीने कामदेवके लिए शङ्करजीकी विभीषिका (भयङ्करता–प्रदर्शक भाव) को धारण किया। [विरहसे सन्तापशान्ति के लिये शरीरपर लिप्त चन्दनद्रव सूखकर धूल हो गया था, वही शङ्करजी के भस्मके स्थानमें था, तथा विरहताप-शान्तिके लिये हृदयादिपर स्थापित कमल-नाल (श्वेतिमा तथा दीर्घताके कारण) शङ्करजीके भूषणभूत सर्प हो रहे थे, उनको धारणकर दमयन्ती ने 'मैं शङ्कर हूँ' यह कामदेवके प्रति प्रमाणितकर उसे डराना चाहा, जिसमें शङ्कर समझकर कामदेव मुझसे डरकर पीडा देना छोड़ दे। शङ्करजीने अपने तृतीय नेत्रकी अग्नि से कामदेवको भस्मावशेषकर डाला था, अतः दमयन्तीने कामदेवको डराने के लिये उक्त प्रकारसे शंकरका रूप धारण किया। अन्य भी कोई व्यक्ति अपने शत्रुको डरानेके लिए उससे भी प्रबल शत्रुका रूप धारणकर उसे डराना चाहता है॥ विरह संतापाधिक्यसे दमयन्तीके हृदयादिपर लिप्त

चन्दन द्रव सूखकर चूर्ण (धूलि) हो जाता था तथा मृणाल भी मुरझाकर सांपके समान संकुचित (टेढ़े–मेढ़े) हो जाते थे] ॥ २७ ॥

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदि तथाभृतबुद्बुदमाबभौ ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाङ्कगतोडुपरिग्रहः ॥ २८ ॥

विनिहितमिति । तया भैम्या, परितापिनि हृदये वक्षसि, विनिहितं भृतबुद्बुदम् अतिकाथकृरीटकं, चन्दनं सुहृदं सखायं, हृदये शेत इति(तं)हृदयेशयं मन्मथम् 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक् । उपनमन्नुपसर्पन् , अङ्कगतोडुपरिग्रहः अन्तिकस्थतारकापरिकरः, विधुरिवाबभावित्युत्प्रेक्षा ॥

उस दमयन्तीके द्वारा सन्तपनशील हृदयपर रखा चदनका लेप, बुद्बुद (पानी–का बुलबुला) बनकर हृदयमें रहनेवाले मित्र कामदेवके पास तारारूप परिवार के सहित आये हुए चंद्रमाके समान मालूम पड़ता था । [अन्य भी कोई व्यक्ति मित्रसे मिलने के लिये सपरिवार आता है । अत्यंत संतप्त तवे आदि पर रखे द्रव पदार्थमें भी बुद्बुद निकलने लगते हैं । दमयंतीका हृदय विरह से अत्यधिक संतप्त हो रहा था] ॥ २८ ॥

स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम् ।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥ २९ ॥

स्मरेति । स्मरहुताशनदीपितया कामाग्नितप्तया तया बहु भूरि, सरसं सार्द्रं सरसीरुहं सरोजं, मुहुः श्रयितुं शैत्याय सेवितुम्, अर्धे पथि अर्धपथे कृतं, तत्पर्यन्तमानीतं सत् , अन्तरा मध्ये, श्वसितेन भैमीनिःश्वासेन, निर्मितं स्मरं सद्यःशोषात् कृतमर्मरशब्दं सत् , उज्झितं वैरस्यात्त्यक्तम् ; तथोष्णस्तन्निःश्वास इति भावः । 'अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्'' इत्यमरः । ईदृग्धर्मासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदोऽलङ्कारः ॥ २९ ॥

कामाग्निसे संतप्त उस दमयंतीने बहुतसे और अनेक बार ताजे कमलको, (तापशांति के लिये हृदयादिपर) रखने के लिये आधे मार्ग में आते ही (अत्युष्ण) निश्वास-वायुसे मर्मर-(शुष्कप्राय होनेसे मर्मरशब्दयुक्त) होने पर (उनके अनुपयुक्त हो जानेके कारण) फेंक दिया । [विरहाग्निसे दमयंती के निःश्वास अत्यंत गर्म २ निकल रहे थे] ॥ २९ ॥

प्रियकरग्रहमेवमवाप्स्यति स्तनयुगं तव ताम्यति किं न्विति ।
जगदतुर्निहिते हृदि नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनीम् ॥ ३० ॥

प्रियेति । हृदि वक्षसि, निहिते न्यस्ते, नीरजे पद्मे, दवथुः परितापः, टूदुः ट्वितोऽथुच्प्रत्ययः । तेन यत्कुड्मलनं मुकुलनं निपीड्य ग्रहणमिति यावत् । तेन पृथुस्तनीं दमयन्तीं, तव स्तनयुगं (कर्तृ)एवमनेन प्रकारेण, प्रियकरेण ग्रहं निपीड्य ग्रहणम् , अवाप्स्यति । किं नु किमर्थं, ताम्यतीति जगदतुः ऊचतुः । नूनमिति शेषः ॥ ३० ॥

(संतप्त) हृदयपर रखे हुए दो कमल (अत एव तापके कारण) सङ्कुचित होने से

मानो विशाल स्तनोंवाली दमयन्तीसे कह रहे थे कि—तुम्हारे दोनों स्तन इसी प्रकार (जिस प्रकार हम दोनों सङ्कुचित हो रहे हैं, उसी प्रकार) प्रिय (नल) के कर-ग्रहण (हाथसे पीडन अर्थात् मर्दन, पक्षांतरमें—प्रिय नलके साथ पाणिग्रहण अर्थात् विवाह) को प्राप्त करेंगे, तुम क्यों खिन्न हो रही हो ?' [इस पद्यमें भी दमयन्तीके सन्तापाधिक्य का वर्णन किया गया है] ॥ ३० ॥

त्वदितरो न हृदापि मया धृतः पतिरितीव नलं हृदयेशयम् ।
स्मरहुतर्भुजि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुतया निजशुद्धताम् ॥३१॥

त्वदिति । सा भैमी, हृदयेशयं हृदि स्थितं, नलं त्वदितरस्त्वत्तोऽन्यः, समानो वाऽन्यो वा पतिः, मया हृदापि न धृतः मनसापि न चिन्तितः, इति निजशुद्धताम् आत्मनिर्दोषतां, पाण्डुत्वच्छ । विरहपाण्डुतया तद्व्याजेनेत्यर्थः । स्मरहविर्भुजि बोधयति स्मेव मदनाग्निमग्ना सा अग्निदिव्येन स्वशुद्धिं सीता राममिव नलं बोधयामासेवेत्युत्प्रेक्षा । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणिकर्त्तुर्नलस्य णौ कर्मत्वम् ॥ ३१ ॥

वह दमयन्ती विरहजन्य पाण्डुतासे, हृदयस्थित नलके प्रति 'तुम्हारे अतिरिक्त किसी अन्य पतिको मैंने हृदय अर्थात् मनसे भी नहीं ग्रहण (स्वीकार) किया है । फिर संभाषण या हाथ आदि के द्वारा ग्रहण करनेकी बात ही क्या है ?' इस प्रकार कामदेवरूप अग्निमें अपनी शुद्धता बता रही थी । [जगज्जननी सीताजीनेभी लङ्काविजयके बाद रामचन्द्रजीके समक्ष अपने सतीत्वको अग्नि-प्रवेशकर प्रमाणित किया था । इसी प्रकार अन्य भी व्यक्ति अपनी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये अग्नि आदि देवताओंकी साक्षी देते हैं] ॥

विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः ।
किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्वथु पृथुम् ॥ ३२ ॥

विरहेति । विरहतप्ते तदङ्गे भैमीशरीरे, निवेशिता निहिता, कमलिनी पद्मलता, निमिषद्भिरानमद्भिर्दलैः पत्त्रैरेव मुष्टिभिः मुष्टिबन्धैः (करणैः) पृथुं तद्वथुं तस्यास्तापम्, अपनेतुमपच्छेत्तुमचेष्टत व्याप्रियत किम् । पराभवितुं तिरस्कर्तुमैहत किम् । अचेष्टत किमित्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु, न किञ्चित्कर्तुं शशाक । प्रत्युत स्वयमेव दग्धेत्यर्थः । सोऽयं भीषकस्य भयप्रवेश इति भावः । अत एवानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारः । तदुत्थापिता चेयमुत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ३२ ॥

विरहसे सन्तप्त दमयन्ती-शरीरपर स्थापित कमलिनी (सन्तापसे) सङ्कुचित होते हुए पत्तरूपी मुक्केसे उस दमयन्तीके अत्यधिक सन्तापको दूर करने (मारने) की इच्छा करती है क्या ? अथवा उसे पराभूत करने (जीतने या मोहित करने) की इच्छा करती है ? [अन्य भी कोई व्यक्ति अङ्गुलियोंको समेटनेसे मुट्ठी बाँधकर शत्रुको मुक्केसे मारकर

१. 'अग्निदिव्य' शब्दो 'जलदिव्य' शब्देन व्याख्यातः । स च द्वितीयसर्गस्य सप्तविंशततमश्लोकव्याख्याने द्रष्टव्यः ।

जीतना चाहता है । संतापाधिक्यसे दमयन्तीके शरीरपर रखी हुई कमलिनी के पत्ते मुरझाकर सङ्कुचित हो जाते थे]॥ ३२ ॥

इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषावशा ।
शशिकलेव खरांशुकरार्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम् ॥ ३३ ॥

इयमिति । इयं भैमी, अनङ्गशरावलिरेव पन्नगाः तैः क्षतं क्षतिः, नपुंसके भावे क्तः । तेन विसारिणा व्यापिना, वियोगेनैव विषेण अवशा सती, खरांशोस्तिग्मांशोः करैरर्दिता पीडिता, शशिकलेव कं जनं करुणनीरनिधौ शोकरसाब्धौ । 'करुणस्तुरसे वृक्षे कृपायां करुणा मता' इति विश्वः । न निदधौ निदधावेव, निमज्जयामासैवेत्यर्थः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३३ ॥

काम-बाणोंके समूहरूपी सर्पके काटने (पक्षान्तरमें—विद्ध होने) से फैलनेवाले विरहरूपी विषसे पराधीन (मोहित) उस दमयंतीने सूर्य—पीडितचन्द्रकलाके समान किसको करुणारूपी समुद्रमें नहीं डाल दिया ? [अर्थात् सबको विरहिणी दमयन्तीको देखकर दया आ जाती थी ।] साँपके काटनेसे मूर्च्छितावस्थामें पड़े हुए व्यक्तिको देखकर सभी लोगोंको दया आ जाती है । अथवा—साँप जिस व्यक्तिको काटता है, वही व्यक्ति विषबाधा-शान्ति के लिये जलमें छोड़ा जाता है, किन्तु काम-बाणावलि—सर्पदष्ट होनेसे विरह—विषज्वालासे मोहित दमयन्तीने दूसरोंको जलमें डाल दिया यह आश्चर्य हैं]॥ ३३ ॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तयार्द्रमृणाललतार्पिता ।
स्वजयिनोस्त्रपया सविधस्थयोर्मलिनतामभजद् भुजयोर्भृशम् ॥३४॥

ज्वलदिति । तया भैम्या, मन्मथवेदनया मदनज्वरदुःखेन, ज्वलिते प्रज्वलिते निजे हृदि वक्षसि, अर्पिता आर्द्रा सरसा, मृणाललता बिसवल्ली, स्वजयिनोः स्वीजेत्रोः, 'जिदक्षि' इत्यादिना इनिप्रत्ययः । भुजयोस्तदीययोरेव, सविधस्थयोः समीपस्थयोः सतोः, त्रपया त्रसयेवेत्यर्थः । गम्योत्प्रेक्षा । भृशं मलिनतां वैवर्ण्यमभजत् । जितो जेतुरग्रे लज्जया वैवर्ण्यं भजतीति भावः ॥ ३४ ॥

उस दमयन्तीके द्वारा काम—पीड़ासे जलते सन्तप्त होते) हुए हृदयपर रखी हुई कमललताने अपनेको जीतनेवाले समीपस्थ (दमयन्तीके) दोनों बाँहोंकी लज्जासे अत्यन्त मलिनताको धारण कर लिया । अथवा—अपनेको जीतनेवाले (दमयन्तीकी) दोनों भुजाओंके स्वसमीपस्थ होनेपर कमललताने लज्जासे मलिनताको धारण किया । [अन्य भी कोई व्यक्ति अपने विजेताके सामने लज्जासे मलिनमुख हो जाता है । दमयन्तीके हृदयपर रखी हुई कमललता सन्तापसे मलिन हो जाती थी]॥ ३४ ॥

पिकरुतश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद्बभौ ।
सततत्द्गतहृच्छयकेतुना हृतमिव स्वतनूघनघर्षिणा ॥ ३५ ॥

पिकेति । तया भैम्या, पिकरुतश्रुत्या कोकिलकूजितश्रवणेन, कम्पिनि वेपमाने,

हृदि वक्षसि, निहितं शैत्यार्थं न्यस्तं विचलत् आधारचलनादिति भावः। शैवलं, स्वतन्वा शैवलशरीरेण सह, घनघर्षिणा भृशमङ्घर्षिणा, द्वयोरपि जलचरत्वादिति भावः। सततं तद्गतस्य भैमीहृद्गतस्य हृच्छयस्य कामस्य, केतुना चिह्नेन, मत्स्येन हतं ताडितमिव, बभावित्युत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

उस दमयन्तीके द्वारा कोयलका कूकना सुननेसे कम्पित होनेवाले हृदयपर (विरहज-तापशान्त्यर्थं) रक्खा हुआ तथा (हृदयके काँपते रहनेसे) हिलता हुआ शेवाल ऐसा मालूम पड़ता था कि निरंतर उस दमयंतीके हृदयमें रहनेवाले कामदेवकी पताकारूप मछली द्वारा अपने शरीरको रगड़नेसे वह कम्पित हो रहा हो। ['मछलियाँ अपने शरीरकी कण्डू दूर करनेके लिये शेवालमें शरीरको रगड़ती है' यह प्रसिद्धि है।] दमयंती द्वारा हृदयपर शेवाल रखनेपर भी कोयलका कुहुकना उसे पीड़ितकर उसके हृदय-कम्पनको बढ़ा रहा था]॥

न खलु मोहवशेन तदानन नलमनः शशिकान्तमबोधि तत्।
इतरथाऽभ्युदये शशिनस्ततः कथमसुस्रवदश्रुमयं पयः॥ ३६॥

नेति। नलमनः (कर्तृ), मोहवशेन विरहप्रयुक्ता ज्ञानबलेन, तदाननं भैमीमुखं (कर्म), शशिकान्तमिन्दुसुन्दरम् इन्दूपमञ्च, नाबोधि खलु नाबुद्ध किमिति काकुः। अबुध्यत एवेत्यर्थः: तच्च सत्यमिति भावः। 'दीपजन' इत्यादिना कर्त्तरि चिण्। इतरथा, तदसत्यत्वे शशिनोऽभ्युदये ततो भैमीमुखादश्रुमयमश्रुरूपं, पयः कथं असुस्रवत् स्रुतं चन्द्रोदये पयःस्रावाच्चन्द्रकान्तत्वं सत्यमित्यर्थः। चन्द्रोदये दाहो-द्रेकाद्रुरोदेति भावः। द्रवतेर्लुङि णिश्रीत्यादिना श्लेश्चङ धातोरुवङादेशः॥ ३६॥

नलका मन सुन्दर दमयंती-मुखको मोह (अज्ञान) के कारण चंद्रमाके समान मनोहर (पक्षांतरमें = चंद्रकान्तमणिरूप) नहीं समझा था, अपितु यथार्थतः समझा था। अन्यथा चंद्रोदय होने पर उससे आँसूरूप जल क्यों निकालता? [दमयंती में अधिक प्रेम होनेसे उसके मुखको नलके चित्तने मोहवश नहीं; अपितु वस्तुतः चंद्रकांत ही समझा था। चन्द्रो-दय होनेपर विरहावस्थामें चंद्रमाके विरहवर्द्धक होनेसे दमयंती रोने लगती थीं, चंद्रकांत-मणिसे भी चंद्रोदय होनेपर पानी टपकने लगता है, अतः नलका दमयंती-मुखको चंद्रकांत समझना ठीक ही था। अथवा—दमयन्तीके मुखसे चंद्रमाको अपनी सुंदरतासे जीत लिया था, अतएव वह चंद्रमाके उदय (अभ्युन्नति) होने पर रोने लगता है। अन्य भी कोई भी व्यक्ति शत्रुकी अभ्युन्नति होनेपर ईर्ष्यासे रोने लगता है। अथवा—दमयंतीके मुखको नलने चंद्रकांत (चंद्रमाके समान या चंद्रमा है कांत = प्रिय मित्र जिसका ऐसा) समझा था, अन्य भी कोई व्यक्ति प्रियमित्रकी अभ्युन्नति होनेपर आनंदाश्रु बहाता है]॥

रतिपतेर्विजयास्त्रमिषुर्यथा जयति भीमसुतापि तथैव सा।
स्वविशिखानिव पञ्चतया ततो नियतमैक्षत याजगितुं स ताम्॥ ३७॥

रतिपतेरिति। रतिपतेः कामस्य, यथेषुः विजयस्यास्त्रं विजयास्त्रं विजयसाधनमा-

युधं जयति। तथैव सा भीमसुतापि विजयास्त्रं सती जयति। ततस्तस्मात् (हेतोः) स कामः, स्वस्य विशिखानिषूनिव, तां भैमीं, पञ्चतया पञ्चसङ्ख्याकत्वेन, मरणेन च। 'पञ्चता पञ्चभावे स्यात् पञ्चता मरणेऽपि च' इति विश्वः। योजयितुमैहत। स्वेषुधर्मविजयास्त्रत्वेनेव पञ्चत्वेनापि योजयितुमैच्छत्। नियतं सत्यमित्युत्प्रेक्षार्थः। अन्यथा, किमर्थमेनामित्थं पीड्येदिति भावः। उपमानोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ३७॥

रतिपति कामदेवका विजयसाधनभूत बाण जिस प्रकार विजेता अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है, उसी प्रकार भीमनंदिनी दमयन्ती भी सर्वोत्कृष्ट विजयास्त्र हैं (यह बात कामदेव समझता है), अतएव वह (कामदेव) अपने अन्य बाणोंके समान उस (दमयन्ती) को पञ्चत्व (पाँच संख्याओंका भाव, पक्षांतरमें—मृत्यु) से युक्त करना चाहा। [कामदेवके सर्व-विजेता बाणपञ्चता—पाँच संख्याके भावसे युक्त अर्थात् संख्यामें पाँच हैं, अतः दमयन्तीको भी वह पञ्चता (मृत्यु) से युक्त करना अर्थात् मारना चाहा। विरहमें कामपीड़ाके कारण दमयन्तीकी अवस्था मरणासन्न हो रही थी] ॥ ३७॥

शशिमय दहनास्त्रमुदित्वरं मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी।
झटिति वारुणमश्रुमिषादसौ तदुचितं प्रतिशस्त्रमुपाददे॥ ३८॥

शशिमयमिति। वियोगिन्यसौ भैमी, उदेतीत्युदित्वरमुद्यत्, 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' शशिमयं शशिरूपं, मनसिजस्य दहनास्त्रम् आग्नेयास्त्रं विमृश्यालोच्य, झटिति द्राक्। अश्रुमिषाद्वारुण वरुणदेवताकं, 'सास्य देवता' इत्यण्प्रत्ययः। तस्याग्नेयस्योचितं प्रतीकारक्षमं, प्रतिशस्त्रमुपाददे प्रयुक्तवतीत्यर्थः। चन्द्रतापसहिष्णुरशरणा केवलमरोदीत्यर्थः। सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३८॥

वियोगिन' दमयन्तीने चंद्ररूप काम-बाणको दाहक अस्त्र (अग्निबाण) समझकर शीघ्र ही आँसूके व्याजसे वारुणास्त्रको धारणकर लिया। [अन्य भी योद्धा संग्राममें शत्रुके द्वारा प्रयुक्त आग्नेयास्त्रको शांत करनेके लिये वारुणास्त्र (पानी बरसाकर अग्नितापको शांत करनेवाला अस्त्र) धारण करता है॥ विरहिणी दमयन्ती चंद्रमाको देखकर तापाधिक्यसे रोने लगती थी]॥ ३८॥

अतनुना नवमम्बुदमाम्बुदं सुतनुरस्त्रमुदस्तमवेक्ष्य सा।
उचितमायतनिश्वसितच्छलाच्छ्वसनमस्त्रममुञ्चदमुं प्रति॥ ३९॥

अतनुनेति। सा सुतनुर्भैमी, नवं नूतनम्, अम्बुदं मेघमेव, अतनुना अनङ्गेन, उदस्तम् उत्क्षिप्तं, आम्बुदमम्बुदमस्त्रदैवत्यमस्त्रं पर्जन्यास्त्रम् अवेक्ष्य आयतनिश्वसितच्छलाद्दीर्घनिश्वासमिषादमुमम्बुदं प्रति, उचितं प्रतीकारक्षमं, श्वसनं श्वसनात्मकमस्त्रं वायव्यास्त्रममुञ्चत् प्रायुङ्क्त। मेघदर्शनात् दीप्तमदनज्वरा दीर्घमुष्णं चनिशश्वासेत्यर्थः। अत्रापि सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३९॥

(विरहिणी) उस दमयंतीने कामके द्वारा उठाये हुए नवीन मेघरूप वारुणास्त्रको देख-

कर निःश्वासके व्याजसे योग्य (वारुणास्त्रको शांत करनेमें समर्थ) वायव्यास्त्रको इस (कामदेव) के प्रति छोड़ा। [अन्य भी कोई योद्धा शत्रुके वारुणास्त्र उठानेपर उसको शांत करनेमें समर्थ वायव्यास्त्रको शत्रुके ऊपर छोड़ता है । वर्षा ऋतुमें उठे हुए काले-काले बादलोंको देखकर विरहिणी दमयंतीका निःश्वास अत्यन्त बढ़ गया] ॥ ३९ ॥

रतिपतिप्रहितानिलहेतितां प्रतियती सुदती मलयानिले ।
तदुरुतापभयात्तमृणालिकामयमिय भुजगास्त्रमिवादित ॥ ४० ॥

रतिपतीति । सुदतीयं भैमी मलयानिले विषये रतिपतिप्रहितानिलहेतितां कामप्रयुक्तवायव्यास्त्रताम् । 'हेतिः शस्त्रं प्रहरणं ह्यायुधञ्चास्त्रमेव च' इति हलायुधः । प्रतियती जानती । इणः शतरि ङीप् । तेनास्त्रेण य उरुस्तापः ततो भयात्, आत्ता अङ्गीकृता या मृणालिका तन्मयं बिसरूपं, भुजगास्त्रम् अदितेव आत्तवती किमित्युत्प्रेक्षा । भुजगानां वाताहारत्वादिति भावः । 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः ॥ ४० ॥

सुंदर दाँतोंवाली दमयंतीने मलयवायुको कामदेवके द्वारा (अपने प्रति) छोड़ा गया वायव्यास्त्र समझकर उससे उत्पन्न होनेवाले अत्यधिक सन्तापके भयसे कमलनालरूप सर्पास्त्रको धारण कर लिया । [अन्य भी कोई योद्धा अपने प्रति छोड़े गये वायव्यास्त्रसे उत्पन्न कष्टको दूर करनेके लिए सर्पास्त्र (नागास्त्र) धारण करता है । मलयानिलके बहनेपर विरहिणी दमयंतीकी पीड़ाशांतिके लिये (सफेद तथा कुटिलाकार होनेके कारण सर्पके समान) मृणाल-नालको हृदयादिपर रख लिया] ॥ ४० ॥

न्यधित तद्धृदि शल्यमिव द्वयं विरहितां च तथापि च जीवितम् ।
किमथ तत्र निहत्य निखातवान् रतिपतिः स्तनबिल्वयुगेन तत् ॥४१॥

न्यधितेति । रतिपतिस्तद्धृदि भैमीहृदये, विरहितां विरहित्वं च, तथापि विरहित्वेऽपि, जीवितं चेति द्वयं, शल्यं शङ्कुमिव, न्यधित निखातवानित्यर्थः । जीवतो विरहः विरहिणो जीवनं च द्वे अपि शल्यप्राये इत्यर्थः । दधातेर्लुङि तङ् । 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः । ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः । अथ निखननानन्तरं, तच्छल्यद्वयं स्तनावेव बिल्वे परिणतबिल्वफले, तयोर्युगेन तत्र हृदि निहत्य आहत्य, निखातवान् किम् । यथा लोके निखातं शङ्कु दार्ढ्याय पाषाणेन घ्नन्ति तद्वदिति भावः । पूर्वार्धे शल्यनिखननोत्प्रेक्षा । उत्तरार्धे निहत्य निहननोत्प्रेक्षा । निखातवानित्यनुवादः ॥

कामदेवने उस दमयंतीके हृदयमें दो शल्य अर्थात कील या खूटोंके समान विरह तथा जीवन (अथवा-विरही होकर जीना एवं जीते हुए विरही होना) स्थिर कर दिया (शल्यपक्षमें-गाड़ दिया) और उन दोनों शल्योंको स्तनरूपी दो बिल्वफलों (बेलके फलों) से वहींपर (दृढ़ता के लिये) ठोंककर स्थिर कर दिया क्या ? [विरहिणियोंके लिये जीना और जीते हुए विरहिणी होना—ये दोनों कार्य महाकष्टकर होते हैं, उसमें युवावस्थामें तो वे अत्यन्त ही असह्य हो जाते हैं । कामदेवके द्वारा दमयंतीके हृदयमें जीवन तथा विरहरूप

दो शल्योंको गाड़कर बिल्वरूप दोनों स्तनोंसे ठोंककर उन्हें दृढ़ करनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है। अन्य भी कोई व्यक्ति खूँटा या कीलको गाड़कर उसे दृढ़ करनेके लिए पत्थर आदि किसी कठोर पदार्थ से ठोक देता है। युवावस्थामें ही स्तनका बिल्वफलके समान कठिन होना पाया जाता है। अतः उस युवावस्थामें जीनेके साथ विरह होना या विरह होनेपर जीना हृदयमें गड़े हुए दो कीलोंके समान दमयन्तीको अत्यन्त ही असह्य हो रहा था ॥४१॥

अतिशरव्ययता मदनेन तां निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।
स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा ॥ ४२ ॥

अतीति। तां दमयन्तीम् अतितरां, शरव्ययता शरव्यं लक्ष्यं कुर्वता, शरव्य-शब्दात् तत्करोति' इति ण्यन्ताल्लटः शतृप्रत्ययः। अत एव निखिला ये पुष्पमयाः स्वशरास्तेषां व्ययात् व्ययात् फलान्यपि मुञ्चता क्षिपता मदनेन तदुरसि भंमीव-क्षसि, स्तनावेव ताले तालफले, तयोर्युगस्यार्पणाक्षेपः, अकारि। स्फुटमित्युत्प्रेक्षा। शरक्षये पाषाणादिनापि प्रहरन्तीति भावः ॥ ४२ ॥

उस दमयन्तीको अतिशय निशाना बनाते हुए, पुष्पमय सब बाणोंके समाप्त हो जानेसे फलोंको भी छोड़ते हुए कामदेवने मानों उस दमयन्तीके हृदयपर स्तन रूप दो तालफलोंको छोड़ा है। [अन्य भी योद्धा बाणोंके समाप्त हो जानेपर पत्थर आदि कठिन पदार्थों से शत्रुपर प्रहार करता है। कामदेवके पास पुष्पमय पाँच ही बाण होनेसे उनके शीघ्र समाप्त हो जाने और कोमलतम तथा अल्पसंख्यक पुष्पबाणोंसे शत्रुरूप दमयन्तीपर विजय नहीं पानेसे पत्थरके समान कठिन दो ताल–फलोंसे हृदयमें प्रहार करना उचित एवं स्वाभाविक ही हैं। अथ च–सभी फल पुष्पके बाद ही लगते हैं अतः उनके पुष्पोंको ही बाण बनाकर दमयन्तीपर प्रहार करनेके कारण उनके फल नहीं लगे, अत एव विना फूल लगे ही फलनेवाले तालके बड़े-बड़े एवं कठोर फलोंसे दमयन्तीके कोमल हृदय अर्थात् मर्मस्थलपर प्रहारकर उसपर विजय पानेकी इच्छा करना कामदेवके लिये स्वाभाविक ही है] ॥ ४२ ॥

अथ मुहुर्बहुनिन्दितचन्द्रया स्तुततमिधुन्तुदया च तया बहु ।
पतितया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी ॥ ४३ ॥

अथेति। अथानन्तरं स्मरतापमये कामज्वररूपे, गदे रोगे 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः। पतितया मग्नया। अत एव, मुहुः बहु बहुधा, निन्दितचन्द्रया, तस्योद्दीपकत्वादिति भावः। मुहुः स्तुतो विधुं तुदतीति विधुन्तुदो राहुर्यया तया, विधुन्तुदत्वादेवेति भावः। 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः। 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खच्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः। तया दमयन्त्या, अश्रुविमिश्रं मुखं यस्याः सा अनिष्टाशङ्कया रुदती सखी, निजगदे निगदिता। विप्रकृतो ह्यपकर्तारं निन्दति तदपकर्तारञ्च स्तौतीति भावः ॥ ४३ ॥

काम–सन्ताप–ज्वरमें पड़ी हुई, (अतएव दाहक होनेसे) बार-बार तथा बहुत चन्द्रमा-

की निंदा और राहुकी प्रशंसा करनेवाली वह (दमयन्ती रोती हुई सखीसे बोली (यहाँसे श्लो० ९९ तक दमयन्तीका कथन है)—। (विरहावस्थामें चन्द्रमाके अत्यन्त संताप देनेके कारण उसकी निन्दा और उसको (चन्द्रग्रहण के अवसरपर) निगलनेवाले राहुकी प्रशंसा विरहिणी दमयन्ती करती थी तथा उसकी कष्टावस्था देखकर उसकी सखी रो रही थी]॥ ४३ ॥

नरसुराब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं यदनेहसा।
विरहिणामपि तद्रतवद्युवक्षणमितं न कथं गणितागमे ॥ ४४ ॥

नरेति। नरसुराब्जभुवां मनुष्यदेवब्रह्मणामिव, यावता अनेहसा कालेन, यस्य जन्तोर्यद्युगं भवति, गणितागमे ज्योतिश्शास्त्रे तत्सर्वं वक्तव्यमेवेति शेषः। यथा ब्रह्मणो दिनं देवादीनां युगादिकमित्युक्तम्, तद्वदन्यस्यापि गणितशास्त्रे वक्तव्यमिति भावः।

ततः किमित्याशङ्क्य आह। विरहिणां तद्युगं कथं किमिति रतवताम् वियुक्तानां यूनां क्षणेन मितं गणितं न। अवियुक्तानां क्षणो वियुक्तानां युगमिति किमिति नोक्तमित्यर्थः। तथा तस्या एकैकक्षण एकैकयुगकल्पोऽभूदित्यर्थः॥ ४४॥

'जितने समयका मनुष्यों, देवों तथा ब्रह्माका युग-परिमाण होता है; मनुष्यों, देवों तथा ब्रह्माके युगके बराबर उन्हीं के समान सुरतक्रीडा युक्त तरुण स्त्री-पुरुषोंके तथा विरही स्त्री-पुरुषोंके क्षणकी गणना ज्योतिःशास्त्रमें क्यों नहीं की गयी है? अर्थात् उससे इतनी त्रुटि रह गयी है। [सुरतक्रीडायुक्त तरुण स्त्री-पुरुषों के क्षणके बराबर मनुष्य, देव तथा ब्रह्माका युग होता है अर्थात् सुरतानन्द में आसक्त स्त्री-पुरुषों को मनुष्यों, देवों या ब्रह्माका युगके बराबर समय भी एक क्षणके समान प्रतीत होता है और इसके प्रतिकूल विरही तरुण स्त्री-पुरुषोंका क्षण भी मनुष्यादि के युगके बराबर होता है अर्थात् इन विरहियों को एक क्षण भी व्यतीत करना मनुष्यादिके युगपरिमित कालके समान अत्यधिक मालूम पड़ता है ॥ विरहिणी तरुणी दमयन्तीको भी एक-एक क्षण मनुष्य, देव, ब्रह्माके युगके समान प्रतीत हो रहा था] ४४ ॥

जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो न तु तन्महिमादृता।
ज्वलति भालतले लिखितः सतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥४५॥

जनुरिति। सती भवपूर्वपत्नी दक्षकन्या, स्मरतापिता विरहाग्नितप्ता सती, हिमवतो जनुर्जन्माधत्त। तस्य हिमवतो महिमा आदृतो यया सा तन्महिमादृता, आदृततन्महिमा सती तु न। आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः परनिपातः। विरहतापशान्त्यर्थं हिमाद्रेर्जाता। न तु, तत्तपस्सामर्थ्यानुरोधादित्युत्प्रेक्षा। हरस्य भालतले लिखितो ब्रह्मणा लिखितः सतीविरह एव ज्वलति, लोचनं नेत्यारोप्यापह्नवालङ्कारः॥

सती (दक्षप्रजापति की कन्या—पूर्वजन्म में शङ्करजी की स्त्री) ने कामदेव से सन्तप्त होकर ही (अतिशय शीतल) हिमालय पर्वतसे उत्पन्न हुई है, उन (हिमालय पर्वत) की

महिमाके आदरसे नहीं । जलते हुए शिव-ललाटमें (ब्रह्माके द्वारा सती-विरह ही लिखा गया है, तृतीय नेत्र नहीं (बनाया गया) है । [अपने पिता दक्ष प्रजापति के द्वारा पति शङ्करजीका अपमान देख सतीने योगाग्नि द्वारा प्राण त्यागकर पति शङ्करजीके विरहमें कामदेवसे अतिशय सन्तप्त होकर इस तापकी शान्ति के लिये अत्यन्त शीतल हिमालय से जन्म ग्रहण किया है, वहाँ जन्म लेनेमें हिमालयकी प्रतिष्ठा आदि अन्य कोई कारण नहीं है । अन्य भी कोई व्यक्ति अधिक सन्तप्त होकर अतिशय शीतल स्थानका आश्रय करता है । इसी प्रकार सती के योगाग्निमें प्राणत्यग कर देनेपर ब्रह्माने शङ्करजीके ललाट में अतिशय तापकारक सती-विरहाक्षर ही लिखा है, वह शङ्करजीकी तीसरी आँख नहीं है] ॥४५॥

दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥४६॥

दहनेति । दहनजा अग्निदाहजन्या, दवथुव्यथा तापदुःखं, पृथुः अधिका न । किन्तु विरहजैव पृथुः । ईदृशं न यदि इदमित्थं न चेत् । स्त्रियः, अपासुम्अपगतप्राणं मृतं, प्रियम्, उपासितुं प्राप्तुम्. उत्कृष्टा धूर्भारो यासां ता उद्धुराः अनर्गलाः सत्य इत्यर्थः । 'ऋक्पूः' इत्यादिना समासान्तोऽकारः । कथमाशु दहनं विशन्ति । अग्निदाहाद्विरहदाह एवाधिक इत्यर्थः । तस्य तत्परिहारार्थेन स्त्रीणामग्निप्रवेशकार्येण समर्थनात् कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४६ ॥

अग्निजन्य दाहपीडा अधिक सन्तापकारक नहीं होती किन्तु विरहजन्य दाहपीडा ही अधिक संतापकारक होती है । यदि ऐसा नहीं है तब मरे हुए पतिकी सेवा (अनुगमन) करनेके लिये उल्लासयुक्त स्त्रियाँ अग्नि में कैसे प्रवेश करतीं ? । [विरहजन्य संतापपीडाको नहीं सह सकनेके कारण ही स्त्रियाँ पतिके मरनेपर (विरहाग्निकी अपेक्षा कम सन्ताप देनेवाली) चिताग्निमें प्रवेशकर जो सती हो जाती हैं उससे यह प्रमाणित होता है कि विरहजन्य दाहपीडा ही अग्निजन्य दाहपीडासे अधिक है ॥ ४६ ॥

हृदि लुठन्ति कला नितराममूर्विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः ।
कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृताः सखि ! विलोकय दुर्विनयं विधोः ॥४७॥

हृदीति । विरहिणीवधाख्यः पङ्कः पाप्मा । 'अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा' इत्यमरः । तेन कलङ्किताः सञ्जातकलङ्काः, अमूः कलाः, हृदि अभ्यन्तरे नितरां लुठन्ति वर्तन्ते । कुमुदैः सख्यं कुर्वन्तीति तत्कृतः, विशुद्धा इत्यर्थः । तास्तु कलाः बहिष्कृताः । हे सखि, विधोर्दुर्विनयं, दौर्जन्यं, विलोकय । दुर्जनाः पापिष्ठानन्तःकुर्वन्ति विशुद्धान् बहिष्कुर्वन्तीति भावः ॥ ४७ ॥

हे सखि ! चन्द्रमाका दुर्विनय तो देखो, कि विरहिणियोंकी हत्यारूपी पङ्कसे मलिन इन कलाओंको तो उसने हृदयमें धारण किया है तथा कुमुदको विकसितकर मित्रता करनेवाली उत्तम कलाओंको बाहर कर दिया है । विरहणियोंके मारनेसे उत्पन्न पाप ही लाञ्छन रूपमें चंद्रमाको छाती पर दीख रहे हैं, अत एव यह बड़ी दुर्नीतिवाला है । [यदि कोई

सज्जन होता है तो वह उपकारीको हृदयमें लगाये रहता है तथा दुष्टों—पाप करनेवालोंको बाहर कर देता है, किन्तु दुष्टोंकी प्रकृति इसके विपरीत होती है, वे पापियोंको ही हृदयसे लगाते और परोपकारी सज्जनोंको बाहर कर देते हैं। अथवा—दुष्टलोग अपने पापको तो हृदयमें धारणकर छिपा लेते हैं तथा उपकार भावको बाहर प्रगट करते हैं, अतः इस दुष्ट चन्द्रमा ने भी ऐसा ही किया है]॥ ४७॥

अयि विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता।
ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया किमुदधौ जड! वा वडवानलात्॥४८॥

अयीति। अयि सखि! विधुं परिपृच्छ। हे जड मूढ! त्वया दाहवदान्यता दाहदातृत्वं दाहकत्वमित्यर्थः। किं ग्लपितशम्भुगलाच्छोपितशम्भुकण्ठात् गरलात् कालकूटात्, उदधौ वडवानलाद्वा कुतः कस्माद् गुरोः स्फुटमशिक्ष्यत शिक्षिता, अभ्यस्तेत्यर्थः॥ ४८॥

हे सखि! तुम चन्द्रमासे पूछो कि—'तुमने दाहको अधिक देनेकी यह दानवीरता किस गुरुसे सीखी है? हे जड़! शङ्करजीके गलाको जलानेवाले विष (कालकूट) से अथवा समुद्रमें सदा रहनेवाले बड़वानलसे?' [जो जिसके पास रहता है, वह उसीसे कोई बात सीखता है, चन्द्रमाको भी शङ्करजीके मस्तकमें रहने तथा समुद्रसे उत्पन्न (उदय) होनेके कारण क्रमशः शिवकण्ठस्थ कालकूट या उदधिस्थ बड़वानलसे दाहकत्व शक्तिको सीखना सम्भव है, क्योंकि वे दोनों अत्यन्त दाहक हैं]॥ ४८॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते।
शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः॥ ४९॥

अयमिति। अयं विधुः, अयोगिवधूवधपातकैः वियोगिस्त्रीहिंसापापैः, करणैः, भ्रमिं भ्रमणम्, अवाप्य प्राप्य आप्नोतेर्ण्यन्तात् क्त्वो ल्यबादेशः। 'विभाषाऽऽपः' इति विकल्पादयादेशाभावः। शितिनिशा कृष्णपक्षरात्रिस्तस्यामेव दृषदि शिलायां स्फुटन्तः पातवेगाद्विदलन्तः तत उत्पतन्तश्च ये कणाः खण्डाः, तेषां गणैरधिकं तारकिताम्बरं भूम्ना तारकस्वकृताकाशः सन्। अत एव कृष्णपक्षे तारकबाहुल्यमिति भावः। तारकवच्छब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। चिन्मतोर्लुक् मतुपो लुक् दिवोऽन्तरिक्षान्निपात्यते खलु। उत्कटपापकारिणः पुरे परिभ्राम्य शिलायां निपात्य हन्यन्त इति भावः॥ ४९॥

यह (चन्द्रमा) विरहिणी स्त्रियोंके वधजन्य पापसे घुमाया जाकर काली रात्रिरूप शिला (पत्थर) पर स्वर्ग अर्थात् अत्यन्त ऊँचे स्थानसे गिराया जाता है, और फूटकर (चूर्ण २ होकर) ऊपर उछलते हुए टुकड़ों (स्वर्गपतित चन्द्रमाके खण्डों) के समूहसे आकाश अधिक ताराओंसे युक्त हो जाता है। [शुक्लपक्षमें चन्द्रदर्शनसे विरहिणियोंको अधिक कष्ट होता है तथा चन्द्रप्रकाशके कारण आकाशमें तारागण भी बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं, इसके

विपरीत कृष्णपक्षमें चन्द्रदर्शनके न होनेसे विरहिणी स्त्रियोंको अधिक कष्ट नहीं होता तब आकाशमें तारागण भी अत्यधिक संख्यामें दिखलाई पड़ते हैं, अतः मालूम पड़ता है कि विरहिणी-पापसे चन्द्रमा अंधेरी रातरूपी काले पत्थरपर पटका जाता है और ऊँचे स्थान से पटके जानेके कारण चूर्ण होकर ऊपर उछले हुए उसके खण्ड ही तारारूपमें आकाश में दिखलाई पड़ते हैं। अन्य भी कोई पापी व्यक्ति घुमाकर पर्वत आदि ऊँचे स्थानोंसे काले पत्थरपर पटक दिया जाता है, और उसकी हड्डियाँ चूर-चूर होकर ऊपरको उछलती हैं]॥

त्वमभिधेहि विधुं सखि! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया।
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता॥ ५०॥

त्वमिति। हे सखि! त्वं मद्गिरा विधुमभिधेहि उपालभस्व। तत्प्रकारमेवाह—त्वया महात्मनेति भावः। किं किमर्थमिदमीदृक् स्त्रीवधात्मकं (कर्म), अधिक्रियते आचर्यते? पयोनिधौ जन्म न गणितं यदि मास्तु। हरशिर एव स्थितिभूर्निवासभूमिः सापि विस्मृता। महाकुलप्रसूतस्य शम्भुशिरोधृतस्य तवेदमनुचितमित्यर्थः॥

हे सखि! तुम मेरी ओरसे चन्द्रमासे कहो अर्थात् पूछो कि—'तुम ऐसा अर्थात् विरहिणियोंका वधरूप निन्दित कर्म क्यों करते हो (तुम्हें ऐसा करना शोभा नहीं देता, क्यों कि) तुमने समुद्रमें अपना जन्म होनेको नहीं गिना अर्थात् लक्ष्मी आदि-जैसे परोपकारियों जो जन्म देनेवाले एवं स्वयं भी अत्यन्त गम्भीर समुद्ररूप पितृकुलकी कोई गिनती नहीं (कुछ ख्याल नहीं किया) लेकिन शिवजीके मस्तकपर रहना भी भुला दिया? अर्थात् तुम केवल शिवजीके साथ ही नहीं रहते हो, अपितु उन्होंने तुम्हें परोपकारिता आदि गुणोंसे युक्त समझकर अपने मस्तकपर रखा है—अपनेसे भी श्रेष्ठ माना है। [अन्य सज्जन या सामान्य भी व्यक्ति अपने कुल तथा सहवासका ख्यालकर निन्दित कार्य नहीं करता विशेषकर अत्यन्त पीड़ितोंकी उसमें भी दुखिया स्त्रियोंकी हत्या करना तो दूर रहा, उन्हें लेशमात्र भी पीड़ित करनेके लिये मनमें विचारतक नहीं करता। किन्तु तुमने तो अपने उत्तम कुल तथा सहवास—इन दोनो को भुला दिया है, अतएव तुम बड़े भारी पापी हो। महापापी चन्द्रमाके साथ साक्षात् बात करनेमें पाप समझकर सती दमयन्तीने सखीके द्वारा चंद्रमाको कहलवाया है। अन्य भी कोई महापातकियोंसे साक्षात् बात न करके दूसरेसे सन्देश कहलवाता है]॥ ५०॥

निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन! चूर्णितः।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः॥५१॥

निपततेति। हे शशलाञ्छन सकलङ्केत्यर्थः। त्वमुदधौ निपतता। मथनसमय इति शेषः। मन्दरभूभृता मन्दराद्रिणापि न चूर्णितः, पीतपयोनिधेः आचमितसमुद्रस्य मुनेः अगस्त्यस्य, जठरार्चिषि जठरानलेऽपि जीर्णतां न गतोऽसि। बतापि दितिभावः। बतेति खेदे। मद्भाग्यविपर्यय एवायमिति भावः॥ ५१॥

हे शशलाञ्छन (मृग-कलङ्कयुक्त चन्द्र)! (अमृतमन्थनके समय) समुद्रमें गिरते हुए

(डाले जाते हुए) मन्दराचलसे भी तुम चकनाचूर नहीं हुए ? अथवा समुद्रको पी जानेवाले अगस्त्य मुनिकी जठराग्निमें भी तुम गल पच नहीं गए ? । [उक्त दोनों बातें नहीं होनेसे ही मुझ–जैसे विरहिणियोंको इतना कष्ट हो रहा है, यदि वैसा हो जाता तो आज मुझ जैसे लोगोंको कष्ट नहीं होता । अत्यन्त दाहक तथा पापी होनेके कारण उन दोनों (मंदराचल तथा अगस्त्य मुनि) ने भी तुम्हें छोड़ दिया; हा ! महाकष्ट है] ॥ ५१ ॥

किमसुभिर्गलितैर्जड ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः ।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधस्मरः ॥५२॥

किमिति । हे जड मूढ ! गलितैर्निष्क्रमितैः, असुभिः, प्राणैः स्वमारणेनेत्यर्थः । भीमसुतामनो मयि चन्द्रे निमज्जतु निमज्जेत् । सम्भावनायां लोट् । इति मन्यसे किम् ? 'यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते' इति श्रुतिप्रामाण्यादिति भावः । सोऽपि वृथाभिमान इत्याह—स मृतमनश्चन्द्रमेतीत्येवं रूपोऽर्थोऽभिधेयो यस्यास्तां तदर्थिकां, 'शेषाद्विभाषा' इति कप्समासान्तः । प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वं स्यात् इदाप्यसुप' इतीकारः, श्रुतिं पूर्वोक्तवेदवाक्यम् । विबुधो देवो विद्वांश्च, स्मरः नलस्य मुखेन्दुः, मुखचन्द्रः, परो मुख्यार्थो यस्यास्तां तत्पराम् । 'परं दूरान्यमुख्येषु' इति वैजयन्ती । मम आह किल श्रुते खलु । विद्वदुक्त एवार्थो ग्राह्य इत्यर्थः । परतोऽपि मे भर्ता नल एव नान्य इति भावः ॥ ५२ ॥

हे जड चन्द्र ! 'मारनेसे भीमकन्या दमयन्तीका का मन मुझमें लीन हो जायगा, अर्थात् दमयन्ती मुझे चाहने लगेगी' ऐसा समझते हो क्या ? विद्वान् वेदव्याख्यानकर्ता (पक्षान्तरमें—स्मरणशील विद्वान् , या देवता) काम ने निश्चय ही मुझसे उस श्रुति (वेदमन्त्र) का अर्थ नलका मुख रूप बतलाया है (अतएव मैं मरकर भी नलको ही जन्मान्तरमें भी चाहूँगी, तुम्हें कदापि नहीं) । ['यत्रास्य पुरुषस्याग्नि······' श्रुतिके अनुसार मृत प्राणीका मन चन्द्रामामें लीन हो जाता है, इस कारण चन्द्रमा का वैसा सोचना समझकर दमयन्तीने कहा है कि उक्त श्रुतिका 'मरनेपर प्राणियोंके मनका चन्द्रमामें लीन होना' सामान्य अर्थ है । वेदव्याख्यान या पूर्वापरका स्मरण करनेवाले विद्वान् या देवताकामने उस श्रुतिका अर्थ 'मरनेपर नलरूपी चन्द्रमामें मनको लीन होना' बतलाया है । अतएव सामान्यकी अपेक्षा विशेषकी बलवत्ता होनेसे तुम्हारी आशा ('मरनेपर दमयन्तीका मन मुझ चन्द्रमें लीन होगा' यह समझना) भूल है । सामान्य बुद्धिवाला ही मनुष्य किसी श्रुति आदिका सामान्य अर्थ ग्रहण करता है, विद्वान् तो विशेष अर्थको ही ग्रहण करते हैं अथवा देवता कामका बतलाया हुआ श्रुतिका विशेष अर्थ ही ग्राह्य है, सामान्य अर्थ नहीं ॥ ५२ ॥

मुखरयस्व यशोनवडिण्डिमं जलनिधेः कुलमुज्ज्वलयाऽधुना ।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं हरिणलाञ्छन ! मुञ्च कदर्थनाम् ॥५३॥

मुखरयस्वेति । हे हरिणलाञ्छन शशाङ्क ! यशसः नवडिण्डिमं कीर्तिप्रकाशकं नूतनवाद्यविशेषं मुखरयस्व मुखरं रवणं कुरु, अधुना जलनिधेस्त्वज्जनकस्य कुलमुज्ज्वलय प्रकाशय, वधूवधपौरुषमपि स्त्रीवधशौर्यञ्च, गृहाण स्वीकुरु । किंतु, कुत्सितोऽर्थः कदर्थः पीडाकरः 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः। कदर्थीकरणं कदर्थना कदर्थनशब्दात् । 'तत्करोति' इति ण्यन्ताद्युच । तां मुञ्च शीघ्रं मारय। न तु पीडयेत्यर्थः । अत्र वधूवधस्यानिष्टत्वेनाविधेयस्य विधानात् । 'विषं भुङ्क्ष्व' इतिवन्निषेधपरो विध्याभासः · अनिष्टनिषेधाभासपराक्षेपालङ्कारभेदः। तथा चालङ्कारसूत्रम्—'अनिष्ट विध्याभासश्चे'ति ॥ ५३ ॥

हे मृगलाञ्छन (कलङ्की चन्द्रमा) ? अपने यशकी (पक्षान्तरमें—सु + अयश······ अर्थात् अत्यन्त अयशको) डुग्गी पिटवाओ । जलनिधि (अपने पिता) के वंशको उज्ज्वल करो (पक्षान्तरमें—अपने पिताके वंशको अधिक दग्ध करो अर्थात् जला डालो), स्त्रीहत्याकी बहादुरी लूट लो अर्थात् मुझे मार डालो; परन्तु कुत्सित अर्थना करना या अधिक यंत्रणा देना तो छोड़ दो । [पूर्वोक्त वाक्योंमें एक पक्ष काकुद्वारा निन्दापरक तथा दूसरा पक्ष वास्तविक कथनपरक है । कोई भी शूर व्यक्ति स्त्रीकी हत्या करनेसे यशकी डुग्गी नहीं पिटवाता, न उस निन्दित कर्मसे पिताके वंशको ही उज्ज्वल करता है और न तो उससे उस योद्धाको बहादुरी ही मिलती है; अपितु स्त्री-हत्यासे अकीर्ति होती है, पिताके कुलमें मानो आग लग जाती है बचा-खुचा भी यश नष्ट हो जाता है) । किन्तु तुम जलनिधि ('ड तथा ल' में अभेद होनेसे जडनिधि) अर्थात् मूर्खतम पिताके मूर्ख पुत्र हो, अतएव तुम ऐसा निन्दित कर्म करते हो, यह ठीक ही है । मूर्खसे अन्य आशा भी क्या हो सकती है ? ॥ ५३ ॥

निशि शशिन् ! भज कैतवभानुतामसति मास्यति तापय पाप माम् ।
अहमहन्यवलोकयितास्मि ते पुनरहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् ॥ ५४ ॥

निशीति । हे शशिन् ! पाप ! क्रूर ! 'नृशंसो घातुकः क्रूरः पापः' इत्यमरः । निशि भास्वत्यसति । कैतवभानुतां कपटसूर्यत्वं भज । मां तापय, किं त्वहन्यहनि, अहर्पतिना सूर्येण, 'अहरादीनां पत्यादिषु'इति रेफादेशः। ते तव, निर्धुतदर्पतां निरहङ्कारताम्, अवलोकयितास्मि द्रक्ष्यामीत्यर्थः। लुटि मिपि तासिप्रत्ययः। पापिष्ठाः स्वनाशमासन्नमपश्यन्तः परान् हिंसन्तीति भावः ॥ ५४ ॥

हे चन्द्रमा ! रातमें सूर्यके नहीं रहनेपर तुम कपटसे सूर्य बन लो और हे क्रूर ! मुझे तपाओ; किन्तु मैं कल दिनमें सूर्यसे तुम्हारे अभिमानको नष्ट हुआ अर्थात् सूर्यके सामने निष्प्रभ हुए तुमको देखूँगी । [अन्य भी दुष्ट बड़ोंकी अनुपस्थितिमें ही दुष्टता करता है. उसकी उपस्थितिमें अर्थात् सामने पड़नेपर उस दुष्टका घमण्ड दूर हो जाता है । तथा किसी के द्वारा सताया गया व्यक्ति प्रबलतम अन्य व्यक्ति के द्वारा सताने वालोंका अभिमान नाश देखकर हर्षित होता है] ॥ ५४ ॥

शशकलङ्क ! भयङ्कर ! मादृशां ज्वलसि यन्निशि भूतपतिं श्रितः ।
तदमृतस्य तवेदृशभूतताऽद्भुतकरी परमूर्धविधूननी ॥ ५५ ॥

शशकलङ्केति । हे शशकलङ्क शशाङ्क ! मादृशां वियोगिनामित्यर्थः । भयं करोतीति भयंकर उद्वेजक ! 'मेघर्तिभयेषु कृञः' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना मुमागमः । यद्यस्मात्, भूतपतिं शिवं पिशाचपतिञ्च, श्रितः सन् निशि ज्वलसि प्रदीप्यसे । तत्तस्मादमृतस्यामृतमयस्य मृतेतरस्य च, तव परेषां द्रष्टॄणां स्वाविष्टानां च, मूर्धविधूननी एकत्र विस्मयादन्यत्रावेशाच्च शिरःकम्पकरी, ईदृशभूतता इत्थंभूतत्वम् ईदृशपिशाचत्वञ्च, अद्भुतकरी विस्मयकरी । हरशिरोमणेरमृतस्य इव इत्थं प्रज्वलनात्मकत्वमद्भुतमिति वाक्यार्थः । जीवत ईदृशभूतपिशाचत्वमद्भुतमिति व्यङ्ग्यार्थः ॥ ५५ ॥

हे शशकलङ्क (शश-लाञ्छनवाले) मुझ-जैसा (विरहिणियां या निरपराध अबलाओं) के भयङ्कर ! चन्द्रमा ! रातमें भूतपति (पञ्चमहाभूतोंसे प्रधान आकाश, या प्रमथादि भूतगणोंके पति भगवान् शङ्कर) का आश्रय किये हुए तुम जो जलाते (विरहिणियोंको सन्तप्त करते), हो, अमृत (अमृतमय किरणोंवाले या जीवित) तुम्हारा (भूतावेश वा विरहव्यथा के कारण) दूसरोंके मस्तकको हिलानेवाला इस प्रकारका भूतपना (प्रेतपना) आश्चर्यकारक है । [कोई जीव मरनेपर प्रेत होकर रातमें चलता या ज्वलित होता है, बालकादिके लिये भयकारक होता है और जिसपर वह आविष्ट होता है उस (भूताविष्ट मनुष्य) का शिर काँपने लगता है, किन्तु अमृत अर्थात् जीवितावस्थामें स्थित किसीका वैसा करना आश्चर्यजनक है । अथवा—अमृत अर्थात् जलमय होनेसे शीतल चन्द्रमाका जलाना (दाहक होना) आश्चर्यकारक है । अथवा—भूतों अर्थात् प्राणियोंके पति (पालक) एवं अमृत (सुधा) रूप चन्द्रमा का दुखित अबलाओंको भय दिखाना या रातमें अपनी तेजी (बहादुरी) दिखलाना अनुचित होनेसे आश्चर्यजनक है ॥ दमयन्तीने सखीके द्वारा अपनी ओरसे चन्द्रमाके प्रति श्लो० ४८ से यहाँ तक उपालम्भ दिया] ॥ ५५ ॥

श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि ! निक्षिप ।
किमपि तुन्दिलितः स्थगयत्वमुं सपदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥५६॥

श्रवणेति । हे सखि ! श्रवणपूरः कर्णावतंसः, यस्तमालदलाङ्कुरस्तमालपल्लवस्तं, शशिकुरङ्गस्य मुखे वक्त्रे, निक्षिप । तेन दलाङ्कुरेण, सपदि, किमपि कियदपि, तुन्दिलितस्तुन्दिलीकृतः, स्थूलीकृतस्सन्, अमुं शशिनं, स्थगयतु छादयतु । तत्तस्माद्धेतोः, क्षणमुच्छ्वसिमि प्राणिमि, 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीडागमः ॥ ५६ ॥

हे सखि ! कर्णपूरक तमाल-किसलय (तमालका नया पल्लव) चन्द्रमाके मृगके मुखमें (खानेके लिए) डालो (जिससे उसे खाकर) वह कुछ तुन्दिल (बढ़े हुए पेटवाला) होकर चन्द्रमाको आच्छादित करे तो मैं क्षणभर श्वास लूँ । [चन्द्रमा मुझे इतना सताता है मैं तनिक श्वास भी नहीं लेने पाती] ॥ ५६ ॥

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुवं करगतैव गता यदियं कुहूः ।
पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि ! मुखं न विधोः पुनरीक्ष्यते ॥ ५७ ॥

असमय इति । हे सखि ! असमये मतिः कार्यधीः, उन्मिषति उदेति, ध्रुवम् । न तु योग्यकाल इत्यर्थः । कुतः, यद्यस्मादियं कुहूः नष्टचन्द्रामावास्या करगता स्वायत्तैव, हस्तनक्षत्रगता च गता । तदास्तां, पुनरुपैति पुनरागच्छति चेदित्यर्थः । निरुध्य निवास्यसे स्थाप्यते । तस्य फलमाह—विधोर्मुखं पुनर्नेक्ष्यते । तस्यातन्त्रा-शक्तत्वादिति भावः । पापिष्ठस्य तस्यादर्शनमेव फलमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

हे सखि ! निश्चय ही असमयमें (बेमौके) बुद्धि स्फुरित होती (कोई आवश्यक बात सूझती) है, क्योंकि हाथमें अत्यन्त पासमें आई हुई (अथवा—हस्त नक्षत्रमें आयी हुई, इस पक्षमें आश्विन मासका वर्णन सिद्ध होता है) कुहू (जिसमें चन्द्रकला बिल्कुल ही नहीं दिखलाई पड़ती, वह अमावस्या तिथि) चली गयी अर्थात् बीत गयी । अस्तु यदि वह फिर आ ेगी, तब उसे (प्रार्थना आदि करके) रोक रखूँगी, जिससे फिर (पापी इस) चन्द्रमाका मुख ही नहीं देखूँगी । अन्य भी कोई सज्जन व्यक्ति पापीका मुख देखना नहीं चाहता]॥ ५७ ॥

अयि ! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम् ।
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शीकराः ॥५८॥

अयीति । अयि सखि ! एष मम चकोरशिशुर्विषपरीक्षार्थं गृहसंवर्धितो बाल-चकोरः । यथाह कामन्दकः—'चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्' इति । पिबतीति पिबः, 'पाघ्राध्मा' इत्यादिना शतृप्रत्यये पिबादेशः । सिन्धोः पिबस्य समुद्रपायिनो मुनेरगस्त्यस्य शिष्यतां, न व्रजतीति काकुः । व्रजतीत्यर्थः । तथा च अयं चकोरश्चन्द्रं निश्शेषं पास्यतीत्याशयः, न चैतदशक्यमित्याह—अब्धिमशितुं पानमधीतवतः अभ्यस्तवतः अत एव, पिबतः अब्धिपानप्रवृत्तस्यास्य चकोरस्य, शशिकराः कति वा शीकराः कतिचित्कणा इत्यर्थः । अत्र समुद्रपायिनो दण्डापूपिकया शशिकरपानसिद्धेरर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ५८ ॥

हे सखि ! मेरा यह चकोरका बच्चा समुद्रको पीनेवाले मुनि (अगस्त्य) का शिष्य नहीं बन जायेगा ? अर्थात् अवश्य बन जायेगा । समुद्रको पीनेकी शिक्षा पाये हुए (समुद्रको) पीते हुए इसके लिये चंद्र-किरणें कितनी बूँद होंगी अर्थात् अत्यल्प ही होंगी । (चकोरका चन्द्रिका-पान करना लोक-प्रसिद्ध होनेसे यहाँ 'चकोर-शिशु' कहा गया है क्योंकि बालकको दी गयी शिक्षा उसे शीघ्र अभ्यस्त हो जाती है और यह चकोर-शिशु जब शिक्षित हो जायेगा तब अतिसरलतासे चद्रिकाको पी जायेगा, जिससे चंद्रिकाके अभाव में मुझे सन्ताप नहीं होगा । चकोर विषपरीक्षाके लिये पाला जाता है, विषैले पदार्थको देखने मात्रसे चकोरकी आँखें लाल हो जाती हैं) ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरमेकमयोधनं वहिरितो मुकुरञ्च कुरुष्व मे।
विशति यत्र यदैव विधुस्तदा सखि! सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ॥५९॥

कुर्विति। हे सखि! एकं गुरुं महान्तम् अयोधनं तत्सायःपिण्डघट्टनमयोमुद्गरं करे कुरु विगृहीत्यर्थः। इतोऽस्मत्साधनाद्बहिः, मे मम मुकुरं दर्पणं च कुरुष्व विधेहि। तत्र मुकुरे यदा विधुर्विशति प्रतिफलति, तदैव, सुखादनायासात्, अहितं शत्रुं, तं विधुं, द्रुतं जहि मारय। हन्तेर्लोटि सिपि हिरादेशः। 'हन्तेर्जः' इति जादेशस्य 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वाच्च हेर्लुक्। अत्र चन्द्रप्रहारादिप्रलापा मेघसन्देशादिवन्मदनोन्मादविकारा इत्यनुसन्धेयम् ॥ ५२ ॥

हे सखि! अपने हाथमें लोहेका भारी घन लो, मेरे दर्पणको इस (घर) के बाहर (आँगनमें) रखो। इस दर्पणमें जब चंद्रमा प्रवेश करता (प्रतिबिम्बित होता) है, तब उस शत्रुको अनायास ही शीघ्र मार डालो। [अन्य भी कोई व्यक्ति किसी प्रकार घर आदि में शत्रुके घुसनेपर लोहेके छड़ आदि भारी पदार्थोंसे उसे मारता है॥ दमयंतीका उन्माद बहुत ही बढ़ गया है, जिसके कारण वह इस प्रकार बेसिर-पैर की बातें करती है] ॥५९॥

उदर एव धृतः किमुदन्वता न विषयो वडवानलवद्विधुः।
विषवदुज्झितमप्यमुना न स स्मरहरः किममुं बुभुजे विभुः ॥ ६० ॥

उदर। इति। विषमः क्रूरकर्मा, विधुः, उदन्वता उदधिना, 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः। वडवानलवद्वडवाग्निना तुल्यं, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' उदरे कुक्षावेव किं न धृतः। अथवा, अमुना उदन्वता उज्झितमप्यमुं विधुं विभुः समर्थः स्मरहरः, विषवद्विषेण कालकूटेन तुल्यं, पूर्ववद्वतिः। किं न बुभुजे न ग्रसतेस्म। उभयथापि स्वयं जीवेम इति भावः॥ ६० ॥

समुद्रने वडवानलके समान दुःसह (पक्षांतरमें—विषतुल्य) चंद्रमाको पेटमें (अपने भीतर) ही क्यों नहीं धारण किया? तथा इस (समुद्र) के द्वारा विष (कालकूट) के समान छोड़े (बाहर निकाले) गये इस चंद्रमाको काम-नाशक एवं सर्वसमर्थ वे शङ्कर जी क्यों नहीं खा गये?। [लोकनाशकारी वडवानलको समुद्रने जिस प्रकार अपने भीतर रखकर जगतका उपकार किया, वैसे ही संतापकारक चंद्रमाको भी भीतर ही रख लेना उचित था। और यदि समुद्रने इस चंद्रमाको अपने भीतर नहीं रखकर कालकूट विषके समान इसको भी बाहर कर दिया तो कामदेवको भस्म करनेवाले तथा सर्वशक्तिसम्पन्न शङ्करजीने जगत्के दाहक कालकूट विषको जिस प्रकार खाकर संसारको बचा लिया, उसी प्रकार इस चंद्रमाको भी क्यों नहीं खाया? अतएव ज्ञात होता है कि वडवानल तथा कालकूटसे भी अधिक दाह करनेवाला यह चंद्रमा है, इसी कारण समुद्र तथा शङ्करजीने भी इसको छोड़ दिया] ॥ ६० ॥

असितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेष पुनर्विशदं विषम् ।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम् ॥ ६१ ॥

असितमिति । आर्णवमर्णवे जातं, 'तत्र जातः' इत्यण्प्रत्ययः । अशितं मेचकं विषं कालकूटाख्यमेकेनैव सुरेण महादेवेन, अशितं गिलितमपि, पुनर्नाभून्नाजनि । एष चन्द्रो नामार्णवं विशदं विषं पुनः सितविषं तु, सुरैर्बहुभिर्देवैः 'प्रथमां पिबते वह्निः' रित्याद्युक्तक्रमेण, निपीय जनितक्षयं कृतनाशमपि, स्वयं नवं तद्रूपेणैव, पुनरुदेत्यागच्छतीति व्यतिरेकः ॥ ६१ ॥

समुद्रसे उत्पन्न कृष्णवर्णके (कालकूट) विषको एक देवता अर्थात् केवल महादेवजीने खा लिया तो वह फिर उत्पन्न नहीं हुआ और समुद्रसे ही उत्पन्न इस (चंद्ररूप) श्वेतवर्णके विषको बहुत देवताओंने अच्छी तरह पानकर इसका क्षय कर दिया, तब भी यह (चंद्ररूपश्वेत विष) फिर स्वयं उत्पन्न होता है । जिस कृष्ण वर्ण अर्थात् दुष्ट कालकूट विषको केवल एक महादेवजीने खाया अतः उसे फिर उत्पन्न होना सम्भव है, न कि श्वेत वर्ण होनेसे उत्तम चंद्ररूप जिस विषको अनेक देवताओंने बार २ पानकर नष्ट कर दिया है, उसे बार-बार स्वयं (किसीसे बिना सहायता पाये) उत्पन्न होना । अतएव चंद्रमा ही कालकूटसे भी अधिक तीव्र विष है । [चंद्रकलाको देवतालोग कृष्ण पक्षमें पान करते हैं, ऐसा शास्त्रीय सिद्धांत है] ॥ ६१ ॥

विरहिवर्गवधव्यसनाकुलं कलय पापमशेषकलं विधुम् ।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं ग्रहविदो विपरीतकथाः कथम् ॥ ६२ ॥

विरहीति । हे सखि ! विरहवर्गवधे व्यसनेनासक्त्या, आकुलं सङ्कुलं, सशब्दम् अशेषकलं पूर्णकलं, विधुं पापं कलय क्रूरं विद्धि सुरैर्निपीता सुधा यस्य तं क्षीणमित्यर्थः । शैषिणः कप्समासान्तः । 'अपोऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पाद् ह्रस्वभावः । अपाप एवापापकस्तं सौम्यं कलम् । तथा कार्यदर्शनादिति भावः । किन्तु ग्रहविदो दैवज्ञास्तु कथं विपरीतकथाः 'क्षीणेन्द्वर्कार्किभूपुत्राः पापास्तत्संयुतो बुधः । पूर्णचन्द्रबुधाचार्यशुक्रास्ते स्युः शुभग्रहा ॥' इत्येवं विरुद्धवाचः । अनुभवविरोधाद ग्राह्यं तद्वाक्यमिति भावः ॥ ६२ ॥

(हे सखि ! तुम) विरही स्त्री-पुरुष-समुदायके वधरूप निन्दित कर्मवाले (पक्षांतरमें—वधमें आसक्त अर्थात् अतिशय संलग्न) पूर्णकलायुक्त चंद्रमाको पापी और देवताओंने जिसकी कलासुधाका पान कर लिया है, उस (कृष्ण पक्षके) चंद्रमाको पापरहित जानो; किन्तु ज्योतिषी लोग उलटा (पूर्ण चंद्र ग्रहको शुभ तथा क्षीण चंद्र ग्रहको अशुभ) क्यों कहते हैं ? । [अथवा—अशेष (सम्पूर्ण अर्थात् ६४) कलाओंसे युक्त विधु (अच्युत) को भी परोपकारी न होनेसे पापी तथा कलाहीन परोपकारी पतित या मूर्खको भी पुण्यात्मा समझो] ॥ ६२ ॥

विरहिभिर्बहुमानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि ।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममा[1] कृता ॥

विरहिभिरिति । यः पक्षो विरहिभिः बहुमानं सत्कारमवापि प्रापितः, क्षीयमाणचन्द्रत्वादिति भावः । अवपूर्वादाप्नोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । 'गतिबुद्धि'—इत्यादिना अणि कर्तुः कर्मत्वम् । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इत्यभिधानात् । स विरहिभिर्बहूकृतः पक्ष इहास्मिन् लोके बहुप्रकार, लाति आदत्त इति व्युत्पत्त्या बहुलः 'आतोऽनुपसर्गे कः' न तु 'बहोरुलच्' इति भावः । अजनि जातः । खल्वित्युत्प्रेक्षा । किञ्च तथापि, यत्र यस्यां तिथौ सकलैरपि तैर्विरहिभिःतदमितिस्तस्य बहुमानस्यामितिरपरिमितिर्व्यरचि अकारि । नष्टचन्द्रत्वादिति भावः । सा च तिथिः अमा अमितिर्बहुमानस्यास्यामिति व्युत्पत्त्या अमा, अमानामिका कृता किम् ? मातेर्भावार्थे सम्पदादिक्किपि नञ्समासे मत्वर्थीये चाकारप्रत्यये 'यस्येति चे'ति लोपे 'अजाद्यतष्टाप्' । न खमा सहभावोऽस्यां सूर्याचन्द्रमसोरिति व्युत्पत्त्येत्युत्प्रेक्षा । अमेति सहार्थे अव्ययं, ततो भावप्रधानान्मत्वर्थीयाकाराट्टाप् ॥ ६३ ॥

जिस पक्षने विरहियोंसे अधिक सम्मान पाया, वह पक्ष इस संसार में 'बहुल' (बहुत मानको लेनेवाला) अर्थात् कृष्णपक्ष हुआ । (उसमें भी) जिसमें उन्हीं (विरहियों) ने उस सम्मानको अपरिमित (अत्यधिक होनेसे परिमाणरहित) कर दिया, वह तिथि 'अमा' की गयी अर्थात् अमावास्या कहलायी क्या ? अथवा—निश्चय ही अमा की गयी । [विरहियों के लिए कृष्णपक्ष कम चन्द्रदर्शन होने से सुखदायी होता है और अमावस्या तिथि सर्वथा चन्द्रदर्शन नहीं होनेसे अधिक सुखदायिनी होती है] ॥ ६३ ॥

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् किमु विधुं ग्रसते न[2] विधुन्तुदः ।
निपतितं वदने कथमन्यथा बलिकरम्भनिभं निजमुज्झति ॥ ६४ ॥

स्वेति । विधुन्तुदो राहुः, विधुं चन्द्रं, स्वरिपोर्विष्णोस्तीक्ष्णं निशितं यत् सुदर्शनं तदिति विभ्रमात् सादृश्यमूलभ्रमान्न ग्रसते किम् ? तालुच्छेदभयादिति भावः । अन्यथा भयाभावे, वदने निपतितं वक्त्रान्तर्गतम् । अत एव, निजं स्वायत्तं, बलिकरम्भनिभम् उपहृतदध्युपसिक्तसक्तुसदृशं, स्वाभिलषितमित्यर्थः । 'करम्भा दधिसक्तव' इत्यमरः । एनमिति शेषः । कथमुज्झति उद्गिरतीत्युत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥

वह राहु अपने शत्रु (विष्णु) के तीक्ष्ण सुदर्शन चक्र का अतिशय भ्रम होनेसे चन्द्रमा को नहीं ग्रास करता (खाता) है क्या ? अन्यथा (यदि अतिशय भ्रम नहीं होता तो) मुखमें पड़े हुए अपने बलिके करम्भ (अपनी पूजाके लिये दिये गये दही और सत्तू—चन्द्रमा भी दहीमें साने गये सत्तूके गोलेके समान श्वेतवर्ण होता है) के समान (चन्द्रमा को) क्यों छोड़ देता है ? [मालूम पड़ता है गोलाकार चन्द्रमाको देखकर राहुको उसी

1. किममीकृता' इति पाठान्तरम् । 2. 'स' इति पाठान्तरम् ।

तीक्ष्ण शस्त्र (सुदर्शन चक्र) का अत्यन्त भय हो जाता है, उसी कारण वह अपना गला कट जानेके भयसे अपनी पूजा में प्राप्त दधियुक्त श्वेतपिण्डाकार सत्तूके समान चन्द्रमा को ग्रहणकालमें मुखमें डालकर भी बार-बार छोड़ देता है । समुद्रमन्थनके बाद अमृत बाँटनेके समय सूर्य-चन्द्रके बीचमें बैठकर राहुने जब अमृत पी लिया तब उसे असुर जानकर विष्णु ने उसका शिर सुदर्शन चक्रसे काट दिया] ॥ ६४ ॥

वदनगर्भगत न निजेच्छया शशिनमुज्झति राहुरसंशयम् ।
अशित एव गलत्ययमत्ययं सखि ! बिना गलनालबिलाध्वना ॥ ६५ ॥

वदनेति । हे सखि ! यद्वा राहुः वदनगर्भगतमास्यान्तःप्रविष्टं शशिनं निजेच्छया स्वेच्छया, नोज्झति । असंशयं संशयो नास्ति । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । किं स्वयं शशी अशितो गिलित एव अत्ययं विना अकृच्छ्रेणेत्यर्थः । 'अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे' इति वैजयन्ती । गलनालबिलाध्वना कण्ठनालान्तःकुहरमार्गेण, गलति निस्सरति । राहोः शिरोमात्रत्वेन कण्ठनालनिस्सृतस्याशितस्य जठराग्निसंयोगविरहादस्य पापिष्ठस्येन्दोः पुनरुदय इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ ६५ ॥

राहु-मुखके भीतर गये अर्थात् खाये हुए चन्द्रमाको अपनी इच्छासे नहीं छोड़ता है, किन्तु निश्चय ही खाया हुआ यह चन्द्रमा बिना जीर्ण हुए ही (अथवा—अनायास ही) गलनालके बिलरूपी रास्ते से निकल आता है । [राहुका केवल सिरमात्र होनेसे चन्द्रमा का बाहर निकल जाना सरल ही है, यदि उसका शरीर पूर्ण अर्थात् धड़के सहित होता तो चन्द्रमा उसके पेट में पहुँचकर जीर्ण होने (पच जाने से बाहर नहीं निकल पाता । अन्य भी कोई व्यक्ति खाये हुए किसी पदार्थको स्वेच्छासे बाहर नहीं निकालता है] ॥ ६५ ॥

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम् ।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न क्व नु शशी यदि तज्जठरानलः ॥ ६६ ॥

ऋजुदृश इति । ऋजुदृशः तादात्विककार्यमात्रदर्शिनः, न त्वागामिकार्यदर्शिन इत्यर्थः । पुराविदः पुराणज्ञाः पूर्वपुरुषाः, मधुभिदं विष्णुं, राहुशिरश्छिदं कथयन्ति किल। किलेति वार्तायाम् । विरहिमूर्धभिदं वियोगिशिरश्छिदं न निगदन्तीति काकुः । तथैव कथनीयमित्यर्थः । कुतस्तस्य राहोर्जठरानलो यदि अस्तीति शेषः । शशी क्व नु ? न क्वापि स्यादित्यर्थः । राहुशिरश्छेदेन तदीयजठराग्निविच्छेदकत्वाद्विरहिमारकं शशिनमुज्जीवयतायं विष्णुविरहिशिरश्छेदीत्येवंव्यपदेश्यः न राहुशिरश्छेदीत्यर्थः ।

सीधा देखनेवाले (सरलबुद्धि) पौराणिक लोग मधुसूदन (विष्णु) को राहुका सिर काटनेवाला कहते हैं, विरहियोंका सिर काटनेवाला नहीं कहते । (क्योंकि) यदि राहुका जठरानल (पूर्ण धड़के साथ शरीर होनेसे जठराग्नि होती तो चन्द्रमा कहाँ होता ? अर्थात् नहीं होता, किन्तु राहुके जठराग्निमें ही जीर्ण हो जाता । [विष्णुद्वारा राहुका शिर काटने के कारण ही राहु के मुखमें गया हुआ भी चन्द्रमा गर्दनके रास्ते बार-बार बाहर निकल

आता है और विरही स्त्री–पुरुषों को सताया करता है, अतः विष्णुको राहुका शिर काटने-वाला न कहकर विरहियोंका शिर काटनेवाला कहाना उचित है]॥ ६६ ॥

स्मरसखौ रुचिभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलितं शिरः।
सपदि संदधतुर्भिषजौ दिवः सखि! तथा तमसोऽपि करोतु कः ॥ ६० ॥

स्मरसखाविति। रुचिभिः स्मरसखौ कायकान्तिभिः स्मरसदृशौ तन्मित्रे च दिवो भिषजौ स्ववैंद्यौ, स्मरवैरिणा हरेण, दलितं भिन्नं, मख एव मृगः तस्य मृगरूपधारिणो मखस्येत्यर्थः। शिरो यथा सपदि संदधतुः, संयोजयामासतुः। यो यस्य मित्रं स तस्य वैरं निर्यासयतीति युक्तम्। किंतु, हे सखि! कस्तमसो राहोरपि तथा शिरस्सन्धानं करोतु। न कोऽपीत्यर्थः। हरस्य मखमृगशिरश्छेदे पुराणं प्रमाणम्, अश्विनोः पुनस्तत्सन्धाने 'ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्' इति श्रुतिः॥६७॥

हे सखि! शोभाओंसे कामदेव के मित्र अर्थात् कामदेवके समान शोभावाले स्वर्गके वैद्य अश्विनीकुमारोंने कामशत्रु (शङ्कर जी) के द्वारा मृगरूपधारी यज्ञके शिरको जिस प्रकार शीघ्र जोड़ दिया, उस प्रकार (विरहि–वैरी विष्णुके द्वारा काटे गये) राहुशिरको कौन जोड़े?। [यज्ञका कामदेव तथा कामदेव के अश्विनीकुमार मित्र हैं, अतः 'मित्रका मित्र भी मित्र होता है तथा वह मित्र मित्र–शत्रुद्वारा बिगाड़े हुए कामको ठीक कर देता है' इस सिद्धन्तके अनुसार यज्ञमित्र–(कामदेव–) मित्र अश्विनीकुमारोंने मित्र–(कामदेव–) शत्रु अर्थात् शङ्करजीके द्वारा मित्र–(कामदेव–) मित्र अर्थात् यज्ञ (मृगरूपधारी यज्ञ) का काटा गया शिर तत्काल जोड़ दिया, कटे हुए अङ्गको तत्काल जोड़नेसे–उसमें भी स्वर्गके दो वैद्यों द्वारा जोड़नेसे वह बिल्कुल ठीक हो गया। विरहिणियोंका कोई दो को कौन कहे, एक भी अनुभवी चिकित्सक मित्र दृष्टिगोचर नहीं होता, जो विरहि–शत्रु विष्णुद्वारा काटे गये राहुशिरको जोड़ दे, यदि ऐसा होता तो राहुके द्वारा खाया गया चन्द्रमा उसके जठरानलमें ही रह जाता और विरहि–जनोंको वह नहीं सताता]॥ ६७ ॥

नालविमस्तकितस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कबन्धगलेन वा।
मृतिभिया भृशमुत्पततस्तमोग्रहशिरस्तदसृग्दृढबन्धनम् ॥ ६८ ॥

नलेति। अथवा, रणे नलेन विमस्तकितस्य तथापि मृतिभिया मरणभयेन भृशमुत्पतत उद्गच्छतो रिपोः, कबन्धगलेन अपमूर्धकलेवरकण्ठेन सह तमोग्रहस्य शिरः, तस्य गलस्यासृजा रक्तेन दृढबन्धनं निबिडसंयोगं सत् किं न मिलति न सङ्गच्छते? तथा च तज्जठराग्निना चन्द्रो जीर्येदिति भावः॥ ६८॥

अथवा संग्राममें मरने ('धृतिभिया' पाठमें–नलद्वारा पकड़े जाने) के भयसे अत्यन्त ऊपर उछलते हुए (तथापि) नलके द्वारा काटे गये सिरवाले शत्रुके (शिर से रहित) धड़की गर्दनके साथ (आकाशमें ताराररूपमें स्थित) राहुका शिर उस (शिरसे हीन धड़) के रक्तसे अच्छी तरह जुड़कर नहीं मिल जायगा क्या?। [इसके पूर्ववाले श्लोकमें विरहिजनोंको

कोई मित्र नहीं दृष्टिगोचर होनेसे राहुशिरका उसीके धड़के साथ जोड़ने की संभावना को दमयन्ती ने प्रकट किया है, फिर इस पद्यमें कोई वैसा करनेवाला मिल भी गया तो भी राहुके शिरको कटे बहुत समय व्यतीत हो जानेके कारण उस जोड़को दृढ़ न समझकर इस श्लोकमें रक्तयुक्त नलच्छिन्नमस्तक शत्रुके धड़के साथ राहुशिरको मिलकर दृढ होने की कल्पना दमयन्तीद्वारा की गई है। ऐसा होनेसे चन्द्रमा राहुके जठरमें जाकर गल-पच जायेगा और विरहि-जनोंको सर्वदाके लिये उससे छुटकारा मिल जायेगा] ॥ ६८ ॥

सखि ! जरां परिपृच्छ तमश्शिरस्समसौ दधतापि कबन्धताम् ।
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ? ॥ ६९ ॥

सखीति । अथवा, हे सखि ! जरां जराख्यां निशाचरीं, परिपृच्छ । असौ जरा कबन्धताम्, अशिरस्कतां दधतापि केतुना समं केतुग्रहेण सह, तमसो राहोः शिरः मगधराजस्य जरासन्धस्य वपुर्दलयोः शरीरार्धभागयोः युग्मवत् युगलमिव, किमिति न प्रतिसीव्यति न सन्धत्ते ?। शिरोमात्रं राहुः शरीरमात्रं केतुः तयोः सन्धाने पूर्ववत्तज्जठराग्निना चन्द्रो जीर्येदिति भावः। जराकृताङ्गसन्धानो जरासन्ध इति भारती कथानुसन्धेया ॥ ६५ ॥

हे सखि ! तुम जरा (नामकी राक्षसी) से पूछो कि राहुके शिरको कबन्धरूप केतुके साथ, मगधनरेश (जरासन्ध) के शरीरके खण्डोंके समान क्यों नहीं सी (कर जोड़) देती हो ? । [जिस प्रकार दो टुकड़ोंके रूपमें जन्मे हुए जरासन्धका शरीर सीकर तुमने जोड़ दिया, उसी प्रकार केतुरूप धड़ तथा राहुरूप शिरको जोड़ देना उचित है, विष्णुके द्वारा सुदर्शन चक्रसे काटनेके बाद एक ही दैत्यका शिर राहु तथा धड़ केतु नामसे प्रसिद्ध हुआ, अतः एक ही व्यक्तिके धड़ तथा शिरको जोड़ना तुम्हें अवश्यमेव उचित है। इससे जिस प्रकार विरहिजनों को लाभ होगा, वह पहलेके दो श्लोकों में कह दिया गया है] ६९ ॥

वद विधुन्तुदमालि ! मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधिया रिपुम् ।
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम् ॥ ७० ॥

वदेति । हे आलि सखि ! मदीरितैः मद्वाक्यैः विधुन्तुदं राहुं वद, रिपुं द्विजराजश्चन्द्रो ब्राह्मणश्रेष्ठश्च, तद्धिया त्यजसि किम् ? तन्नास्तीत्याह—यद्यस्मादेव चन्द्रो वारुणीं प्रतीचीं सुराञ्च। 'वारुणी गन्धदूर्वायां प्रतीचीसुरयोरपि' इति विश्वः। निषेव्य गत्वा पीत्वा च। पतितः च्युतः पातकी च। ईदृशः पतितोऽपि पुनर्दिवमन्तरिक्षं स्वर्गञ्च एति यदि किमु। द्वयोरपि पतितयोरधोगतिरेव नोर्ध्वगतिरित्यर्थः। अतः पतितस्य कुतः श्रैष्ठ्यं कुतस्तरां तद्वधे दोषश्चेति भावः॥ ६७ ॥

हे आलि ! तुम मेरे कहनेसे चन्द्रमाको पीड़ित करनेवाले अर्थात् राहुसे पूछो कि-'तुम

द्विजराज (ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ, पक्षान्तरमें—चन्द्रमा) को बुद्धिसे अर्थात् ब्राह्मण-श्रेष्ठ (पक्षान्तरमें-चन्द्रमा) समझकर शत्रुभूत इस चन्द्रमाको (ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिये, एतदर्थक श्रुतिको स्मरणकर) छोड़ते हो क्या, फिर यदि यह ऐसा अर्थात् ब्राह्मण-श्रेष्ठ होता तो वारुणी (मदिरा, पक्षान्तरमें—पश्चिम दिशा) का सेवनकर अर्थात् मदिरा पीकर (पक्षान्तरमें—सायंकालमें पश्चिमकी ओर जाकर) पतित (मदिरा—सेवनजन्य महापातकसे युक्त, पक्षान्तरमें समुद्रमें गिरा) हुआ फिर स्वर्ग (पक्षान्तरमें—आकाश) में क्यों आता ! अर्थात् नहीं आता। ['द्विजराज शब्दका ब्राह्मण या ब्राह्मण—श्रेष्ठ और चन्द्रमा—दोनों अर्थ हैं। ब्राह्मण-हत्याका वेदमें निषेध जानकर शत्रुभूत चन्द्रमाको भी ब्राह्मण-श्रेष्ठ समझकर छोड़ देना राहुको ठीक नहीं, क्योंकि जो ब्राह्मण मदिराका सेवन करता है वह पतित हो जाता है तथा फिर स्वर्ग पानेका अधिकार नहीं रहता, किन्तु वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशाका सेवनकर सायंकालमें पश्चिम समुद्रमें गिरकर पुन प्रातःकाल उदित होता है, अतः यह ब्राह्मण हैं ही नहीं या ब्राह्मण है भी तो पतित ब्राह्मण है, अतः शत्रुभूत इस (चन्द्रको तुम अवश्य मारो, इससे हमलोगोंकी पीड़ा शान्त हो जायेगी] ॥ ७० ॥

दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद् द्विजवासनतोज्झितः ? ।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता? ॥७१॥

दहतीति। विधुन्तुद ! अयं विधुः द्विजवासनया द्विजत्वसामान्येनेत्यर्थः। पातित्येऽपि जातेरनपायादिति भावः। गरुडवद् गरुडस्येव 'तत्र तस्येव' इति वति-प्रत्ययः। ते तव कण्ठं दहति खलु। विधुः तेन दाहेनोज्झितः किम् ? अस्य विप्रता का वद, न कापीत्यर्थः। तथा हि, अस्य विधोः प्रकृतिः निरागसि निरपराधायां मयि दाहिका दग्ध्री। अनपराधस्त्रीघातुकस्य कुतो ब्राह्मणत्वमित्यर्थः। 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः। पुरा किल क्षुधितेन गरुत्मता पित्रादेशेन म्लेच्छान् भक्षयता तन्मिलितः भ्रष्टद्विजः कश्चित् तद्दग्धगलेन सहसोद्गीर्ण इति पौराणिकी कथा। तथा माघश्चाह—'विप्रं पुरा पतगराडिव निर्जगार' इति ॥ ७१ ॥

(अथवा) यह चन्द्रमा (खानेपर) तुम्हारे कण्ठको जलाता है, अतः ब्राह्मण समझकर गरुड़के समान इसको छोड़ देते हो क्या ! (पर ठीक नहीं, क्योंकि) इसका स्वभाव ही दाहक (जलानेवाला) है, (तुम्हीं बतलाओ कि) मुझ निरपराधिनोमें क्या ब्राह्मणत्व है (जो मुझे जला रहा है)। ब्राह्मण अपराधीको शापके द्वारा जलाता है, निरपराधी—उसमें भी दुखिया स्त्रीको नहीं, किन्तु जिस प्रकार यह मुझ निरपराधिनीको अपने स्वभाव-से ही जलाता है ब्राह्मणत्वके कारण नहीं, उसी प्रकार मुखमें लेनेपर तुमको भी स्वभावसे ही जलाता है, अपने ब्राह्मणत्वके कारण नहीं, अब इस चन्द्रमाको खाना ही तुम्हारे लिए उचित है, गरुडके समान कण्ठ में दाह होनेमात्रसे चन्द्रमाको ब्राह्मण समझकर छोड़ना

उचित नहीं। 'एक समय माताकी दासता छुड़ानेके लिये स्वर्गसे अमृत लानेको जाते हुए गरुडसे कश्यपने कहा था कि मार्गमें ब्राह्मणोंको छोड़कर जो जीव मिले उसे खा सकते हो, किन्तु जिसको मुखमें लेनेपर गलेमें दाह हो उसे ब्राह्मण समझकर छोड़ देना' इस आदेशानुसार मार्गमें समुद्रतटपर निषादोंमें रहनेवाले निषादाकृति ब्राह्मणको गरुडने निषाद के भ्रमसे मुखमें डाला, परन्तु गलेमें दाह होने लगा तो उसे उगल दिया' यह पौराणिक कथा है ॥ ७१ ॥

सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतः ॥ ७२ ॥

सकलयेति। विधुः सकलया कलया सकलाभिः, कलाभिरेव दंष्ट्रया दंष्ट्राभिः, दन्तविशेषैः प्रकृतिद्रव्येण। उभयत्र जात्येकवचनम्। यमाय अन्तकार्थं समवधाय सम्यगवहितीभूय, विरहिणीगणस्य चर्वणसाधनं किञ्चिद्भक्षणसाधनं विनिर्मितः, किल ब्रह्मणेति शेषः। अतोऽस्माद्दंष्ट्राविशेषत्वाद् 'द्विजराज' इति श्रुतः न तु विप्रविशेषत्वादित्यर्थः। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः। अतो नायमुपेक्ष्य इति भावः ॥

यह चन्द्रमा यमराजके लिये सावधान होकर (ब्रह्माके द्वारा) सम्पूर्ण कलारूपी दाँतोंसे विरहिणीसमूहको चबानेका साधन बनाया गया है, अतएव यह द्विजराज (द्विजों अर्थात् दाँतोंसे शोभनेवाला) कहा गया है। [ब्राह्मणोंमें शोभनेवाला या श्रेष्ठ होनेसे द्विजराज नहीं कहा गया है, अतः ब्राह्मण न होनेसे इसे मारनेमें राहुको कोई पाप नहीं, इस कारण इसे मार ही डालना उचित है। अन्य लोगोंको भी चना आदि चबानेके लिए सब दाँतोंको दृढ़ रहना आवश्यक होता है] ॥ ७२ ॥

स्मरमुखं हरनेत्रहुताशनाज्ज्वलदिदं विधिना चकृषे विधुः।
बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालकयाङ्कितः ॥ ७३ ॥

स्मरमुखमिति। अथ विधुश्चन्द्रो नामेदं स्मरमुखं ज्वलत् प्रज्वलदेव विधिना दैवेन हरनेत्रहुताशनाच्चकृषे मध्ये आकृष्टः। अथच बहुविधेन वियोगिवधेन यदेनः पापं, तेनैव कालिकया श्यामिकया, शशमिषादङ्कितः। दाहकालिमा वा, पापकालिमा वा शशमिषाद् दृश्यत इति सापह्नवोत्प्रेक्षाद्वयम् ॥ ७३ ॥

ब्रह्माने शिवजीके नेत्रकी अग्निसे, जलते हुए चन्द्ररूप कामसुखको खींच लिया, फिर वियोगिजनोंके वधजन्य अनेक प्रकारके पापके कारण उसे शशकके बहाने से कालिका अर्थात् कालिखसे चिह्नित कर दिया। [अन्य भी व्यक्ति अग्निमें जलते हुए किसी मनुष्यको बचानेके लिये अग्निसे खींचकर निकालता है, यदि वह अच्छा (उपकारक) होता है तो उसे रख लेता है, अन्यथा यदि वह दूसरोंके लिये हानिकारक होता है तब उसके मुखमें कालिख पोतकर उसे बाहर निकाल देता है तथा अधजली वस्तुमें भी कालिख लगी रहती है] ॥ ७३ ॥

इति विधोर्विविधोक्तिविगर्हणं व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा।
अतितरां दधती विरहज्वरं हृदयभाजमुपालभत स्मरम् ॥ ७४ ॥

इतीति। अतितरामतिमात्रम्, अव्ययादाम्प्रत्ययः। विरहज्वरं दधती सा दमयन्ती इतीत्थं, व्यवहितस्य विप्रकृष्टस्य, विधोर्विविधोक्तिभिर्विगर्हणं निन्दा वृथेति विमृश्य, अरण्यरुदितप्रायमिति विचार्य, हृदयभाजं सन्निहितं स्मरमुपालभत निनिन्द। पाक्षिकफलसम्भावनयेति भावः ॥ ७४ ॥

अत्यधिक विरहज्वरको धारण करती हुई वह दमयन्ती 'अत्यन्त दूरस्थ चन्द्रमाकी अनेक प्रकारके कथनसे निन्दा करना व्यर्थ है (उसके स्वयं न सुननेसे मेरी की हुई निन्दा अरण्यरोदनके समान है), ऐसा विचारकर हृदय (अत्यन्त समीप) में नित्य रहनेवाले कामदेवका उपालम्भ देने लगी (कामदेवकी निन्दा करने लगी)। [अपकारी व्यक्तियोंमें से दूरस्थको उलहना न देकर अत्यन्त निकटस्थ व्यक्तिको उलाहना देना उचित समझा जाता है] ॥ ७४ ॥

(द्विजपतिग्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः।
विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सया स्फुरति राहुरयं न निशाकरः ॥ १ ॥)*

(द्विजराज (ब्राह्मण, पक्षांतरमें—चन्द्रमा) के खानेसे स्थापित (या 'अहित' पदच्छेद करनेपर 'अहितकर') पापसे उत्पन्न कोढ़से सफेद शरीरवाला (तथा इस समय) विरहिणियोंके मुखरूपी चन्द्रमाको खानेकी इच्छासे यह राहु स्फुरित हो रहा है, यह चन्द्रमा नहीं है। [अन्य भी कोई व्यक्ति ब्राह्मणके खानेसे उत्पन्न महापातकसे कुष्ठरोगी हो जाता है, किन्तु वह यदि अत्यधिक दुष्ट होता है तो अपने स्वभावसे विवश होकर फिर उसी दुष्कर्मको करता रहता है ॥ १ ॥

हृदयमाश्रयसे बत मामकं ज्वलयसीत्थमनङ्ग ! तदेव किम् ?।
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनः क भवितासि ? हताश ! हुताशवत् ॥७५॥

हृदयमिति। हे अनङ्ग ! ममेदं मामकम्। 'तवकममावेकवचने' इत्यणि ममकादेशः। हृदयमाश्रयसे। तदेवेत्थं किं ज्वलयसि दहसि? बत। हताश दुर्बुद्धे! स्वयं त्वमपि, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः, कर्मण्यण्। तद्वत् क्षणदग्धनिजेन्धनो दग्धाश्रयः सन्नित्यर्थः। क्व भवितासि क भविष्यसि? न क्वापीत्यर्थः। अनद्यतने लुट्। परहिंसाव्यसनेनात्मनाशं न पश्यसीत्याशयेन हताशेत्यामन्त्रणम् ॥ ७५ ॥

हे कामदेव! यदि तुम मेरे हृदयका आश्रय करते हो अर्थात् मेरे हृदयमें रहते हो, तब उसीको इस प्रकार (अतिशय एवं निरन्तर) क्यों जलाते (अपने आश्रयस्थानको नष्ट करते) हो?। हे हताश! (निष्फल अभिलाषावाले!) क्षणभरमें अपने इन्धनको जला देनेवाले अग्निके समान स्वयं भी तुम कहाँ रहोगे?। (जिस प्रकार अग्नि अपने

---

* अयं श्लोकः 'तिलक-सुखावबोधा'ख्यव्याख्ययोरुपलभ्यत इत्यवधातव्यम्।

इन्धनको जलाकर स्वयं भी बुझ जाती है, उसी प्रकार अपने आश्रय मेरे हृदयको पीडित कर अर्थात् मुझे मारकर तुम भी कहाँ रहोगे ? ॥ लोकमें भी कोई व्यक्ति अपने निवासस्थानको स्वयं नष्ट नहीं करने पर ही सुखी रहता है, अतः स्वाश्रयभूत मेरे हृदयको पीडित करना तुम्हारे लिये अच्छा नहीं होगा] ॥ ७५ ॥

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया ।
स्मर ! निरैक्ष्यत कस्यचनापि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभिः ॥ ७६ ॥

पुरभिदेति ! हे स्मर ! त्वम् अक्षिगत इति शेषः । अनक्षिसन्निकृष्टस्याचणा दग्धुमशक्यत्वाददृश्यस्य च दाहायोगादिति भावः । पुरभिदा हरेण, त्रिनयनत्वं त्र्यक्षत्वं, तच्च भुम्नादिस्वाणत्वाभावः । तस्य परिप्लुतिशङ्कया तृतीयाक्षिवैयर्थ्यभयेनेत्यर्थः । अदृश्यतां गमितो नाशं प्रापितः, 'गतिबुद्धि'–इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वे तत्रैव क्तः । 'पयन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति वचनात् । किन्तु, कस्यचनापि यस्य कस्यचिदपि जनस्याक्षिगते दृग्गोचरे द्वेष्ये च । 'द्वेष्ये त्वक्षिगतो वध्यः' इत्यमरः । त्वयि त्रिभिर्नयनैः किं न निरैक्ष्यत, किमिति न निरीक्षितम् । अतोऽस्य त्रिनयनत्वं व्यर्थमेवेत्यर्थः । स्वाक्षिगत इव माहशाक्षिगतेऽपि त्वयि तृतीयाक्षिनिरीक्षणाभावाद्परोपकारिणस्तस्य वैयर्थ्यं, निरीक्षणञ्च देवस्य जितकामत्वादन्येषां तु कामजितत्वादुत्प्रेक्षयत इति । त्वयि निरैक्ष्यतेत्यत्र कर्मणोऽपि स्मरस्य अनेकशक्तियुक्तस्येति न्यायेन मातरि प्रहृतमित्यादिवदाधारत्वविवक्षायामविवक्षितकर्मकादीक्षतेर्भावे लकारः । 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् ॥ ७६ ॥

हे स्मर ! महादेवजीने (अपने) त्रिनयनत्वको अर्थात् तृतीय नेत्रवाला होनेकी व्यर्थता (या अतिव्याप्तिको) आशङ्कासे तुमको अदृश्य (नष्ट) कर दिया । (फिर) तुम्हारे प्रत्यक्ष (पक्षांतरमें—द्वेष्य) होने पर किसे तीन नेत्र (पक्षांतरमें—क्रोध) हुए अर्थात् किसीको भी नहीं । अथवा—अक्षिगत (द्वेष्य) होने पर कौन त्रिनेत्र अर्थात् क्रोधयुक्त नहीं हुआ अपितु सभी क्रोधयुक्त हुए । [महादेवजीने सोचा कि अभी तो केवल मैं ही त्रिनेत्र हूँ, पर कामदेव यदि अन्यलोगोंका अक्षिगत यानी प्रत्यक्ष (पक्षांतरमें—द्वेष योग्य) होगा तो सभी त्रिनेत्र (पक्षा०–क्रोधी) हो जायेंगे तो हमारा त्रिनेत्र (तीन नेत्रोंवाला) होना व्यर्थ हो जायगा । अत एव उन्होंने तुम्हें जलाकर नष्ट कर दिया कि अब भविष्यमें कामदेव न किसीको अक्षिगत (प्रत्यक्ष) होगा, न कोई त्रिनेत्र (क्रोधी) ही होगा, इस प्रकार मेरा त्रिनेत्र होना सफल होगा । यही कारण है कि तबसे कामदेवको देखकर कोई त्रिनेत्र (क्रोधी) नहीं हुआ, अपितु कामदेवके द्वारा आनन्दलाभ किया । लोकमें भी कहा जाता है कि 'मैं' तुम्हें देखकर त्रिनेत्र (क्रोधी) हो गया, यही कारण है कि क्रोध होनेपर लोगोंकी आँख लाल हो जाती है, शिवजीकी आँखसे कामदेवके जलानेके समय लालवर्णकी ही अग्नि निकलती थी । लोकमें अब भी क्रोध के कारण आँखसे चिनगारी निकलनेकी बात लोग कहा करते हैं] ॥ ७६ ॥

सहचरोऽसि रतेरिति विश्रुतिस्त्वयि वसत्यपि मे न रतिः कुतः ?।
अथ न सम्प्रति सङ्गतिरस्ति वामनुमृता न भवन्तमियं किल। ७७॥

सहचर इति। हे स्मर! रतेः रतिदेव्याः, सन्तुष्टेश्च सहचरोऽसीति विश्रुतिः प्रसिद्धिः। त्वयि वसति हृदयस्थे सत्यपि, मे कुतो रतिर्न? अथवा, सम्प्रति वां युवयोः सङ्गतिर्नास्ति। कुतः, इयं रतिर्भवन्तं नानुमृता किल। किलेति वार्तायाम्। अनुमरणाभावदसङ्गतिर्युक्तेत्यर्थः। अत्र प्रीतिलक्षणाया रतेर्देव्या सहाभेदाध्यवसानाद्यमुपालम्भः। अत एवातिशयोक्तिरलङ्कारः॥ ७७॥

तुम रति (अपनी स्त्री, पक्षान्तरमें—प्रीति) के सहचर हो अर्थात् जहाँ तुम रहते हो, वहीं रति (रति नाम की तुम्हारी प्रिया, पक्षान्तरमें—प्रीति) अवश्य रहती है, यह विश्रुति (लोकमें प्रसिद्धि या विशिष्ट श्रुति = विशेष वेदवाक्य) है, किन्तु तुम्हारे निवास करते रहनेपर भी मुझे रति (नलके साथ सहवासरूपी रति, पक्षान्तरमें—प्रीति) क्यों नहीं है। (तुम्हारे रहनेपर उसे रहना उचित था)। अथवा—इस समय (शङ्करजीके द्वारा तुम्हारे जलाये जानेके बाद] तुम दोनों (रति—काम) का साथ नहीं है, पर तुम्हारे पीछे वह (रति) तो नहीं मर गयी हैं। (अतः तुम रतिके सहचर हो, यह वस्तुतः विश्रुति अर्थात् विपरीत जनप्रसिद्धि [पक्षान्तरमें—विपरीत वेदवचन) है]॥ ७७॥

रतिवियुक्तमनात्मपरज्ञ ? किं स्वमपि मामिव तापितवानसि ?।
कथमतापभृतस्तव सङ्गमादितरथा हृदयं मम दह्यते ?॥ ७८॥

रतीति। आत्मानं परञ्च न जानातीत्यनात्मपरज्ञ सर्वघातुक मार! मामिव रतिवियुक्तं स्वमात्मानमपि तापितवानसीत्युत्प्रेक्षा। कुतः, इतरथा स्वाऽसन्तापने, अतापभृतस्तापरहितस्य तव सङ्गमात् सम्पर्कान्मम हृदयं कथं दह्यते? तप्तस्पर्शात्तापो नातप्तस्पर्शादित्यर्थः। सन्तापनादपि, स्वयमतप्तेन त्वया परसन्तापः क्रियते यथा तच्छीलैस्तप्तमुखैः शिलीमुखैरिति भावः॥ ७८॥

हे अनात्मपरज्ञ! अर्थात् अपना तथा पराया नहीं जाननेवाले (किसकी रक्षा करनी चाहिये तथा किसकी नहीं यह नहीं समझनेवाले कामदेव।) रति (नलविषयक संसर्ग) से रहित मेरे समान रति अपनी प्रियतमा) से रहित अपनेको भी क्यों संतप्त किया है [अन्यथा (यदि तुम अपनेको भी नहीं संतप्त करते तब) संताप—रहित तुम्हारे सामने मेरा हृदय क्यों जल रहा है? [कोई भी व्यक्ति अपनी रक्षा करते हुए दूसरोंको संताप देता है, किन्तु तुम तो इतने दुष्ट हो कि स्वयं संताप सहकर भी दूसरेको संतप्त कर रहे हो, अतः तुम्हारी दुष्टता अत्यधिक है। लोकमें भी ठण्डे पदार्थके संसर्गसे कोई गर्म नहीं होता है]॥ ७८॥

अनुममार न मार! कथं नु सा रतिरिति प्रथितापि पतिव्रता।
इयदनाथवधूवधपातकी[1] दयितयापि तयासि किमुज्झितः ?॥ ७९॥

---

१. 'विरहिणीशतघातमपातकी' इति पाठान्तरम्।

अनुममारेति। हे मार मारक ! पतिव्रतेति प्रथितापि सा रतिः कथं नानुममार कथं नानुमृता ? 'मृते म्रियेत या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इत्यनुस्मरणादिति भावः। अथवा, इयद्भिरेतावद्भिरसंख्यैरित्यर्थः। अनाथवधूनां वियोगिस्त्रीणां, वधैः पातकी त्वं तया दयितयापि विरहमसहमानयापीति भावः। उज्झितः त्यक्तोऽसि किमित्युत्प्रेक्षा। 'आ शुद्धेःसंप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषित' इति स्मरणादिति भावः।

हे घातक कामदेव ! अत्यन्त विख्यात पतिव्रता भी वह रति तुम्हारे बाद क्यों नहीं मर गयी। अर्थात् मरकर सती हो गयी। इतनी (सैकड़ों—हजारों) अनाथ स्त्रियोंके मारनेसे पातकी तुमको अतिशय प्रिया उस (रति) ने भी छोड़ दिया है क्या ? [सैकड़ों—सहस्रों-अनाथ विरहिणी स्त्रियोंकी हत्या करनेसे पातकी होनेके कारण ही पतिव्रता तथा परमप्रिया होनेपर भी रतिने स्मृति (याज्ञ० १७७) वचनको मानकर ही छोड़ दिया, अन्यथा वह अवश्यमेव तुम्हारे मरनेके बाद सती हो जाती]॥ ७९ ॥

सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत्।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः॥ ८० ॥

सुगत इति। जितेन्द्रियो वशी सुगतो बुद्ध एव विजित्य, तव उरुं महतीं कीर्तिं। मेव तनुं शरीरं, यद्यस्मादनाशयत् नाशितवान्। ततः कारणादवशिष्टवती-मवशिष्टां भूतमयीं पाञ्चभौतिकीं तव तनुं समिति युद्धे हरः शम्भुरहरत् भस्मीच-कारेत्यर्थः। तथापि निर्लज्जः कथमित्थमस्मादृशानकरुणं व्यथयसीति विस्मिताः स्म इति भावः।

जितेन्द्रिय बुद्धने ही तुम्हें जीतकर तुम्हारी बड़ी हुई कीर्तिरूपी शरीरको जो नष्ट कर दिया; तदनन्तर जितेन्द्रित हर (संसारका संहार करनेवाले महादेव) ने युद्धमें विजयकर शेष पाञ्चभौतिक (पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतसे बने हुए) शरीरको हरण किया (जलाया)। [यदि जितेन्द्रिय बुद्ध तुमको जीतकर तुम्हारा यश नष्ट नहीं किये होते तो सर्व-संहार-कर्ता शिवजी भी तुम्हें नहीं जला सकते। अथवा—पहले तो बुद्धने तुम्हें जीतकर कीर्तिको नष्ट किया, फिर भूतमयी (पिशाच-रूपी) देहको महादेवजीने जलाया, इस अर्थमें यशको आत्मा तथा शरीरको पाञ्चभौतिक शरीर माना है, क्योंकि यश तथा आत्मा दोनों अमर एवं नित्य हैं तथा आत्माके शरीरसे निकल जानेपर पञ्चभौतिक शरीरको जला दिया जाता है। मरनेपर भूतमय अर्थात् प्रेतरूप होना लोक तथा शास्त्र में माना जाता है]॥८०॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग ! निगृह्णता।
अहह नीतिरवाप्तभया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति॥ ८१ ॥

फलमिति। हे अनङ्ग ! विषमनेत्रं त्र्यक्षं, कुसुमैर्निगृह्णता निरुन्धता प्रहरतेत्यर्थः। त्वया यत्फलं मरणरूपमलभ्यत। ततस्तस्मात् फलादवाप्तभयाप्राप्तभया नीतिः, सर्वथा साधनान्तरेणापि वैरनिर्यातनं कार्यमित्येवरूपः(कर्त्री), कुसुमैरपि विग्रहं नेच्छति।

अहहेत्यद्भुते । किमुत साधनान्तरैः 'पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरै'रिति नीत्या कुसुमान्यपि मोक्तुं बिभेषीति भावः ॥ ८१ ॥

हे अनङ्ग ! पुष्पों (बाणभूत पुष्पों) से भी त्रिनेत्र महादेवजी पर प्रहार ('विगृह्णता' पाठमें विरोध) करते हुए जो फल (आत्मानाश) पाया, उसीसे सभय होकर नीति, पुष्पोंके द्वारा भी (तीक्ष्ण बाण आदि शस्त्रोंका तो कहना ही क्या ?) विरोधको नहीं चाहती ('पुष्पोंसे भी किसीको मारना श्रेयस्कर नहीं' यह नीति श्रेष्ठ मानी जाती है) । अथवा—हे 'अङ्ग हीन' (जब शरीर ही नहीं तो शरीराश्रयी ज्ञान कहाँ रहेगा ! अतः हे मूर्ख कामदेव !) तुम ऐसे मूर्ख हो कि पुष्पास्त्र होकर भी विषम-दृष्टि (असमान नेत्रवाले अर्थात् मृत्युञ्जय) के साथ भी युद्ध करने गये, यह आश्चर्य है । अथवा—विषम अर्थात् अतितीक्ष्ण स्वभाववाले नेत्र (नायक) के साथ विरोध किया यह तुम्हारी बड़ी मूर्खता है] ॥ ८१ ॥

अपि धयन्नितरामरवत्सुधां त्रिनयात्कथमापिथ तां दशाम् ? ।
भण रतेरधरस्य रसादरादमृतमात्तघृणः खलु नापिवः ? ॥ ८२ ॥

अपीति । हे स्मर ! इतरामरवद् देवतान्तरवत्, सुधां धयन् पिबन्नपि, धेटः शतृ प्रत्ययः । त्रिनयनादीश्वरात्, कथं तां दशां मरणावस्थाम्, आपिथ प्राप्तोऽभूः ? आप्नोतेर्लिटि थलि क्रयादिनियमादिडागमः । भण वद । अथवा, रतेर्देव्याः, अधर-स्योष्ठस्य, रसे स्वादे, आदरादास्थावशात् आत्तघृणः प्राप्तामृतजुगुप्सः सन् । 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति वैजयन्ती । अमृतं नापिवः खलु । अमृतपाने कथमन्येष्वमरेषु त्वमेको मृत इति भावः ॥ ८२ ॥

अन्य (इन्द्र आदि) देवताओंके समान अमृतको पीते हुए भी तुमने शिवजीसे उस (आत्मदाहरूप) दशाको क्यों पाया ? अथवा रतिके अधरके रसमें अत्यन्त आदर (आस-क्ति) होनेसे (अमृतके प्रति) घृणाकर अर्थात् अमृतको प्रियाके अधररसकी अपेक्षा तुच्छ सम-झकर (तुमने) अमृतको नहीं पिया क्या ? कहो । [यदि तुम भी इन्द्र आदि अन्य देव-ताओंके समान अमृतका पान करते तो शिवजी तुम्हें नहीं जला सकते; अत एव प्रियाके अधररसके लम्पट तुमने अमृतका त्यागकर महामूर्खता की यह आश्चर्य है] ॥ ८२ ॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तव परेत ! बभूव पिशाचता ? ।
यदधुना विरहाधिमलीमसामभिभवन् भ्रमसि स्मर ! मद्विधाम् ॥

भुवनेति । परेत प्रेत ! तव भुवनानां मोहनमचेतनीकरणं तज्जेनैनसा पापेन पिशाचता बभूव किम् ? कुतः स्मर ! यद्यस्मादधुना विरहाधिना वियोगव्यथया मलीमसां मलिनां, मद्विधां मादृशीमबलामभिभवन् पीडयन् भ्रमसि । पापिष्ठाः किल पिशाचतां गताः दुर्बलस्त्रीबालादीन् पीडयन्ति, त्वञ्च तादृक्षोऽपि पिशाच इत्युत्प्रेक्षा ॥

हे प्रेत ! हे कामदेव ! संसार (में स्थित प्राणियों) को मोहित करनेसे उत्पन्न पापसे तुम पिशाच हो गये हो क्या ? जो इस समय (मरनेके बाद प्रेत बनकर) विरह-पीड़ासे

मलिन मुझ–जैसी (विरहिणी) को पीडित करते हुए घूमते हो [मरनेके बाद पापसे प्रेत-रूप नीच योनिको प्राप्त जीव स्त्री-बालक आदि मलिन लोगोंके शरीरमें प्रवेशकर उन्हें पीडित तथा उनके शरीरको कम्पित करते हैं॥ तुम मरनेपर भी मुझ–जैसी दुखित अबलाओंको पीडित करते हो अतः महादुष्ट हो ॥ ८३ ॥

बत ददासि न मृत्युमपि स्मर ! स्खलति ते कृपया न धनुः करात् ।
अथ मृतोऽसि ! मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिरुरीकृतबन्धनः ॥ ८४ ॥

बतेति । हे स्मर ! मृत्युमपि न ददासि । तेन दुःखान्तो भवेदिति भावः । अथवा कृपया ते कराद्धनुरपि न स्खलति न भ्रश्यति । पूर्ववद्भावः । अथ मृतोऽसि । तथापि न स्खलतीत्याह—मृतेन च मृतेनापि, उरीकृतबन्धनः अङ्गीकृतबन्धनः दृढबद्ध इत्यर्थः । 'उर्यङ्गथ्युररीभ्यश्च करोति कुरुते परः' इति भट्टमल्लः । मुष्टिर्न मुच्यते खलु । बतेति खेदे । ततः कृतान्तादपि क्रूरोऽसीति भावः ॥ ८४ ॥

हे स्मर ! (मुझ दुखिया अबलापर कृपाकर) मृत्युको भी नहीं देते हो (जिससे मेरा दुःख छूट जाय) कष्ट है। कृपा से (पक्षा०–अकृपासे) तुम्हारे हाथसे धनुष भी नहीं गिर जाता (जिससे तुम्हारा निरन्तर बाण–प्रहारसे पीडित करना असम्भव हो जाता) खेद है। अथवा तुम मर गये हो (अतः 'मरा हुआ बाँधी हुए मुट्ठीको नहीं खोलता है। (यही कारण है कि मरनेके पहले जो तुमने धनुष लेकर मुठ्टो बाँध ली है, वह मरने के बाद नहीं खुलती है। अन्य भी व्यक्ति यदि मुट्टी बाँधे मर जाता है, तब उसकी मुठ्ठी प्रत्येक अङ्गके काष्ठवत् हो जानेसे नहीं खुलती। और जब जीते जी तुम मुट्टी खोलकर कृपा नहीं करते तब मरने पर कहाँतक कृपा करोगे ? अतः धनुष कैसे गिरे ? अन्य कृपण व्यक्ति भी जो जीते जी मुक्तहस्त होकर दान देने की कृपा नहीं करता, वह मरनेपर कहाँ तक मुक्तहस्त होकर दान देनेकी कृपा करेगा ? अर्थात् कदापि नहीं करेगा] ॥ ८४ ॥

दृगपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयते परनिर्जरसेविता ।
अतिशयान्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः स्मर ! भवन्ति भवन्तमुपासितः ॥८५॥

दृगिति । हे स्मर ! परनिर्जरसेविता त्वत्तोऽन्यदेवतासेवको जनः तृच् । दृशो रूपहतिः आन्ध्यम्, अपमृत्युरकालमरणं, विरूपता अङ्गवैवर्ण्यञ्च, शमयते निवर्तयति । 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम् । मित्वाद्ध्रस्वत्वम् । भवन्तमुपासितुः त्वत्सेविनो जनस्य तु । ताच्छील्ये तृन् । 'न लोक'–इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । अतिशयेनान्ध्यं दृष्ट्युपघातः, वपुःक्षतिः शरीरविपत्तिः पाण्डुता वैवर्ण्यञ्च, ता भवन्तीति देवतान्तरभक्तस्य उक्तदोषशान्तिः फलं, त्वद्भक्तस्य तदुद्रेक इत्यहो भक्तवात्सल्यं कामदेवस्येत्युपहासः । अत्रानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारभेदः ॥ ८५ ॥

हे कामदेव ! तुमसे भिन्न (सूर्य आदि) देवताओंकी सेवा (आराधना) करनेवालेकी दृष्टिनाश (कम दीखना या अन्धापन), अकालमृत्यु और विरूपता (शरीरको वि-

कृत करनेवाले कुष्ठादि रोग) को शान्त करती है, किन्तु तुम्हारी सेवा (आराधना, पक्षांतरमें—आश्रय) करनेवालेको अत्यन्त अन्धता (देखिये श्लो० १२, या ज्ञानशून्यता), शरीर-क्षति (दुर्बलता आदि, पक्षांतरमें—अकालमृत्यु) और पाण्डुता (शरीरमें विरहजन्य पाण्डुता पक्षांतरमें—पाण्डुरोग) होते हैं । [दूसरे सूर्य आदि देवता तो अपने भक्तोंके अन्यकृत उक्त रोगोंको भी शांत कर देते हैं, किन्तु तुम अपनी सेवा करनेवालोंके अन्यकृत रोगोंको शान्त करना तो दूर रहा, उल्टे स्वयं ही इन रोगोंको उत्पन्न कर देते हो, धन्य है तुम्हारा देवत्व !] ॥ ८५ ॥

स्मर ! नृशंसतमस्त्वमतो विधिः सुमनसः कृतवान् भवदायुधम् ।
यदि धनुर्दृढमाशुगमायसं तव सृजेत् प्रलयं त्रिजगद् व्रजेत् ॥ ८६ ॥

स्मरेति । हे स्मर ! नॄन् शंसति हिनस्तीति नृशंसो घातुकः, 'शंस हिंसायाम्' इति धातोः पचाद्यच् । त्वमतिनृशंसतमः, अतो (हेतोः) विधिः स्रष्टा, सुमनसः पुष्पाणि, भवतः आयुधं कृतवान् । तव दृढं धनुरायतमयोमयम् आशुगं शरञ्च सृजेद्यदि । त्रयाणां जगतां समाहारस्त्रिजगत् (कर्तृ), प्रलयं विनाशं व्रजेत् । तव पापिष्ठतां दृष्ट्वा विदुषा परमेष्ठिना सम्यगनुष्ठितमिति भावः ॥ ८६ ॥

हे कामदेव ! तुम अत्यन्त क्रूर हो, अत एव ब्रह्माने तुम्हारे शस्त्रको फूलका बनाया । यदि उसने तुम्हारा धनुष दृढ़ तथा बाण लोहेका बनाया होता तो तीनों लोकोंका प्रलय हो जाता । [इस प्रकार ब्रह्माकी बनी-बनाई सृष्टि अनायास ही नष्ट हो जाती, अतः तुम्हारी क्रूरता को देखकर चतुर ब्रह्माजीने अपनी रची सृष्टिकी रक्षाका प्रबन्ध पहलेसे ही कर लिया] ॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरां दहतु ते जगतामपि मा दयम् ।
इति विधिस्त्वदिषून् कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृतः ॥८७॥

स्मरेति । स्मररिपोस्त्वदरेर्हरस्य रोपशिखी बाणाग्निः 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । पुरां त्रयाणामिव ते तव रोपशिखी जगतां त्रयं मा दहत्विति मत्वेति शेषः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । विधिः स्रष्टा, अनिर्वृतःस्त्वां कुसुमेषुं कृत्वाप्यपरितुष्टः सन्, त्वदिषून् कुसुमानि मधुभिर्मकरन्दैः, अन्तरसिञ्चत् अग्निशान्त्यर्थमौक्षत् किमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा पापिष्ठस्य ते को वारयितेति भावः ॥ ८७ ॥

जैसे काम-रिपु महादेवजीने त्रिपुर (त्रिपुरासुर, पक्षांतरमें—तीन नगर) को जलाया था, वैसे ही तुम्हारे बाणोंकी अग्नि तीनों लोकोंको न जलावे, इस कारण चिन्तित ब्रह्माने तुम्हारे बाणभूत पुष्पोंको भीतरमें मधु (पुष्परस अर्थात् पुष्पपराग) से सिक्त (आर्द्र) कर दिया क्या ? [रससे सिक्त होनेसे आर्द्र पदार्थकी दाहक शक्ति कम हो जाती है, जैसे गीले इन्धन आदि की । पहले महादेवजीने तीन नगरों (पक्षा०—त्रिपुरासुर) को जला दिया अतः यह दुष्ट कामदेव कहीं तीनों लोकों को न जला दे, इससे ब्रह्माने पहले तो उसके धनुष तथा

बाणको ही कोमल पुष्पोंका बनाया और इतना करनेपर भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, अतः उन्हें (कामके बाणभूत पुष्पोंको) भीतरमें पुष्परस (पक्षा०—जल) से भिगो दिया। भीतरमें भिगायी वस्तुमें ऊपर-ऊपर से भिगायी वस्तुकी अपेक्षा दाहक शक्तिका बहुत ही कम हो जाना लोकानुभवसिद्ध है]॥ ८७॥

विधिरनङ्गमभेद्यमवेक्ष्य ते जनमनः खलु लक्ष्यमकल्पयत् ।
अपि न वज्रमदास्यत चेत्तदा त्वदिषुभिर्व्यदलिष्यदसावपि ॥ ८८ ॥

विधिरिति । विधिर्ब्रह्मा अनङ्गमनवयवम् । 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इत्यमरः । अत एवाभेद्यमवेक्ष्य, निरवयवद्रव्यत्वाद्विनाश्यं निश्चित्य, जनमनः, ते तव, लक्ष्यम् कल्पयदित्युत्प्रेक्षा । सावयवलक्ष्यदानपक्षे स विधिर्वज्रमदास्यत् चेद्दद्याद्यदि, तदा त्वादिषुभिरसौ वज्रोऽपि व्यदलिष्यद्विशीर्णो भवेत् । अतो युक्तकारी स्रष्टेति भावः ॥

ब्रह्माने अखण्ड (परमाणुरूप होनेसे फिर खण्डित नहीं होनेवाले अतएव) अभेद्य, मनुष्यके मनको देखकर (उसे ही) तुम्हारा लक्ष्य कल्पित किया । यदि वह ब्रह्मा वज्रको भी (तुम्हारा लक्ष्य बनानेके लिये) देता तो वह (अत्यन्त कठिन वज्र) भी चूर्ण हो जाता । [जीवके मनका प्रमाण परमाणुके बराबर बतलाया गया है, उसका कोई खण्ड न हो सकनेसे वह अभेद्य—नहीं तोड़ने योग्य, माना गया है । ब्रह्माने बहुत विचारकर तुम्हारे लक्ष्यका निर्णय किया है, अन्यथा तुम ऐसे महाक्रूर हो कि दूसरा कठिनसे कठिन भी कोई बड़े आकारका पदार्थ लक्ष्य रहता तो उसे भी चकनाचूर कर देते]॥ ८८॥

अपि विधिः कुसुमानि तवाशुगान् स्मर ! विधाय न निर्वृतिमाप्तवान् ।
अदित पञ्च हि ते स नियम्य ताम् तदपि तैर्बत् जर्जरित जगत् ॥ ८९ ॥

अपीति । हे स्मर ! विधिः कुसुमान्येव तवाशुगान्विधायापि, निर्वृतिं कृतकृत्योऽस्मीति परितोषं नाप्तवानित्युत्प्रेक्षा । कुतः, हि यस्मात् सोऽनिर्वृतो विधिस्तान् कुसुमान्याशुगानपि, नियम्य इयन्त एवेति नियमं कृत्वा । ते तव, पञ्चैवादित दत्तवान् तदपि तथापि तैः पञ्चभिरेव जगत् जर्जरितं जर्जरीकृतम् । बतेति खेदे । विश्वनियन्ताप्येवं विफलयत्नः, कोऽन्योऽस्ति नियन्तेति भावः ॥ ८९ ॥

हे स्मर ! ब्रह्मा तुम्हारे बाणोंको पुष्पमय बनाकर भी निश्चिन्त नहीं हुए, अतएव उन्होंने नियमितकर केवल पांच ही बाण दिये, किन्तु खेद है कि उन (रससे अन्तःसिक्त पुष्पमय पांच बाणों) से ही संसार जर्जरित हो रहा है । [तुम इतने क्रूर हो कि ब्रह्माके इतने (श्लो० ८६–८९) प्रयत्नको भी असफल कर रहे हो, हा खेद !]॥ ८९॥

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वणः सुमनसः कति पञ्च सुरद्रुमाः ? ।
तव तु हीनतया पृथगेकिकां धिगियतापि न तेऽङ्गविदारणम् ॥९०॥

उपहरन्तीति । स्मर ! पञ्च सुरद्रुमाः मन्दरादयः कस्य सुपर्वणः कति सुमनसः कियन्ति कुसुमानि, नोपहरन्ति नोपायनीकुर्वन्ति ? सर्वस्याप्यमितमुपहरन्ती-

त्यर्थः। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। तव तु हीनतया नीचतया पृथक् प्रत्येकमेकिकामेकाकिनीमेकैकां सुमनोव्यक्तिमुपहरन्तीत्यर्थः। अत एव पञ्चबाणत्वं तवेति भावः। एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कनूप्रत्यये पूर्वस्येकारः। 'इयता एतावदवमानेनापि ते तवाङ्गविदारणं शरीरविपत्तिर्नास्ति। धिक्। अवमतस्य जीवनान्मरणमेव वरमिति भावः॥ ९० ॥

(मन्दार आदि स्वर्गीय) पांच देववृक्ष किस देवताको कितने पुष्प उपहार (भेंट) नहीं देते ? अर्थात् सब देवताओंको असंख्य पुष्प वे भेंट करते हैं, किन्तु हीनता (अनङ्गभाव, पक्षा०–नीच) होनेके कारण वे तुमको पृथक् पृथक् केवल एक-एक ही पुष्प उपहार देते हैं। इतने (बड़े अपमान) से भी तुम्हारा अङ्ग (हृदय या शरीर विदीर्ण नहीं हो जाता, (अथवा–अनङ्ग अर्थात् जो अङ्गरहित है, उसका अङ्ग विदीर्ण कहाँसे होगा ? अतः 'अङ्ग' शब्दको सम्बोधन 'हे अङ्ग ! हृदयस्थ होनेसे निकटतम मित्र !) तुम्हारा विदारण अर्थात् विध्वंस या विदारण=चूर-चूर होना नहीं हो जाता ! ऐसे निर्लज्ज तुमको धिक्कार है। 'अङ्गविधारणम्' पाठमें—शरीरधारण करना तुम्हें धिक्कार नहीं है ? अर्थात् अवश्य धिक्कार है) ॥ ९० ॥

कुसुममप्यतिदुर्नयकारि ते किमु वितीर्य धनुर्विधिरग्रहीत्।
किमकृतैष यदेकतदास्पदे द्वयमभूदधुनापि नलभ्रुवोः ॥ ९१ ॥

कुसुममिति। विधिः कुसुममपि दुर्बलमपीत्यर्थः। अतिदुर्नयकारि अनर्थकारकं धनुस्ते तव वितीर्य दत्त्वा, अग्रहीत् किमु पुनर्जहार किमित्युत्प्रेक्षा। पापीयसे दत्तं हन्तव्यमेवेति भावः। किंत्वेष विधिः, किमकृतम् अकार्यमेव कृतवानित्यर्थः। कुतः, यद्यस्मादेकस्य तस्य धनुष आस्पदे स्थाने, अधुना नलभ्रुवोर्द्वयमभूद्धि। तेनैव धनुषा नलभ्रुवौ द्वे निर्मितवता तेन कण्टकमुद्धृत्य शल्यमारोपितं यदेकासहिष्णोर्द्वयमसह्यं सम्पादितमिति भावः॥ ९१ ॥

ब्रह्माने पुष्पमय होनेपर भी अत्यन्त दुर्नीति (अबलाविपीडन आदि) करनेवाले तुम्हारे धनुषको देकर (फिर वापस) ले लिया क्या ?, (किन्तु) इस (ब्रह्मा) ने तुम्हारा क्या (अपकार, अथवा–हम विरहिणियोंका उपकार) किया ? अर्थात् कुछ नहीं; क्योंकि इस समय तुम्हारे उस एक धनुषके स्थानपर नलका भ्रूरूप दो धनुष हो गये। [परोपकारकी भावनासे किया हुआ ब्रह्माका कार्य संसारके अभाग्यसे प्रतिकूल हो गया, हा खेद !] ॥ ९१ ॥

षडृतवः कृपया स्वकमेककं कुसुममक्रमनन्दितनन्दनाः।
ददति षड् भवते कुरुते भवान् धनुरिवैकमिषूनिव पञ्च तैः ॥ ९२ ॥

षडिति। अक्रमेण यौगपद्येन, नन्दितनन्दनाः प्रकाशितसुरोद्यानाः, युगपन्निजकुसुमदानसमर्था इत्यर्थः। षडृतवो वसन्तादयः, कृपया, न तु प्रीत्येति भावः। स्वकं स्वसम्बन्धिनम्(नि)एककमेकैकमेव असहाये कन्प्रत्ययः। कुसुमं ददाना इति शेषः। तथा चोक्तरीत्या, प्रत्येकमेकैकदानान्मिलित्वा, षड्, भवते तुभ्यं ददाति। तैः

षड्भिः कुसुमैरेकं धनुरिव, एकेनेति शेषः। पञ्चेषूनिव, पञ्चभिरिति शेषः। भवान् कुरुते। अहो! अवमानेऽपि निर्लज्जस्य ते परहिंसाव्यसनमिति भावः ॥ ९२॥

एक साथ नन्दन (स्वर्गके उपवन को समृद्धिशाली बनानेवाले हेमन्त आदि छः ऋतु कृपासे (तुम्हारे गौरवके कारण, आदर या प्रेमसे नहीं) अपने-अपने एक-एक पुष्पको तुम्हें देते हैं, उससे तुम विभाग करके एक पुष्पसे धनुष और शेष पाँच पुष्पोंसे पाँच बाणोंको समान बनाते हो। [नन्दन वनमें सब ऋतुएँ पर्याय-क्रमका त्यागकर एक-साथ उसे फूल आदिसे हरा-भरा बनाते हुए सब देवताओंको आदरपूर्वक असंख्य पुष्प देती हैं, किन्तु तुम्हारा कोई गौरव न मानकर कृपाकर केवल १-१ पुष्प देती हैं, इन्हें भी तुम अपने उपभोगमें न लाकर व्याधके समान दूसरोंको पीडित करनेके लिये एक पुष्पसे धनुष तथा शेष पांच पुष्पोंसे बाण बनाते हो, अतः तुम बहुत बड़े नीच हो। अथवा-जिस प्रकार लोग भिक्षुकके ऊपर कृपाकर उसे एक-एक पदार्थ अलग अलग देते हैं और वह भिक्षुक उन्हें विभक्तकर एकत्रितकर अपनी आवश्यकताके अनुसार इतनेसे अमुक कार्य करूँगा और इतनेसे अमुक कार्य, इत्यादि मनोरथ करता है, वैसे ही ऋतुओंके दिये गये कुल केवल ६ पुष्पोंमें से विभागकर तुम काम चलाते हो; अतएव देवता होकर अपमानित होते हुए भी तुम्हारी वृत्ति व्याध या भिक्षुकके समान अत्यन्त निन्दनीय है]॥ ९२ ॥

यदतनुस्त्वमिदं जगते हितं क स मुनिस्तव यः सहते क्षतीः।
विशिखमाश्रवणं परिपूर्य चेदविचलद्भुजमुज्झितुमीशिषे ॥ ९३ ॥

यदिति। हे मार! त्वमतनुरशरीरीति यत्तदिदमतनुत्वं जगते हितं 'हितयोगे च' इति चतुर्थी वक्तव्या। तथा हि, विशिखं बाणमविचलद्भुजमकम्पहस्तं यथा तथा आश्रवणं परिपूर्याकर्णमाकृष्य उज्झितुं भोक्तुमीशिषे शक्नोषि चेद्यस्तव क्षतीः प्रहारान् सहते, स मुनिः क, न क्वापीत्यर्थः। अनङ्गत्वेऽप्येवं जगद्द्रोहिणस्तव धानुष्कान्तरवत् कायव्यापारे जगति जितेन्द्रियकथैवास्तमियादित्यनङ्गत्वमेव जगद्धितमित्यर्थः ॥ ९३ ॥

जो तुम अनङ्ग (शरीररति) हो, यह संसारके लिए हितकारक है। (अन्यथा शरीरयुक्त होकर) यदि तुम कानतक बाणोंको खींचकर तथा हाथ को स्थिर रखते हुए बाण छोड़ना चाहते तो वह मुनि कहाँ है? जो तुम्हारे बाणप्रहारको सह लेता ? [यदि तुम सशरीर होते तो संसार में कोई मुनि भी तुम्हारे बाणप्रहारको सहन नहीं कर सकता, तब हमलोगों की कौन गणना है ? अतः महादेवजीने तुम्हें जलाकर संसारका बड़ा उपकार किया है]॥ ९३ ॥

सह तया स्मर! भस्म झडित्यभूः[1] पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः।
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चमः ॥ ९४ ॥

सहेति। हे स्मर! पशुपतिप्रतियामिषुमग्रहीस्तया सह झडिति सहसा भस्मी-

1. 'झटित्यभूः' इति पाठान्तरम्।

ःभू । अधुना वितनोरनङ्गस्य तव पिकस्वरः कोकिलालाप एव, सः दग्धः पञ्चमः, पञ्चसङ्ख्यापूरणः शरोऽभूत् । ध्रुवम् । अत एव, 'पिकः कूजति पञ्चम'मित्यादौ पिकस्वरे पञ्चमसंज्ञाप्रवृत्तिश्चेति भावः । 'पञ्चमो रागभेदे स्यात्त पञ्चानामपि पूरण' इति विश्वः । शरकार्यकारित्वात् पिकस्वरस्य शरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

हे स्मर ! शिवजीके प्रति तुमने जिस बाणको (मारनेके लिए) ग्रहण किया, वह तुम्हारे साथमें ही 'धक्' से (पाठान्तरमें—शीघ्र) भस्म हो गया । शरीरहीन तुम्हारा वही पाँचवाँ बाण इस समय निश्चय ही कोयलका शब्द हो गया है । [कोयलका शब्द भी विरही लोगोंके लिये सन्तापकारक होता है । कोयल पञ्चम स्वरसे बोलता है यह सर्वसम्मत सिद्धांत है] ॥ ९४ ॥

स्मर ! समं दुरितैरफलीकृतो भगवतोऽपि भवद्दहनश्रमः ।
सुरहिताय हुतात्मतनुः पुनर्ननु जनुर्दिवि तत्क्षणमापिथ ॥ ९५ ॥

स्मरेति । हे स्मर ! भगवतो हरस्यापि, दुरितैः समं भवत्पापैः सह भगवद्दृष्टिपातस्य पापहरत्वादिति भावः । भवद्दहनश्रमोऽफलीकृतो निष्फलीकृतः, सुरहिताय हुतात्मतनुर्हरकोपानले त्यक्तस्वदेहः सन् , तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । दिवि द्युलोके, पुनर्जनुः पुनरुत्पत्तिमापिथ ननु प्राप्नोषि खलु । सुरप्रार्थिर्थितात्तस्मादेवेति शेषः । तच्चास्मत्पापफलमिति भावः ॥ ९५ ॥

हे स्मर ! हमारे पापोंने भगवान् शङ्करजीके तुम्हें जलानेके परिश्रमको भी निष्फल कर दिया क्या ? (अथवा—निष्फल कर दिया); क्योंकि देवताओंके उपकारके लिये (शिव-नेत्र-अग्नि में) अपने शरीरको हवन करने (जलाने) वाले तुमने तत्काल ही स्वर्गमें जन्म पा लिया । [अन्य भी व्यक्ति परोपकारके लिये अपना शरीर त्यागकर (मरकर) तत्काल स्वर्गमें देवता बन जाता है । तुम एकमात्र देवकार्यसाधनरूप परोपकार के लिये अग्निमें जलकर मरनेपर भी तत्काल देव बन गये हो, अन्यथा तुम-जैसे पापी एवं अग्निमें जलकर अकाल मृत्युसे मरनेवाले व्यक्तिको स्वर्गप्राप्ति कदापि उचित नहीं है । 'तारकासुर पीडित देवताओंकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर ब्रह्माने पार्वतीगर्भज शिवपुत्रको सेनापति बनाकर युद्ध करनेसे देवताओंका दुःख दूर होनेका उपाय बतलाया । तदनुसार इन्द्रके आदेशसे कामदेव हिमालयपर तपस्या करते हुए शिवजीको उनकी सेवामें लगी हुई पार्वतीपर आकृष्ट करनेके लिये गया, किन्तु उक्त देवकार्य सिद्ध होनेके पहले ही शिवजीका कोपभाजन बनकर जल गया, यह पौराणिक कथा है ।] ॥ ९५ ॥

विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक्पवनः स न दक्षिणः ।
सुमनसो नमयन्नटनो धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः ॥ ९६ ॥

विरहिण इति । हे शूर ! तवासौ बाहुर्यदि विधूदये चन्द्रोदये सहायलाभे सती-

त्यर्थः सुमनसः पुष्पं नाम धनुः, अटनौ कोटौ। 'कोटिरस्याटनिर्गोधा' इत्यमरः। नमयन् दक्षिणो विरहिजनप्रहारदक्षः स्यात्, प्रहर्तुं प्रवृत्तश्चेदित्यर्थः। 'सव्येतरश्च' इति ध्वनिः। तदा विमुखस्य विह्वलमुखस्य चन्द्रोदयपराङ्मुखस्य विरहिणो वियोगिजनस्य स दक्षिणत्वेन प्रसिद्धः शमनदिक्पवनो याम्यदिङ्मारुतः, दक्षिणो दाक्षिण्यवान् सव्येतरश्च न। किन्तु सोऽपि त्वत्सहकारित्वान्निर्दयप्रहर्तैवेत्यर्थः अतः सर्वानर्थमूलत्वात् त्वमेव पापिष्ठ इत्यर्थः। प्रत्यङ्मुखस्य दक्षिणोऽपि वाम इति ध्वनिः। शमनदिक्पवनोऽपि न दक्षिण इति स्फुरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ ९६॥

चन्द्रमाके उदय होनेपर पराङ्मुख (संतापकारक चन्द्रमाको नहीं देखनेके लिये पश्चिमाभिमुख) हुए विरहीके लिए यम-दिशा (दक्षिण दिशा) की मलय-वायु दक्षिण (अनुकूल, पक्षांतरमें—दहिने भागमें) नहीं होगी अर्थात् वाम (प्रतिकूल, पक्षा०—बायें) भागमें पड़ेगी, यदि उसे दक्षिण होनेका ही अभिमान है तो पुष्पमय धनुषकी कोटिपर प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोरी) को चढ़ाते हुए तुम्हारा बाहु तो दक्षिण (अनुकूल, पक्षा०—दहने भागमें) होगा, अर्थात् विरुद्ध लक्षणासे जिस प्रकार तुम्हारा बाहु प्रतिकूल होगा उसी प्रकार मलयवायु भी प्रतिकूल होगी। (अथवा—तुम जिस प्रकार पुष्पमय धनुषपर प्रत्याञ्चाको चढ़ानेके लिये उसे (पुष्पमय धनुषको) झुकाते हो, उसी प्रकार मलयवायु भी पहले पुष्पोंके अग्रभागको झुका देता है। अथवा—शमन अर्थात् सबको मारनेवाले यमराजकी दिशावाला मलयवायु भी मारनेवाला हो होनेसे दक्षिण अर्थात् अनुकूल न होकर वाम अर्थात् वक्र या प्रतिकूल ही होगा। अथवा—वह मलय वायु (रूपी योद्धा) युद्धसे पराङ्मुख होनेवालेपर प्रहार करनेसे दक्षिण अर्थात् धर्मानुकूल युद्ध करनेवाला चतुर योद्धा नही होगा)। [चन्द्र पूर्व दिशामें उदित होकर विरही जनको जब संताप देने लगेगा, तब उसको न देखनेके लिये विरही व्यक्ति पश्चिमाभिमुख हो जायगा, अत एव पश्चिमाभिमुख उस व्यक्तिके लिये दक्षिण दिशाकी ओर बहनेवाला मलयवायु दहनी ओर नहीं पड़ेगा, अपितु बाँयीं ओर पड़ेगा। आशय यह है कि—कामजन्य तथा चन्द्रोदयजन्य बिरहपीडा तो किसी प्रकार सह्य हो भी सकती है, परन्तु मलयानिलजन्य विरहपीडा किसी प्रकार भी नहीं सही जाती]॥

किमु भवन्तमुमापतिरेककं मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम्।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित्॥ ९७॥

किमिति। हे मदन! उमापतिः मदश्च मुच्च द्वन्द्वैकवद्भावः। तेन मदमुदाभ्यां मदानन्दाभ्याम् अन्धयति व्यामोहयति कामिजनमित्यन्धम् अन्धकम्। 'अन्धदृष्टप्रतीघाते' इति धातोश्चौरादिकात् पचाद्यच्। अयोगिजनान्तकं वियोगिजनमृत्युम्, एककमेकाकिनं, भवन्तमेव अजयदिति। तत एव स भगवान् उमापतिः। मदनान्धकमृत्युजित् मदनजिदन्धकजिन्मृत्युजिदिति गीयते किमु गीयत एवेत्यर्थः। मदनवदन्धकमृत्यू अपि त्वत्तोऽन्यौ न स्त इति भावः। अत्र मदनादीनां मिथो भेदेऽप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ९७॥

उमापतिने मदके नशेमें अन्धे तथा विरहीलोगोंके अन्त करनेवाले (यमराजतुल्य) अकेले तुमको जो जीत लिया, इसी कारणसे 'मदनजित्' अन्धकजित् तथा अन्तकजित् (मृत्युञ्जय) कहा जाता है क्या ? । [शङ्करजीने मदन अर्थात् कामदेव, अन्धकासुर तथा अन्तक अर्थात् मृत्युको जीत लिया है, अत एव उनके तीनों नाम प्रसिद्ध हुए हैं । इस पद्यमें कामदेवमें ही 'मदनत्व, अन्धकत्व' तथा अन्तकत्व' ये तीन गुण हैं, अतः एक तुम्हीं को जीतकर शङ्करजीने उक्त तीनों नाम प्राप्त किये हैं ऐसी उत्प्रेक्षात्मक कल्पना की गयी है । अन्य कोई योद्धा जिस व्यक्तिको जीतता है, वह केवल उसी एकका विजेता कहा जाता है, पर शिवजी केवल एकमात्र तुम्हें जीतकर तीनका विजेता कहलाये यह आश्चर्य है] ॥ ९७ ॥

त्वमिव कोऽपि परापकृतौ कृती न ददृशे न च मन्मथ ! शुश्रुवे ।
स्वमदहद्दहनाज्ज्वलतात्मना ज्वलयितुं परिरभ्य जगन्ति यः ॥ ९८ ॥

त्वमिति । हे मन्मथ ! त्वमिव परापकृतौ परापकारे कृती कुशलः कोऽपि न ददृशे न दृष्टः, न शुश्रुवे न च श्रुतः, यः अपकर्ता दहनादग्निसंयोगात् , ज्वलता प्रज्वलता आत्मना स्वाङ्गेन जगन्ति परिरभ्याश्लिष्य ज्वलयितुं दग्धुं, स्वमात्मानमदहत् परिरभ्य परगात्रदूषणाय स्वगात्रे पङ्कलेपवत् , परदाहव्यसनादेवात्मदाहाङ्गीकारस्तवेत्यहो दुर्व्यसनमिति भावः ॥ ९८ ॥

हे मन्मथ ! (विरहियोंके मनको मथन करनेवाले कामदेव !) दूसरेका अपकार करनेमें तुम्हारे समान कोई भी न देखा गया और न सुना गया । जो अपकारी अपने जलते हुये स्वरूपके साथ (तीनों) लोकोंका आलिङ्गनकर जलानेके लिये अपनेको (शिवजीके नेत्रकी) अग्निमें जला डाला । [कोई भी व्यक्ति किसीको पीड़ा देते समय अपनी रक्षा करता है, किन्तु तुमने तो संसारको पीड़ा देनेके लिये अपनी भी रक्षा नहीं की, अत एव तुम महान् दुष्ट हो] ॥ ९८ ॥

त्वमुचित नयनार्चिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः ।
तव वयस्यमपास्य मधुं मधुं हतवता हरिणा वत किं कृतम् ? ॥ ९९ ॥

त्वमिति । हे वीर! शम्भुना नयनार्चिषिनेत्राग्निशिखायां त्वं भुवनानां शान्तिके शान्तिप्रयोजके । 'प्रयोजनम्' इति ठक् । होमहविराहुतिः उचितं वध्यस्य वधादिति भावः । तव वयस्यं सखायं, मधुं वसन्तम् अपास्योपेक्ष्य मधुं मध्वाख्यं, दैत्यं हतवता हरिणा किं कृतम् ? वतेति खेदे । वध्यवधाद्धरः साधुकारी । हरिस्तदुपेक्षणादसाधुकारीत्यर्थः । समित्रः स्मरो वध्य इति भावः ॥ ९९ ॥

शम्भु (मगङ्गलके उत्पन्न करनेवाले शिवजी) ने नेत्राग्निज्वालामें तुमको ठीक ही संसारकी शान्तिरूपी हवनका हविष्य (हवन करनेके योग्य आहुति) बना लिया (अथवा— शम्भुने जो नेत्राग्नि……हविष्य बनाया) यह उचित कार्य किया; किन्तु खेद है कि विष्णुने…

तुम्हारे मित्र मधु अर्थात् वसन्त ऋतुको छोड़कर 'मधु' नामक दैत्यको मारकर क्या किया ? अर्थात् कुछ नहीं। (अथवा-अच्छा नहीं किया जो वसन्तको छोड़कर मधुदैत्यको ही मारा)। [जिस शिवजीका अवतार संसारका संहार करनेके लिये माना जाता है, उन्होंने तो मदनको जलाकर संसारका पालन किया, किन्तु जिस विष्णु भगवान्का अवतार संसारकी रक्षा करनेके लिये माना जाता है, उन्होंने मदन-मित्र वसन्तको छोड़कर 'मधु' दैत्यको मारकर कुछ नहीं किया। मधु दैत्यसे भी संसार बहुत पीड़ित था, अतः उसे मारकर भी यद्यपि विष्णु भगवान्ने संसारका उपकार ही किया है, किन्तु यह मदन-मित्र वसन्त उस (मधुदैत्य) से भी अधिक संसारको सता रहा है, अतः पहले उसे ही मारना आवश्यक था] ॥ ९९ ॥

इति कियद्वचसैव भृशं प्रियाधरपिपासु तदाननमाशु तत् ।
अजनि पांसुलमप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेरिव ॥ १०० ॥

इतीति। प्रियस्य नलस्याधरमोष्ठं पिपासु पातुमिच्छु 'मधुपिपासुप्रभृतीनां गम्यादिपाठात् समास' इति वामनः। तत् प्रसिद्धम्, तस्या भैम्या आननम्, इतीत्थं, कियद्वचसैव, अप्रियवाग्भिर्निष्ठुरोक्तिभिः, ज्वलतः क्रुध्यतो मदनस्य यः शोषणबाणः तस्य हतेः प्रहारादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। आशु भृशं, पांसुलं पांसुमद् अजनि जातम्।

प्रिय नलके अधर (रस) को पीनेकी इच्छा करनेवाला वह प्रसिद्ध सुकोमल सर्वसुन्दर तथा सरस (या विरहपाण्डुर एवं क्षीण) उस दमयंतीका मुख इन कुछ (चन्द्रमा, कामदेव, वसन्त तथा मलवायुके प्रति) उपालम्भरूपमें (श्लो० ४४-९९) कहे गये थोड़े ही वचनसे मानो अप्रिय कहनेसे (क्रोधकर) जलते हुए कामदेवके शोषण बाणके प्रहारके कारण अत्यन्त सूख गया (पक्षांतरमें—धूलियुक्त हो गया)। [अन्य किसी प्यासे व्यक्तिका भी मुख थोड़ा बोलनेसे भी सूख जाता है, और वह अधिक बोलनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाता है। इस पद्यमें दमयंतीकृत आत्मनिन्दा सुनकर कामदेवके द्वारा छोड़े गये शोषण बाण-प्रहारको दमयंतीके मुखके सूखनेमें हेतु कहा गया है। और पहलेसे ही क्षीण (थोड़े जलवाले) तडाग आदिमें शोषणकारक तीव्र सन्तापसे धूल उड़ने लगती है। लोकमें भी 'बहुत देरसे प्यास लगनेके कारण मेरे मुखमें धूल उड़ रही है, मैं अधिक बोल नहीं सकता' ऐसा कहते हैं। विरह-क्षीण दमयन्ती इतना कहनेके बाद अधिक बोलनेमें असमर्थ हो गयी] ॥ १०० ॥

प्रियसखीनिवहेन सहाथ सा व्यरचयद्गिरमर्धसमस्यया ।
हृदयमर्मणि मन्मथसायकैः क्षततमा बहु भाषितुमक्षमा ॥ १०१ ॥

प्रियसखीति। अथ सा दमयन्ती, मन्मथसायकैः हृदयमर्मणि क्षततमा गाढं प्रहृता। अत एव बहु भाषितुं प्रपञ्चय वक्तुमक्षमा सती, प्रियसखीनिवहेन सह आप्तसखीसङ्घेन सार्धम्, अर्द्धरूपया समस्यया संग्रहकारिकया। 'समस्या तु

समासार्था' इत्यमरः। 'संज्ञायां समजनिषदे'त्यत्र संपूर्वादस्यतेर्बाहुलकः क्यङ् इति चीरस्वामी'। गिरं व्यरचयत्। पूर्वार्धं सखीजनसमस्या, तदुत्तरत्वेनोत्तरार्धं स्वयमरचयदित्यर्थः॥ १०१॥

इसके बाद हृदयरूप मर्मस्थलमें मन्मथ (मनको मथन करनेवाले कामदेव) के बाणोंसे अतिशय घायल होकर बोलनेमें असमर्थ वह दमयन्ती प्रिय (अतएव दमयन्तीके मनोगत भावको समझनेवाली) सखी-गणके साथ आधी समस्यासे बोलने लगी (आधी बात सखी-गणके कहनेपर शेष आधी बात को दमयन्ती पूरा करने लगी)। [जो विषय या श्लोकादिका अंश अपूर्ण रहता है; उसको अन्य व्यक्ति पूरा करता है और स्वयं अधिक बोलनेमें अशक्त होनेपर अपने वक्तव्य विषयको वह असमर्थ व्यक्ति समास अर्थात् संक्षेप करता है]॥ १०१॥

अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयाऽऽपदि धीरतयाऽऽत्मनः।
असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन् सखि! रक्षितुमात्थ माम्॥१०२॥

अकरुणादिति। हे भैमि! आपदि सहजया धीरतया धैर्येण। 'विपदि धैर्यमि'ति नीतेरिति भावः। अकरुणान्निर्दयाद् सूनशरात् कुसुमेषोः, आत्मनः स्वस्यासून् प्राणान् अव रक्ष। अथेदानीमसव एव मम विरोधिनः शत्रवः। तन्मूलत्वात् दुःखसंवेदनस्येति भावः। हे सखि! मां कथमरीन् रक्षितुमात्थ ब्रवीषि? 'ब्रुवः पञ्चानाम्' इति साधुः। सम्प्रति मे प्राणरक्षणमाशीविषपोषणं पयोभिरिति भावः॥ १०२॥

(अब यहाँसे आरम्भकर श्लो० १०९ तक प्रथम वाक्य दमयंतीके सखियोंका तथा अन्तिम वाक्य उत्तररूपमें कहा गया दमयंतीका समझना चाहिये)

सखी कहती है कि—हे सखि दमयन्ती! निर्दय पुष्पबाण (कामदेव) के बाणोंसे अपने प्राणोंको आपत्तिमें अपनी स्वाभाविक धीरताके द्वारा बचाओ।

दमयंती कहती है कि—हे सखि! आज मेरे प्राण ही विरोधी हैं, (अतः तुम) शत्रुओंको बचानेके लिये मुझसे क्यों कह रही हो?

[कोई तटस्थ व्यक्ति भी शत्रुओं को बचाने के लिये नहीं कहता, तब तुम प्रिय सखी होकर ऐसा क्यों कह रही हो? यदि मेरे प्राण नहीं रहते अर्थात् मैं मर जाती तो मुझे इतनी व्यथा नहीं सहनी पड़ती, अत एव शत्रुरूप इन प्राणोंको बचानेका परामर्श देना तुम्हारी-जैसी प्रिय सखीको उचित नहीं जँचता]॥ १०२॥

---

१. 'क्यप् इत्युचितम् तेन क्यङोऽविधानात्। अमर (नामलिङ्गानुशासन) स्य 'समस्या' शब्दव्याख्याने च 'अपूर्णत्वाद्विक्षिप्तं (विवक्षितं) समस्यते संक्षिप्यतेऽनया समस्या, 'संज्ञायां समजे'ति बाहुलकात् क्यप्, 'ऋहलोर्ण्यत्' वा, संज्ञापूर्वकत्वाद् वृद्ध्यभावः। 'समास्यचि 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः' सुगागम इत्येके, ततः अ प्रत्ययात्। यथा—'दामोदरकराघातविह्वलीकृतचेतसा। दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम्॥' इति क्षी० स्वा० व्याख्या दृश्यते।

हितगिरं न शृणोषि किमाश्रवे ! प्रसभमप्यव जीवितमात्मनः ।
सखि ! हिता यदि मे भवसीदृशी मदरिमिच्छसि या मम जीवितम् ॥१०३॥

हितगिरमिति । आशृणोति वाक्यमिति आश्रवा । पचाद्यच् । हे आश्रवे ! वाक्यकारिणि ! 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमरः । प्रसभं बलादप्यात्मनो जीवितं प्राणमव रक्ष । 'एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि' इति न्यायादिति भावः । हितगिरमाप्तवाक्यं किं न शृणोषि ? । हे सखि ! या त्वं मदरिं मम जीवितमिच्छस्यपेक्षसे । इदृशीत्थं शत्रुवृद्धिमीहमानापि, मे हिता भवसि यदि । न तु भवसि । अतो न शृणोमीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

सखी—सर्वदा मेरी बातको सुनने तथा माननेवाली हे दमयन्ती ! मेरी हितकारी बात क्यों नहीं सुनती ? बलपूर्वक (कष्ट सहकर) भी अपने जीवनकी रक्षा करो ।

दमयंती—हे सखि ! तुम मेरी ऐसी हितैषिणी होती हो, जो (तुम) मेरे शत्रुरूप जीवनको चाहती हो (अतः तुम मेरी हितैषिणी सखी नहीं हो अर्थात् सखी होकर तुम्हें ऐसा चाहना शोभा नहीं देता) ॥ १०३ ॥

अमृतदीधितिरेष विदर्भजे ! भजसि तापममुष्य किमंशुभिः ? ।
यदि भवन्ति मृताः सखि ! चन्द्रिकाः शशभृतः क तदा परितप्यते ॥

अमृतदीधितिरिति । हे विदर्भजे दमयन्ति ! एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देशः । अमृतदीधितिः सुधांशुः । अमुष्य सुधांशोरंशुभिः किमिति तापं भजसि ? अत्रामृतशब्दस्यार्थान्तराश्रयेणोत्तरमाह—यदीति । हे-सखि ! शशभृतश्चन्द्रिकाः मृताः भवन्ति यदि, तदा क परितप्यते ? न क्वापीत्यर्थः । अस्यामृतदीधितित्वादेवेदं दुःखं, मृतदीधितिश्चेत् सर्वारिष्टशान्तिः स्यादिति भावः । अत्र अमृतेति सुधाविवक्षया प्रयुक्तस्य मृतेतरार्थत्वेन योजनाद्वक्रोक्तिरलङ्कारः । 'अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काक्वा श्लेषेण वा भवेत् । अन्यथा योजनं यत्र सा वक्रोक्तिर्निगद्यते ॥' इति ॥

सखी—हे विदर्भकुमारी दमयन्ती ! यह अमृतकिरण (सुधारश्मि अर्थात् चन्द्रमा) है, इसके किरणोंसे क्यों सन्तप्त होती हो ?

दमयंती—हे सखि ! यदि शशाङ्क (चन्द्रमा) की किरणें मृत (नष्ट) हो जातीं अर्थात् नहीं रहतीं, तब कहाँ सन्ताप होता ? अर्थात् चन्द्रमाके किरणोंके अमृत (मरण-रहित= जीवित अर्थात् सर्वत्र फैली हुई) होनेसे ही सन्ताप हो रहा है, इसके अभावमें कदापि सन्ताप नहीं होता ॥ १०४ ॥

व्रज धृतिं त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति ।
ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मुरैरनुभवं वचसा सखि ! लुम्पसि ॥ १०५॥

व्रजेति । (हे मुग्धे ?), धृतिं व्रज धैर्यं भज । अहेतुकां भीतिं त्यज । अयम-

चण्डमरीचिः शीतांशुरुदयत्युदेति, न चण्डांशुरित्यर्थः। आतपैरेव मुर्मुरैस्तुषानलैः। 'मुर्मुरस्तु तुषानल' इति वैजयन्ती। स्फुटं प्रत्यक्षं यथा तथा, ज्वलयति दहति। हे सखि! अनुभवं प्रत्यक्षं वचसा आगमेन लुम्पसि बाधसे। तदुक्तं प्राबल्लवन-वाक्यवत्, प्रत्यक्षेणैवास्य बाधादित्यर्थः अत्राचण्डकरे चण्डकरभ्रान्त्या भ्रान्ति-मदलङ्कारः॥ १५५॥

सखी—धैर्य ग्रहण करो, निष्कारण भयको छोड़ो; क्योंकि यह अचण्डदीधिति (शीत-रश्मि) अर्थात् चन्द्रमा उदय हो रहा है। [चन्द्रमामें सूर्यबुद्धि करनेसे जो निष्कारण भय कर रही हो, उसे छोड़ धैर्य-धारण करो]।

दमयन्ती—हे सखि! यह धूपरूपी मुर्मुरों (कंडेके निर्धूम अंगारों) से मुझे प्रत्यक्ष ही जला रहा है, मेरे इस प्रत्यक्ष अनुभवको (शास्त्र-) वचनसे लुप्त कर रही हो?। [बातों का अपेक्षा अनुभव ही सत्य एवं प्रामाणित माना गया है। अतः मेरे प्रत्यक्ष अनु-भव से सिद्ध है कि यह चण्डरश्मि (सूर्य) ही है]॥ १०५॥

अयि! शपे हृदयाय तवव यद्यदि विधोर्न रुचेरसि गोचरः।
रुचिफलं सखि! दृश्यत एव यज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून्॥ १०६॥

यदुक्तमयमचण्डमरीचिरिति तद्विश्वासयति—अयीति। अयि (मुग्धे) भैमि! विश्वसिहीति शेषः। विधोश्चन्द्रस्य रुचेस्तेजसो गोचरो विषयो नासि यदि, त्वद-ङ्गसङ्गीदं तेजश्चान्द्रं न चेदित्यर्थः। तत्तर्हि तवैव हृदयाय शपे। त्वजीविताय द्रुह्या-मीत्यर्थः। 'श्लाघह्नुङ्' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। तर्हि, सखि! रुचिफलमेव तेजोमात्रकार्यमेव दृश्यते। न तु चन्द्रकार्यम्। मन्दाग्यविपर्ययेणाभिभवनिवृत्तेरिति भावः। कुतः, यद्यस्मात्त्वचं ज्वलयति दहति। असून् प्राणान् उल्ललयति उन्मूल-यति। सर्वं तेजः उष्णत्वाद्दाहकमेव, अभिभवात्तु विपर्यय इति पदार्थतत्त्ववादिनः॥

सखी—अयि दमयंती! मैं तुम्हारे ही हृदय की सौगन्ध खाती हूँ जो तुम चन्द्रमा की रुचि (चाँदनी) में न हो।

दमयंती—हे सखि! रुचिका फल (कार्य) तो दिखलाई ही दे रहा है कि वह (मेरे शरीरके चमड़ेको जला (सन्तप्त कर) रही है और प्राणोंको ऊपर उठा अर्थात् उबाल (व्याकुल कर) रही है।

[दमयंतीको विश्राम दिलानेके लिये उसकी सखीने दमयन्तीका हृदय छूकर शपथ किया कि तुम चाँदनीमें ही हो, इस उक्तिमें 'रुचि' शब्दका अर्थ प्रकाश लेना चाहिये। किन्तु दमयन्तीने सखीकी शपथ-पूर्वक कही गयी बातको स्वीकार करती हुई 'रुचि' शब्दका अर्थ दाहक तेज मानकर उसके सर्वथा प्रतिकूल उत्तर दिया]॥ १०६॥

विधुविरोधितिथेरभिधायिनीर्मयि! न किं पुनारिच्छसि कोकिलाम्?।
सखि! किमर्थगवेषणया? गिरं किरति सेयमनर्थमयीं मयि॥ १०७॥

विश्विति । अयि भैमि ! विधुविरोधितिथेः कुह्वाख्याया नष्टेन्दुतिथेरभिधायिनीं, तदभिधायककुहूशब्दोच्चारिणीं 'कुहू कुह्वि'ति नामग्रहं तदाह्वायिनीमित्यर्थः । कोकिलां पुनः किं नेच्छसि । मा भूरुच्चन्द्रः तद्विरोधिनीमेनां किं नेच्छसीत्यर्थः ? । हे सखि ! अर्थगवेषणया कुहूशब्दस्य नष्टचन्द्रा तिथिरर्थः इति विचारेण किम् ? तत्साध्यं किमपि नास्तीत्यर्थः । गम्यमानसाधनक्रियापेक्षयाकरणत्वात्तृतीया । कुतः, सेयं कोकिला मयि विषये गवादिशब्दवदभिधेयवती न भवतीत्यर्थमयी, रथघोषादिवदर्थशून्यत्वात् । किञ्च, अनर्थमयी अशनिघोषवदापद्रूपा च, ताम् । अनर्थशब्दान्मयट्प्रत्ययः । गिरं किरति विक्षिपति ॥ १०० ॥

सखी—चन्द्र-विरोधिनी तिथि 'कुहू' (चन्द्रकलाका दर्शन जिसमें न हो वह अमा- अमावास्या तिथि) को कहने अर्थात् बुलानेवाली कोयल को तुम क्यों नहीं चाहती ? [शत्रुभूत चन्द्रकी विरोधिनी कोयलको चाहना उचित है] ।

दमयंती—हे सखि ! अर्थके ढूँढनेसे क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं, क्योंकि यह कोयल मेरे विषय में (या पासमें) अनर्थकारी बात ('कुहू' शब्दार्थ के प्रतिकूल वाणी) कहती है । [यह कोयल सचमुच 'कुहू' को नहीं बुलाती, अपितु अनर्थ (अनिष्ट) कारक (पक्षांतरमें—प्रतिकूलार्थक वाणी बोलने से धूर्त है । कोयलाका कुहूँकना भी मुझे पीड़ित करता है] ॥ १०७ ॥

हृदय एव तवास्मि स वल्लभस्तदयि किं दमयन्ति ! विषीदसि ? ।
हृदि परं न बहिः खलु वर्तते सखि ! यतस्तत एव विपद्यते ॥ १०८ ॥

हृदय इति । हे दमयन्ति ! सः ते वल्लभः नलः तव हृदय एवास्ति वर्तते । तदपि तथापि किं विषीदसि खिद्यसे ? हे सखि ! यतो हृदि परं हृद्येव वर्तते बहिर्न वर्तते खलु । तत एव विपद्यते खिद्यते । सदेर्भावे लट् । यतः स्मर्यत एव, न तु दृश्यते, अतो मे विषाद इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

सखी—हे दमयंती ! तुम्हारा प्रिय नल हृदयमें (अत्यन्त समीपमें) ही है, तथापि क्यों विषाद करती हो ? [अत्यन्त निकटवर्ती प्रियके रहने पर उसके लिए कोई भी विषाद नहीं करता है] ।

दमयंती—क्योंकि वह प्रिय नल केवल हृदयमें है, निश्चय ही बाहर नहीं है, इसी कारण विषाद करती हूँ । [अतिशय प्रिय नलके हृदयस्थ होनेसे उनका एकमात्र स्मरण ही होता है, दर्शन नहीं और परम प्रिय के बिना दर्शन हुए स्मरणमात्र से किसी को पूर्ण हर्ष नहीं होता, यही मेरे विषाद का कारण है] ॥ १०८ ॥

स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते ।
सखि ! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः ॥१०९॥

स्फुटतीति। हे भैमि ! मदनोष्मणा कामज्वरेण, हारमणौ हृदयालङ्काररत्ने स्फुटति विदलति सति, अद्य ते तव हृदयं वक्षोऽपि अलंकृतं न भवतीत्यनलङ्कृतम् अपरिष्कृतं जातम्। अथ हृदयमन्तरङ्गमप्यनलं नलरहितं कृतमित्यर्थान्तरं मत्वोत्तरमाह—हे सखि ! स प्रियतमः मम हृद्यपि व्यवधापितो यदि दूरीकृतश्चेत्। दधातेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। 'अर्तिह्री' इत्यादिना पुगागमः। तदा हतास्मि। वक्रोक्तिरलङ्कारः। लक्षणमुक्तम् ॥ १०९ ॥

सखी—कामज्वर (कामजन्य विरह सन्ताप) से हारमणिके फूटते रहनेसे आज मैंने तुम्हारे हृदयको भी अनलङ्कृत (भूषित नहीं, पक्षांतरमें—नलरहित) किया है [पहले तुम्हारे मुख आदि तो अलङ्कारशून्य थे ही, किन्तु आज हृदयको भी अलङ्कार से युक्त नहीं किया यह 'अपि' शब्दसे ध्वनित होता है। मुक्ताका अग्नि तापमें पड़कर फूटना स्वाभाविक है]।

दमयंती—हे सखि ! यदि हृदयसे भी उस प्रियतम (नल) को व्यवहित (पृथक्) कर दिया तब तो हाय ! मैं मारी गयी। [पहले प्रियतम का दर्शन बाहरमें न होनेपर भी 'हृदयमें वे हैं, तब कभी न कभी वे अवश्य ही मिलेंगे' यह मानकर ही मैं संतोष करती थी, किन्तु आज तुमने जब हृदयसे भी उस प्रियतम नलको अलग कर दिया, अतः मैं मारी गयी]।

[पहले सखीने तो 'न+अलङ्कृत अनलङ्कृत अर्थात् 'मण्डनरहित' अर्थ मानकर 'अनलङ्कृत' शब्दको कहा, किन्तु दयमन्तीने 'अ + नलङ्कृत = अनलङ्कृत अर्थात् नलशून्य किया' यह अर्थ 'अनलङ्कृत शब्दको मानकर घबड़ाकर उक्त उत्तर दिया] ॥ १०९ ॥

इदमुदीर्य तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका।
क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि[1] दुःखिता ॥ ११० ॥

इदमिति। सः भैमी, इदं पूर्वोक्तं 'सखि ! हतास्मी'ति वाक्यम् उदीर्य उच्चार्य, तदैव मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका प्रवृद्धकामानला सती, मुमूर्च्छ मुमोह 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोरि'त्यर्थद्वयेऽपि धातोः स्मरणात्। तथाहि दुःखिता सञ्जातदुःखा, दुःखिनी सा। अनुपपत्तिमतीमनलङ्कृतमिति श्लेषशब्दश्रवणजन्यभ्रान्तिविषयत्वादनुपपन्नामपीत्यर्थः अवलम्बलवस्य हृदयसङ्गतिमात्रलक्षणस्य प्राणाधारलेशस्यापि छिदामुच्छेदकं क्व सहतां, कथं सहेतेत्यर्थः। दुःखोद्विग्नस्य भ्रान्तमभ्रान्तं वानिष्टसंवेदनमतिदुःसहमतो युक्तमस्या मूर्च्छनमिति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥

ऐसा कहकर मनमें बढ़ी हुई कामाग्निवाली वह दमयन्ती उस समय मूर्च्छित हो गई। अत्यन्त दुखिया (वह दमयन्ती) असत्य भी अर्थात् श्लेषोक्त सखी-वचनके भिन्नार्थ होनेसे हृदय-गत नलाभावरूप घटनारहित भी अवलम्ब (हृदयस्थित प्रिय कभी न कभी अवश्यमेव

1. '—मतिदुःखिता' इति पाठान्तरम्।

मिलेगा, ऐसी आशारूप सहारा) के लेश (कुछ भाग) के नाश (जब हृदयमें भी प्रिय नहीं रहा तब वह कैसे मिलेगा इस प्रकार आनेपर आशाके टूट जाने) को कैसे सहन करे ? । [अतिदु:खित व्यक्ति सत्य-असत्य, घटित-अघटित, श्लेषादिके तदर्थ या अन्यार्थक आदि बातों का विचार नहीं कर सकता, किन्तु जैसे सुनता है, उसका वैसा ही सीधा अर्थ मानकर तदनुसार निर्णय कर लेता है, अतः अतिपीडित सुकुमारी दमयन्तीको भी सखीके द्वारा कही गयी श्लेषोक्तिसे अपने हृदयको नलरहित समझकर मूर्च्छित होना उचित ही था] ॥ ११० ॥

अधित कापि मुखे सलिलं सखी प्यधित कापि सरोजदलैः स्तनौ ।
व्यधित कापि हृदि व्यजनानिलं न्यधित कापि हिमं[1] सुतनोस्तनौ ॥

अधितेति । कापि सखी सुतनोर्भैम्या मुखे सलिलम् अधित आहितवतीत्यर्थः । कापि स्तनौ सरोजदलैः प्यधित पिहितवती, 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यपेरकारलोपः । कापि हृदि व्यजनानिलं व्यधित विहितवती । तालवृन्तेन वीजयामासेत्यर्थः । कापि तनौ शरीरे हिमं चन्दनम् । 'चन्दनेऽपि हिमं विदुः' इति विश्वः । न्यधित निहितवती ॥ १११ ॥

(यह देख) किसी सखीने सुन्दर शरीरवाली दमयन्तीके मुखपर पानी (का छींटा) दिया, किसीने कमलिनीपत्रोंसे उसके स्तनोंको ढक दिया, किसी सखीने हृदयपर पंखेकी हवा की और किसी सखीने उसके शरीरपर चन्दनलेप लगाया ।। दमयन्तीको मूर्च्छित देख सब सखियाँ एक साथ ही शीतलोपचारद्वारा उसकी मूर्छा दूर करनेमें जुट गयीं] ॥ १११ ॥

उपचचार चिरं मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलादिभिः[2] ।
प्रियसखीनिवहः स तथा क्रमादियमवाप यथा लघु चेतनाम् ॥११२॥

उपचचारेति । स प्रियसखीनिवहः मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलादिभिः जलजजालैः पद्मसमूहैः, मृणालैः जलैः । आदिशब्दाद्व्यजनादिसाधनविशेषैः क्रमाच्चिरं तथोपचचार, यथेयं भैमी लघु क्षिप्रं चेतनां संज्ञामवाप ॥ ११२ ॥

उस प्रिय सखीवर्गने कोमल और ठंढे कमल (पाठभेदसे—कमलसमूह—कमलनाल), बिसलता और जल आदि (चन्दन, खश आदि) से क्रमशः बहुत समय तक ऐसा उपचार किया, जिससे यह दमयन्ती थोड़ा होशमें आ गयी । ('लघु' शब्दका भी शीघ्र अर्थ करना प्रकृतपद्यके प्रथमपादस्थ 'चिरम्' पदसे विरुद्ध होनेके कारण तथा सुकुमारी दमयन्तीको चिरकालज नल-विरहजन्य पीडा होनेसे 'शीघ्र होशमें आ गयी' ऐसा अर्थ करनेकी अपेक्षा 'कुछ (थोड़ा) होशमें आ गयी' यही अर्थ अधिक सङ्गत है, और इस अर्थके करनेसे अग्रिम दो श्लोकोंके साथ भी विरोध नहीं होता] ॥ ११२ ॥

---

१. 'विषं' इति पाठान्तरम् । २. 'नाल' इति पाठान्तरम् ।

(युग्मम्)

अथ 'कले ! कलय श्वसिति स्फुटं चलति पक्ष्म चले ! परिभावय ।
अधरकम्पनमुन्नय मेनके ! किमपि जल्पति कल्पलते ! शृणु ॥ ११३ ॥
रचय चारुमते ! स्तनयोर्वृतिं गणय केशिनि ! कैश्यमसंयतम् ।
अवगृहाण तरङ्गिणि ! नेत्रयोर्जलझराविति शुश्रुविरे गिरः ॥ ११४ ॥

अथ भैम्याः कलादयः सप्त सख्यस्तासां तद्दशापरीक्षाव्यग्राणां मिथः कलकलं श्लोकद्वयेनाह—अथेति । अथानन्तरम्, इति गिरः शुश्रुविर इति सम्बन्धः । ता एवाह—हे कले ! स्फुटं व्यक्तं, श्वसिति प्राणिति, कलय आकलय । हे चले ! पक्ष्म-नेत्रलोम, चलति चक्षुरुन्मिषतीत्यर्थः । परिभावय परामृश । हे मेनके ! अधरकम्पनमोष्ठचलनमुन्नय तर्कय । हे कल्पलते ! किमपि जल्पति, शृणु ॥ ११३ ॥

रचयेति । हे चारुमते । स्तनयोर्वृतिमावरणं रचय । हे केशिनि ! असंयतं विस्नस्तं कैश्यं केशसमूहं, 'केशाश्वाभ्यां यञ् छावन्यतरस्याम्' इति यञ्प्रत्ययः । गणय चिन्तय । बधानेत्यर्थः । हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोर्जलझरावश्रुप्रवाहौ, अवगृहाण बधान । इति गिरः शुश्रुविरे श्रुताः ॥ ११३ ॥

इसके (कुछ होशमें आनेके) बाद 'हे कला ! देखो साफ-साफ श्वास ले रही है, हे चला ! इसके पलक चल रहे हैं, यह तुम विचार करो; हे मेनका ! इसका ओष्ठ हिल रहा है, यह तुम अनुमान करो; हे कल्पलता ! कुछ (अस्पष्ट तथा धीरेसे) कह रही; तुम सुनो; हे चारु-मती ! इसके स्तनोंको ढँक दो; हे केशिनी ! खुले हुए (इसके) केश-समूहको बाँध दो; हे तरङ्गिणी ! नेत्रोंमें निकले हुए आँसूको पोंछ दो; इस प्रकार (सखियोंका परस्पर में) कहना सुनाई दिया ॥ ११३-११४ ॥

कलकलः स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितः ।
यमधिगम्य सुतालयमेतवान्[1] द्रुततरः स विदर्भपुरन्दरः ॥ ११५ ॥

कलकल इति । तदा तस्मिन् सखीजनव्याकुलकाले, आलिजनाननात् सखीमुखात्त्वरितेरितैः सम्भ्रमोक्तिभिः, विपुलो महान्, सः कलकलः उदलसदुत्थितः । यं कलकलमधिगम्याकर्ण्य, स विदर्भपुरन्दरः भीमभूपतिः द्रुततरोऽतित्वरितः, सुतालयमेतवान् कन्यान्तःपुरं प्राप्तवान् ॥ ११५ ॥

इस प्रकार आपसमें जल्दी-जल्दी कहनेसे सखी-समुदायके मुखसे निकला हुआ वह महान् कोलाहल अधिक बढ़ गया (अथवा—धावकों अर्थात् दौड़कर दमयन्ती-मूर्च्छाकी खबर पहुँचानेवालोंके कहनेसे सखी-समुदाय……) जिसे सुनकर विदर्भनरेश (राजा भीम)

1. '—मीयिवान् द्रुततरः' इति पाठान्तरम् ।

भययुक्त हो कन्या (दमयन्ती) के महलमें पहुँच गये। [पुत्रीकी मूर्च्छाका समाचार सुनकर पिताका भययुक्त होना एवं तत्काल ही उसके महलमें पहुँचना स्वाभाविक ही है] ॥ ११५ ॥

कन्यान्तः पुरबोधनाय[1] यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तामूचतुः।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥११६॥

कन्येति। कन्यान्तःपुरस्य बोधनाय योगक्षेमानुसन्धानाय, यदधीकाराद्ययो मन्त्रिवैद्ययोरधीकारान्नियोगात्। 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः। दोषाः परपुरुप्रवेशादयो वातादयश्च, न सन्तीति शेषः। अस्तिर्भवतिपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति वचनात्। तौ मन्त्रिप्रवरश्च अगदमरोगं करोतीत्यगदङ्कारो वैद्यश्च। 'रोगहार्यगदङ्कारो भिषग्वैद्यश्चिकित्सक' इत्यमरः। 'कर्मण्यण्' 'कारे सत्यागदस्य' इति मुमागमः। द्वौ नृपं तुल्यमेकवाक्यमूचतुः। देव राजन्! आकर्णय सुश्रुतेन सम्यक्छ्रुतेन, चर एव चरको गूढचारः, तस्योक्तेन वाक्येन। अन्यत्र सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन चरकाचार्यप्रणीतग्रन्थेन, अखिलं तापनिदानं जाने। अस्यास्तापस्य दलने निवर्तने, नलं राजानं ददातीति नलद,तत्संघटकं विना। 'आतोऽनुपसर्गे कः' अन्यत्र, नलदमुशीरं विना। 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्। अभयं नलदं सेव्यम्' इत्यमरः। कोऽपि न क्षमो न स्यात्। 'शकि लिङ्' इति शक्यार्थे लिङ् अत्र द्वयोरपि नलदयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषोऽलङ्कारः ॥ ११६ ॥

जिस (प्रधान मन्त्री) के अधिकारसे कन्याके अन्तःपुरके योगक्षेममें बाधाके लिये कोई दोष (परपुरुषसंसर्गजन्य व्यभिचार आदि) समर्थ नहीं होते राजवैद्यपक्षमें—जिस (राजवैद्य) के अधिकार अर्थात् निरन्तर देखरेख रखनेसे कन्याके शरीरको रक्षित करने (में बाधा) के लिये कोई दोष (वात, पित्तादि) समर्थ नहीं होते; उन दोनों (मुख्यमन्त्री तथा राजवैद्य) ने समान (परस्पर अविरुद्ध) वचन कहे। (प्रधान मन्त्रीने कहा कि—सरकार ! सुनिये, अच्छी तरह सुने हुए दूतके कहनेसे मैं सब जानता हूँ कि–) नलके लिये देने (नलके साथ विवाह करने) के अतिरिक्त इस दमयन्तीके सन्तापकी शान्तिके लिये कोई भी (अन्य राजादि) समर्थ नहीं हैं, राजवैद्यके पक्षमें वैद्यने कहा कि—'हे सरकार ! सुश्रुत तथा चरक (नामक चिकित्साशास्त्रके रचयिता प्रधान दो आचार्यों) के कहनेसे मैं सब जानता हूँ कि नल अर्थात् खश देनेके अलावे इसके तापकी शान्तिके लिये अन्य कोई (क्वाथ, रस, भस्म आदि औषध) समर्थ नही है। (अथवा–राजा 'नल' को प्राप्तिके पहले 'खश' देनेके अतिरिक्त इसके तापकी शान्तिके लिए ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हैं, तब दूसरेकी बात ही क्या है ? अतः शीघ्र ही राजा नलके साथ विवाह करनेका तथा उसके पहले खशद्वारा उपचार करनेका प्रबन्ध होना

1. 'बाधनाय' इति पाठान्तरम्।

चाहिये) [प्रधान मन्त्री तथा राजवैद्यको राजकुमारीकी मूर्च्छा सुनकर अन्तःपुरमें पहुँचना उचित ही है] ॥ ११६ ॥

ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमानं [1]भेदव्ययाकृति मिथःप्रतिघातमेव ।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद्भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य ॥११७॥

ताभ्यामिति । ताभ्यां मन्त्रिभिषग्भ्यां, भेदव्ययो नामाभेदः स एवाकृतिर्यस्य तद् भेदव्ययाकृति, अभिन्नाकारमेकरूपं यथा तथा, युगपदेकदा, अभिधीयमानं नलदादिवाक्यमिति शेषः । मिथोऽन्योन्यं प्रतिघातो विरोधो यस्य तन्मिथःप्रतिघातं मिथोभिन्नमेवाभूत् । अभिधानयौगपद्यादेकशब्दाच्चाभिन्नार्थैकवाक्यवत् प्रतीयमानमपि तद् भिन्नार्थं वाक्यद्वयमेवासीदित्यर्थः । राज्ञस्तु न तत्र दृष्टिरित्याह–भैम्यां विषये अनिष्टशतशङ्कितया अनिष्टानेकशङ्कावत्त्वेन आकुलस्य विह्वलचित्तस्य, 'प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि' इति न्यायादिति भावः । तस्य नृपतेः भीमस्य श्रोत्रे तु किञ्चिच्च पपतुः न किञ्चिदर्थं जगृहतुः । व्याकुलान्तःकरणतया तद्वाक्ये नातीव कर्णं दत्तवानित्यर्थः ॥ ११७ ॥

उन दोनों (प्रधान मन्त्री तथा राजवैद्य) के द्वारा एक साथ कहा गया भेदरहित भी वह वचन परस्परमें प्रतिघातक (एक दूसरे का बाधक) ही हुआ, इस कारण दमयन्ती के विषय में सैकड़ों अनिष्टों का शङ्का होने से राजा के दोनों कान कुछ भी (किसी एक के वचन को भी) नहीं पान किये अर्थात् नहीं सुने । [एक साथ दो व्यक्तियोंके कहे गये वचनों को कोई भी घबड़ाया हुआ व्यक्ति नहीं सुन सकता, अतः प्रधान मन्त्री तथा राजवैद्य के एक साथ कहे गये भेदरहित वचनको भी परस्पर बाधक (भीम राजाके द्वारा एक दूसरे की बातको नहीं सुनने में कारण) होना स्वाभाविक ही है । अतः वचनको न सुन सकनेसे दमयन्तीके नाना प्रकारकी अनिष्ट शङ्काओंसे भीम राजा घबड़ा गये] ॥ ११७ ॥

द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणम्राम् ।
अकलयदसमाशुगाधिमग्नां झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः ॥

द्रुतेति । नृपतिः द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नां द्रागपसारितशिशिरोपचारचिह्नामपि, पदे प्रणम्रां पादपतिताम् 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । तनयामसमाशुगाधिमग्नां मदनव्यथामग्नाम् अकलयज्ज्ञिज्ञिकाय । तथाहि विज्ञाः प्रवीणाः 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः । झटित्यविलम्बेन पराशयवेदिनो हि, प्रकाशकलिङ्गमन्तरेण आकारमात्रेण परेङ्गितं निश्चिन्वतीत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ११८ ॥

राजा (भीम) ने विरहचिह्न से रहित चन्दनलेप, कमल, मृणाल आदि नहीं धारण

---

1. 'भेदव्ययाकृति' इति पाठान्तरम् ।

को हुई पैरोंमें प्रणाम करती हुई दमयन्तीको कामदेव—बाणप्रहारजन्य मानसिक व्यथामें मग्न अर्थात् अत्यन्त कामपीडित समझ लिया, क्योंकि चतुरलोग दूसरोंके आशयको शीघ्र जाननेवाले होते है । [अन्तःपुरमे राजाका आना सुनकर सभय सखियोंने या कुछ स्वस्थ हुई स्वयं दमयन्तीने ही कमल; मृणाल, बिस आदि विरह—ताप—शान्तिकारक चिह्नोंको दूर कर दिया तब दमयन्तीने जाकर पिताके चरणों पर गिरकर प्रणाम किया । विरहचिह्नों को दूरकर आयी हुई भी पुत्रीको चतुर राजा भीमने कामबाणसे पीडित समझ लिया । यहाँ दमयन्ती कामपीडासे इतनी क्षीण हो गयी थी कि विरहचिह्न को दूर हटाकर भी समीप म आयी विनम्र दमयन्तीको कामपीडित समझनेमें चतुर राजाको कुछ विलम्ब नहीं लगा] ॥

व्यतरदथ पिताशिषं सुतायं नतशिरसे मुहुरुन्नमय्य मौलिम् ।
'दयितमभिमतं स्वयंवरे त्व गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः' ॥११९॥

व्यतरदिति । अथ पिता भीमः, नतशिरसे लज्जानतमुखायै सुतायै दमयन्त्यै, मौलिं मुखमुन्नमय्य, हे वत्से ! कियद्भिः कतिपयैरेव वासरैः स्वयंवरे त्वं गुणमयं गुणाढ्यमभिमतं दयितमाप्नुहीत्याशिषं मुहुर्व्यतरत् ॥ ११९ ॥

इसके (चरणों में दमयन्तीके प्रणाम करनेके) बाद पिता (राजा भीम) ने नतमस्तक कन्या के लिये प्रेमाधिक्य से झट (पादप्रणत उसके) मस्तक को उठाकर आशीर्वाद दिया कि—'स्वयंवरमें (अथवा हे स्वयंवरे ! पति को स्वयं वरण अर्थात् चुनकर स्वीकर करने वाली !) तुम कुछ (थोड़े) ही दिनों में बहुत गुणी अपने अभिलषित प्रियतमको प्राप्त करो ।' [इस पद्य में 'स्वयंवरे अभिमतम् , कियद्भिः वासरैः' पदों से राजा भीम ने पुत्री दमयन्तीकी कामपीडितावस्था जानकर आश्वासन दिया कि तुम्हें अभिलषित प्रियतम पति शीघ्र ही पाने के लिये मेरी परतन्त्रता नहीं रहेगी, अपितु तुम स्वेच्छानुसार पति को स्वयंवर में स्वयं ही स्वीकार करने में स्वतन्त्र रहोगी] ॥ ११९ ॥

तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशीनाम् ।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याम् ॥ १२० ॥

तदन्विति । तदनु आशीर्वादानन्तरम् 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । स नृपस्तनुजासखीः सुतावयस्याः अवादीदूचे । किं तत्तदाह—हि यस्मात्, तुहिनऋतौ शिशिरकाले, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । गते निर्गत एव, वसन्ते पुष्पपरिणामात्तापस्य दुःसहत्वाच्चेति भावः । ईदृशीनां कोमलाङ्गीनां यौवनप्रविष्टानां शरीरे कुसुममपि शरायते शरवदाचरति, तद्वद् दुःसहं भवति । एकत्र गात्रमार्दवादन्यत्र मदनबाणत्वाच्चेति भावः । तत्तस्मादस्यां कोमलाङ्ग्यां युवत्यां च, उचितं योग्यमुपचारं प्रतीकारमाचरत ॥ १२० ॥

उसके (दमयन्तीको आशीर्वादरूप आश्वासन देने के) बाद उस (राजा भीम) ने

पुत्री दमयन्तीकी सखियोंसे कहा—शिशिर ऋतुके बीतते ही अर्थात् वसन्त ऋतुके आरम्भ में ही ऐसी (कोमलाङ्गी युवतियों या विरहपीडिताओं) के शरीर में फूल भी बाणके समान व्यवहार करता है, अत एव (तुमलोग) इस दमयन्तीके विषयमें योग्य उपचार करो। [ऐसी कोमलाङ्गियोंके शरीरमें फूलसे मारनेपर भी बाणसे मारनेके समान पीड़ा होती है, फूलको कामबाण होनेसे विरहियोंके लिये तो पीडा होना स्वाभाविक ही है] ॥ १२० ॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान्।
कृशिमशमशमनयानया तदाप्तुं रुचिरुचिताथ भवद्विधाभिधाभिः ॥१२१॥

कतीति। किंच, कतिपयदिवसैः अल्पदिनैरेव, वो युष्माकं, वयस्यया सख्या भैम्या, वरीयान् श्रेष्ठः पुमान्, स्वयमभिलष्य कामयित्वा वरिष्यते। यं कामयते तं वरिष्यतीत्यर्थः। तत्तस्माद् अथेदानीम्, अनया दमयन्त्या (कर्त्र्या), भवतीनां विधेव विधा यासां तासां भवद्विधानां सखीनां, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। अभिधाभिरुक्तिभिर्या कृशिमशमना कार्श्यनिवर्तना, तथा उपायभूतया रुचिः कान्तिः प्रीतिश्च, आप्तुमुचिता आसन्या, स्वयंवरपर्यन्तं भवदुपलालनावचनैः खेदं विहाय प्रसन्नया सन्तुष्टया च स्थातव्यमित्यर्थः। द्रुतेत्यादिश्लोकचतुष्टयं पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥

तुमलोगोंकी सखी यह दमयन्ती कुछ (थोड़े) ही दिनोंमें स्वयं अभिलाषा करके अत्यन्त उत्तम (पतिको) स्वीकार करेगी (जिसे यह हृदयसे चाहती है, उसे ही स्वयंवरमें स्वयं वरण करेगी, इस कार्यमें पिता होनेके कारण मैं किसी प्रकार का बाधक नहीं बनूंगा)। इस कारण इस समय इस दमयन्तीकी दुर्बलता दूर करनेवाली रुचि (विरहावस्थाके पहले वाली सुन्दरता, या इच्छा), तुमलोगोंके समान (हितैषिणी सखियों) के कहने अर्थात् समझाने (पाठभेदसे—उपचारोंसे) प्राप्त करना उचित अर्थात् आवश्यक है।[1] ['कृशता दूर करने-वाली' यह विशेषण प्रथमान्त मानकर दमयन्ती पक्षमें भी लग सकता है। इसका शीघ्र ही स्वयंवर होनेवाला है, अत एव तुमलोग ऐसा उपचार करो; जिससे यह दमयन्ती कृशता दूरकर पहलेके समान सुन्दर हो जावे] ॥ १२१ ॥

एवं यद्वदता नृपेण तनया नापृच्छि लज्जापदं[2]
यन्मोहः स्मरभूरकल्पि वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः।
यच्चाशीःकपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना
तन्मत्वालिजनो मनोऽधिमतनोदानन्दमन्दाक्षयोः ॥ १२२ ॥

एवमिति। एवं वदता नृपेण, तनया दमयन्ती, लज्जापदं लज्जाहेतुं, नापृच्छि न पृष्टेति यत्। ज्ञातांशे प्रश्नायोगादिति भावः। पृच्छेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लुङ्। मोहो मूर्च्छा च वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिर्लिङ्गैः स्मरभूः कामजोऽकल्पि निश्चित

1. 'विधाभिः' इति पाठान्तरम्। 2. 'लज्जास्पदम्' इति पाठान्तरम्।

इति यत् । तत्र तस्यां पुत्र्यां, सदृशी अनुरूपा या सान्त्वना लालनोक्तिः स्यात्, सा चाशीःकपटाद्दयितमाप्नुहीत्याशीर्वादव्याजादवादीति च यत्, तत्सर्वं मत्वाऽऽलोच्य, आलिवर्गः मनः स्वचित्तम् आनन्दमन्दाक्षयोः अब्धिमतनोत् । लज्जानन्दसागरीचकारेत्यर्थः । स्वेष्टसिद्धेरानन्दः स्वरहस्यप्रकाशनाल्लज्जा ॥ १२२॥

इस प्रकार (श्लो० ११९–१२०) कहते हुए राजा भीमने कन्या दमयन्तीसे लज्जाविषयक बातको (पाठभेदसे—सलज्ज दमयन्तीसे पीडाविषयक बातको) तथा कामदेवने शरीरके पाण्डुत्व और सन्ताप आदिसे जो मूर्च्छा उत्पन्न कर दिया था उसको जो नहीं पूछा, और आशीर्वादके बहानेसे (श्लो० ११९ में) दमयन्तीसे योग्य वर पानेको तथा सखियोंसे उसका योग्य उपचार करनेको कहकर जो सान्त्वना दी, उसे जानकर सखियोंने मनको आनन्द तथा लज्जाका समुद्र बना दिया । [राजाने पिता होनेके नाते कामपीडित कन्यासे लज्जाजनक पाण्डुतादिजन्य मोह आदिकी बात नहीं पूछी और आशीर्वाद देकर तथा सखियोंसे उचित उपचार करनेके लिये कहकर कन्या तथा उसकी सखियोंको पूर्ण सान्त्वना दे दी, यह योग्य एवं चतुर पिताके लिये उचित ही था । सखियाँ भी 'पिताजीने सखी दमयन्तीका स्वयंवर शीघ्र ही करने का निश्चय कर लिया' यह जानकर हर्षित तथा 'कामपीडाविषयक बात पिताजीने मालूम कर लिया' यह जानकर एक साथ ही मनमें अत्यन्त लज्जित भी हुई । अन्य किसी भी पिता एवं कन्याके लिये ऐसा ही करना स्वाभाविक है] ॥ १२२ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ।। १२३ ।।

श्रीहर्षमिति । श्रीहर्षमित्यादि सुगमम् । तुर्यश्चतुर्थः । 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' इति साधुः । स्थैर्यविचारणं नाम स्वप्रणीतप्रकरणं तद्भ्रातरि तत्समानकर्तृक इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥ ४ ॥

कवीश्वरसमूहके मुकुटालङ्कारमें जड़े गये हीरेके समान पिता 'श्रीहीर' तथा माता मामल्लदेवीने इन्द्रिय–समूहको जीतनेवाले जिस 'श्रीहर्ष' नामक पुत्रको उत्पन्न किया, उसके रचित 'स्थैर्यविचारण' (क्षण-भङ्गके खण्डनसे स्थिरताका विचारणमूलक ग्रन्थविशेष) नामक प्रकरणका सहोदर (समान, पक्षान्तरमें—दोनों ग्रन्थोंका एक निर्माणकर्ता होनेसे सहज भाई), सुन्दर, नलके चरित अर्थात् 'नैषधचरित' नामक महाकाव्यमें स्वभावतः निर्मल (दोषहीन) चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२३ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः ।
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥ १ ॥

अथ दमयन्तीस्वयंवराय इन्द्राद्यागमनं वक्तुं तदुपयोगितया नारदस्येन्द्रलोकगमनमाह—यावदिति । अथ स महीन्द्रो भीमभूपतिः, स्वयंवरमहाय स्वयंवरोत्सवाय, नरेन्द्रान्, यावदागमयते आगमनेनानयनेन विलम्बत इत्यर्थः । 'आगमे क्षमायामात्मनेपदं वक्तव्यम्' । 'क्षमोपेक्षा कालहरणे'ति काशिका । तावदेव ऋषिर्नारदः, 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः । इन्द्रं दिदृक्षुरिन्द्रदिदृक्षुः सन्, मधुपिपासुवत् गम्यादिपाठाद् द्वितीयसमासः । त्रिदशधाम स्वर्गं प्रति जगाम । सर्गेऽत्र स्वागतावृत्तम् । 'स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

दमयन्तीको आश्वासन देनेके बाद भीम जब तक (स्वयंवरका निमन्त्रण भेजकर) राजाओंकी प्रतीक्षा करते थे, तब तक नारदजी इन्द्रको देखने (उनसे मिलने) की इच्छा से स्वर्गको गये ॥ १ ॥

नात्र चित्रमनु तं प्रययौ यत्पर्वतः स खलु तस्य सपक्षः ।
नारदस्तु जगतो गुरुरुच्चैर्विस्मयाय गमनं विललङ्घे ॥ २ ॥

अथ षड्भिस्तद्गमनप्रकारं वर्णयति—नेत्यादि । पर्वतो नारदसखो मुनिः शैलश्च । 'पर्वतः शैलदेवर्ष्योः' इति विश्वः । तं नारदमनु प्रययाविति यत् अत्र चित्रमाश्चर्यं न । कुतः, स पर्वतस्तस्य नारदस्य सपक्षः सखा खलु पक्षवांश्चेति गम्यते । उभयथाप्यनुयानं युक्तमेवेति न चित्रमित्यर्थः । किंतु, जगतो लोकस्य उच्चैरुन्नतः, गुरुराचार्यः तस्मादलघुश्च, स नारदस्तु, विस्मयाय गमनं विललंघे लंघयामास । तल्लंघनं विस्मयाय भवतीत्यर्थः । गुरुद्रव्यस्य पातनार्हस्य उत्पतनं विरुद्धमिति श्लेषोत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ २ ॥

उन नारदजीके सपक्ष (मित्र, पक्षांतरमें—पंखसहित) पर्वत ऋषि (पक्षांतरमें—पहाड़) जो पीछे-पीछे गये, इसमें आश्चर्य नहीं है, किन्तु संसारके (पक्षांतरमें—संसारसे अर्थात् सबसे) गुरु (आचार्य होनेके कारण गौरवयुक्त, पक्षांतरमें—भारी) नारदजी जो अत्युन्नत आकाशको लांघ गये, यह आश्चर्य है । अथवा—गुरु अर्थात् गौरवयुक्त (पक्षांतरमें—भारी) नारदजी संसार आश्चर्य के लिये उच्चतम आकाशको लाँघ गये, अथवा—संसारके गुरु नारदजी जो आकाशको लाँघ गये यह 'वि' अर्थात् पक्षियोंके भी स्मय

(आश्चर्य) के लिए हुआ (पक्षियोंने भी गुरुतम नारदजीको आकाश लांघते (ऊपर जाते) देखकर बड़ा आश्चर्य किया कि इस प्रकार शीघ्र हमलोग भी नहीं उड़ सकते)। जो पर्वत अचल है, उसका नारदजीके साथ ऊपर आकाशको जाना आश्चर्य कारक होना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ; क्योंकि वह पंखसहित था—जैसा कि रामायणमें मैनाक पर्वत तथा हनुमानजीके संवादसे और पुराणवचनोंसे पर्वतोंके पंखयुक्त होनेसे आकाशमें उड़नेका प्रसङ्ग आया है। अथवा—यह नारदजी उसके (पर्वतके) सपक्ष अर्थात् पक्ष में थे या मित्र थे, अतः वे सब कुछ उसके वास्ते कर सकते थे, अतः उसका आकाशमें गमन करना कोई भी आश्चर्यकी बात नहीं। संसारके उपदेष्टा होनेसे गौरवयुक्त (पक्षा०—अतिभारयुक्त) नारदजी जो आकाशको लांघ गये—धीरे-धीरे नहीं गये किन्तु उछलकर लाँघ गये—यह आश्चर्यके लिये हुआ, क्योंकि जो जगद्गुरु है, वह स्वयं अपने लिए कोई अतिमर्यादित काम नहीं करता। नारदजीके साथ उनके मित्र पर्वत ऋषि भी स्वर्गको गये]

गच्छता पथि विनैव विमानं व्याम तेन मुनिना विजगाहे।
साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः ॥ ३ ॥

गच्छतेति। पथि विमानं व्योमयानं विनैव गच्छता तेन मुनिना, व्योम विजगाहे प्रविष्टम्। तथा हि, साधने उपाये नियमोऽवश्यंभावः क्रियासिद्धौ नियमेन साधनान्तरापेक्षेत्यर्थः। अन्यजनानामस्मदादीनां, योगिनां तु तपसा योगधर्मेणैवाखिलसिद्धिः सर्वकार्यसिद्धिर्हि। तस्मान्महायोगिनोऽस्य किं विमानेनेति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ३॥

विना विमानके ही जाते हुए उस नारदजीने आकाशको आलोडित कर दिया अथवा-''''''अपरिमित आकाशको आलोडित कर दिया। अथवा—पक्षीके समान जाते हुए''') । क्योंकि अन्य साधन (रथ, घोड़ा, विमान आदि) की आवश्यकता साधारण लोगोंको होती है (विना साधनके साधारण लोग कुछ नहीं कर सकते), योगियोंको तो तपस्या से ही सब सिद्धि होती है, (किसी अन्य साधन के बिना उनका कोई काम नहीं रुकता) ॥ ३ ॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानाँल्लङ्घते स्म मुनिरेष विमानान्।
अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरंघ्रिविनम्रैः ॥ ४ ॥

खण्डितेति। एष मुनिः, खण्डितो निरस्तः, इन्द्रभवनादीनामभिमानोऽहङ्कारो यैस्तान्, ततोऽपि समृद्धानित्यर्थः। विमानान् देवगृहान्, लङ्घते स्म अतिचक्राम। किं बहुना, अङ्घ्रिविनम्रैः पादपातितैः, तत्पतिभिर्विमानाध्युषितैर्देवैः अर्थितः प्रार्थितोऽपि, अतिथितामातिथ्यं, नैवानुमेने। एतन्मात्रविलम्बं च नासहिष्टेत्यर्थः॥ ४॥

यह मुनि नारदजी इन्द्रभवनके अभिमानको भी सुन्दरतासे चूर करनेवाले अर्थात् इन्द्रभवनोंसे भी अधिक सुन्दर ('खण्डितेन्दु' पाठभेदसे—'चन्द्रशाला'संज्ञक भवनविशेषोंसे

भी अधिक सुन्दर, या अत्यन्त ऊँचे स्तरपर उड़नेसे चन्द्रभवन (चन्द्रनिवासस्थान-चन्द्रलोक) के भी अभिमानको चूर करनेवाले) विमानोंको लाँघ गये थे (उन विमानोंकी अपेक्षा भी तीव्र वेगसे चलते थे, अथवा उनमे भी ऊँचा पहुँच गये थे' चरणपर प्रणामकर विमानोंके स्वामियोंके प्रार्थना करनेपर भी ('पैदल क्यों जा रहे हैं ? आकर मेरे विमानपर चढ़कर चलिये' ऐसा निवेदन करनेपर भी विलम्ब होनेकी आशङ्कासे) उन (विमान-स्थित देवताओं) का आतिथ्य ग्रहण नहीं किया (उनके विमानपर नहीं बैठे)॥ ४॥

तस्य तापनभिया तपनः स्वं तावदेव समकोचयदर्चिः ।
यावदेष दिवसेन शशीव द्रागतप्यत न तन्महसैव ॥ ५ ॥

तस्येति । तपनोऽर्कः. तस्य मुनेः (कर्मणः), तापनाद्भिया, सन्तापोऽस्य भविष्यतीति भयेन स्वमात्मीयमर्चिस्तेजस्तावदेव प्रागेव, समकोचयत् सङ्कोचितवान् । यावदेष तपनो दिवसेन दिवा, आतपेन स्वौजसा, शशीव, तन्महसा तस्य तेजसेव, द्राक् सपदि, स्वयमेव नातप्यत, मुनितापनादात्महानेर्वरमात्मसङ्कोच इति मत्वा मन्दप्रकाशः स्थित इत्यर्थः । यथा च सूर्यादपि तेजिष्ठो मुनिरिति भावः ॥ ५ ॥

सूर्यने नारदजीको सन्ताप होनेके भयसे अपने तेजको तब तक (अथवा—उतना, अथवा—पहले) ही कम कर लिया, जब तक (अथवा—जितनेसे) दिनके द्वारा चन्द्रमाके समान उन (नारदजी) के तेजसे ही स्वयं तप्त नहीं होने लगे। [सूर्यको दो प्रकारके भय थे—एक यह कि यदि मैं तापको कम नहीं करूँगा तो मुझको नारदजी से संताप होगा और वे मुझे क्रोधसे शाप दे देंगे, दूसरा यह कि यदि मैं अपने तेजको अधिक कम कर लूँगा तब उनके तेजसे मैं स्वयं ही सन्तप्त होने लगूँगा, जैसे मेरे (सूर्यके) तेजसे चन्द्रमा सन्तप्त (कांतिहीन) होता है । अतः सूर्यने तब तक या उतना ही अपना तेज कम किया, जिससे उनके तेजसे न तो नारदजी सन्तप्त हुए और नारदजीके तेजसे स्वयं वे (सूर्य) ही सन्तप्त (क्षीणकान्ति) हुए । नारदजीका तेज सूर्यके समान था] ॥ ५ ॥

पर्यभूद्दिनमणिर्द्विजराजं यत्करैरहह तेन सदा तम् ।
पर्यभून् खलु करैर्द्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ॥ ६ ॥

पर्यभूदिति । दिनमणिः सूर्यः, द्विजराजं चन्द्रं ब्राह्मणोत्तमञ्च, करैरंशुभिः हस्तैश्च, पर्यभूत् परिभूतवानिति यत् । तेन परिभवेन (हेतुना) तदा नारदागमनकाले, तं दिनमणिं, द्विजराजो ब्राह्मणोत्तमश्चन्द्रश्च, करैरंशुभिर्हस्तैश्च, पर्यभूत् । अहह अद्भुतम् । 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः । स्वकृतद्विजराजपरिभवदोषात् स्वयमद्य तेन परिभूत इत्यर्थः । तथा हि, अत्र जीवलोके कः स्वकृतं (कर्म) न भुङ्क्ते । सर्वेणापि स्वकर्मफलमनुभाव्यमेवेत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

सूर्यने करों (किरणों, पक्षान्तरमें—हाथों) से द्विजराज (चन्द्रमा, पक्षान्तरमें—

ब्राह्मणश्रेष्ठ नारदजी को जो परिभूत (तेजसे हीन, पक्षान्तरमें—सन्तप्त) किया, तब उस कारणसे द्विजराज (चन्द्र, पक्षांतरमें—ब्राह्मणश्रेष्ठ नारदजी) ने उस (सूर्य) को करों (किरणों, पक्षान्तरमें—अपने तेज) से परिभूत (तेजोहीन, पक्षान्तरमें-सन्तप्त) किया। आश्चर्य या खेद है--इस संसारमें अपने किये गये कर्म (के फल) को कौन नहीं भोगता? अर्थात् सभी भोगते हैं। (सूर्यके तापसे चन्द्रमाका निस्तेज होना सर्वप्रत्यक्ष हैं, अतः द्विजराज नारदजीने भी अपने तेजसे सूर्यको तपाया) अथवा--द्विजराज नारदजीको जो सूर्यने अपने किरणोंसे सन्तप्त किया, अत एव क्रुद्ध द्विजराज नारदजीने भी उस सूर्यको सन्तप्त किया, इसी कारण नारदजीके आकाशमें पहुँचनेपर सूर्य निस्तेज हो गये, जैसे पूर्व श्लोकमें कहा गया है। [नारदजीका तेज सूर्यके तेजसे भी अधिक था] ॥ ६ ॥

विष्टरं तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमर्घ्यमथ कच्छरुहाभिः ।
पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै ॥ ७ ॥

विष्टरमिति। अथ स्वर्गसिन्धुर्मन्दाकिनी, अतिथये अस्मै नारदाय, तटकुशानामालिभिरावलिभिर्विष्टरमासनं, 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वनिपातः, अद्भिः पाद्यं पादार्थं जलं, कच्छरुहाभिर्जलप्रायभूम्युत्पन्नाभिर्लताभिः अर्घ्यम् अर्घार्थं पुष्पफलादि, 'पादार्घाभ्याञ्च' इति तादर्थ्ये यत्प्रत्ययः। पद्मवृन्दानां मधुभिर्मकरन्दैः, मधुपर्कञ्च अदित दत्तवती। ददातेर्लुङि तङ् ॥ ७ ॥

इसके बाद (स्वर्गमें पहुँचनेपर) मन्दाकिनी अर्थात् स्वर्गगङ्गाने अतिथि इस नारदजी के लिये किनारेमें उत्पन्न कुशाओंसे आसन, जलसे पाद्य (पैर धोनेके लिए) जल, अपने समीपकी जलप्राय भूमिकी दूर्वोसे अर्घ्य और कमलसमूहके मधु अर्थात् मकरन्दसे मधुपर्क दिया। [अन्य सज्जन व्यक्ति भी अपने यहाँ आये हुये अतिथिके लिए प्रसन्न होकर आसन, पाद्य, अर्घ्य और मधुपर्क देते हैं और वह अतिथि भी उनके आतिथ्यसे प्रसन्न होता है। मन्दाकिनी नारदजीको और नारदजी मन्दाकिनीको देखकर प्रसन्न हुए] ॥७॥

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप ।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादि[1] ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव ॥ ८ ॥

स इति। मुनिः, अगाधं, वियदन्तर्नभोऽभ्यन्तरं व्यतीत्य, नाकनायकनिकेतनम् इन्द्रभवनं, यती योगी, अनादि, भवसिन्धुं संसराब्धिम्, सम्प्रतीर्य शर्मभरचारु परमानन्दसुन्दरं ब्रह्म परमात्मानमिव आप ॥ ८ ॥

वह (नारदजी) बीच में अगाध (अपरिमित) आकाशको पारकर देवराज इन्द्रके भवन (वैजयन्त नामक महल) को प्राप्त किये, जिस प्रकार योगी (या परमहंस) अनादि (प्रवाहसे युक्त) संसारसागरको पारकर आनन्दातिशय रमणीय ब्रह्मको प्राप्त करता है।

1. '—मनादि' इति पाठान्तरम्।

[अन्तः तथा अगाध शब्द भवसागरके, अनादि शब्द वियत्के और शर्ममरचारु शब्द इन्द्रभवनके भी विशेषण हो सकते हैं। नारदजी इन्द्रभवनमें पहुँच गये] ॥ ८ ॥

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारु तं सदकृतातिथिमिन्द्रः।
यावदर्हकरण किल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय ॥ ९ ॥

अर्चनाभिरिति। इन्द्रः, तमतिथिं मुनिम्, उचिताद्विहितात्, उच्चतराभिरधिकाभिः, अर्चनाभिः पूजाभिः, चारु यथा तथा सदकृत सत्कृतवान्, आहतवानित्यर्थः। 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातनात् प्राक् प्रयोगः। अधिकाचरणे हेतुमाह यावदर्हं यावद्युक्तम् 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः। 'यावदर्हस्य करणम्' इति षष्ठीतत्पुरुषः। साधोः श्रद्धालोः प्रत्यवायधुतये अकरणदोषनिवारणाय, गुणायोत्कर्षाय न किल खलु। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ९ ॥

इन्द्रने अतिथि उस नारदजीका उचितसे अधिकतर पूजाओं द्वारा सत्कार किया। उचित पूजा करना सज्जनके प्रत्यवाय (नहीं पूजा करनेसे होनेवाले दोष) की शांतिके लिये होता है, (पूजा करनेवालेके) गुणके लिये नहीं। अथवा—सज्जनकी उचित पूजा करना पूजनकर्ताके प्रत्यवायशांतिके लिये होता है, गुणके लिये नहीं। अथवा—सज्जनके गुणके लिये नहीं होता। [देवराज इन्द्रने श्रेष्ठतम अतिथिरूपमें उपस्थित नारदजीका आतिथ्य बड़ी ही श्रद्धा एवं भक्तिके साथ किया] ॥ ९ ॥

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिमथाद्रियत द्राक्।
पर्वतोऽपि लभतां कथमर्चां न द्विजः स विबुधाधिपलम्भी ? ॥ १० ॥

नामधेयेति। अथ नारदसत्कारानन्तरम्, अद्रिभिदिन्द्रः, अद्रेः पर्वतस्य, नामधेयसमतया नामसामान्येन सखायं तत्सखं मुनिं पर्वताख्यं, द्राक् द्रुतमाद्रियत सत्कृतवान्। पर्वतः पर्वतारेः कथं सत्कारमलभतेत्यत्राह—पर्वतोऽपि स द्विजो विबुधाधिपं देवेन्द्रं पण्डितोत्तमं च, लभते प्राप्नोतीति तल्लम्भी। 'विबुधः पण्डिते देवे' इति विश्वः। स मुनिः, कथमर्चां पूजां,न लभतां ? लभतामेवेत्यर्थः। द्विजोऽभ्यागतो महतः प्रतिपक्षादपि विवेकिनः पूजां लभत इति भावः ॥ १० ॥

पर्वतोंका भेदन करनेवाले इन्द्रने पर्वत इस नाममात्रसे (कर्मसे नहीं) पर्वत मुनिका शीघ्र सत्कार किया। विबुधप्रभु (देवताओंके स्वामी, पक्षांतरमें—विशिष्ट विद्वानोंमें श्रेष्ठ) को प्राप्त करनेवाला द्विज (ब्राह्मण) पर्वत भी पूजाको क्यों नहीं प्राप्त करे अर्थात् अवश्य प्राप्त करे। [यद्यपि इन्द्र पर्वतोंका भेदन करनेवाले हैं किन्तु देवराज या विशिष्ट विद्वानोंमें श्रेष्ठ होनेसे अपने यहाँ आये हुए पर्वत (शत्रु) का भी क्यों सत्कार न करें ? उसमें भी यह द्विज है, तथा केवल नाम से ही पर्वत है वास्तविक पर्वत नहीं, अत एव अवश्य सत्कार पाने के योग्य है। अथवा—पर्वतरूप (पत्थरके समान) अर्थात् महामूर्ख भी ब्राह्मणको

विद्वच्छ्रेष्ठ के यहाँ आकर पूजा प्राप्त करना उचित ही है। द्वारपर आया हुआ शत्रु हो, या महामूर्ख भी ब्राह्मण हो तो उसका विद्वान् लोग आदर-सत्कार अवश्य ही करते हैं]॥१०॥

तद्भुजादतिवितीर्णसपर्याद द्योद्रुमानपि विवेद मुनीन्द्रः।
स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया तान् दानपारमितयैव वदान्यान् ॥ ११ ॥

तदिति मुनीन्द्रो नारदस्तान्, प्रसिद्धान् द्योद्रुमान् कल्पवृक्षानपि अतिवितीर्णसपर्यादतिमात्रदत्तपूजात्, तस्येन्द्रस्य, भुजाद्धस्तादेव,गुरोःस्वः स्वर्गे,सहस्थित्या सहवासेन, सुशिक्षितया स्वभ्यस्तया, दानपारमिता नाम दानकर्तव्यताप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः, तयैव कारणेन वदान्यान् विवेद। इन्द्रहस्तः कल्पवृक्षाणामपि दानविद्योपदेष्टेत्युत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। कल्पवृक्षातिशाय्यौदार्यमस्येति भावः॥ ११॥

मुनिराज नारदजीने अतिशय दानशीलतासे (अथवा-अधिक दानशीलताका प्रतिपादक 'दानपारमिता' नामक ग्रन्थ-विशेषसे) ही अत्यधिक पूजन (आदर-सत्कार) करनेवाले (गुरुरूप) इन्द्रके हाथोंसे स्वर्गमें नित्य साथ रहनेसे शिक्षा ग्रहण किये (सीखे) हुए, स्वर्गवृक्ष अर्थात् कल्पवृक्ष आदिको अतिशय दान देनेसे वदान्य (अतिशय दान करनेवाला) जाना। ['संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' उक्तिके अनुसार जो जिसके साथ सदा रहता है, वह बिना सिखाये भी उसके गुणोंको सीख लेता है, यहाँ देवर्षि नारदजीने दानवीर इन्द्रके हाथोंसे अत्यधिक आदर-सत्कार पाकर यह निश्चय किया कि कल्पवृक्षोंकी दानशीलता स्वभावज नहीं, किन्तु महादानी इन्द्रके सहवाससे हैं। इन्द्र कल्पवृक्षोंसे भी अधिक दानी थे]॥ ११॥

मुद्रितान्यजनसंकथनः सन्नारदं बलरिपुः समवादीत्।
आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः॥ १२॥

मुद्रितेति। बलरिपुरिन्द्रः,मुद्रितान्यजनसंकथनो निवारितेतरजनालापः सन्, नारदं समवादीत्, तेन सह संलापमकार्षीदित्यर्थः। किं संवाद्यं तदाह—प्रायशः सुहृदोर्मित्रयोः सहवासः सङ्गमः, स्वे आत्मीयाः परे च स्वपरे तेषां याः भूरयः कथाः प्रसङ्गास्तासाम् आकरः खनिर्हि। इष्टालापानामियत्ताभावात् संवादसिद्धिरित्यर्थान्तरन्यासाभिप्रायः। 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः॥ १२॥

बल दैत्यके शत्रु इन्द्रने दूसरे लोगोंकी या दूसरे लोगों के साथकी बातचीतको रोककर नारदजीसे कहा—क्योंकि दो मित्रोंका सहवास प्रायशः अपनी तथा दूसरोंकी बहुत-सी कथाओंकी खान होता है। [दो मित्रोंके मिलनेपर अपनी-अपनी हार्दिक रहस्यमयी बातें तथा अन्यान्य विविध संभाषण निरन्तर हुआ करते हैं, इसी कारण इन्द्र दूसरे लोगोंसे संभाषण करना आदि कार्य रोककर स्वयं नारदजीके साथ संभाषण करने लगे]॥ १२॥

तं कथानुकथनप्रसृतायां दूरमालपनकौतुकितायाम्।
भूभृतां स्वरमनागमहेतु ज्ञातुमिच्छुरवदच्छतमन्युः॥ १३॥

तमिति । शतमन्युः शतक्रतुः । 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः । आलपनकौतुकितायामाभाषणोत्कण्ठायां, दूरं कथानुकथनप्रसृतायाम् उत्तरप्रत्युत्तराभ्यां दूरं गतायां सत्यां, प्रसक्तानुप्रसक्तया सङ्गत्येत्यर्थः । चिरं चिरात्प्रभृत्ति भूभृतां राज्ञाम्, अनागमहेतुं ज्ञातुमिच्छुः सन् । तं नारदम्, अवददपृच्छदित्यर्थः ॥ १३ ॥

संभाषण-कौतुकके परस्पर कथनानुकथन (एक दूसरेके कहने तथा सुनने) के बहुत अधिक बढ़ जानेपर बहुत दिनोंसे राजाओंके स्वर्गमें न आनेके कारणको जाननेकी इच्छा करनेवाले शतमन्यु (सैकड़ों क्रोधवाले अर्थात् अत्यन्त क्रोधी = इन्द्र) ने उन नारदजीसे पूछा—['पहले भूलोकमें रणके सम्मुख मारे गये बहुतसे राजालोग स्वर्गमें आया करते थे, इस समय बहुत दिनोंसे किसी युद्धहत राजाके स्वर्गमें नहीं आनेका क्या कारण है ?' यह जाननेकी प्रबल इच्छा इन्द्रके मनमें थी, सर्वत्र घूमनेवाले नारदजी इस बातको अवश्य बतलायेंगे, ऐसा समझकर उनसे पूछा । अत्यधिक क्रोधी इन्द्रका युद्धप्रिय होना तथा तद्विषयक प्रश्न करना स्वाभाविक ही था] ॥ १३ ॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशाः किन्तु सम्प्रति न वीरकरीरान् ? ।
ये परप्रहरणैः परिणामे विक्षताः क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

प्रागिति । नृपवंशाः राजकुलानि, नृपः एव वंशाः वेणवश्च । 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः पूर्वमिव, सम्प्रति, वीरत्वेन करीरानङ्कुरान् । 'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमरः । न प्रसुवते न जनयन्ति । किं तु ? किं तैरत आह—य इति ये वीरकरीराः,, परिणामे परिपक्वावस्थायां, परेषामरीणाम् अन्येषां च । 'परं दूरान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनोः' इति वैजयन्ती । प्रहरणैरायुधैः दात्रादिभिश्च, विक्षताः सन्तः क्षितितलं निपतन्ति ॥ १४ ॥

राजवंश (राजाओंके कुल, पक्षान्तरमें—राजारूपी बाँस) इस समय पहलेके समान वीरकरीरोंको (हाथियोंको भी गिराने या कम्पित करनेवाले बीरों, पक्षान्तरमें—वीररूप करीरों अर्थात् बाँसके कोपलों) नहीं उत्पन्न करते हैं क्या ? जो (वीरकरीर) युवावस्थामें (पक्षांतरसे—पकनेपर) शत्रुओंके (पक्षा०—दूसरोंके) बाण-खड्गादि शस्त्रोंसे (पक्षांतरमें—कुल्हाड़ी आदिसे) विक्षत होकर (अत्यंत घायल होकर, पक्षा०—कटकर) भूतलपर गिरते हैं (किसी रोगसे पीड़ित होकर बुढ़ापेमें नहीं मरते) । जिस प्रकार बाँस उन वंशाङ्कुरोंको पैदा करता है, जिन्हें पक जानेपर अन्यलोग कुल्हाड़ी आदिसे काटकर ले जाते हैं, उसी प्रकार राजकुल हाथियोंको भी कँपा देनेवाले वीरोंको नहीं जन्माते क्या ? जो बुढ़ापेमें किसी रोगसे आक्रांत होकर नहीं मरते, अपितु पूर्ण युवावस्थामें युद्धमें शत्रुओंके शस्त्रप्रहारसे ही भूमिपर गिरकर प्राणत्याग करते हैं] ॥ १४ ॥

पार्थिवं हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि ।
गौरवाद्वपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम् ॥ १५ ॥

ततः किमत आह—पार्थिवमिति । वीराः पूर्वोक्ता रणपातिनः, पार्थिवं पृथिवीविकारम् अत एव गौरवात् गुरुत्वगुणयोगित्वात्, उर्ध्वगमनस्योत्पतनकर्मणः, पार्थिवत्वादूर्ध्वलोकप्राप्तेश्च, दूरमायन्तं विरोधि निजं वपुः, आजिषु युद्धेषु अपास्य माकृतामतिथिसत्कारस्तस्य ऋद्धिम्, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । भजन्ते हि । तादृग्वीरालाभे स्वस्यातिथिलाभो न स्यादिति भावः ॥ १५ ॥

वीर लोग पार्थिव (नृपभावापन्न, अथवा—मिट्टीसे बने) अत एव गौरव (बड़प्पन, अथवा—भारीपन) से अत्यंत दूर ऊपर जानेमें असमथ अपने शरीरको छोड़कर (अथवा भारी होनेसे ऊपर उठने अर्थात् स्वर्ग जानेमें असमर्थ अपने पार्थिव शरीरको दूर (भूतल पर) ही छोड़कर मुझसे अतिथि-गौरवोन्नतिको प्राप्त करते हैं । [अन्य भी व्यक्ति दूर जाने के लिये भारी बोझको छोड़ देता है । पार्थिव अर्थात् मिट्टीसे बनी वस्तुको छोड़कर इंद्रकृत गौरवमयी समृद्धिका सबके लिये प्रिय होना उचित ही है । भारी वस्तुको छोड़कर अधिक भारी तथा अपनी वस्तुको छोड़कर दूसरेकी वस्तु ग्रहण करना कौन नहीं चाहता ! अर्थात् सभी चाहते हैं । अथवा—वे वीर वैसे अपने शरीरको छोड़कर गौरव (महत्त्व) के कारण मुझसे की गयी गौरवपूर्ण अतिथिसत्काररूपी समृद्धिको पाते हैं इत्यादि यथाज्ञात अन्य भी अर्थ कर लेना चाहिये (जब ऐसे वीरोंके लिए स्वर्गाधीश देवराज इन्द्र भी तरसते हैं तो वे वीर धन्य हैं) । उन वीरोंके इस समय स्वर्गमें अतिथि-सत्कारमें प्राप्त होनेवाले पुण्यातिशयसे मैं वञ्चित रह जाता हूँ अत एव उन वीरोंके विषयमें पूछ रहा हूँ] ॥ १५ ॥

साभिशापमिव नातिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयान्ति ।
तेन न श्रियमिमां बहु मन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् ॥ १६ ॥

ननु तदलाभे तेषामेव सत्कारहानिस्तव तु न काचित् क्षतिरित्यत आह—साभिशापमिति । हे भगवन् मुने ! ते वीराः अतिथयः, अभिशापेन सह वर्तत इति साभिशापं मिथ्याभिशस्तमिव । 'अथ मिथ्याभिशंसनम् । अभिशापः' इत्यमरः । मामद्य नोपयान्तीति यत् । तेन हेतुना । स्वोदरस्यैकस्यैव, भृतिकार्येण, पोषणकृत्येन, कदर्यां कृपणाम् । 'कदर्ये कृपणः क्षुद्र'इत्यमरः । 'आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदाराश्च पीडयेत् । लोभाद्यः पितरौ भ्रातॄन् स कदर्य इति स्मृतः ॥' इति च । इमां श्रियं न बहु मन्ये । अतिथिसत्कारशून्यस्य श्रीवैफल्यमेव क्षतिरिति भावः ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! वे वीर अतिथि जो आज (इस समय) महापातक आदिसे कलङ्कितके समान मेरे यहाँ नहीं आते हैं, उससे केवल अपने पेट भरनेके कार्यसे तुच्छ (या कृपण) इस (स्वर्गैश्वर्यरूप) लक्ष्मीका मैं अत्यंत आदर नहीं करता अर्थात् उसे अच्छा नहीं मानता । [धन होनेका मुख्य फल अतिथि-सत्कार होनेसे, इस समय उसका लाभ न होने के कारण स्वर्गका यह ऐश्वर्य मुझे अच्छा नहीं लगता है] ॥ १६ ॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा सम्पदो विपद एव विमृष्टाः ।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः ॥ १७ ॥

पूर्वेति । पूर्वपुण्यविभवस्य व्ययेन लब्धाः सम्पदो विमृष्टाः विचारिताः विपद एव । सद्यः स्योदयेन पुराकृतसुकृतनाशकत्वादिति भावः । तासु विपत्सु सम्पद्रूपास्वापत्सु । आसां सम्पदां, पात्राणां विद्याजातितपोवृत्तसम्पन्नानां पाणिकमलेष्वर्पणं दानमेव विधिदृष्टः शास्त्रदृष्टः, शान्तिकविधिः शान्तिकर्मानुष्ठानम्, नष्टसुकृतादपि अत्युत्कृष्टसुकृतोत्पादनादिति भावः । अनेन बीजाङ्कुरन्याय उक्तः ॥ १७ ॥

पूर्व पुण्यैश्वर्यके व्ययसे मिली हुई अधिक सम्पत्तियाँ (अथवा—लक्ष्मीरूप भार या लक्ष्मीका भार) विचार करनेपर विपत्ति ही हैं । उन विपत्तियोंमें इन सम्पत्तियोंका सत्पात्रों के करकमलमें समर्पण करना (देना) ही शास्त्रमें देखा गया अर्थात् शास्त्रोक्त (अथवा—ब्रह्माके द्वारा वेदोंमें देखा गया) शान्तिके लिये विधान है । (अथवा—सत्पात्रके हाथपर दान-सम्बन्धी जलका समर्पण··· । [कमलमें लक्ष्मीका निवास रहना शास्त्र-प्रसिद्ध है. अत एव सत्पात्रके करकमलमें लक्ष्मीको समर्पण करनेका अर्थ लक्ष्मीको उनके निवास स्थानपर बैठाकर उसे स्थिर करना है । अन्य भी व्यक्ति विपत्ति कालमें शास्त्रोक्त हवन दान आदि शांतिक विधिका अनुष्ठान करते हैं] ॥ १७ ॥

तद्विमृज्य मम संशयशिल्पि स्फीतमत्र विषये सहसाघम् ।
भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः ॥ १८ ॥

तदिति । तत्तस्मात्, तत्र विषये अस्मिन्नर्थे, मम, संशयस्य शिल्पि तज्जनकं, स्फीतं, प्रभूतम्, अघमेनः, तन्मूलत्वान्मिथ्याज्ञानस्येति भावः । यद्वा, संशयः शिल्पी जनको यस्य तदघं दुःखं, दुःखहेतुत्वात्संशयस्येति भावः । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । सहसा विमृज्य निवर्त्य, भगवतो वाग्भिरद्य श्रुतिसारैर्वेदसारैः कर्णामृतैश्च । अघमर्षणऋग्भिः अघमर्षणीभिः ऋग्भिः 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः । 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । भूयताम् । भावे लोट् । राज्ञामनागमनकारणमसंदिग्धं ब्रूहीत्यर्थः । अत्र मुनिवाक्येष्वारोप्यमाणस्य अघमर्षणत्वस्य प्रकृताघहरणोपयोगात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् ॥

इस कारणसे कानोंमें सुधावर्षक अर्थात् कर्ण-सुखकर (पक्षांतरमें—वेदोंका सारभूत) आपके वचन इस समय, (राजालोग युद्धमें वीरगतिको प्राप्त कर स्वर्गमें क्यों नहीं आते ?) इस विषयमें बढ़े हुए तथा संशय पैदा करनेवाले (अथवा—संशयका कारण बने हुए) मेरे दुःख (पक्षांतरमें—पाप) को सहसा दूर कर अघमर्षण-ऋक् (मेरे दुःख या पापको धोने अर्थात् साफ करनेवाले ऋङ्मन्त्र, पक्षांतरमें—ऋग्वेदोक्त 'अघमर्षण' नामक ऋचा—'ऋतञ्च सत्यञ्चामीद्धा·········' ऋ० ८।८।४८) होवें । [जैसे वेदोक्त

अघमर्षण मन्त्रके सुननेसे पाप दूर हो जाते हैं, वैसे ही आपके वचनोंको सुननेसे वीरोंके स्वर्गमें न आनेका कारण जानकर मेरे दुःख दूर होवें ॥ १८ ॥

इत्युदीर्य मघवा विनयर्धि वर्धयन्नवहितत्वभरेण ।
चक्षुषां दशशतीमनिमेषां तस्थिवान्मुनिमुखे प्रणिधाय ॥ १९ ॥

इतीति। मघवा इन्द्रः, इत्युदीर्य, अवहितत्वभरेण एकाग्रतातिशयेन, विनयर्धि विनयातिशयं, वर्धयन्ननिमेषां चक्षुषां दशशतीं दशानां शतानां समाहारः दशशतीं सहस्रं, 'तद्धितार्थ–' इत्यादिना समाहारे द्विगावकारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रियां 'द्विगोः' इति ङीप्। एतेन शतमखी व्याख्याता। मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् तस्थौ। लिटः क्वसुरादेशः ॥ १९ ॥

यह (श्लोक १४–१८) कहकर अधिक सावधानीसे विनय-समृद्धिको बढ़ाते हुए इन्द्र मुनि नारदजीके मुखको निमेषरहित हजार आँखोंसे देखते हुए चुप हो गये। [अधिक सावधानी तथा देव होनेसे इन्द्र विना पलक गिराते (एकटक मुनिराजके मुखकी ओर उत्तरकी प्रतीक्षामें देखते) हुए चुपचाप बैठे रहे। अत्युत्कण्ठित अन्य कोई भी व्यक्ति उत्तर देनेवालेकी ओर एक टक देखता हुआ चुपचाप बैठ जाता है] ॥ १९ ॥

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाकं पाकशासनपदं स्पृशतोऽपि ।
नारदः प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मितः स्मितपुरस्सरमाख्यत् ॥ २० ॥

वीक्ष्येति। नारदः नाकशासनपदं स्पृशतोऽपीन्द्रत्वे तिष्ठतोऽपि। तस्येन्द्रस्य, विनये परिपाकं प्रकर्षं वीक्ष्य विस्मितः सन् सविस्मयः सन्, कर्तरि क्तः। प्रमदगद्गदयोक्त्या हर्षविस्वरया वाचा स्मितपुरस्सरं स्मितपूर्वमाख्यदाचचक्षे। 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः ॥ २० ॥

इन्द्रासनपर बैठे हुए भी उस इन्द्रके अधिक विनयको देखकर आश्चर्यित नारदजी हर्षाधिक्यसे गद्गद वचन मुस्कुराकर बोले—[कोई दूसरा व्यक्ति थोड़ी–सम्पत्तिको पाकर भी विनयसे रहित हो जाता है, और ये इन्द्रपदपर बैठे हुए भी इतना अधिक विनय कर रहे हैं, यही नारदजीके आश्चर्य एवं हर्षका कारण था। अन्य भी कोई व्यक्ति आश्चर्यचकित तथा हर्षित होनेसे कोई बात गद्गद होकर ही कहता है] ॥ २० ॥

भिक्षिता शतमखी सुकृतं यत्तत्परिश्रमविदः स्वविभूतौ ।
तत्फले तव परं यदि हेला क्लेशलब्धमधिकादरदं तु ॥ २१ ॥

भिक्षितेति। शतानां मखानां समाहारः शतमखी (दात्री), यत् सुकृतं भिक्षिता याचिता। भिक्षेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः। तत्फले तस्य सुकृतस्य फले, स्वविभूतौ निजैश्वर्यं हेला अवज्ञा अनास्था यदि, 'हेलाऽवज्ञा' इति वैजयन्ती। तत्परि-

श्रमविदो याच्ञावलेशाभिज्ञस्य तव परं केवलं तवैव। नान्यस्येत्यर्थः। 'परं स्याद्-त्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवले' इति विश्वः। याचक एव याचकदुःखं जानातीति भावः। ननु धनिनां दातृत्वं किं चित्रं तत्राह—क्लेशेति। सत्यं क्लेशलब्धं तु अधिकादरदम् अतिलोभकारि दुस्त्यजम्। त्वं तु मखशतक्लेशलब्धमप्यैश्वर्यमर्थिसात्करोषीति कथं न चित्रमित्यर्थः। अत्र क्लेशवाक्येन हेलात्वसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात्॥ २१॥

'आपने सौ अश्वमेध यज्ञरूपी पुण्यकी जो भिक्षा प्राप्त की है उसके (पानेमें) परिश्रम को जाननेवाले उस पुण्यके फल अपने (इन्द्रपदरूप) ऐश्वर्यमें, यदि अनादर (श्लो० १६) हैं तो केवल आपको है (अन्य किसीको नहीं। अथवा—यदि अधिक अनादर है तो आपको है।) कष्टसे प्राप्त हुई वस्तु तो अधिक आदरके योग्य होती है। [भिक्षामें प्राप्त इतने बड़े ऐश्वर्यका केवल आप ही अनादर कर सकते हैं, भिक्षाके कष्टको समझनेवाला दूसरा कोई व्यक्ति थोड़ी-सी सम्पत्ति पाकर भी उसका अनादर नहीं करता, फिर इतनी बड़ी—इन्द्र-पदरूप सम्पत्तिके अनादर करने की बात ही कौन कहे ?। भिक्षाप्राप्त इतनी बड़ी सम्पत्तिको भी आप जो अतिथिके सत्कारमें लगाना चाहते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है] ॥ २१॥

सम्पादस्तव गिरामपि[1] दूरा यन्न नाम विनयं विनयन्ते।
श्रद्दधाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभवः परमाप्तः॥ २२॥

सम्पद इति। किं बहुना, तव सम्पदो गिरामपि दूराः अगोचराः, कुतः, यद्यस्माद्विनयं न विनयन्ते नाम न लुम्पन्ति खलु। नयतेर्ष्ट् 'स्वरित—' इत्यादिना आत्मनेपदम्, 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यस्मादिति केचित्। तदसत्। सम्पदां कर्तृणाम् अचेतनत्वेन कर्मणो विनयस्येन्द्रियनिष्ठत्वेन चाकर्तृस्थत्वादिति। अतः स्तोतुमशक्या इत्यर्थः। किं त्विह विनयोत्तरत्वे परमाप्तः प्रमाणभूतः साक्षादनुभवः प्रत्यक्षानुभवसिद्धः नाह चेत्क इव को वा, श्रद्दधाति विश्वसिति, न कश्चिदित्यर्थः। त्वत्सम्पदां विनयोत्तरत्वे साक्षादनुभवतां मादृशामेव श्रद्धा जायते नान्येषां, प्रायेणान्यत्र सम्पदां विनयहारित्वात्। किं बहुना, वयमपि न श्रद्दध्म इति भावः। अत्र सम्पदां वाग्गोचरत्वेऽपि तदगोचरत्वोक्त्या असम्बन्धरूपातिशयोक्तिः॥ २२॥

वचनके अविषय अर्थात् अवर्णनीय ('इतनी सम्पत्ति है' ऐसा नहीं बता सकने योग्य) सम्पत्तियाँ जो तुम्हारे विनयको नहीं दूर करती हैं, इसमें यदि अत्यन्त आप्त (परम मित्र, अथवा—राग द्वेषसे रहित कोई परम प्रामाणिक व्यक्ति, अथवा—कभी नहीं व्यभिचरित अर्थात् दूषित होनेवाला) अनुभव साक्षात् नहीं कहता है तो कौन श्रद्धा करता है अर्थात् कोई नहीं। [अथवा–इस विषयमें यदि परम आप्त साक्षात् अनुभव कहता है तो कौन

---

१. 'मति—' इति पाठान्तरम्।

विश्वास नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं (क्योंकि साक्षात् अनुभूत विषयमें अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं होता है) अथवा-संसारमें लोग प्रायः श्रीमान् व्यक्तियोंकी झूठी प्रशंसा किया करते हैं, किन्तु तुम्हारी झूठी प्रशंसा नहीं करते, ऐसा कोई परममित्र या आप्त या अनुभव ही साक्षात् कह रहा है तो कौन विश्वास नहीं करेगा ? अर्थात् सब करेंगे। अन्य व्यक्ति सम्पत्ति होनेपर विनयको छोड़ देते हैं, किन्तु तुम इतनी अपार सम्पत्ति पाकर भी विनयी हो, यह बात प्रत्यक्ष अनुभवसे ही विश्वासके योग्य है]॥२२॥

श्रीभरानतिथिसात्करवाणि स्वोपभोगपरता न हितेति ।
पश्यतो बहिरिवान्तरपीयं दृष्टिसृष्टिरधिका तव कापि ॥ २३ ॥

श्रीभरानिति। श्रीभरान् सम्पदुच्छ्रयान्, अतिथिसात् दानेनातिथ्यधीनं, 'देये त्रा च' इति चकारात् सातिप्रत्ययः। करवाणि कुर्याम्। विध्यर्थे लोट्। 'आडुत्तमस्य पिच्च' इति मेर्निः। स्वोपभोगपरता आत्मम्भरित्वं, न हिता न श्रेयस्करीति पश्यतो जानतः प्रेक्षमाणस्य च तव बहिरिव देह इव अन्तरात्मन्यपि कापीयं दृष्टिसृष्टिः ज्ञानसृष्टिरक्षिसृष्टिश्च। 'दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षिदर्शने' इत्यमरः। अधिका असाधारणी, द्वयोरपि दृष्ट्योः श्लिष्टशब्दोपात्तयोरभेदाध्यवसायेन बहिरिवेत्युपमा ॥ २३ ॥

'समस्त सम्पत्तिको दान देकर अतिथियोंके अधीन कर दूँ, उनका अपने लिए ही उपभोग हितकर नहीं है' इस प्रकार अन्तःकरणमें भी बाहरके समान देखते हुए कोई अर्थात् लोकोत्तर या अनिर्वचनीय तुम्हारी दृष्टि-रचना है। [जिस प्रकार सहस्र नेत्र होनेसे बाहरमें तुम्हारी दृष्टि-रचना लोकोत्तर है, उसी प्रकार मनमें उक्त उत्तम विचार करनेसे तुम्हारी ज्ञानदृष्टि भी लोकोत्तर अनिर्वचनीय है, तुमसे अधिक विचारवान् कोई नहीं है] ॥ २३ ॥

आः स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः स्मः ।
द्यां प्रशाधि गलितावधिकालं साधु साधु विजयस्व विडौजः ! ॥२४॥

आ इति। विडं भेदकम्। विड भेदने। इगुपधलक्षणः कः, तदोजो यस्य तस्य सम्बुद्धिः हे विडौजः !, स्वभावमधुरैः निसर्गरमणीयैः, तवेमे तावकाः 'तवकममकावेकवचने' इत्यणि तावकादेशः। तैरनुभवैरश्चर्यैरतितरामत्यन्तम्, अव्ययादामुप्रत्ययः। तरलाः लोलाः आनन्दलहरीमग्नाः स्म इत्यर्थः। आ इत्यानन्दास्वादानुकारः। गलितावधिकालमनन्तकालम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। द्यां स्वर्गं साधु प्रशाधि पालय। साधु, विजयस्व सर्वोत्कृष्टो भव। 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदम् ॥ २४ ॥

हे विडौजा ! (व्यापक तेजवाले इन्द्र !) स्वभावतः मधुर (दिखावट नहीं) तुम्हारे प्रभावों (या भावप्रकाशन या प्रत्यक्षतः अनुभव किये गये कार्यों) से आः मैं अत्यन्त चलायमान या आश्चर्यित हूँ। अवधिरहित (अनन्त) समयतक अच्छी तरह स्वर्गका शासनकरो

और अच्छी तरह विजय करो। [यद्यपि मुनि होनेके कारण किसीका गुण या दोष देखकर मुझे विचलित या आश्चर्यित नहीं होना चाहिये, तथापि तुम्हारे स्वाभाविक अर्थात् निष्कपट एवं शाश्वत मधुर प्रभावसे हम चञ्चल या आश्चर्यित हो रहे हैं। अतः महाहर्षाधिक्यसे 'भाः' शब्दका प्रयोग हुआ है] ॥ २४ ॥

सङ्ख्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाघलघूनाम्।
यत्त्विहानुपगमः शृणु राज्ञां तज्जगद्युवमुदं तमुदन्तम्॥ २५ ॥

एवमिन्द्रमभिनन्द्य तत्प्रश्नोत्तरमाह—सङ्ख्येति। सङ्ख्येसमरे, समरे, विक्षताभ्यः प्रहृताभ्यः तनुभ्यो गात्रेभ्यः, स्रवद्भिरस्रैरसृग्भिः क्षालितानि निर्णिक्तानि अखिलानि निजान्यघानि येषां तेषामत एव लघूनां निर्भाराणां राज्ञां यद्यस्मात् कारणादिह स्वर्गेऽनुपगमो नागमः तत्कारणभूतं जगत्सु ये युवानः तेषां मुदमानन्दकारणम् असाधारणार्थम्, अभेदेन व्यपदेशः। तं प्रसिद्धम् उदन्तं वार्ताम्। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः' इत्यमरः। शृणु। अत्र क्षालिताघपदार्थस्य विशेषणगत्या लघुत्वहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २५ ॥

युद्धमें घायल शरीरसे बहते हुए रक्त द्वारा धो दिये गये हैं सब पाप जिनके, ऐसे होनेसे हलके (अथवा—···धोये गये सब पापोंके कारण हलके। 'हलका' होनेसे अत्यन्त ऊँचे आनेमें समर्थ) राजालोगोंका यहाँ (स्वर्गमें) आगमन नहीं होता है, संसारके अत्यन्त हर्षप्रद उस वृत्तान्तको सुनो। [हलकी वस्तु सरलतासे अत्यधिक ऊँचे स्थानको जा सकती है, युद्धमें धायल होने या मरनेसे वीरोंको पुण्यातिशयलाभ होता है तथा उनके पाप नष्ट हो जाते हैं, पापका भार अत्यन्त भारी (ढोनेमें अशक्य) तथा पुण्यका भार अत्यन्त हलका (सर्वत्र ले जानेयोग्य) होता है, हलके भार (बोझे) वाला व्यक्ति सरलतासे पर्वतादि ऊँचे स्थानोंमें चढ़ सकता है। सब पाप नष्ट होनेसे पुण्यात्मा वीर राजाओंका भी स्वर्गमें पहुँचना अनायास साध्य है] ॥ २५ ॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी।
भीमभूपतनया दमयन्ती नाम या मदनशस्त्रममोघम्॥ २६ ॥

सेति। भुवो भूषणं किमप्यनर्घममूल्यं रत्नम्। असाधारणं स्त्रीरत्नमित्यर्थः। कुमारी कन्या, अनूढेत्यर्थः। सा दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र भुवि जयति। सर्वोत्कर्षेण जागर्ति, या अमोघं मदनशस्त्रम् ॥ २६ ॥

वहाँ (भूतलपर) पृथ्वीका भूषण अमूल्य कोई (अनिर्वचनीय अर्थात् जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, अथवा—जिस रत्नका नाम नहीं बतलाया जा सकता) रत्न राजा भीमकी कन्या दमयन्ती नामकी कुमारी सर्वश्रेष्ठ है, जो कामदेवका अमोघ (कभी

निष्फल नहीं होनेवाला) शस्त्र है । [उसने पृथ्वी अलंकृत है, कुल नाम तथा कुमारी कहने से वह विवाहके योग्य हैं, इच्छा हो तो तुम भी उसके लिये उपाय करो, ऐसा संकेत है] ॥

सम्प्रति प्रतिमुहूर्तमपूर्वा कापि यौवनज'वेन भवन्ती ।
आशिखं सुकृतसारभृते सा क्वापि यूनि भजते किल भावम् ॥ २७ ॥

अथेन्द्रस्य मात्सर्योत्पादनाय तस्याः पुरुषान्तरासक्तिश्च वक्ति—सम्प्रतीति । सम्प्रतीदानीं, सा दमयन्ती, यौवनस्य जवेनोद्भववेगेन. प्रतिमुहूर्तं काप्यपूर्वा लावण्यमयावयवपोषविशेषेणान्येव भवन्ती । आशिखं शिखापर्यन्तम्, अभिविधावव्ययीभावः । सुकृतसारभृते उत्कृष्टपुण्यभृते ईदृग्भाग्यसम्पन्न इत्यर्थः । क्वापि कस्मिन्नपि यूनि भावमनुरागं भजते । किलेत्यैतिह्ये ॥ २७ ॥

इस समय प्रत्येक क्षणमें यौवन वेगसे कोई अपूर्व अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी होती हुई वह दमयन्ती एड़ीसे चोटी तक पुण्यके सारसे परिपूर्ण किसी युवकमें अनुराग कर रही है । जगत्सुन्दरी वह दमयन्ती स्वयं जिसे चाहती है, उस युवकके पुण्यजन्य भाग्यातिशयका क्या वर्णन किया जाय ? अर्थात् वह अत्यन्त भाग्यशाली है । [प्रतिक्षण उसके सौन्दर्यकी वृद्धिका वर्णन करते हुए नारदजीने उस दमयन्तीका किसी भाग्यशाली युवक में स्वयं प्रेम करना कहकर अहल्या आदिकी इच्छा करनेसे कामवासनामें प्रसिद्ध इन्द्रकी उत्कण्ठाको अधिक बढ़ा दिया है] ॥ २७ ॥

कथ्यते न कतमः स इति त्वं मां विवक्षुरसि किं चलदोष्ठः ? ।
अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छां निर्गमेण न परिश्रमयैनाम् ॥ २८ ॥

कथ्यत इति । किञ्च, चलदोष्ठस्त्वं स युवा कतम इति मां विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरसि किम् । तर्हि अर्धवर्त्मन्यर्धोक्ते पृच्छां प्रश्नम् । भिदादित्वादङ् । न रुणत्सीति काकुः । एनां पृच्छां निर्गमेणोच्चारणेन न परिश्रमय मा खेदय । कुतः न कथ्यते । यतः पृष्टोऽपि न कथयामि, अतो न प्रष्टव्यमेवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

हिलते हुए ओठवाले तुम 'वह युवक कौन है' यह (मुझसे) पूछना नहीं चाहते हो क्या ? अर्थात् अवश्य ही पूछना चाहते हो । आधे मार्गमें अपने प्रश्नको नहीं रोकते हो ? अर्थात् रोकते ही हो, उसको (मुखसे) बाहर निकालकर अर्थात् उस प्रश्नको पूछकर, उसे मत थकाओ (मत पूछो, क्योंकि मैं उसे) नहीं कहूँगा । (अथवा-हिलते हुए ओठवाले तुम 'उस दमयन्तीके अनुरागभूत युवक को आप नहीं कहेंगे क्या ?') इस प्रकार पूछनेके इच्छुक नहीं हो क्या ?... । [तुम्हारे ओठके हिलनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि तुम दमयन्तीके अनुराग विषयभूत उस युवकका परिचय पूछना

---

१. '—भरेण' इति पाठान्तरम् ।

चाहते हो, लेकिन उसे पूछना व्यर्थ है, उसका परिचय मैं नहीं दे सकता (अन्य भी व्यक्ति किसीके प्रश्नका उत्तर नहीं देना चाहता है तो उसके ओठका हिलना देखकर उसे प्रश्न करनेका इच्छुक समझकर उसे प्रश्न करनेके पहले ही रोक देता है] ॥ २८ ॥

यत्पथावधिरणुः परमः सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात् ।
बालया निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम् ॥ २९ ॥

किं कपटादकथनं, नेत्याह—यत्पथेति । परमो अणुर्यस्या योगिधियः पन्थाः, यत्पथस्तस्यावधिः सीमा, सा योगिधीरपि । बालया निजमन एव परमाणुः । 'अणुपरिमाणं मनः' इति सूत्रणात् । तस्मिन् ह्रीरेव दरी गुहा तच्छयहरीकृतं तद्गतसिंहीकृतम् एनं युवानं, यस्मान्न पश्यति तस्मान्न कथ्यत इति पूर्वेणान्वयः । योगिबुद्धेरपि परमाणुस्वरूपग्राहित्वमेव नान्तःप्रवेशे शक्तिरित्यज्ञानादकथनं, न कपटात् । सा तु मन्दाक्षमन्थरतया न कथयतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

परमाणु योगियोंकी बुद्धिके मार्गकी अन्तिम अवधि है अर्थात् योगीलोग अधिकसे अधिक सूक्ष्म पदार्थ परमाणु तक ही देख सकते हैं; बाला (दमयन्ती) के द्वारा अपने मनोरूप परमाणुमें लज्जारूपी गुहामें सोनेवाले सिंह बनाये गये इसे (युवकको), वह योगिबुद्धि भी नहीं देखती है । [जिस प्रकार गुहामें सोए हुए सिंहको अन्धकार होनेसे कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार दमयन्ती–मनोरूप परमाणुमें उसे रखती है और गुहाके समान विशाल और अन्धकार युक्त लज्जामें सिंहके समान छिपा रखा है अर्थात् लज्जाके कारण उस युवकका नाम अपने मनमें ही रखती है, किसीसे बतलाती नहीं; अत एव उस युवकका नाम कोई नहीं जानता जो आपसे बतला सके । योगीलोग मनके बराबर परिमाणवाले परमाणु तकका प्रत्यक्ष करते हैं, किंतु वह युवक दमयन्तीके परमाणु परिणाम मनके भी भीतर रहनेसे उसे मनसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेसे अज्ञेय है । यही कारण है कि योगके बल पर भी मैं उसका नाम नहीं बतला सकता] ॥ २९ ॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्यं सूचिता विरहवाचिभिरङ्गैः ।
तातचित्तमपि धातुरधत्त स्वस्वयंवरमहाय सहायम् ॥ ३० ॥

तर्हि कामुकीत्वमात्रं वा कथमस्याः प्रतीतमत आह—सेति । सा भैमी, विरहवाचिभिः विरहव्यञ्जकरङ्गैः कार्श्यपाण्डिमादिपरिक्लिष्टैरिति भावः । कुसुमशरस्य कामबाणस्य शरव्यं लक्ष्यं, सूचिता । कुत्रचिद्यूनि बद्धभावेत्येतावन्मात्रमवगतेत्यर्थः । तर्हि तत्पित्रा वा वरविशेषज्ञानं विवाहोपायः कथं चिन्तितस्तत्राह—तातचित्तमपि (कर्म), स्वस्वयंवरमहाय धातुः सहायमधत्त अकरोत् । सहकारीचकारेत्यर्थः । तत्पित्रापि धातृप्रेरणया स्वयंवर एवोपायश्चिन्तित इति भावः ॥ ३० ॥

(पाण्डुता, दुर्बलता आदिके द्वारा) विरह को बतलानेवाले कामबाणका लक्ष्य

(निशाना) बनी हुई अपनेको प्रकट करनेवाली वह (दमयन्ती) पिताके चित्तको भी स्वयंवरोत्सवके लिये भाग्यका सहायक बना दिया है। [दमयन्तीके पिताने उसके अङ्गोंमें पाण्डुता, दुर्बलता आदि विरहचिह्नोंको देख 'यह कामबाणपीडित हो रही है' यह समझ 'जैसा ब्रह्मा करेंगे वैसा होगा' यह विचारकर उसके स्वयंवरोत्सवकी तैयारी की है] ॥३०॥

मन्मथाय यदथादित राज्ञां हूतिदूत्यविधये विधिराज्ञाम् ।
तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति ॥ ३१ ॥

अस्तु राज्ञामनागमे किं कारणमुक्तं तत्राह—मन्मथायेति । अथ विधिर्विधाता, राज्ञां हूतिः स्वयंवराह्वानं, तदेव दूत्यं दूतकर्म । 'दूतस्य भागकर्मणि' इति यत्प्रत्ययः । तस्य विधये करणाय मन्मथायाज्ञामादेशमदित दत्तवानिति यत् । तेनाज्ञादानेन तत्परवशाः मन्मथपरतन्त्राः । शिवभागवतत्समासः । पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति विषमिव मन्यन्ते । 'विषं स्याद्गरलं गरः' इति हलायुधः ॥३१॥

इस (दमयन्तीके स्वयम्वरके लिये प्रेरित होने) के बाद ब्रह्माने राजाओं को आह्वान (बुलाना) रूपी दूतकार्यके लिये मन्मथ (मनको मथन करनेवाले) कामदेवको आज्ञा दी है, उस कारण उस मन्मथ (कामदेव) के पराधीन राजालोग युद्धको विषके समान मानते हैं । [स्वयम्वरका समाचार सुनकर कामके वशीभूत सब राजा वहाँ जानेकी तैयारीमें हैं, युद्ध करना कोई भी नहीं चाहता । जिस प्रकार एकके ही प्राणघातक विषको सेवन करना कोई साधारण बुद्धिवाला भी नहीं चाहता, उसी प्रकार अनेकोंके प्राणघातक संगर (सम्यक् गर = महाविष) अर्थात् युद्धको भी कोई राजा नहीं चाहता] ॥ ३१ ॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वापि गुणेषु ।
तत्र तत्र कलयापि विशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः ॥ ३२ ॥

येष्विति । किञ्च, दमयन्ती, भूषणेषु हारादिषु, यदि वा, गुणेषु दयादाक्षिण्यादिषु वा, येषु येषु सरसा साभिलाषा, तत्र तत्र तेषु तेषु भूषणेषु गुणेषु च कलया मात्रयापि यो विशेषः क्षितिभृतां स हि स एव । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः । पुरुषार्थः प्रयोजनम्, यथाकथञ्चिद्भैमीमनोरञ्जनमेव पुरुषार्थो न तु क्षात्रधर्मः सङ्गर इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

दमयन्ती जिन-जिन भूषणों (हार, मुकुट केयूर आदि) में अथवा गुणों शोभाविलास आदि आठ पुरुष गुणों (या उदारता–दया आदि गुणों) में अनुराग करती है, उन-उन (भूषणों या गुणों) में (एक दूसरेकी अपेक्षा) थोड़ी–सी भी विशेषता लाना ही राजाओंका पुरुषार्थ हो रहा है । [पहले राजालोग जो युद्धके लिये पुरुषार्थका संग्रह करते थे, वे अब दमयन्तीके प्रिय भूषणों तथा शोभा आदि गुणोंके संग्रहमें दत्तचित्त हैं, अत एव युद्धमें पुरुषार्थ दिखाकर प्राणत्यागपूर्वक स्वर्गलाभ करना कोई राजा नहीं चाहता है] ॥ ३२ ॥

शैशवव्ययदिनावधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे ।
आदरादहरहः कुसुमेषोरुल्ललास मृगयाभिनिवेशः ॥ ३३ ॥

शैशवेति । कुसुमेषोः कामस्य, यौवनोदयिनि यौवनप्रादुर्भाववति, राजसमाजे राजसमूहे विषये, तस्याः भैम्याः, शैशवव्ययदिनं बाल्यापगमदिनम्, अवधिः सीमा यस्मिंस्तत्तथा, तद्दिनमारभ्येत्यर्थः । अहरहः प्रत्यहम् । वीप्सायां द्विर्भावः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । आदरात् मृगयायामभिनिवेशः आग्रहः । उल्ललास ववृधे । सर्वेषामपि यूनां भैमीयौवनोद्भेदात् प्रभृति स्मरव्यसनमेव वर्तते, न समरव्यसनमित्यर्थः ।

उस दमयन्तीके बचपन बीतनेके दिनसे लेकर अर्थात् युवावस्था प्रारम्भ होनेके दिनसे, युवावस्था प्राप्त करते हुए (अथवा—युवावस्था तथा ऐश्वर्य-समृद्धिवाले) राज-समुदाय में कामदेवकी मृगया (शिकार) का आग्रह प्रतिदिन अधिक बढ़ रहा है [दमयन्तीके युवती होनेके दिनसे युवक राज-समुदाय कामदेवके शिकार (वशीभूत) हो रहे हैं] ॥ ३३ ॥

इत्यमी वसुमतीकमितारः सादरास्त्वदतिथिर्भवितुं न ।
भीमभूसुरभुवोरभिलाषे दूरमन्तरमहो नृपतीनाम् ॥ ३४ ॥

इतीति । इतीत्थममी नृपाः वसुमत्याः कमितारः कामयितारः सन्तः तृच् । वसुमतीं वा कमितारः । ताच्छील्ये तृन् । 'न लोक–' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पादुभयत्रापि णिजभावः । त्वदतिथिर्भवितुं सादराः साकाङ्क्षाः न । तथा हि, नृपतीनां भीमभूः भैमी सुरभूः द्यौस्तयोरभिलाषे तद्विषयानुरागे दूरमन्तरं महत्तारतम्यम्, अहो, स्वर्गेऽप्यरुचिरित्याश्चर्यम् । एतेन सुराङ्गनातिशायिसौन्दर्यं दमयन्त्या इति व्यज्यते । भीमदेशसुरदेशयोः महान् विप्रकर्ष इत्यर्थान्तरप्रतीतिः । अत्रोत्तरवाक्यार्थेन स्वर्गारुच्या पूर्ववाक्यार्थातिथ्यानादरस्य समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३४ ॥

इस कारण पृथ्वीको चाहनेवाले पृथ्वीको चाहते हैं (दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिये पृथ्वीपर ही रहना चाहते हैं) तुम्हारे अतिथि होनेके लिये (युद्धमें प्राणत्यागकर स्वर्गमें आनेके लिये) आदर नहीं करते (स्वर्गमें आना नहीं चाहते) । अथवा—इस प्रकार दमयन्तीके इच्छुक पृथ्वीको चाहनेवाले (पहिले युद्धमें शत्रुको जीतकर भूमिको चाहनेवाले) ये (राजालोग) तुम्हारे अतिथि होनेके लिये आदर नहीं करते (युद्धमें मरकर स्वर्ग पाना नहीं चाहते) । अहो ! भीमनगरी (कुण्डिनपुरी), तथा देवभूमि (स्वर्ग) को राजाओंके चाहनेमें बहुत दूरका अन्तर है, भीमकी राजधानी कुण्डिनपुरीको स्वर्गकी अपेक्षा पास होनेसे राजालोग समीपस्थ कुण्डिनपुरीको ही जाना चाहते हैं, स्वर्गको नहीं । अथवा—भीमकन्या (दमयन्ती) और देवकन्या (अमराङ्गना) को राजाओंके चाहनेमें बहुत दूरका अन्तर है अर्थात् राजालोग देवाङ्गनाओंसे भी अधिक सुन्दरी दमयन्तीको ही चाहते हैं,

देवाङ्गनाओंको नहीं। [अन्य भी कोई व्यक्ति कष्ट उठाकर (युद्ध करनेमें तथा दूर देश जाने में बड़ा कष्ट होता है) एवं प्राणोंको देकर बहुत दूरदेश (जैसे स्वर्ग) में जाकर वहाँ तुच्छ वस्तु (देवाङ्गना) को प्राप्त करने की चाहना छोड़कर जीते जी आनन्दपूर्वक थोड़ी दूर (भूमिपर स्थित कुण्डिनपुर) जाकर सर्वोत्तम वस्तु (दमयन्तीरूप अमूल्य स्त्रीरत्न) पाने की चाहना करनेमें अधिक आदर करता है] ॥ ३४ ॥

तेन जाग्रदधृतिर्दिवमागां सङ्ख्यसौख्यमनुकर्तुमनु त्वाम् ।
यन्मृधं क्षितिभृतां न विलोके तन्निमग्नमनसां भुवि लोके ॥ ३५ ॥

एवं राज्ञां स्वर्गानागमने हेतुमुक्त्वाथ स्वस्यागमने हेतुमाह—तेनेति। यद्यस्माद्भुवि लोके भूलोके तस्यां दमयन्त्यां, निमग्नमनसाम् आसक्तचेतसां क्षितिभृतां मृधं युद्धं न विलोके न पश्यामि। तेन युद्धालाभेन जाग्रदधृतिः संमूर्च्छदसन्तोषः असन्तुष्टः सन्, सङ्ख्यसौख्यं युद्धसुखम्। 'मृधमास्कन्दनं सङ्ख्यम्' इत्यमरः। अनुकर्तुमनुभवितुं, त्वामनु त्वामुद्दिश्य, दिवं स्वर्गमागाम् ॥ ३५ ॥

उस दमयन्तीमें आसक्त चित्तवाले राजाओंका युद्ध भूलोकमें मैं नहीं देखता हूँ, उससे बढ़ते हुए असन्तोषवाला (अथवा—असन्तुष्ट अधैर्ययुक्त, अत एव जागरूक) मैं युद्धजन्य सुखको प्राप्त करनेके लिये तुम्हारे पास स्वर्गमें आया हूँ। [नारदजी सदा कलहप्रिय हैं, उनकी यही कामना ही है कि इधर—उधर कर परस्परमें लोगोंको लड़ा दें, इसीसे लोकमें किसी झगड़ा लगानेवाले व्यक्तिको देखकर लोग कहते हैं कि—'देखो ये नारदजी आ गये'। यहाँ नारदजी का इन्द्रके पास पहुँचनेका यह आशय है कि—इन्द्र ही कोई उपाय करें, जिससे राजाओंमें युद्ध छिड़ जाय] ॥ ३५ ॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्तं हन्त हन्तृकरुणं विरुणद्धि ।
पृच्छ्यसे तदपि येन विवेकप्रोञ्छनाय विषये रससेकः ॥ ३६ ॥

वेदेति। हन्तृष्वकरुणं समूलघातं हन्तारं भवन्तं कोपि न विरुणद्धि न विगृह्णाति। हन्तेति हर्षे। वेद यद्यपि एतावद्वेद्म्येव। 'विदो लटो वा' इति विदो णलादेशः। यद्यपीत्यवधारणे, तदपि तथापि पृच्छ्यसे। अज्ञः पृच्छति न विद्वानत आह—येन कारणेन विषये भाग्ये रससेको रागानुबन्धो जलसेकश्च विवेकस्य विशेषज्ञानस्य चित्राद्यसाङ्कर्यस्य प्रोञ्छनाय प्रमार्जनाय, विषयतृष्णालुप्तविवेकः पृच्छामीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

यद्यपि 'प्रहार करनेवालोंमें तुम निर्दय हो (प्रहार करनेवालोंको निर्दय होकर नष्ट कर देते हो, अतः) तुमसे कोई वैर नहीं करता है, यह मैं जानता हूँ; तथापि तुमसे पूछता हूँ (कि—युद्ध होगा या नहीं। अथवा—युद्धके लिये तुमको उत्साहित करता हूँ), क्योंकि अभिलषित विषयमें अधिक अनुराग (पक्षान्तरमें—जलके द्वारा धोना) ज्ञानाभावके लिये

(पक्षान्तरमें—पङ्क आदिको धोनेके लिये) होता है, यह आश्चर्य है अर्थात् अत्यन्त अभीष्ट वस्तुमें अधिक स्नेहके कारण ज्ञानकी कमी हो जाती है'। [विषयको जानते हुए भी लोग अत्यधिक अनुरागके कारण उसमें अपनी अजानकारी व्यक्त करते हुए उस विषयको अधिक स्पष्ट करना चाहते हैं] ॥ ३६ ॥

एवमुक्तवति देवऋषीन्द्रे द्रागभेदि मघवाननमुद्रा ।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूनां कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः ॥ १७ ॥

एवमिति । देवऋषीन्द्रे नारदे । 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । एवमुक्तवति सति, मघोनः आनेन मुद्रां मौनं मघवाननमुद्रा । 'मघवा बहुलम्' इति विकल्पान्मतुवादेशाभावः । द्राक् झटित्यभेदि स्वयमेव भिद्यते स्म । 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इति कर्तुः कर्मवद्भावात् 'कर्मकर्तरि लुङ्' । तङादिकार्यं 'यगात्मनेपदचिण्चिण्वद्भावाः प्रयोजनम्' इति वचनात् । 'क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति । सुकरैः स्वगुणैर्यस्मात् कर्मकर्तेति तं विदुः ॥' इति ॥ तथाहि, विभूनां प्रभूणां, कोऽपि मञ्जुलतमोऽतिहृद्यः क्रमवादः प्रश्नोत्तरक्रमेणोक्तिः । उत्तरोत्तरशुभः उपर्युपरि सुभगो हि । अर्थान्तरन्यासः ॥ ३७ ॥

देवर्षिनारदजीके ऐसा (श्लो० २१–३६) कहनेपर इन्द्रकी मुखमुद्रा (मौन रहना) शीघ्र भङ्ग हो गयी अर्थात् इन्द्र शीघ्र बोले । उत्तरोत्तर शुभ (अथवा—उत्तर प्रत्युत्तरसे शुभ) बड़े लोगोंका क्रमशः कुछ बोलना अत्यन्त मनोहर होता है । (अथवा—बड़े लोगोंका अत्यन्त मनोहर कुछ भी क्रमसे बोलना उत्तरोत्तर शुभ या उत्तर प्रत्युत्तरसे शुभ होता है । अथवा—बड़े लोगोंका बोलना क्रमशः कुछ अनिर्वचनीय उत्तरोत्तर शुभ अतिशय मनोहर होता है । [बड़े लोग जैसा क्रमबद्ध उत्तर प्रत्युत्तररूपसे अत्यन्त मनोहर बातचीत करते हैं वैसा साधारण व्यक्ति नहीं करते । अथवा—बड़े लोगोंका अतिशय मनोहर क्रमबद्ध भाषण पहले या बादमें शुभकारक होता है, अतः इन्द्र फिर भी बोले] । ३७ ॥

कानुजे मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा ।
यद्भुजाङ्कमुपधाय जयाङ्कं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥ १८ ॥

कानुज इति । निजे स्वीये अनुजे दनुजारौ उपेन्द्रे स्वशरणे स्वरक्षके स्वगृहे वा 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । जाग्रति जागरूके सति । मम रणचर्चा रणचिन्ता का ? न कापीत्यर्थः । जयोऽङ्कश्चिह्नं यस्य तं तद्भुजाङ्कं, यस्यानुजस्य भुजोत्सङ्गमुपधायोपधानीकृत्य वीतविशङ्को निरातङ्कः सन् शर्मणा सुखेन स्वपिमि शये । यथा रक्षिजने जाग्रति राजा शय्यागारे सुखेन भुजमुपधाय स्वपिति तद्वदिति भावः । इह निरातङ्कवृत्तिस्सुप्तिः अस्वप्नत्वादमराणाम् ॥ ३८ ॥

अपने (मेरे) घरमें (अथवा—मेरे रक्षक, अथवा—आत्मीयजनों अर्थात् देवोंके रक्षक)

अपने छोटे भाई दानवशत्रु (विष्णु) के सावधान (या जागरूक या योगक्षेमके लिये तत्पर रहनेपर, (पक्षान्तरमें—जागते रहनेपर) मुझे युद्धकी क्या बात (या चिन्ता) है ? विजयरूप चिह्नसे (अथवा—विजयसूचक शङ्ख चक्र आदिसे) चिह्नित जिसके बाहुमध्यको तकिया बनाकर निर्भय मैं सुखपूर्वक सोता हूँ। [अन्य भी व्यक्ति रक्षकके जागते रहनेपर निर्भय हो सुखपूर्वक सोता है। आत्मीय-रक्षक विष्णुके जागरूक रहनेपर युद्धकी कोई चर्चा नहीं है, जिसे देखकर आप प्रसन्न होंगे] ॥ ३८ ॥

विश्वरूपकलनामुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनिं स निनाय ॥ ३९ ॥

विश्वेति। तस्योपेन्द्रस्य विश्वरूपकलनात् सर्वार्थसाक्षात्करणात्, यद्वा एकत्र मत्स्यकूर्माद्यनन्तरूपधारणादन्यत्र विश्वार्थरूपणात्, विश्वरूपाणि सूत्राणि तत्प्रणयनात् (हेतोः), जैमिनिमुनित्वमुदीये उत्पन्नम्। इण् गतौ कर्तरि लिट्। उपपन्नं तच्च युक्तमित्यर्थः। कुतः, स उपेन्द्रः, मखभुजां विग्रहं विरोधमन्यत्र शरीरम्, असहिष्णुर्मदशनिं मम वज्रायुधम्, नन्वत्र 'वज्रहस्तः पुरन्दर' इत्यादिवाक्यजातं, व्यर्थतां स्वायुधेनैव तत्कार्यकरणान्निष्प्रयोजनत्वम्, अन्यत्र विग्रहवद्देवतानिरासेन अर्थवादत्वान्निरभिधेयत्वं च निनाय। अतो जैमिनिमुनित्वं युक्तमित्यर्थः। प्रकृताप्रकृतश्लेषः ॥

उस विष्णुके ('सर्वं विष्णुमयं जगत्' इस वचनके अनुसार) विश्वरूपका स्वीकार करनेसे (पक्षान्तरमें—जैमिनिके द्वारा 'विश्वरूप' नामक सूत्रग्रन्थ बनाने से सिद्ध जैमिनिमुनित्व उत्पन्न होता है (विष्णु विश्वरूप हैं तथा जैमिनि मुनि विश्वमें हैं; अतः उनका जैमिनिमुनित्व सिद्ध होना संगत ही है), क्योंकि देवताओंका (असुरोंके साथ) युद्ध होना नहीं सहते हुए (अपने सुदर्शन चक्रसे असुरोंका संहारकर युद्धको समाप्त करते हुए) उस विष्णुने मेरे वज्रको व्यर्थ बना दिया है (असुर-संहाररूप मेरे वज्रका काम वह विष्णु ही कर देते हैं, अतः मुझे वज्र उठाना ही नहीं पड़ता। पक्षान्तरमें—देवताओंके शरीरको नहीं सहनेवाले (जैमिनि मुनिके मतमें देवता शरीरधारी नहीं हैं) उस जैमिनि मुनिने मेरे वज्रको आरोपितार्थक (अथवा जैमिनि, सुमन्तु आदि ६ को 'वज्रधारी बतलाकर वज्रपाणि इन्द्र है' इस वचनसे सिद्ध मेरे वज्रको निष्फल अर्थात् असत्य) कर दिया है। [जैमिनि मुनि देवशरीरको नहीं मानते हैं, किन्तु मन्त्रमय देवताशरीर मानते हैं और इन्द्रके आयुध वज्रको भी अर्थवादमात्र मानते हैं। विशेष प्रपञ्च इस श्लोककी टीकामें या जैमिनि मुनिके रचित ग्रन्थ में ही देखना चाहिये, विस्तार-भयसे उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है] ॥ ३९ ॥

ईदृशानि मुनये विनयाब्धिस्तस्थिवान् स वचनान्युपहृत्य ।
प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजाः ॥ ४० ॥

ईदृशानीति। विनयाब्धिः स इन्द्रो मुनये ईदृशानि युद्धनिराशानि वचनानि

रुपहृत्य समर्प्य, तस्थिवान् तूष्णीं स्थितः। अथ नारदस्य प्रांशुनिःश्वसितस्य पृष्ठे चरतीति पृष्ठचरी पश्चाद्गामिनी दीर्घनिश्वासपूर्विकेत्यर्थः। निरोजाः दीना वाक् निरियाय निर्जगाम ॥ ४० ॥

विनयके समुद्र इन्द्र ऐसी बातें (श्लो० ३८–३९) मुनि नारदजीसे कहकर चुप हो गये। (फिर युद्धकी आशा नहीं होनेसे) लम्बी साँस लेकर वह (नारदजी) दीन वचन बोले। [अन्य कोई व्यक्ति भी अपनी अभीष्ट सिद्धिको नहीं पूरी होती देखकर लम्बी साँस लेकर दीन वचन बोलता है]॥ ४० ॥

स्वरसातलभवाहवशङ्की निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम्।
द्यां गतस्य हृदि मे दुरुदर्कः क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः ॥ ४१ ॥

स्वरिति। वसुमत्यां भूलोके वसन् स्वश्च रसातलं च स्वारसातले स्वर्गपाताले "रो रि, इति रेफलोपे दीर्घः। तयोर्भवमाहवं शङ्कत इति तच्छङ्की सन्। न निर्वृणोमि न सन्तुष्यामि। द्यां स्वर्गं गतस्य मे हृदि क्ष्मातले भपाताले। 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः। तयोर्द्वये भटानामाजिवितर्कों युद्धशङ्का दुरुदर्कों दुरुत्तरः। 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः। एवं पातालगतस्य इतरलोकाजिवितर्क इति शेषः ॥ ७१ ॥

मृत्युलोकमें रहता हुआ मैं स्वर्ग तथा पातालमें होनेवाले युद्धकी शंकासे सुखी नहीं होता हूँ, स्वर्गमें आये हुए मेरा मृत्युलोक तथा पातालमें वीरोंके युद्ध करनेका वितर्क करना निष्फल है। [परिशेषात्—पातालमें गये हुए मेरा स्वर्ग तथा मृत्युलोकके वीरोंको परस्परमें युद्ध करनेका वितर्क भी निष्फल है। प्रत्यक्ष युद्धको देखनेसे ही मुझे सुखप्राप्ति होती है, अतः मृत्युलोकमें रहता हुआ स्वर्ग तथा पातालके वीरोंका, स्वर्गमें रहता हुआ मृत्युलोक तथा पातालके वीरोंका और पातालमें रहता हुआ स्वर्ग तथा मृत्युलोकके वीरोंका युद्ध होनेका वितर्ककर मैं सुखी नहीं हो सकता क्योंकि मैं किसी एक लोकमें रहकर अन्य लोकमें होनेवाले युद्धको प्रत्यक्ष नहीं देखनेके कारण सुखी नहीं हो सकूँगा]॥ ४१ ॥

वीक्षितस्त्वमसि मामथ गन्तुं तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व।
किं भुवः परिवृढा न विवोढुं यत्र तामुपगता विवदन्ते ॥ ४२ ॥

वीक्षित इति। त्वं वीक्षितोऽसि। एतदेवागमनफलमित्यर्थः। तत्तस्मात्फलान्तराभावात् अथानन्तरं मां मनुष्यजगते गन्तुं मर्त्यलोकं गन्तुमित्यर्थः। 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि' इति चतुर्थी। अनुमनुष्व अनुजानीहि। तत्र मर्त्यलोके, तां दमयन्तीं, विवोढुं परिणेतुम् उपगता भुवः परिवृढाः, प्रभवो भूपतयः "प्रभौ परिवृढः' इति निपातः। न विवदन्ते न कलहायिष्यन्ते किम्? अपि तु सर्व एव विवादं करिष्यन्तीति भावः। सामीप्ये। लट्। भावनादिसूत्रेण वदेरकर्मकत्वात्

विमतावात्मनेपदम् । भैमीं परिणेतुमागतानां राज्ञां तत्सौन्दर्यमुग्धानामहमेवास्या अनुरूप इत्यादि विवादो भविष्यतीति भावः ॥ ४२

तुम्हें मैंने देख लिया अर्थात् तुमसे भेंट-मुलाकात हो गयी, अब मुझे मृत्युलोकमें जाने के लिए छुट्टी दो । वहाँ (मर्त्यलोकमें, अथवा—कुण्डिनपुरमें) उस (दमयन्ती) के साथ विवाह करने के लिये आए हुए राजालोग क्या विवाद नहीं करेंगे ? [उस सुन्दरीके नहीं मिलनेपर उसको पानेवाले राजाके साथ अवश्यमेव अन्य राजालोग युद्ध करेंगे, अतः युद्ध देखनेका आनन्द मुझे अनायास ही मर्त्यलोकमें मिल जायगा, इस कारण अब मुझे वहाँ जाने दो) ॥ ४२ ॥

इत्युदीर्य स ययौ मुनिरुर्वीं स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य जवेन[1] ।
वारितोऽप्यनुजगाम सः[2] यन्तं तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥ ४३ ॥

इतीति । स मुनिरित्युदीर्य स्वर्पतिमिन्द्रम् 'अहरादीनां पत्यादिषु' इति वैकल्पिको रेफादेशः । प्रतिनिवर्त्य जवेनोर्वीं ययौ । स इन्द्रो वारितो निवर्तितोऽपि यन्तं गच्छन्तम् । इणो लटः शत्रादेशः । तं मुनिमपराण्यपि कियन्ति कतिचन पदानि । आसीममित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अनुजगाम ॥ ४३ ॥

यह (श्लो०-४२) कहकर वह मुनि (नारदजी) इन्द्रको लौटाकर वेगसे भूलोकको चले (पाठभेदसे-इन्द्रको बलपूर्वक लौटाकर भूलोकको चले) । मना करनेपर भी (वह इन्द्र) कुछ पैर (कदम) जाते हुए (नारदजीकी इच्छा न होनेपर भी बलपूर्वक) उनके पीछे चले । (सयत्न पाठमें यत्नपूर्वक वह इन्द्र) जाते हुए नारदजीके पीछे चले । ('सजन्तां' पाठमें—मना करनेपर भी कुछ और पैर (कदम) पीछे-पीछे लगते अर्थात् चलते हुए इन्द्रको बलात् लौटाकर नारदजी भूलोकको चले) ॥ ४३ ॥

पर्वतेन परिपीय गभीरं नारदीयमुदितं प्रतिनेदे ।
स्वस्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमदर्शि न पक्षः ॥ ४४ ॥

पर्वतेनेति । पर्वतेन मुनिना गिरिणा च गभीरं, नारदीयमुदितं नारदवाक्यं, परिपीय प्रतिनेदे प्रतिदध्वने तदेवानुकृतमित्यर्थः । पर्वते । सन्निकृष्टे प्रतिनादो युक्त इति भावः । नदेर्लिट् । 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्येत्वाभ्यासलोपौ । स्वयं तु न किञ्चिन्निवेदितवानित्याह—पर्वतपक्षच्छेदिनीन्द्रे स्वस्य कश्चिदपि पक्षः साध्यं प्रयोजनं गरुच्च । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । स्वयं नादर्शि न दर्शितः । तत्साहचर्यमात्रलोभादागत्य स्वस्य पृथक्साध्याभावात्तदुक्तमेवानुकृतम् । न तु पृथक्किञ्चिन्निवेदितमित्यर्थः । पर्वतपक्षच्छेदित्वादिन्द्रस्याग्रे पर्वतेन स्वपक्षो न प्रकाशित इति ध्वनिः ॥ ४४ ॥

---

१. 'बलेन' इति पाठान्तरम् । २. 'सयत्नं' 'सजन्ताम्' इति पाठान्तराणि ।

पर्वत मुनिने (पक्षान्तरमें—पहाड़ने) नारदजी (पक्षान्तरमें—जलद अर्थात् मेघ) का गम्भीर (अर्थगम्भीर, पक्षान्तरमें—उच्च) कथन (पक्षांतरमें—गरजना) सुनकर प्रतिनन्दन (नारदजीका कथन ठीक है, ऐसा स्वीकार; पक्षान्तरसे—प्रतिध्वनि) किया । पर्वतों के सिद्धान्तका खण्डन करनेवाले (पक्षान्तरमें-पहाड़ोंका पख काटनेवाले; इन्द्र) ने अपना कोई भी पक्ष (सिद्धान्त, पक्षान्तरमें—पंखा नहीं दिखलाया । [पर्वत मुनि नारदजीके साथ स्वर्गमें गये थे, अतः मित्रकी बातका समर्थन किया, पक्षान्तरमें मेघकी गरजना सुनकर पहाड़ने (गुफासे) प्रतिध्वनि की । अपने सिद्धान्तका इन्द्रके द्वारा खण्डन किये जानेकी आशङ्कासे पर्वत मुनिने स्वयं अपना कोई मत वहाँ नहीं दिया । बुद्धिमान् कोई भी व्यक्ति अपने मतको खण्डित होनेवाला मानकर चुप ही रह जाता है, वहाँ अपने मतका प्रतिपादन नहीं करता । पक्षान्तरमें—इन्द्र जब पर्वतोंका पंख काटते हैं तब पर्वतको अपना पंख इन्द्रके द्वारा काटनेके भयसे नहीं दिखाना स्वाभाविक ही है] ॥ ४४ ॥

पाणये बलरिपोरथ भैमीशीलकोमलकरग्रहणार्हम् ।
भेषजं [1]चिरचिताशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीशः ॥ ४५ ॥

इन्द्रस्तु भैम्यामनुरक्तोऽभूदित्याह—पाणय इति । अथ नारदनिर्गमनान्तरं, रतीशः कामो बलरिपोरिन्द्रस्य पाणये चिरचितानां चिरसञ्चितानाम्, अशनिवासेन वज्राग्निसम्पर्केण याः व्यापदो विदाहाः तासां भैमीशीतकोमलकरस्य ग्रहं ग्रहणमेवार्हं योग्यं, भेषजमौषधमुपदिदेश । वीराभिभवेन शृङ्गारः प्रवृद्ध इति भावः । अत्र कामनिबन्धस्य भैमीपाणिग्रहणस्याशनिवासतापशमनार्थत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकप्रयोगाद् गम्या ॥ ४५ ॥

इस (नारदजीके जाने) के बाद कामदेवने इन्द्रके हाथके लिए चिरकालतक वज्रके सञ्चित (पाठा० ग्रहण किये रहनेसे उत्पन्न) महान् रोगके योग्य, दमयन्तीके ठंडे तथा कोमल हाथका ग्रहण अर्थात् विवाह करना औषध बतलाया । [इन्द्रके हाथमें सर्वदा दाहक एवं कठोर वज्र रखने से दाह तथा कर्कशतारूप महान् रोग हो गया, उसको दूर करनेके लिये कामदेवरूपी वैद्यने भैमीके शीतल तथा कोमल हाथको ग्रहण करना योग्य औषध बतलाया अर्थात् इन्द्र दमयन्तीको पानेके लिए कामपीडित हो गये । अन्य भी व्यक्ति कर्कशता तथा दाहकता शान्त करनेके लिए ठंढा तथा कोमल पदार्थका उपयोग करते हैं] ॥ ४५ ॥

नाकलोकभिषजो सुषमा या पुष्पचापमपि चुम्बति सैव ।
वेद्मि तादृगभिषज्यदसौ तद्द्वारसंक्रमितवद्यकविद्यः ॥ ४६ ॥

ननु कामस्य कुतो वैद्यविद्येत्यत आह—नाकेति । नाकलोकभिषजोरश्विनोर्या सुषमा सौन्दर्यं सैव पुष्पचापं काममपि चुम्बति स्पृशति, तस्मादपि । तावेव सुष-

---

1. 'चिरधृता—' इति पाठान्तरम् ।

मावन्ताविति भावः। असौ कामः सा सुषमैव द्वारं तेन सङ्क्रमिता वैद्यकं वैद्यस्य भैषज्यम्। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्'। तदेव विद्या यस्मिन् सः। अतएव तादृक् स्ववैद्यसदृशः सन् अभिषज्यत् चिकित्सितवान्। भिषज्यतेः कण्ड्वादियगन्ताल्लङ्। वेद्मीत्युत्प्रेक्षायाम्। वाक्यार्थः कर्म ॥ ४६ ॥

स्वर्गलोकके दोनों वैद्यों (अश्विनीकुमारों) की जो श्रेष्ठ शोभा है, वह कामदेवको स्पर्श करती है (अश्विनीकुमारोंके समान कामदेव भी अत्यन्त सुन्दर है) उस (श्रेष्ठा शोभा) के द्वारा वैद्यक विद्याको प्राप्त करनेवाला यह कामदेव वैसा (अश्विनीकुमारोंके समान, अथवा—इन्द्रके हाथके लिए दमयन्तीका पाणिग्रहण रूप) चिकित्सा किया । [कामदेवको स्वर्गवैद्य अश्विनीकुमारोंके समान होनेके कारण कामदेवका वैद्य होकर इन्द्रके लिए औषध बतलाना असङ्गत नहीं है । अन्यत्र भी किसी व्यक्तिमें किसी दूसरे व्यक्तिके एक गुणके साथ दूसरा गुण भी पहुँच जाता है] ॥ ४६ ॥

मानुषीमनुसरत्यथ पत्यौ खर्वभावमवलम्ब्य मघोनी ।
खण्डितं निजमसूचयदुच्चैर्मानमाननसरोरुहनत्या ॥ ४७ ॥

अथेन्द्राण्या ईर्ष्यानुभावमाह-मानुषीमिति। अथेन्द्रस्य भैमीरागानन्तरं मघोनः स्त्री मघोनी शची। 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीष्। 'श्वयुवमघोनामतद्धित' इति सम्प्रसारणे गुणः। पत्यौ खर्वभावं नीचत्वमवलम्ब्य मानुषीं मानुषस्त्रीं, 'जातेरस्त्री' इत्यादिना ङीप्। अनुसरत्यनुवर्तमाने सति. आननसरोरुहनत्या शिरोनमनेन, उच्चैरुन्नतं निजं मानं सर्वोत्तरत्वाहंकारं खण्डितं भग्नमसूचयत्। आकारेणैव निजनिर्वेदमवेदयत्। न तु वाचा किञ्चिदूचे। गम्भीरनायिकात्वादिति भावः ॥ ४७ ॥

इस (इन्द्रको दमयन्तीकी इच्छा होने) के बाद इन्द्राणीने नीचताका अवलम्बनकर मानुषी (दमयन्ती) के पीछे पति इन्द्रके चलनेपर (इन्द्रद्वारा दमयन्तीको चाहने पर) मुखकमलको नम्रकर (अधोमुखी होकर) अपने उच्च मान (अतिक्रान्त अत्यधिक आदर या इन्द्राणीरूप उच्चपद, (पक्षान्तरमें—ऊँचा प्रमाण) को खण्डित हुआ बतलाया । अथवा—नीचताका अवलम्बनकर मुखकमलको नम्रतासे पतिको मानुषीका अनुगमन करनेसे इन्द्राणीने अपने उच्च मानको खण्डित बतलाया । अथवा—पतिके मानुषीके पीछे गमन करने पर इन्द्राणीने खर्वभाव (दीनभाव) को अवलम्बनकर मुख—कमलके नीचा करनेसे मान (पतिकृत आदरपूर्वक स्नेह) को खण्डित बतलाया । [यहाँ प्रथम अर्थमें—जिस इन्द्रने वामन भाव (नीचता) को ग्रहण किया, उसी इन्द्रका मान (ऊँचाई) घटना चाहिये, किन्तु इन्द्रका मान न घटकर इन्द्राणीका घटा, यह आश्चर्य है । द्वितीय अर्थमें—इन्द्र यह समझते थे कि मैं इन्द्राणीको छोड़कर एक मानुषी (कोई अन्य देवाङ्गना नहीं) के पीछे चल रहा हूँ (पीछे चलनेसे दासभाव प्रकट होता है) अतः इन्द्राणीके सामने अपना मुख भी ऊँचा नहीं कर पाते थे । तृतीय अर्थमें—पतिको मानुषीके अनुगमन करनेसे इन्द्राणीको पतिका

विरह तथा सपत्नीके अनुगमनके समाचारसे अपार दुःख हुआ, अत एव उसका दीनभाव होना एवं लज्जा तथा कष्टके होनेसे उल्लासहीन होनेसे मुखको नीचा किये रहना स्वाभविक ही है] ॥ ४७ ॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मलिनिमालमलम्भि ।
वर्ण एव स खलूज्ज्वलमस्याः शान्तमन्तरमभाषत भङ्ग्या ॥ ४८ ॥

अथान्यासामपि कासांचिदप्सरसामीर्ष्यानुभावानाह—य इत्यादि । मघोनीन्द्रे 'श्वयुवमघोनाम्' इत्यादिना सम्प्रसारणे गुणः । दिवमाकाशम्, उच्चरमाणे उत्पतति सति, 'उदश्चरः सकर्मकात्' इत्यात्मनेपदम् । रम्भया यो मलिनिमा मालिन्यम्, अलमत्यन्तम्, अलम्भि अलाभि । 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति वा नुमागमः । स वर्णो मलिनिमैव, अस्या रम्भायाः, अन्तरमन्तरङ्गम्, उज्ज्वलं रोषादत्युज्ज्वलं प्रज्वलितं सत् भङ्ग्या कयाचिद्रीत्या भवितव्यताप्राबल्यधियेत्यर्थः । शान्तं शमितं निर्वापितमित्यर्थः । 'वा दान्त' इत्यादिना निपातः । अभाषत खलु । निर्वाणालातमलिनमित्याख्यदित्यर्थः । अन्तःकरणवैवर्ण्यमूलत्वाद्बाह्यवैवर्ण्यस्येति भावः ॥ ४८ ॥

इन्द्रको स्वर्ग छोड़कर चलनेपर रम्भा को जो मलिनता (उदासी, पक्षान्तरमें—कालिमा) हुई, वह वर्ण (उदासी या कालिमा) ही प्रकारान्तरसे इस (रम्भा) के निर्मल (पक्षान्तरमें—शृङ्गार-रस-युक्त) अन्तःकरणको शान्त (नष्ट अर्थात् कालिमायुक्त, पक्षान्तरमें—शान्त-रस-युक्त) बतलाया । (अथवा—"उसके शान्त अन्तःकरणको जलता हुआ (इन्द्र-विरह जन्य दुःख या इन्द्रके नीचकर्मसे सन्तप्त) बतलाया । उज्ज्वलसे थोड़ी-सी भी कालिमा शीघ्र मालूम पड़ने लगती है । अथवा—जो शृङ्गार रससे युक्त है वह शान्तरससे युक्त हुआ यह आश्चर्य है । जब इन्द्र दमयन्तीको पानेकी इच्छाकर स्वर्गसे मर्त्यलोक जाने लगे तब रम्भा भी खिन्न हो गयी] ॥ ४८ ॥

जीवितेन कृतमप्सरसां तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तिमती नः ।
इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन ॥ ४९ ॥

जीवितेनेति । अप्सरसां नोऽस्माकं जीवितेन कृतं, कष्टत्वादिति भावः । तत्तस्मादिहास्मिन्समये प्राणमुक्तिः प्राणत्यागः, एव युक्तिमती युक्तेति घृताच्या नाम देव्या दीर्घनिःश्वसितस्य निर्गमनेन निष्क्रमणमुखेन, अनक्षरमशब्दप्रयोगं, यथा तथा अवाचि । वचेर्ब्रूञो वा कर्मणि लुङ् । उक्तमिवेत्यर्थः । अत एव व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

'(अब) हम अप्सराओंका जीना व्यर्थ है, अत एव प्राणों का छूट जाना (मर जाना)

---

१. 'खलूज्ज्वलदस्याः' इति पाठान्तरम् ।

ही ठीक है' इस प्रकार घृताचीने लम्बा श्वास निकलनेसे मुखसे बिना बोले ही कह दिया।' [प्राण भी श्वासरूप हैं, अतएव अधिक दुःखके कारण लम्बा श्वास निकलनेसे मानो प्राणोंका बाहर निकल जाना (मेरा मर जाना) ही अच्छा है, ऐसा बिना मुखसे कुछ कहे केवल संकेतसे ही घृताचीने कह दिया। अन्य किसी मरणासन्न व्यक्तिका जब श्वास अत्यधिक बढ़ जाता है, तब वह मुखसे कुछ कहे बिना ही हाथ आदिके संकेतसे अपना मनोगत भाव कह देता है। इन्द्र-विरहकी भावी आशंकासे घृताची लम्बा श्वास लेने लगी] ॥ ४९ ॥

साधु नः पतनमेवमितः स्यादित्यभण्यत तिलोत्तमयापि ।
चामरस्य पतनेन कराब्जात्तद्विलोलनव[1]लद्भुजनालात् ॥ ५० ॥

साध्विति। तिलोत्तमयापि देव्या तस्य चामरस्य विलोलनेन आन्दोलनेन वलन्, वलमानो भुजो बाहुरेव नालो यस्य तस्मात्, 'वलतेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात्' इत्याह वामनः। चक्षिङो ङित्करणं ज्ञापकम्। कराब्जात् पाणिकमलाच्चामरस्य पतनेन, अवयवपारवश्यादिति भावः। एवञ्चामरवदेव नोऽस्माकमपि इतः स्वर्गात् पतनमेव साधु स्यादित्यभण्यत। भणितमिवेति पूर्ववदुत्प्रेक्षा भुजनालात् कराब्जादिति सावयवरूपकेण संसृष्टा ॥ ५० ॥

चामर डुलानेसे चञ्चल भुज-नालवाले हाथसे चामरके गिर जानेसे 'हमलोगोंका यहाँ (स्वर्ग) से पतन हो जाना ही अच्छा है' ऐसा तिलोत्तमा नामकी अप्सराने भी कहा। [इन्द्रके भावी विरहकी आशंकासे इन्द्रको चामर डुलाती हुई तिलोत्तमाके हाथसे चिन्ताजन्य परवशताके कारण चामर गिर पड़ा] ॥ ५० ॥

मेनका मनसि तापमुदीतं यत्पिधित्सुरकरोदवहित्थाम् ।
तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके पङ्कलिप्तिमसृजद् बहिरुत्थाम् ॥ ५१ ॥

मेनकेति। मेनका नाम काचिद् देवी मनस्युदीतमुत्पन्नं, तापमाधिं, पिधित्सुः पिधातुमिच्छुः सती, अवहित्थामाकारगुप्तिमकरोदिति यत्, तदाकारगोपनमेव, निजहृदः स्वमनसः, पुटपाके गूढपाके, बहिरुत्थाम् स्थितां, बाह्यामित्यर्थः। 'आतश्चोपसर्गे' इति कर्तरि क्तप्रत्ययः। पङ्कलिप्तिं पङ्कलेपं, स्फुटमसृजत्। पुटपाके बाह्यः पङ्कलेपोऽन्तः पच्यमानद्रव्यस्येवाकारगोपनमेव बलात् क्रियमाणं गोप्यस्यान्तस्तापस्य व्यञ्जकमभूदित्यर्थः ॥ ५१ ॥

मेनकाने मनमें उठे हुए (पाठान्तरसे—बढ़े हुए) सन्तापको बन्द रखने (छिपाने, पक्षांतरमें—रोकनेकी इच्छा करती हुई जो आकारगोपन किया। (भावको छिपाया), वह अपने हृदयके पुटपाकमें मानो बाहरसे कीचड़को लपेटा। [किसी औषध का पुटपाक

---

1. 'वलद्–' पाठान्तरम्।

करते समय उसका कोई लेशमात्र भी तत्त्व बाहर न निकल जाय, इसलिये उस औषधको दो सकोरोंमें बन्दकर ऊपरसे कपड़कूट मिट्टी का लेप कर देते हैं, तब वह औषध लेशमात्र भी बाहर नहीं निकलने पाता और भीतरमें तप्त होकर जलता है। इसके प्रतिकूल किसी वस्तु या औषधका खुला पाक करते हैं तो उसकी सुगन्ध आदि बाहर फैल जाती है तथा वह वस्तु भी जल जाती है। इसी प्रकार प्रकृतमें मेनकाने सन्ताप तथा आकारगोपनरूप दो सकोरोंके मध्यमें स्थित अपने हृदयरूपी औषधको पकाते हुए बड़े कष्टका अनुभव किया तथा वह कष्ट देर तक होता रहा, खुले हुए पाकके समान शीघ्र नष्ट नहीं हुआ। मेनकाको इन्द्रके भावी विरहसे अत्यन्त कष्ट हुआ]॥ ५१ ॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन।
शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यमपुषद्वपुषव॥ ५२॥

उर्वशीति। गुणैः सौन्दर्यादिभिर्वशीकृतविश्वा रञ्जिताखिलप्रपञ्चा, उर्वशी नाम काचिद्देवी, तत्क्षणे तत्समये, यः स्तिमितभावः स्तंभित्यं निष्क्रियाङ्गत्वलक्षणः स्तम्भो नाम सात्त्विकस्तस्य निभेन मिषेण। 'मिषं निभञ्च निर्दिष्टम्' इति हलायुधः। वपुषेव सुहृदयशब्दाद्युवादित्वादण्प्रत्यये हृद्भावाच्चोभयपदवृद्धिः। अत एव 'सौहृददौहृदशब्दावणि हृद्भावौ' इति वामनः। शक्रसौहृदस्य समापनसीम्नि समाप्तिस्थाने, स्तम्भकार्यं जाड्यकृत्य, स्थूणाकृत्यञ्च, अपुषत्। 'स्तम्भः स्थूणाजडत्वयोः' इति विश्वः। स्तम्भोत्थानावधिकं म शक्रसौहृदमिति निर्णयमकरोदित्यर्थः। 'पुषादि' इत्यादिना च्लेरङादेशः॥ ५२॥

गुणसे संसारको वशीभूत करनेवाली उर्वशीने उस समय (इन्द्रका मानुषीकी चाहना करनेकी बात सुननेके समय) जड़ताके व्याजसे इन्द्रके अनुरागकी समाप्तिकी सीमाके स्तम्भ (स्तम्भरूप सात्त्विक भाव, पक्षान्तरमें—पत्थर आदिका खम्बा) को शरीरसे ही बतला दिया। [जिस प्रकार लोकमें किसी सीमाका निश्चय करनेके लिये वहाँ पत्थर आदिका खम्भा गाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रके भावी विरहको सुनकर उर्वशीने स्तम्भ नामक सात्त्विक भावको व्यक्त किया। उर्वशी इन्द्रके भावी विरह-कल्पनासे जड़ हो गयी]॥ ५२॥

कापि कामपि बभाण बुभुत्सुं शृण्वति त्रिदशभर्तरि किञ्चित्।
एष कश्यपसुतामभिगन्ता पश्य कश्यपसुतः [1]शतयज्ञः॥ ५३॥

अथ कासाञ्चिदप्सरसां वागारम्भानाह—कापीत्यादि। कापि देवी, बुभुत्सुमिन्द्रं जिगमिषितं देशं जिज्ञासमानां कामपि देवीं त्रिदशभर्तरि इन्द्रे शृण्वति सत्येव। तच्छ्रवणार्थमेवेत्यर्थः। किञ्चिद्बभाण। किं तदाह—कश्यपसुतः शतयज्ञो बहुयाजी एष इन्द्रः, कश्यपसुतां काश्यपीं, क्षितिमभिगन्ता अभिगमिष्यति। गमेर्लुट्। पश्य।

1. 'शतमन्युः' इति पाठान्तरम्।

र्दिवं विहाय भुवं गच्छतीत्याश्चर्यं पश्येत्यर्थः। स्वयं कश्यपसुतस्तत्सुतां भगिनीमेव गच्छतीत्याश्चर्यं व्यज्यते ॥ ५३ ॥

देवराज इन्द्रके सुनते रहनेपर किसी देवाङ्गनाने इन्द्रके विषयमें जाननेकी इच्छा करनेवाली किसी अन्य देवाङ्गनासे कहा—'सौ (अश्वमेध) यज्ञ करनेवाला यह कश्यप मुनिका पुत्र (इन्द्र) कश्यप पुत्री अर्थात् काश्यपी (पृथ्वी) को जाना चाहता है, देखो'। (एक मुनिका पुत्र जिसने सौ अश्वमेध यज्ञके फलस्वरूप दुर्लभ इन्द्रपद प्राप्त किया, वह पुनः पृथ्वीको जाना चाहता है, यह बड़ी मूर्खताकी बात है देखो। अथवा—एक महामुनिका पुत्र उसमें भी सौ यज्ञ करनेवाला यह कश्य+प=कश्यप (मद्यपा) की पुत्रीके साथ संगम करना चाहता है, यह देखो, ऐसा तो एक पामर भी नहीं करेगा, उसमें भी एक मुनिपुत्र और महायाज्ञिक ऐसा काम करे, यह बड़े खेद तथा आश्चर्यकी बात है। अथवा—कश्यप मुनिका सौ यज्ञ करनेवाला यह पुत्र कश्यप मुनिकी पुत्री (अपनी बहन) के साथ संगम करना चाहता है, इसका महानीचतापूर्ण यह कार्य देखो। अथवा—मद्यपानकर्ताका पुत्र मद्यपानकर्ताकी पुत्रीके साथ संगम करना चाहे, यह कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि मद्यपानकर्ताके पुत्रका महायाज्ञिक होकर भी ऐसा कार्य करना कोई आश्चर्य नहीं होता। वह पतित होनेसे जो कुछ नीचतम कार्य कर दे, वह थोड़ा ही है। पाठभेदमें—सौ क्रोध (पक्षांतरमें—सौ यज्ञ) लक्षणासे तज्जन्य सौ अपराध करनेवाला व्यक्ति ऐसा नीच कार्य करे यह कोई आश्चर्य नहीं है। इन्द्रने लोकापवादकी भी कोई चिन्ता नहीं की] ॥ ५३ ॥

आलिमात्मसुभगत्वसगर्वा कापि शृण्वति मघोनि बभाषे।
वीक्षणेऽपि सघृणासि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्थगुणेन ॥५४॥

आलिमिति। आत्मनः सुभगत्वेन सगर्वा सुभगमानिनीत्यर्थः। कापि, मघोनि शक्रे शृण्वति सत्येव, आलिं सखीं बभाषे। तदेवाह—नृणां मनुष्याणां वीक्षणेऽपि। किमुत सङ्गताविस्यर्थः। सघृणा सजुगुप्सासि। सा त्वमपि सार्थगुणेन शक्रधर्मेण, गतानुगतिकस्वरूपेणाविवेकित्वेनेति यावत्। न यासि किम्? विवेकेन चेन्न यास्येवेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

इन्द्रके सुनते रहनेपर अपने सौन्दर्यका अभिमान करनेवाली किसी देवाङ्गनाने सखीसे कहा—'मनुष्योंको देखनेमें भी घृणा करती हो? (फिर सङ्गति करना कैसे सम्भव है?), तुम भी इन्द्रके सहचर समुदायके गुणसे अर्थात् सहचर बनकर (भूलोकमें) क्यों नहीं जाती हो? अर्थात् जाओ। [जो तुम मनुष्योंमें घृणाकर मर्त्यलोकको इन्द्रके साथ नहीं जाती और इन्द्र उसी मानुषीके साथ विवाह तक करनेके लिए (केवल देखने या सम्भाषणमात्र करनेके लिये ही नहीं) जा रहा है, अतः तुम इन्द्रसे भी अच्छी हो। अथवा—"क्या तुम गुण (प्रेमरूप रस्सी) से बँधकर इन्द्रके साथ नहीं जाओगी अर्थात् अवश्य जाओगी। अथवा—सहचर गुणसे (गतानुगतिक न्यायसे इन्द्रके साथ) नहीं जाओगी क्या? अर्थात्

कुछ भी विचार होगा तो नहीं जाओगी। थोड़ा भी विवेक रखनेवाला व्यक्ति गतानुगतिकताको छोड़कर विवेक द्वारा काम लेता है, कामान्ध इन्द्र वैसा नहीं करनेसे विवेकशून्य हो रहा है]॥ ५४॥

अन्वयुर्द्युतिपयःपितृनाथास्तं मुदाथ हरितां कमितारः।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गतानुगतिको न महार्घः॥ ५५॥

अन्वयुरिति। अथेन्द्रप्रयाणानन्तरं, हरितां कमितारो दिशां कामयितारो दिक्पतयः, इन्द्रानुयानार्हा इत्यर्थः। व्याख्यातमेतत्। द्युतिपयःपितॄणां नाथा वह्निवरुणयमाः, तमिन्द्रं, मुदा औत्सुक्येन, अन्वयुरनुयाताः। 'लङः शाकटायनस्यैव' इति झेर्जुसादेशः। तथा हि, एकः वरमेक एव पुरः, वर्त्म कर्षतु मार्गं करोतु। तस्य मार्गकर्तुः गतमनुगतिर्यस्य स महार्घो महामूल्यः दुर्लभ इति यावत्। न भवति। पुरोग एव दुर्लभस्तत्पृष्ठानुयायिनस्तु सर्वत्र सुलभा एवेति न किञ्चिदत्र चित्रमित्यर्थः॥ ५५॥

इसके (इन्द्रके दमयन्तीके साथ विवाहार्थ स्वर्गसे प्रस्थान करनेके) बाद दिक्पाल द्युतिपति, पितृपति तथा जलपति (क्रमशः—अग्नि, यम और वरुण) भी हर्षसे (दमयंतीको देखने) उस इन्द्रके पीछे चले। कोई एक व्यक्ति किसी नये मार्गको चालू कर दे, फिर उसके पीछे चलनेवाले व्यक्ति दुर्लभ नहीं हैं। जो सबप्रथम किसी नये रास्तेको चालू करता है, संसारमें वही व्यक्ति दुर्लभ है, बादमें उसके पीछे चलनेवाले अनेकों हो जाते हैं॥ ५५॥

प्रेषिताः पृथगथो दमयन्त्यै चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्यः।
तद्गुरुं प्रति च तैरुपहाराः सख्यसौख्यकपटेन निगूढाः॥ ५६॥

प्रेषिता इति। अथो अनन्तरं, तैरिन्द्रादिभिः, चित्तचौर्ये दमयन्त्याश्चित्ताकर्षणे, चतुरा निजदूत्यः दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिताः। तद्गुरुं तत्पितरं भीमञ्च प्रति, सख्यसौख्यकपटेन मैत्रीसुखव्याजेन, निगूढः गुप्ताः, उपहारा उपायनानि प्रेषिताः॥ ५६॥

इसके बाद उन लोगों (इन्द्र, अग्नि, वरुण तथा यम) ने दमयंतीके पास चित्तको वशीभूत करनेमें चतुर अपनी-अपनी दूतियोंको (परस्पर में) गुप्त रूपसे अलग-अलग भेजा—अथवा राजा या उस नगरवासियोंसे छिपाकर······दूतियों को भेजा। और उस दमयंतीके पिताके लिये मित्रके सुखभाव या सुखाधिक्यके व्याजसे (बहुमूल्य होनेके कारण) चित्तको लुभानेवाले परस्परमें छिपाकर (एक दूसरेको न जनाकर) उपहार (रत्न आदिक भेंट) भी भेजा। [उनमें प्रत्येक लोकपालने यही सोचा कि मेरा दूती तथा उपहारका भेजना अन्य तीनों सहागत लोकपालोंको मालूम नहीं है। लोकमें भी एक वस्तुके लिये इच्छा करनेवाले जब कई व्यक्ति होते हैं, तब वे परस्परमें एक दूसरेसे छिपाकर उसको पानेका यत्न करते हैं]॥ ५६॥

चित्रमत्र विबुधैरपि यत्तैः स्वर्विहाय बत भूरनुसस्रे ।
द्यौर्न काचिदथवास्ति निरूढा सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥५७॥

चित्रमिति । विबुधैर्देवैः विद्वद्भिश्च, तैरिन्द्रादिभिः, स्वः स्वर्गं, विहाय, बत हन्त, भूरनुसस्रे अनुसृतेति यत् । अत्र चित्रं काकुः, न चित्रमित्यर्थः । कुतः, अथवा द्यौः स्वर्गश्च, काचिदपि निरूढा प्रसिद्धा नास्ति । किन्तु यत्र चित्तं चरति रमते सैव सा द्यौर्हि ॥ ५७ ॥

देवता (पक्षान्तरमें—विशिष्ट विद्वान्) भी उन लोगोंने जो स्वर्ग छोड़कर पृथ्वीका अनुसरण किया अर्थात् पृथ्वीपर आये, इसमें आश्चर्य है । (जब साधारण ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति भी पृथ्वीको छोड़ स्वर्गलाभ करनेका प्रयत्न करता है, तब विशिष्ट ज्ञानवान् इन लोगोंने उल्टे स्वर्गको छोड़कर पृथ्वीपर आगमन किया, यह आश्चर्यका विषय है । अथवा—······आगमन किया, इसमें आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं (क्योंकि–) 'स्वर्ग' इस नामसे प्रसिद्ध कोई (स्थान आदि) नहीं है, किन्तु जहाँपर जिसका मन चलता है अर्थात् जिस स्थानादिमें मन अनुराग करता है, उसके लिये वही स्वर्ग है । (अतः देवताओंका स्वर्ग छोड़कर भूमिपर आना उचित ही है) ॥ ५७ ॥

शीघ्रलंघितपथैरथ वाहैर्लम्भिता भुवममी सुरसाराः ।
वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः शुश्रुवुर्ध्वनितमध्वनि दूरम् ॥ ५८ ॥

शीघ्रेति । शीघ्रं लंघितपथैरतिक्रान्ताध्वभिः रथवाहै रथाश्वैर्भुवं लम्भिताः प्रापिताः, अमी सुरसाराः सुरश्रेष्ठाः, वक्रिताश्चलिताः, उन्नमिताश्च कन्धराः ग्रीवाः, यस्मिन् स बन्धः कायसंस्थानविशेषो येषां ते सन्तः, अध्वनि दूरं ध्वनिं शुश्रुवुः ॥

इसके बाद शीघ्र रास्ता तय करनेवाले घोड़ों (या विमानादि सवारियों) से भूमिपर पहुँचे हुए उन श्रेष्ठ देवताओंने गर्दनको टेढ़ाकर ऊँचा किये हुए, दूरके शब्दको सुना (अथवा—अन्य वार्तालापको छोड़कर अर्थात् चुपचाप होकर दूरकी ध्वनिको सुना) ॥५८॥

किं घनस्य जलधेरथवेवं नैव संशयितुमप्यलभन्त ।
स्यन्दनं परमदूरमपश्यन्निःस्वनश्रुतसहोपनतं ते ॥ ५९ ॥

किमिति । ते देवाः, किं घनस्य ध्वनितम्, मेघस्तनितम्, अथवा जलधेः ध्वनितम्, एवं संशयितुमपि नालभन्तैव । एतावन्मात्रविलम्बोऽपि नास्तीत्यर्थः । 'शकधृष' इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । किन्तु, निःस्वनस्य पूर्वोक्तध्वनितस्य, श्रुत्या श्रवणेन, सहोपनतं प्राप्तम्, अदूरमासन्नं स्यन्दनं परं रथमेवापश्यन्निति । रथवेगोक्तिः । अत्र सन्देहसहोक्त्योः संसृष्टिः ॥ ५९ ॥

ये देवता जब तक 'यह मेघका शब्द है ? या समुद्रका' ऐसा सन्देह करने के लिये भी

समय नहीं पा सके, (तब तक) ध्वनि सुननेके साथ ही पहुँचे हुए अत्यन्त समीपमें रथको देखा। [ध्वनिके साथ ही रथके आनेसे उसका शीघ्र चलना तथा गम्भीर शब्द होना व्यक्त होता है] ॥ ५९ ॥

सूतविश्रमदकौतुकिभावं भाववोधचतुरं तुरगाणाम् ।
तत्र नेत्रजनुषः फलमेते नैषधं बुबुधिरे विबुधेन्द्राः ॥ ६० ॥

सूतेति। एते विबुधेन्द्रास्तत्र रथे सूतस्य सारथेः, विश्रमदो विश्रान्तिप्रदः, कौतुकिभावो विनोदित्वं यस्य तं, विनोदार्थं स्वयं प्रतिपन्नसारथ्यमित्यर्थः। अत्र हेतुः तुरगाणां भावबोधचतुरम् अश्वहृदयवेदिनं, नेत्रजनुषो नेत्रदत्तायाः फलं, लोचनासेचनकमित्यर्थः। नैषधं निषधानां राजानं नलम्। जनपदशब्दात् क्षत्रियादण्। बुबुधिरे ज्ञातवन्तः ॥ ६० ॥

इन देवेन्द्रोंने उस रथपर सारथिको विश्राम देनेके कौतूहलवाले तथा घोड़ोंके भावज्ञानमें चतुर और नेत्रके जन्म लेनेका फलभूत नलको जाना। [सारथिको हटाकर स्वरथ हाँकते हुए घोड़ोंके हृदयङ्गत आशयके ज्ञाता और नेत्रप्राप्तिका फलरूप अर्थात् नेत्रोंको आनन्दित करनेवाले नलको उस रथपर देवताओंने देखा] ६० ॥

वीक्ष्य तस्य वरुणस्तरुणत्वं यद्बभार निबिडं जडभूयम् ।
नौचिती जडपतेः किमु सास्य प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य ॥ ६१ ॥

वीक्ष्येति। वरुणस्तस्य नलस्य, तरुणत्वं तारुण्यं, तारुण्यभूषितरूपमित्यर्थः। वीक्ष्य यन्निबिडं जडभूयं जडत्वं स्तम्भाख्यं सात्त्विकमित्यर्थः। 'भुवो भावे' इति क्यप्। बभार। प्राज्येन प्रभूतेन, विस्मयरसेनाद्भुतरसेन, जलेन च। स्तिमितस्य निश्चलस्य, जलपतेः स्तब्धपतेश्चेति डलयोरभेदात् सा जडभूयं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता। औचिती उचितकर्म, न किमु ? अवश्यमेवेत्यर्थः। विस्मयरसाविष्टस्य स्तम्भसत्त्वादिति भावः। जलसिक्तस्य स्वयं जडभावस्य जाड्यमुचितमिति व्यज्यते।

वरुण नलका सौन्दर्य देखकर जो अत्यन्त जडता (स्तब्धता, दीनता जलरूपता) धारण कर लिये वह अत्यधिक आश्चर्य रससे स्तब्धीभूत जलपति (जलाधीश, पक्षान्तरमें—जडाधीश अर्थात् मूर्खराज) के लिये उचित नहीं था क्या ? अर्थात् उचित ही था। [वरुण नलके तारुण्य-सौन्दर्यको देखकर दमयन्तीके पानेकी आशा छोड़कर खिन्न हो गए, अथवा - चिन्ताके कारण उत्पन्न जडतासे स्तब्ध हो गये। जडाधीश (मूर्खराज पक्षा०—जलपति) वरुणके लिये जडभाव (जडता, पक्षा०—जलत्व) धारण करना उचित ही है ॥ ६१ ॥

रूपमस्य विनिरूप्य तथातिम्लानिमाप रविवंशवतंसः ।
कीर्त्यते मदधुनापि स देवः काल एव सकलेन जनेन ॥ ६२ ॥

रूपमिति । रविवंशवतंसो यमः, अस्य नलस्य, रूपं सौन्दर्यं, विनिरूप्य विभाव्य । तथा तेन प्रकारेण, अतिम्लानिमतिवैवर्ण्यम्, अतिकालिमानमित्यर्थः । आप । यद्यथा, अधुनापि स देवो यमः, सकलेन जनेन । काल एव काल इत्येव, कीर्त्यते । तथा ग्लानिमापेति पूर्वेणान्वयः । नलेर्ष्यानुभावकालिमयोगादयं कालो न तु प्राण्यायुःकलनादिति भावः । अत्र यच्छब्दस्य कारणपरत्वेन व्याख्याने त्वनपेक्षितार्थाभिधानमनन्वयश्च स्यात् । प्रकारार्थत्वे तु न कश्चिद्विरोधः । प्रकारार्थत्वञ्च निपातानामनेकार्थत्वादविरुद्धमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

सूर्य-कुल-भूषण यमने इस नलके रूप को अच्छी तरह देखकर उस प्रकारकी अत्यन्त कालिमाको प्राप्त किया, जिससे आज भी उस देव (यम) को सब लोग 'काल' (काला, पक्षान्तरमें—'काल' नामवाले) ही कहते हैं । [जो सूर्य-कुलभूषण है, उसको अत्यन्त प्रकाशमान उज्ज्वल होना चाहिये, किन्तु उस यमको इसके विपरीत काला होनेमें तात्कालिक नलको देखनेसे उत्पन्न अतिशय मलिनता ही कारण है । यम भी नलको देखकर दमयन्तीको पानेकी आशा छोड़ अत्यन्त खिन्न हो गये] ॥ ६२ ॥

यद् बभार दहनः खलु तापं रूपधेयभरमस्य विमृश्य ।
तत्र भूदनलता जनिकर्त्री मा तदप्यनलतैव तु हेतुः ॥ ६३ ॥

यदिति । दहनोऽग्निरस्य नलस्य, रूपमेव रूपधेयं सौन्दर्यम् । 'नामरूपभागेभ्यः स्वार्थे धेयो वक्तव्यः' इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः । तस्य भरं समृद्धिं, विमृश्य विचार्य तापं बभार खल्विति यत् । तत्र तापभरणे, अनलता अग्नित्वं, जनिकर्त्री जन्मकरी, उत्पादिका मा भूत् । नलरूपदर्शनजन्यतापे तस्या अप्रयोजकत्वादिति भावः । किन्तु तदपि तथापि चित्रमनलतैवाग्नित्वमेव हेतुरिति विरोधः । नलत्वाभावहेतुः, रिति परिहारः । अतएव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६३ ।

अग्निने इस नलके अत्यन्त सौन्दर्यको देखकर जिस सन्तापको ग्रहण किया, उसका उत्पादक अनलता (अग्नित्व) नहीं हुआ (स्वयं अपनेको सन्तप्त करना अर्थात् एक अग्निका ही कर्ता तथा कर्म होना असम्भव है), तथापि अनलता (अ + नलता अर्थात् नलाभाव ही उसका कारण हुआ । अग्निने यह सोचकर सन्ताप धारण किया कि—यदि मैं नल होता तब दमयन्ती मुझे ही वरण करती, अब मुझे नल नहीं होनेसे वह इस नलको वरण करेगी, अतः नलाभाव ही उस अग्निका सन्ताप-कारण हुआ, अग्नित्व नहीं] ॥ ६३ ॥

कामनीयकमधःकृतकामं काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम् ।
कौशिकः स्वमखिलं परिपश्यन् मन्यते स्म खलु कौशिकमेव ॥ ६४ ॥

कामनीयकमिति। कौशिक इन्द्रः, अधःकृतकामं, तिरस्कृतमदनं, तदीयं नलीयं, कामनीयकं कमनीयत्वं सौन्दर्यम्। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्'। कामं प्रकाममक्षिभिः। सहस्रेणेति भावः। अवेक्ष्य, अथ स्वमात्मानमखिलं यथा तथा, साकल्येनेत्यर्थः। परिपश्यन् कौशिकमुलूकमेव। 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः। मन्यते स्म खलु। नलस्यात्मनश्चैतावदन्तरमित्यमंस्तेत्यर्थः। तथा चास्य भैमीनिराशं मनो बभूवेति भावः॥ ६४॥

कौशिक (इन्द्र) ने कामदेवको तिरस्कृत करनेवाली नलकी सुन्दरताको नेत्रों (सहस्र-नेत्रों) से अच्छी तरह देखकर अपनेको सर्वत्र अच्छी तरह देखते हुए कौशिक (उल्लू) ही मानते थे। ['नलके सामने मैं उल्लूके समान ही हूँ' ऐसा इन्द्र समझते थे। कौशिकका कौशिक होना उचित ही है। सहस्र नेत्र होनेसे नलकी सुन्दरता तथा अपनेको अच्छी तरह देखकर इन्द्रका वैसा मानना भ्रमशून्य ही था]॥ ६४॥

रामणीयकगुणाद्वयवादं मूर्तमुत्थितममुं परिभाव्य।
विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुराः प्रबभूवुः॥ ६५॥

रामणीयकेति। सुरा इन्द्रादयः, अमुं नलं, मूर्तं मूर्तिमन्तम्, उत्थितमुत्पन्नं रामणीयकं सौन्दर्यं, कामनीयकवत्सिद्धं तदेव गुणस्तस्याद्वयमेकमेवेति वादं प्रवादं, परिभाव्य त्रिजगदेकसुन्दरं मत्वेत्यर्थः। हृदयानि चित्तानि, विस्मयायाद्भुतरसाय, वितेरुर्ददुः। तेन दानेन, तेषु हृदयेषु विषये न प्रबभूवुः तेषां नेशिरे। दत्तद्रव्ये स्वत्वनिवृत्तेरिति भावः। विस्मयाकृष्टचित्ता बभूवुरिति परमार्थः॥ ६५॥

(इन्द्र आदि चारों) देवोंने सौन्दर्यगुणक अद्वैतवादरूप उत्पन्न मूर्तिमान् इस (नल) को विचारकर ('ऐसा सौन्दर्य संसारमें कहीं नहीं देखा या सुना' ऐसा विचारकर अपने अपने) हृदयको आश्चर्यके लिये दान कर दिया अर्थात् वे आश्चर्ययुक्त हो गये, उस कारण उन (अपने-अपने हृदय) पर उनका अधिकार नहीं रहा अर्थात् हृदयशून्य होकर वे देव यह नहीं सोच सके कि 'अब हमें क्या करना चाहिये?।' [अन्य भी कोई व्यक्ति किसीको अपनी कोई वस्तु देकर फिर उसका अधिकारी नहीं रहता, अतएव अपने-अपने हृदयको विस्मयके लिये दानकर (समर्पितकर) विचारक हृदयपर उनका अधिकार न रहनेसे उनका विचारशून्य होना उचित ही है।]॥ ६५॥

प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः संवदद्भिरमराः श्रुतपूर्वैः।
एष एव स नलः किमितीदं मन्दमन्दमितरेतरमूचुः॥ ६६॥

प्रैयरूपकमिति। अमरा इन्द्रादयः, श्रुतपूर्वैः पूर्वं श्रुतैः, 'सुप्सुपा' इति समासः। सम्प्रति, संवदद्भिः प्रत्यक्षसंवादं व्रजद्भिः, प्रियरूपस्य भावः प्रैयरूपकं

सौन्दर्यम् । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । तस्य विशेषेषु तत्तदवयवेषु । 'विशेषोऽवयवे व्यक्त' इत्युत्पलमालायाम् । निवेशैस्संस्थानैर्लिङ्गैः सः श्रुतपूर्वो नल एष एव किमिति हस्तनिर्देशः । इतीदं वाक्यं मन्दमन्दं मन्दप्रकारं, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । इतरेतरमूचुः ॥ ६६ ॥

(इन्द्र आदि चारों) देव पहले (लोगोंसे) सुने गये (और इस समय) आपसमें मिलते-जुलते हुए सुन्दर रूपकी अधिकता होनेसे 'वह नल यही है क्या ?' ऐसा आपस में धीरे-धीरे कहने लगे ॥ ६६ ॥

तेषु तद्विधवधूवरणार्हं भूषणं स समयः स रथाध्वा ।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् भूपतेर्व्यवसितानि शशंसुः ॥ ६७ ॥

तेष्विति । तस्य भूपतेर्नलस्य, सा प्रसिद्धा विधा प्रकारः सौन्दर्याद्यसाधारणधर्मो यस्यास्तस्यां वध्वाः वरणे अर्हमुचितं भूषणं, स समयः स्वयंवरकालः, कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन्, तदभिमुखः स रथाध्वा च व्यवसितानि नलोद्योगान् तेषु तानधिकृत्य शशंसुः तेभ्यः शशंसुरित्यर्थः । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । एतैर्लिङ्गैरेतस्य स्वयंवरयात्रेयमिति निश्चिक्युरित्यर्थः ॥ ६७ ॥

उस प्रकारकी (सर्वलोकप्रसिद्ध) वधूको वरण करनेके योग्य भूषण, वह (स्वयंवरका) समय और कुण्डिनपुरको जानेवाले उस नलके रथका मार्ग, उस राजा नलके प्रयत्नोंको देवताओंसे बतला दिया । [नलके भूषण, स्वयंवरका समय तथा उधर जाते हुए उनके रथको देखकर देवताओंने समझ लिया कि नल स्वयंवरमें ही जा रहे हैं] ॥ ६७ ॥

धर्मराजसलिलेशहुताशैः प्राणतां श्रितममुं जगतस्तैः ।
प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैश्चेतसा निभृतमेतदचिन्ति ॥ ५८ ॥

धर्मेति । जगतः प्राणतां प्राणत्वं जगज्जीवनत्वं, तत्प्रियतां वा । श्रितममुं नलं, प्राप्यासाद्य, हृष्टाः जगत्प्राणभूतपुरुषदर्शनात्सन्तुष्टाः, चलास्तल्लावण्यदर्शनाल्लैर्व्यां श्लथानुरागाः, विस्तृततापा रागशैथिल्यादेव विस्तृतविरहतापाश्च तैस्तथोक्तैस्तैः प्रकृतैर्धर्मराजसलिलेशहुताशैः चेतसा, निभृतं निगूढम् । एतदनन्तरश्लोकत्रये वक्ष्यमाणचिन्ति चिन्तितम् । अत्र यमो हृष्टो वरुणश्चलो वह्निर्विस्तृततापः क्रमात्प्रतिपादनपरश्चोत्तरश्लोकत्रयमिति कैश्चिद्' व्याख्यातम् । तदयुक्तम् । न ह्येतेषामेते धर्माःप्रतिनियताः । किंतु, त्रयाणामेकाभिप्रायेणाप्येते धर्मास्साधारणाः, अत एवोत्तरश्लोकत्रयमपि सर्वविषयम् । अत एवान्तरश्लोके 'नः' इति बहुवचनोपादनम् । यद्यपि तदनन्तरश्लोकद्वये एकवचनोपादानम्, तदपि प्रत्येकाभिप्रायादविरुद्धम् ।

१. 'प्रकाश'व्याख्याकारै'र्नारायणै'रित्यवधेयम् ।

किञ्च, इत्यवेत्य मनसेत्याद्युपसंहारश्लोके परस्परमुखदर्शनोक्त्या त्रयाणामेकाभिप्रायावगमाच्च अस्मदुक्तमेव युक्तमुत्पश्यामः ॥ ६८ ॥

संसारके प्राणरूप (सौन्दर्यादिसे प्राणवत् प्रिय, अथवा—पालनादिके द्वारा प्राणदानकर्ता, अथवा—श्वासवायुरूप) नलको पाकर प्रसन्न, चञ्चल और अधिक सन्तापयुक्त धर्मराज (यम), वरुण तथा अग्निने चित्तमें गुप्त भावसे यह विचार किया—[अथवा-नलको जगत्का रक्तरूप होनेसे यमादिको ऐसे सुन्दर व्यक्तिके देखनेसे हर्ष, 'हम स्वयंवरमें अत्र सम्मिलित हों या नहीं यह विचार आनेसे चञ्चलता, और दमयन्ती इस नलको छोड़कर हमलोगोंको नहीं वरण करेगी' इस विचारसे अधिक सन्ताप हुआ । अथवा—नलके संसारका प्राणरूप तथा धर्मराजका लोकप्राणका अपहरणकर्ता होनेसे हर्षित होना, जलरूप वरुणका प्राण अर्थात् जगत्प्राण नलरूप वायुको प्राप्तकर मेघके समान चञ्चल होना, और अग्निका जगत्प्राण नलरूप वायुको प्राप्त करनेसे सन्ताप बढ़ना (अधिक प्रज्वलित होना) युक्तियुक्त ही है अर्थात् नलको स्वयंवरमें जाते देख यमको क्रोध, वरुणको घबड़ाहट तथा अग्निको अधिक सन्ताप हुआ और वे मनमें इस प्रकार सोचने लगे यहाँ क्रमशः यमका हर्षित, वरुणका चञ्चल और अग्निका सन्तप्त होना नारायणसम्मत यह अर्थ मल्लिनाथको अभीष्ट नहीं है; परन्तु अपने मतके पुष्ट्यर्थ जो हेतु प्रदर्शित किये हैं, वे कहाँ तक युक्तियुक्त हैं, यह विचारक विद्वान् ही विचार करें] ॥ ६८ ॥

नव नः प्रियतमोभयथासौ यद्यमुं न वृणुते वा ।
एकतो हि धिगमूमगुणज्ञामन्यतः कथमदःप्रतिलम्भः ॥ ६९ ॥

चिन्ताप्रकारमेवाह—नैवेत्यादिना श्लोकत्रयेण । असौ दमयन्ती, अमुं नलं यदि न वृणुते वा । उभयथापि पक्षद्वयेऽपि नोऽस्माकं प्रियतमा न भवत्येव । कुतः हि यस्मादेकतः प्रथमपक्षे अगुणज्ञाममूं धिक् । तत्सङ्गतेरसुखावहत्वादिति भावः । अन्यतो नलवरणपक्षे कथमदःप्रतिलम्भः अमुष्याः परिग्रहः । परदारत्वादिति भावः॥

'यदि यह दमयन्ती इस नलको नहीं वरण करती है, अथवा वरण करती है' दोनों प्रकारसे वह प्रियतमा नहीं होगी, क्योंकि प्रथम पक्षमें अर्थात् नलको नहीं वरण करती है तो गुणको नहीं पहचाननेवाली इस दमयन्तीको धिक्कार है (ऐसी गुणकी अनभिज्ञा दमयंतीको मैं वरणकर कोई आनन्द नहीं कर सकूँगा) तथा दूसरे पक्षमें अर्थात् यदि दमयंती नलको वरण करती है तब इस दमयंतीकी प्राप्ति मुझे किस प्रकार होगी ? ॥६९॥

मामुपैष्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम् ।
ईदृशो न कथमाकलयित्री मद्विशेषमपरान्नृपपुत्री ॥ ७० ॥

मामिति । इयं दमयन्ती, इयदेतावदस्य नलस्य, मत्तो मत्सकाशान्महत्त्वमाधिक्यं, न वेद यदि, तदा मामुपैष्यति । तर्हि त्वद्गतदेवत्वाद्युत्कर्षज्ञानात्त्वामेव वरि-

प्यतीत्यत आह—ईदृशीति । ईदृशी सर्वापरोचनलगतविशेषानभिज्ञा नृपपुत्री अपराद्परस्माच्चलादित्यर्थः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्न स्मादादेशः । मद्विशेषं मदीयोत्कर्षं च कथमाकलयित्री ज्ञात्री । तृजन्तादीकारः । 'न लोक–' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः ॥ ७० ॥

यदि यह दमयंती इस नलके इस महत्त्वको नहीं जानती है, तब मुझे वरण करेगी । (किन्तु) ऐसी (विशेष गुणोंको नहीं जाननेवाली) राजकुमारी दमयन्ती अन्य राजाओंसे मेरी विशिष्टताको कैसे समझेगी ? [यदि दमयन्ती मुझसे उत्कृष्ट गुणोंवाले नलको नहीं वरण करेगी, तो अन्य राजाओंसे उत्कृष्ट गुणवाले मुझे वरण करेगी ? इसकी क्या आशा की जाय ? अर्थात् दमयन्तीको पाना अब असम्भव सा मालूम होता है] ॥ ७० ॥

नैषधे बत वृते दमयन्त्या व्रीडितो हि न बहिर्भवितास्मि ।
स्वां गृहेऽपि वनितां कथमास्यं ह्रानिमीलि खलु दर्शयिताहे ॥ ७१ ॥

नैषध इति । किंच, दमयन्त्या नैषधे नले, वृते सति, व्रीडितः सन् बहिस्तावन्न भवितास्मि हि । बहिः क्वापि जनसमक्षं स्थातुं न शक्यामीत्यर्थः । भवतेर्लुट् । बतेति खेदे । गृहेऽपि, स्वां वनितां भार्यां, ह्रिया निमीलति संकुचतीति ह्रानिमीलि । णिनिप्रत्ययः । आस्यं कथं खलु दर्शयिताहे दर्शयिष्यामि । दृशेर्ण्यन्तात्कर्तरि लुट् । 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इत्यणि कर्त्र्या वनितायाः वैकल्पिकं कर्मत्वम् । अत्र णेरणादिसूत्रस्थयद्ग्रहणसामर्थ्यलब्धाश्रूयमाणकर्मत्वाभावेन तद्विषयत्वात् 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदमिति केचित् । अणिकर्तृकर्मश्रवणेऽपि तदतिरिक्तकर्माश्रवणादश्रूयमाणकर्मत्वमस्त्येवेति णेरणादिसूत्रविषयत्वमेवेति भाष्यकारः । तदेतत्सम्यग्विवेचितमस्माभिः किरातार्जुनीयव्याख्याने घण्टापथे 'स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः' इत्यत्र ॥ ७१ ॥

दमयन्तीके द्वारा नलको वरण करनेपर लज्जित मैं बाहर नहीं होऊँगा और लज्जासे सङ्कोचयुक्त अपना मुख घरमें अपनी स्त्रीको भी कैसे दिखलाऊँगा ? ॥ ७१ ॥

इत्यवेत्य मनसात्मविधेयं किञ्चन त्रिविबुधी बुबुधे न ।
नागनायकमपास्य तमेकं सा स्म पश्यति परस्परमास्यम् ॥ ७२ ॥

इतीति । त्रयाणां विबुधानां समाहारस्त्रिविबुधी यमादिदेवत्रयम्, इति पूर्वश्लोकत्रयोक्तप्रकारेण । मनसाऽवेत्यालोक्य, किञ्च नात्मविशेषं स्वकर्तव्यं न बुबुधे न विवेद । किञ्च, सा त्रिविबुधी, तमेकं नाकनायकमिन्द्रमपास्य अपवार्य परस्परमास्यं पश्यति स्म । इतिकर्तव्यतामूढास्त्रयोऽपि केवलमन्योन्यमुखान्यपश्यन्नित्यर्थः ॥७२॥

इस प्रकार (श्लो० ६९–७१) तीनों देवों (यम, वरुण तथा अग्नि) ने मनमें विचार

कर अपना कर्तव्य नहीं समझा। (पाठभेदसे—इस प्रकार तीनों देवोंने मनमें अपना विशेष अर्थात् नलसे अपने सौन्दर्यादिमें कमी समझकर (क्या करना चाहिये, क्या नहीं) कुछ भी नहीं समझा। (किन्तु) एक उस स्वर्गाधिपति इन्द्रको छोड़कर वे तीनों एक दूसरे का मुख देखते रहे (अथवा—एक उस स्वर्गाधिपति इन्द्रको छोड़ इस प्रकार मनमें विचार कर उन तीनोंने अपना कर्तव्य नहीं समझा, किन्तु परस्परमें एक दूसरे का मुख देखते रहे। वे तीनों किंकर्तव्यमूढ होकर एक दूसरे का मुँह ताकने लगे)॥ ७२॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्धं स्वानुगाननमवेक्ष्य ऋभुक्षाः।
शंसति स्म कपटे पटुरुच्चैर्वञ्चनं समभिलष्य नलस्य॥ ७३॥

किमिति। कपटे परवञ्चने, पटुः, ऋभुक्षा इन्द्रः। अधुना किं विधेयमिति विमुग्धमितिकर्तव्यतामूढम्। स्वस्यानुगानामनुयायिनां यमादीनामाननमवेक्ष्य तेषां दैन्यं दृष्ट्वेत्यर्थः नलस्य वञ्चनं समभिलष्य अभिसन्धाय, उच्चैः शंसति स्म जगाद॥ ७३॥

कपट करनेमें बहुत चतुर इन्द्र 'इस समय क्या करना चाहिये' इस विषयमें ज्ञानशून्य अपने अनुगामियों (यम, वरुण तथा अग्निरूप साथियों) को देखकर नलको वञ्चित करने का लक्ष्यकर कहने लगे—[अन्य भी कोई धूर्त मनुष्य अपने साथियोंको कर्तव्यमें मोहित जानकर उनको छोड़कर किसी प्रकार केवल अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है]॥ ७३॥

सर्वतः कुशलभागसि कच्चित्त्वं स नैषध इति प्रतिभा नः।
स्वासनार्धसुहृदस्तव रेखां वीरसेननृपतेरिव विद्मः॥ ७४॥

सर्वत्र इति। सर्वतः सप्तस्वङ्गेषु, कुशलभागसि कच्चित्। 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरः। न च त्वां न वेद्मीत्याह—त्वं स प्रसिद्धो नैषधः नल इति नोऽस्माकं, प्रतिभा प्रतीतिः। कुतस्तव रेखामाकृतिं, स्वासनार्धसुहृदो ममार्धासनभाजो, वीरसेननृपतेरिव तत्सदृशीं विद्मः तत्सादृश्यात्तत्पुत्रो नलस्त्वमिति प्रतीम इत्यर्थः॥ ७४॥

'तुम सब प्रकार (अपने सप्ताङ्ग राज्यादि, अथवा शरीरादिके विषयमें) कुशलयुक्त तो हो न?। 'तुम वह (लोक-प्रसिद्ध) नैषध (निषधपति नल) हो' यह हम लोगोंका अनुमान है। (हमलोग) अपने (इन्द्रके) आधे आसनके (ऊपर बैठनेसे) मित्र वीरसेन राजाके तुल्य लक्षण तुममें देखते हैं। [एक दीपकसे जलाये गये दूसरे दीपकके समान पिताकी आकृति पुत्रमें होनेसे तुम्हारे पिता वीरसेन राजा स्वर्गमें मेरे साथ आधे आसनपर बैठनेसे मित्र थे, उनके लक्षण तुम्हारेमें दीख पड़ते हैं, अतः मित्रपुत्र होनेके कारण अपरिचित भी तुमसे कुशल-पूछना अनुचित या आश्चर्यकारक नहीं है]॥ ७४॥

क्व प्रयास्यसि नलेत्यलमुक्त्वा यात्रयात्र शुभयार्जति यन्नः।
तत्तयैव फलसत्वरया त्वं नाध्वनोर्धमिदमागमितः किम्॥ ७५॥

क्वेति। हे नल, क्व प्रयास्यसीत्युक्त्वा पृष्ट्वा अलं, न प्रष्टव्यमित्यर्थः। 'अलंखल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्ययः। कुतः, यद्यस्मान्नोऽस्माकमत्र यात्रया इहागमनेन, शुभया त्वद्दर्शनेन सफलया, अजन्यभावि। भावे लुङ्। तत्तस्मात्, फलेन सत्वरया फलार्थिन्या तया, यात्रयैव कर्त्र्या, त्वमिदमध्वनोऽर्धमर्धमार्गमागमितो न किम्? : अस्मदर्थमेवेदं तवागमनमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

'हे नल! कहाँ जावोगे' यह कहना निरर्थक है, क्योंकि हमलोगोंकी यहाँपर (इस मार्गमें या इस कार्यारम्भमें) यात्रा शुभ हो गयी। सो तुम्हें फलमें शीघ्रता करनेवाली अर्थात् शीघ्र सफल होनेवाली इस यात्राने ही यहाँ आधे रास्तेमें नहीं ला दिया हैं क्या? [तुम्हारी सहायतासे शीघ्र सफल होनेवाली हमलोगोंकी यात्राने ही हमारा सहायक बननेके लिए यहाँ बीच रास्तेमें तुम्हें ला दिया है, इससे 'कहाँ जावोगे?' यह पूछना व्यर्थ है। लौकिक व्यवहारके अनुसार भी कहीं जाते रहनेपर 'कहाँ जावोगे' इस प्रकार पूछना अशुभ माना जाता है] ॥ ७५ ॥

एष नैषध! स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिलः स हुताशः!
यादसां स पतिरेष च शेषं शासितारमवगच्छ सुराणाम् ॥ ७६ ॥

के यूयमत आह—एष इति। हे नैषध! नल! एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देशः। स प्रसिद्धो दण्डभृद्यमः, एष ज्वालजालैर्जटिलो जटावान्। ज्वालामालाकुलीत्यर्थः। 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः। पिच्छादित्वादिलच्। स हुताशोऽग्निः, एष च स यादसां पतिर्वरुणः, शेषं शिष्टं त्वमित्यर्थः। सुराणां शासितारम् अवगच्छ देवेन्द्रं विद्धि ॥ ७६ ॥

हे नल! यह दण्डधारी (यम) हैं, ज्वाला-समूहरूप जटाको धारण किए ये अग्नि हैं, ये जलाधीश (वरुण) हैं और शेष (मुझे) देवताओंका शासक अर्थात् देवराज इन्द्र समझो। ['दण्डभृत्' आदि विशेषण उनके प्रति आदराधिक्य दिखाने या 'इनकी आज्ञा अनुल्लङ्घनीय है' यह नलको संकेत करनेके लिये है, साथ ही अपनेको सब देवोंका भी शासक बतलाकर इन्द्रने 'मेरी आज्ञा विशेष रूपसे अनुल्लङ्घनीय है, अतः मैं भविष्यमें जो दूत-कार्य करनेको कहूँ, उसे तुम्हें अवश्य स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा तुम्हें दण्ड भोगना पड़ेगा, क्योंकि जो देवोंका शासक है, उसे मनुष्यका शासन करना अत्यन्त सरल है' इस बातकी ओर नलको संकेत किया है] ॥ ७६ ॥

अर्थिनो वयममी समुपैमस्त्वां किलेति फलितार्थमवेहि।
अध्वनः क्षणमपास्य च खेदं कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ॥ ७७ ॥

अर्थिन इति। हे नल! अमी वयमर्थिनः सन्तस्त्वां समुपैमः किल प्राप्नुमः खलु

समुपपूर्वाद्विणो लटि मस् । इति फलितार्थमवेहि विद्धि । क्षणमध्वनः खेदमपास्य अध्वश्रमं नीत्वा भवति त्वयि कार्यनिवेदं कार्यविशेषनिवेदनम् विदेर्ण्यन्ताद्णमुल्प्रत्ययः । कुर्महे ॥ ७७ ॥

संक्षेपमें फलितार्थ कथन यह है कि 'ये हमलोग याचक होकर तुम्हारे पास आ रहे हैं। कुछ समय तक रास्तेकी थकावट दूरकर (थोड़ी देर सुस्ताकर) आपसे हमलोग अपने कार्यकी प्रार्थना करेंगे' ॥ ७७ ॥

ईदृशी गिरमुदीर्य बिडौजा जोषमाप न विशिष्य बभाषे ।
नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधि गुरुर्गुरुरस्य ॥७८॥

ईदृशीमिति । बिडौजाः इन्द्रः, ईदृशीं सामान्यनिर्दिष्टां, गिरमुदीर्य जोषं मौनमाप । 'तूष्णीं जोषं भवेन्मौनम्' इति हलायुधः । विशिष्य विविच्य, न बभाषे विशेषं नाचष्टेत्यर्थः, अत्रास्मिन्नभिधाकुशलत्वे उक्तिचातुर्ये, चित्रं विस्मयो न। कुतः, अस्येन्द्रस्य शैशवमवधिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा तदारभ्येत्यर्थः । गुरुराचार्यो गुरुर्बृहस्पतिः । वाचस्पतिशिष्यस्य वाग्मित्वं किं चित्रमित्यर्थः । 'गुरुर्गीष्पतिपित्रादौ' इति वैजयन्ती ॥ ७८ ॥

ऐसा वचन (श्लो० ७४-७७) कहकर इन्द्र चुप हो गये, विशेष रूपसे ('दमयंती के लिये मेरा दूत बनो इस प्रकार स्पष्ट रूपसे) नहीं कहे । (इन्द्रके) इस प्रकार कहने की चतुरतामें कोई आश्चर्य नहीं है, जिससे शिक्षक बचपनसे ही बृहस्पति हैं ॥ ७८ ॥

अर्थिनामहृषिताखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम् ।
अर्चनार्थमिव तच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये ॥ ७९ ॥

अर्थीति । अर्थिनाम्ना अर्थिनामश्रवणेन, हृषिताखिललोमा रोमाञ्चिततनुः, 'हृषेर्लोमसु' इति वैकल्पिक इडागमः । नृपः, स्वमात्मानं, तच्चरणानामर्चना स्फुटकदम्बकदम्बं विकसितनीपकुसुमवृन्दमिवेत्युत्प्रेक्षा । प्रणामकरणात्तद्व्याजादुपनिन्ये समर्पयामास ॥ ७९ ॥

'अर्थी' अर्थात् इन्द्रादि याचकोंके नाम (अथवा—'याचक' इस शब्द) से रोम-रोमसे हर्षित नलने हर्षसे खिले हुए कदम्ब-समूहके समान अपनेको मानो उनकी पूजा करनेके लिये प्रणाम करनेसे चरणोंको समर्पण कर दिया । ['अर्थी' का नाम सुनकर हर्षसे नल विकसित कदम्बके समान रोमाञ्चित हो गये । फिर जैसे कोई देवताओंके चरणोंमें पुष्प समर्पण कर उनकी पूजा करता है वैसे ही पुष्पित कदम्ब-समूहके समान अपने शरीरको साष्टाङ्ग दण्डवत् करनेसे उनके चरणोंपर रख दिया] ॥ ७९ ॥

दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं कथमहो मदधीनम् ।
ईदृशं मनसिकृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय ॥ ८० ॥

दुर्लभमिति । दिगधिपैरमीभिरिन्द्रादिभिः, दुर्लभं किं तादृशं दुर्लभं वस्तु कथं मदधीनं मदायत्तम्, अहो, ईदृशं विरोधं मनसिकृत्य निधाय । 'अनत्याधान उरसि-मनसी' इति गतिसंज्ञापक्षे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे क्त्वो ल्यबादेशः । नैषधेन नलेन, चिराय चिरं समशायि संशयितम् । विचारितमित्यर्थः । भावे लुङ् ॥८०॥

('मेरे याचक बननेवाले) इन दिक्पालोंको क्या दुर्लभ है ? अर्थात् कुछ नहीं, (क्योंकि अपने प्रभावसे या स्वर्गस्थ कल्पवृक्षादिके द्वारा सब कुछ इनको सुलभ ही है). और वैसी (इन देवताओंसे दुर्लभ) वस्तु मेरे अधीन कैसे है ?' ऐसी विरुद्ध बातों को मनमें रखकर बहुत देर तक नल संशय में पड़े रहे ॥ ८० ॥

जीवितावधि वनीपकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत् ।
अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीर्य [1]परितुष्यतु चेतः ॥ ८१ ॥

विचारप्रकारमेवाह द्वादशश्लोक्या—जीवितेत्यादि । यद्यस्मादखिलैर्वनीपकमात्रैर्यैः कैश्चिद्याचकैः । 'वनीपको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमरः । जीवितावधि प्राणपर्यन्तं, याच्यमानं वस्तु सुलभम् । सुराणां परिवृढाय प्रभवे अर्थिने किं वस्तु वितीर्य दत्त्वा, चेतः परितुष्यतु सन्तुष्येत् । प्राणान्तं वस्तु सर्वार्थिसाधारणं ततोऽधिकमिन्द्राय देयं किमस्तीति विचारितमित्यर्थः । वितरणे चेतसः कर्तृत्वविवक्षया वितरणपरितोषयोः समानकर्तृत्वसिद्धिः ॥ ८१ ॥

जब सब याचकोंको माँगे गये (मेरे) प्राणतक सुलभ हैं (योग्य एवं अयोग्य पात्रका विना विचार किये ही मैं सामान्य याचकोंको भी सरलतासे अपने प्राण भी दे सकता हूँ) तब याचक देवराज (इन्द्र) के लिये क्या (प्राणोंसे भी अधिक कौन सा पदार्थ) देकर (मेरा) चित्त सन्तुष्ट होवे ? [संसारमें जीवन ही सर्वश्रेष्ठ पदार्थ माना गया है, उसे जब मैं सामान्य याचकको भी अनायास ही दे सकता हूँ, तब अत्यन्त उत्तम पात्र याचक देवराज इन्द्रके लिये प्राणोंसे भी उत्तम वस्तु देना उचित है, किन्तु प्राणाधिक कोई वस्तु देने योग्य नहीं दीख पड़नेसे नल संशयमें पड़े रहे] ॥ ८१ ॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी ।
न स्वमेव मम सार्हति यस्याः षोडशीमपि कलां किल नोर्वी ॥८२॥

नन्वस्ति लोकोत्तरं वस्तु भैमी, सा दीयतामित्यत आह—भीमजेति । उर्वी भूर्यस्या भैम्याः षोडशीमपि कलां नार्हति षोडशांशसाम्यमपि न प्राप्नोतीत्यर्थः ।

1. 'मम तुष्यतु' इति पाठान्तरम् ।

अत एव धनादपि। किं बहुना, जीवितादपि गुर्वी अधिका सा भीमजा दमयन्ती च। मे हृदि हृदये, परं सम्यगास्ते। किंतु मम स्वमेव न भवति। अद्याप्यस्वकरणाद्स्वस्यादेयत्वात्। स्वत्वेऽपि 'देयं दारसुताहते' इति दाराणां दाननिषेधाच्च विचारस्तदवस्थ एवेति भावः॥ ८२॥

धन तथा मेरे प्राणोंसे भी श्रेष्ठ भीमकुमारी दमयन्ती केवल मेरे हृदय में है (बाहरमें नहीं है तथा बाहरसे स्थित वस्तुको ही किसीके लिये दिया जा सकता है, अथ च) पृथ्वी-(विशालतम) भी जिसके सोलहवें भागके (रुपयेमें एक आना) भी योग्य नहीं, वह दमयन्ती मेरा धन नहीं है [वह दमयन्ती मेरे हृदयमें बसी हुई है, किन्तु विधिवत् पिताके द्वारा कन्यादान (या उसके द्वारा स्वयंवरण) न करनेतक उसपर मेरा अधिकार नहीं है, अपने अधिकारी वस्तुको ही कोई किसीके लिये दे सकता है, अधिकारसे बाहरकी वस्तुको नहीं। अथवा—जिस दमयन्तीके सोलहवें भागके योग्य मेरा स्वरूप ही नहीं है, फिर सम्पूर्ण पृथ्वी कैसे होगी? अथवा—मेरे जीवन तथा पृथ्वीरूप धनसे भी अधिक वह दमयन्ती मेरे हृदयमें ही रहती है, अत एव तथा स्त्री–पुत्रके दानका शास्त्रीय निषेध होनेसे उसे नहीं दिया जा सकेगा—इन्द्र उसे नहीं पा सकते]॥ ८२॥

मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां द्रुतमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ ८३॥

पुनर्विचारमेवाह—मीयतामिति। एषामभीप्सितं वस्तु कथं मीयतां ज्ञायेत। ज्ञानस्योपयोगमाह–अयाचितं यथा तथा द्रुतं कथं दीयताम्, दातव्यमित्यर्थः। तर्हि, अर्थिवाचैव विज्ञाय दीयतामित्यत आह–यो दाता वाञ्छामर्थाकांक्षां कलयन् जानन्नपि। अर्थिवागवसरं सहते याच्ञाकालं प्रतीक्षते, तं दातारं धिगस्तु। स गर्ह्य इत्यर्थः॥ ८३॥

इन (इन्द्रादि) का इष्ट कैसे जाना जाय? (या बिना जाने ही) शीघ्र दे दिया जाय ('द्रुतं' के स्थानपर 'कथं' पाठ ठीक है, उसी पाठमें 'बिना जाने कैसे दे दिया जाय?' यह अर्थ प्रकरणसंमत होता है)। याचकोंकी इच्छा ('यह मुझसे माँगना चाहता है' ऐसी इच्छा) जानता हुआ भी जो 'दाता' याचकके कहनेकी प्रतीक्षा करता है, उस दाताको धिक्कार है। [श्रेष्ठ दातालोग 'याचक मुझसे मुँह खोलकर किसी वस्तुको माँगे, तब मैं उसका दूँगा' ऐसा नहीं करते, किन्तु 'यह मुझसे माँगना चाहता है' इतना ही जानकर उसके लिये अपरिमित दान दे देते हैं, क्योंकि वे याचकके याचनाजन्य दीन वचनको सुनना पसन्द नहीं करते]॥ ८३॥

---

१. 'कथ–' इति पाठान्तरम्।

प्रापितेन चटुकाकुविडम्बं लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददानः ॥ ८४ ॥

शीघ्रप्रदाने दोषमाह—प्रापितेनेति । चटुकाकुभ्यां चटूक्तिकाकुयोगभ्यां करणाभ्यां, विडम्बं विडम्बनां हास्यत्वं, प्रापितेन, दात्रेति शेषः । बह्वधिकं, यथा तथा याचनेन देहीति वादेन, लज्जां लम्भितेन प्रापितेन अत्रापि दात्रेति शेषः । अर्थिना करणभूतेन, उक्तरूपेणार्थिपीडनेनेत्यर्थः । यदघं पापमर्जति सम्पादयति, विलम्ब्य ददानो दाता, तदघं न लुम्पति न विहन्ति । तस्य पापस्य प्रायश्चित्तमपि नास्तीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

विलम्बसे दान देनेवाला दाता चाटु ('मुझे कुछ दान दीजिये' इस प्रकार बार बार कहना अथवा—प्रियभाषण यथा—'आप बड़े धर्मात्मा हैं, दानी हैं' इत्यादि वचन) तथा काकु (दीनतापूर्ण वचन, यथा—'आप कृपापूर्वक मुझे कुछ देवें, मैं बहुत निर्धन एवं दुखित हूँ' इत्यादि वचन) से हास्यपात्रता (या पराभव) को प्राप्त करनेवाला और बहुत याचना करनेसे लज्जाको प्राप्त करानेवाला (दाता) याचकके द्वारा (या याचकके कारणसे) जिस पापको प्राप्त करता है, उसे (दानके द्वारा) दूर नहीं करता (दान करनेसे उस पापका प्रायश्चित्त नहीं होता) । ['प्रकाश'—टीकाकारने—तृतीयान्त पदोंको अर्थी का विशेषण मानकर—चाटु तथा दीन वचन कहनेसे पराभूत तथा अनेक बार याचना करनेसे लज्जित दाता अर्थीसे जो पापार्जन करता है उस पापको दूर नहीं करता है । विलम्बसे दानको देनेवाला पुण्यार्जनके स्थानपर पापार्जन करता है । अतः शीघ्रातिशीघ्र दान करना ही श्रेयस्कर है] ॥ ८४ ॥

यत्प्रदेयमपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय ।
याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्राससमूर्च्छनचिकित्सितमेतत् ॥ ८५ ॥

यदिति । वदान्यैर्दातृभिः, प्रदेयं देयद्रव्यमुपनीयार्थिजनाय सलिलं दीयत इति यत् । एतत्सलिलदानं याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कया देहीति वादवैफल्यशङ्कया त्रासो भयं तेन यन्मूर्च्छनं तस्य चिकित्सितमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा किमर्थं तत्सलिलदानमिति भावः ॥ ८५ ॥

दान योग्य वस्तुको (याचकके) समीप लाकर दान करनेवाला जो याचकके लिये (उसके हाथपर सङ्कल्पका) जल देता है, वह (जलदान कार्य) याचनाकी उक्तिके निष्फल होनेकी शंकासे उत्पन्न भयसे होनेवाली मूर्च्छाकी चिकित्सा है । (पाठभेद—प्रार्थना या वह याचना) की उक्तिकी निष्फलताकी शंकासे बढ़नेवाली अकाल मृत्युकी चिकित्सा है) । [मूर्च्छा आनेवाले व्यक्तिपर पानी छिड़ककर जिस प्रकार उसकी मूर्च्छाकी चिकित्साकर

१. 'त्रासमूर्च्छंदपमृत्युचिकित्सा' इति पाठान्तरम् ।

मूर्छा दूर करते हैं, उसी प्रकार 'हमारा माँगना व्यर्थ न होवे' इस प्रकारके सन्देहसे उत्पन्न भयसे आनेवाली मूर्च्छाकी चिकित्सा दान देते समय याचकके हाथपर दिया गया संकल्प का जल होता है। अर्थात् उस सङ्कल्पजलके हाथमें आते ही याचकको अपनी याचनाकी सफलता होनेसे संशय दूर हो जाता है] ॥ ८५ ॥

अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम्।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥ ८६ ॥

अर्थिन इति। कुशवतो जलस्य दायो दानम्। ददातेर्घञ्। युगागमः। स प्रतिपाद्यतया अस्मिन्निबन्धावस्तीति कुशवज्जलदायी सकुशजलदानप्रतिपादक इत्यर्थः। अतः एवोक्तिविदग्धः। अभिधाव्यापारमन्तरेणार्थादेवार्थान्तर प्रतिपादनचतुर इत्यर्थः। द्रव्यदानविधिर्धनदायकशास्त्रमेवमाह। किमिति अर्थिने धनमात्रं धनमेव। 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः। तृणवत्तृणमिव न प्रतिपाद्यं देयम्। किंतु जीवनमपि जीवितमपि तथा देयमिति। सकुशं जलं देयमिति च गम्यते। अर्थ्यनपेक्षितकुशजलदानं विदधतो द्रव्यदानविधेरयमेवाभिप्राय इति भावः ॥ ८६ ॥

पवित्र कुशके साथ संकल्पजलको दिलानेवाली, बोध करानेमें चतुर वस्तुको दान करानेकी विधि अर्थात् शास्त्रीय विधान, 'याचकके लिये तृणके समान धनको ही नहीं, अपितु प्राणोंको भी देना चाहिये' ऐसा कहती है। ['कुशवत्सलिलोपेतं दानं सङ्कल्पपूर्वकम्' (कुश तथा जलसे सङ्कल्पपूर्वक दान करे) इस शास्त्रीय वचनमें पवित्र कुशाके साथ जल देकर दान करनेका विधान है, अतः इस शास्त्रीय वचनका यह आशय है कि—दाता जिस प्रकार तृणवत् (तृणके समान, पक्षान्तरमें—तृणयुक्त) धनको तुच्छ समझकर याचकके लिये देता है, उसी प्रकार जीवन (प्राण, पक्षान्तरमें—सङ्कल्पजल) भी याचकके लिये देता है, उसी प्रकार जीवन (प्राण, पक्षान्तरमें—सङ्कल्पजल) भी याचकके लिये देना चाहिये अर्थात् याचकके लिये तृणवत् (कुशायुक्त) जलको (पक्षान्तरमें—तृणके समान प्राणोंको) भी देना चाहिये] ॥ ८६ ॥

पङ्कसङ्करविगर्हितमहं न श्रियः कमलमाश्रयणाय।
अर्थिपाणिकमलं विमलं तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ॥८७॥

पङ्केति। पङ्कः पाप कर्दमश्च। 'पङ्कोऽस्त्री कर्दमैनसोः' इति वैजयन्ती। तत्सङ्करेण विगर्हितं, कमलं श्रियः आश्रयणाय नाहम्। तत्तस्मात्सुधीविमलं निष्पङ्कमर्थिपाणिकमलं तद्वासवेश्म लक्ष्मीनिवासस्थानं, विदधीत। सर्वथा धनं पात्रपाणिष्वेव निक्षेप्यम्। न तु भूमाविति भावः ॥ ८७ ॥

कीचड़ (पक्षान्तरमें—पाप) के संसर्गसे दूषित (पक्षान्तरमें—निन्दित) कमल लक्ष्मी (पक्षान्तरमें—सम्पत्ति) का आश्रय अर्थात् निवासस्थान नहीं है, अत एव विद्वान् (दाता) निर्मल (पक्षान्तरमें—सुपात्र होनेसे अनिन्दित) याचकके हस्तकमलको उस

लक्ष्मी (पक्षान्तरमें—सम्पत्ति) के रहनेका घर बनाते । ['लक्ष्मीका वासस्थान कमल है' यह शास्त्रवचन जलाशयसे उत्पन्न कीचड़युक्त मलिन कमलको लक्ष्मीका वासस्थान नहीं बतलाया, किन्तु सत्पात्र होनेसे अनिन्दित याचकके करकमलको लक्ष्मीका वासस्थान बतलाता है अतः विद्वान्‌को अपना धन भी सत्पात्रके करकमलमें देना चाहिये । कोई सामान्य भी व्यक्ति कीचड़से युक्त स्थानको अपना वासस्थान बनाना पसन्द नहीं करता, तो लक्ष्मीको कीचड़युक्त कमल क्यों पसन्द होगा ? अर्थात् कदापि नहीं होगा] ॥ ८७ ॥

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य ।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥ ८८ ॥

याचमानेति । यस्य धनिनो जन्म याचमानजनमानसवृत्तैरर्थिजनमनोरथस्य पूरणाय न भवति । बतेति खेदे । तेनैकेनैव पापीयसा । इयं भूमिरतिभारवती । न द्रुमादिभिर्बहुभिरपीत्यर्थः । तेभ्यः प्रजानां बहूपकारलाभादिति भावः ॥ ८८ ॥

जिसका जन्म याचना करते हुए मनुष्यके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये नहीं है, खेद है कि एक उसीसे यह पृथ्वी भारवाली है; वृक्षोंसे नहीं, पहाड़ोंसे नहीं और समुद्रोंसे नहीं । [क्योंकि जड़ होते हुए भी वे वृक्षादि फल-फूल, धातु—औषध तथा रत्न आदिके द्वारा दान देते ही हैं । मनुष्यको अपना जन्म दान देकर सफल बनाना चाहिये] ॥ ८८ ॥

मा धनानि कृपणः खलु जीवन् तृष्णयार्पयतु जातु परस्मै ।
तत्र नैष कुरुते मम चित्रं यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि ॥ ८९ ॥

मेति । कृपणः कष्टलुब्धो, जीवन् प्राणन् , तृष्णया अतिगर्धनेन, जातु कदापि, परस्मै याचमानाय धनानि, मा (मा) र्पयतु न प्रयच्छतु । एष कृपणस्तत्र जीवनक्षणानर्पणे, मम चित्रं विस्मयं न कुरुते । किंतु, मृतोऽपि तानि धनानि, नार्पयति प्रयच्छतीति यत्तत्र चित्रं कुरुते विरोधात् । नार्पाणि नृपसम्बन्धीनि कुरुत इति तदाभासीकरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ८९ ॥

कृपण जीते-जी लोभसे धनको कभी किसीके लिये भले नहीं दे, उसमें मुझे आश्चर्य नहीं होता, किन्तु मरकर भी उस धनको जो नहीं देता है (पक्षान्तरमें—राजाके अधीन करता है) यह आश्चर्य है । [यहाँपर 'नहीं देता है' इस पक्षमें मरनेके बाद नहीं देनेसे आश्चर्य होना विरोध है, क्योंकि मरनेपर कुछ भी वस्तु किसीको दे सकना अशक्य है, "राजाके अधीन कर देता है (मरनेपर शास्त्रीय वचनानुसार राजा उसकी सम्पत्तिको अपने अधीन कर लेता है)' यह विरोधका परिहार है । अथवा—जो जीता हुआ किसीको नहीं देता, वह मरनेपर राजाके लिये दे देता है, यह आश्चर्य है । जब मरनेपर लोभसे संचित धनको राजा ले ही लेता है और उससे कोई पुण्य या आत्मस्वार्थकी सिद्धि भी नहीं होती तब जीते-ही लोभ छोड़कर मनुष्यको दान करना चाहिये] ॥ ८९ ॥

मामभीभिरिह याचितवद्भिर्दातृजातमवमत्य जगत्याम् ।
यद्यशो मयि निवेशितमेतान्निष्क्रयोऽस्तु तदीयः ॥ ९० ॥

मामिति । जगत्यां भुवि भुवने वा । 'जगती भुवने भूम्याम्' इति विश्वः । दातृजातमवमत्यावधीर्य, मां याचितवद्भिरमीभिर्देवैर्यद्यशो मयि निवेशितं स्थापितम्, एतन्निष्क्रयः एतस्य यशसो निष्क्रयः प्रतिनिधिभूतः । कतमस्तु पदार्थस्तदीयोऽस्तु इन्द्रादिसम्बन्धी स्यात् । किं वितीर्य अनृणो भविष्यामीत्यर्थः ॥ ९० ॥

इस संसार में अन्य दाताओंके समुदायको छोड़कर मुझसे याचना करनेवाले इन्होंने (इन्द्रादिने) मेरे जिस यशको स्थापित किया है (अथवा—कल्पवृक्ष आदिके रहते उनको छोड़कर इस लोकमें मेरे जिस यशको स्थापित किया है), उसका बदला (देनेके योग्य) कौन वस्तु हो ? ['भूमिस्थ अन्यान्य दाताओंको या स्वर्गस्थ कल्पवृक्ष आदिको छोड़कर कहीं कभी नहीं याचना करनेवाले इन्द्रादिने भी नलसे याचना की थी' इस प्रकार जो मेरे अत्यन्त श्रेष्ठ यशको स्थापित किया है, उसका बदला चुकानेके लिये कोई वस्तु नहीं दीखती, जिसे देकर मैं इनसे ऋणमुक्त होऊँ । अधिक देना तो दूर रहा, याचना करनेपर भी इनके द्वारा स्थापित महान् यशका बदला चुकाना हा मेरे लिये अशक्य प्रतीत हो रहा है] ॥ ९० ॥

लोक एष परलोकमुपेता हा विहाय निधने धनमेकः ।
इत्यमुं खलु यदस्य निनीषत्यर्थिबन्धुरुदयद्दयचित्तः ॥ ९१ ॥

लोक इति । एष लोको जनः, हा कष्टं, निधने अन्त्यकाले, धनं विहाय, एकः एकाकी, परलोकमुपेता उपैष्यति । इणो लुट् । इति हेतोरुदयद्दयमुद्यत्कृपश्चित्तं यस्य सोऽर्थ्येव, बन्धुरस्य लोकस्य, तद्धनम् अमुं परलोकं, निनीषति नेतुमिच्छति खलु । अन्ये तु बन्धवः स्वयमेव सर्वस्वं गृह्णन्ति । नैवं प्रापयन्तीत्ययमेवापद्बन्धुः सङ्ग्राह्य इति भावः ॥ ९१ ॥

यह जन मरनेपर धनको छोड़कर अकेला (असहाय) परलोकको जायेगा, हा कष्ट है, अतः दयायुक्त चित्तवाला याचक-बन्धु उस (परलोकगत व्यक्ति) के इस धनको इसके पास (या परलोकमें) पहुँचाना चाहता है । [जैसे कोई व्यक्ति अपना सामान छोड़कर कहीं बाहर जाता है तो उसके सामान (सब वस्तुओं) को उसके प्रिय बन्धु दयाकर उसके पास पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार याचक भी अकेले परलोक में गये (मरे) हुए व्यक्ति के सामानको 'दान की हुई वस्तु ही मरनेपर परलोकमें जीवको मिलती है' इस शास्त्रीय वचन के अनुसार स्वर्गमें पहुँचा देता है । अथवा—पुत्र—पौत्रादि बान्धव तो मरे हुए व्यक्ति के धनको स्वयं ले लेते हैं, किन्तु दयालु याचकरूप बन्धु उक्त शास्त्र-वचनानुसार उसे परलोकगत व्यक्तिके पास पहुँचा देता है, अतः पुत्र-पौत्रादिसे भी याचक बन्धु ही श्रेष्ठ है, इस कारण याचकको तो अवश्य ही दान देना चाहिये] ॥ ९१ ॥

दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहि कोटिगुणितं दिवि दायि ।
साधुरेति सुकृतैर्यदि कर्तुं पारलौकिककुसीदमसीदत् ॥ ९२ ॥

दानेति । साधुः सज्जनो वार्धुषिकश्च । 'साधुः त्रिषु हिते रम्ये वार्धुषौ सज्जने पुमान्' इति वैजयन्ती । इहास्मिन् लोके, एकं गृह्णातीत्येकग्राहि । दिवि परलोके, एकं कोटिगुणितं कोटिश आवृत्तं, दायि दातृ । 'वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा मता' इति लोके वृद्धेः परिमितिरस्ति । इदं त्वपरिमितदायीत्यर्थः । 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इत्याधमर्ण्ये णिनिप्रत्ययः । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया । दानपात्रं नामाधमर्णं धनग्राहीति रूपकम् । 'उत्तमर्णाधमर्णौ द्वौ प्रयोक्तृग्राहकौ क्रमात्' इत्यमरः । सुकृतैरेति यदि । तदा असीदद्विनश्यत् । परलोके भवं पारलौकिकं, 'परलोकाच्चेति वक्तव्यम्' इति भवार्थे ठक्प्रत्ययः । कुसीदं वृद्धिजीवनं कर्तुः अलमिति शेषः । 'कुसीदं वृद्धिजीविका' इत्यमरः । 'नादत्तमुपतिष्ठते' इति न्यायाददातुः न किञ्चिदामुष्मिकं सुखम् । दातुः पुनरनन्तरमिति सर्वथा अर्थिने दातव्यमिति भावः ॥ ९२ ॥

एक लेकर स्वर्गमें करोड़गुना देनेवाले दानपात्ररूप अधमर्ण (ऋण लेनेवाले) को पारलौकिक व्याजको विनाशरहित करनेके लिये पुण्योंके द्वारा यदि कोई प्राप्त करता है तो सज्जन ही प्राप्त करता है । [इस लोकमें ऋण लेनेवाला कोई भी व्यक्ति मूल धन का व्याज दुगुना-चौगुना ही देता है तथा किसीके मर जानेपर वह मूल धन भी नहीं मिलता; किन्तु याचकरूप ऋण-ग्रहीता यहाँ पर एक लेकर 'पात्र के लिये दिया गया दान परलोक में अनन्तगुना प्राप्त होता है' इस शास्त्रीय वचनके अनुसार परलोक में करोड़ों गुना एवं कभी नष्ट नहीं होनेवाला व्याज देता है, अतएव ऐसा उत्तम ऋण-गृहीताको बड़े भाग्यसे कोई सज्जन ही प्राप्त करता है । अत एव सत्पात्र में अवश्य दान देना चाहिये] ॥ ९२ ॥

एवमादि स विचिन्त्य मुहूर्तं तानवोचत पतिर्निषधानाम् ।
अर्थिदुर्लभमवाप्य च हर्षाद्याच्यमानमुखमुल्लसितश्रि ॥ ९३ ॥

एवमादीति । स निषधानां पतिः नलः, एवमादि मुहूर्तमल्पकालं, विचिन्त्य, अर्थिभिर्दुर्लभं हर्षादुल्लासितश्रि वर्धमानश्रीकं, प्रसन्नमित्यर्थः । शैषिकस्य कपो वैभाषिकत्वान्नपुंसकत्वं ह्रस्वत्वम् । याच्यमानमुखं दातृमुखं चावाप्य प्रसन्नमुखो भूत्वेत्यर्थः, तानिन्द्रादीनवोचत ॥ ९३ ॥

निषध देशवासियोंके राजा 'नल' इस प्रकार (श्लो० ८१-९२) मुहूर्तमात्र विचारकर याचकों से दुर्लभ, याच्यमान (दाता) के मुखको अत्यन्त शोभासम्पन्न (हर्षित) देखकर याचना करनेकी बात सुनकर नलके प्रसन्न-मुखको देखकर ('हमारा कार्य सिद्ध होगा' इस आशासे हर्षित) हुए उन (इन्द्रादि देवों) से बोले—॥ ९३ ॥

नास्ति जन्यजनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः ।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृतादां दृङ्निमज्जनमुपैति सुधायाम् ॥ ९४ ॥

नास्तीति । जन्यजनकयोः कार्यकारणयोर्व्यतिभेदो नास्ति, कार्यं स्वोपादानादभिन्नमित्यर्थः । जनदेहः अन्नजनितः भुक्ताहारपरिणामश्चेत्येतदुभयं सत्यमित्यर्थः । कुतः, अमृतमदन्तीत्यमृतादः । 'अदोऽनन्ने' इति विट्प्रत्ययः । तेषाममृतादाममृतभुजां, वो युष्माकं, तनूं मूर्तिं, वीक्ष्य दृष्टिः सुधायां निमज्जनमुपैति खलु सुधामज्जनसुखमनुभवतीत्यर्थः । जनदेहानामन्नजन्यत्वे तद्वदेव युष्मद्देहानामपि तथात्वे कथमेतत्सुधाकार्यकारित्वं न स्यादित्यर्थः । युष्मद्दर्शनादेव तावत्कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥ ९४ ॥

'जन्य तथा जनक अर्थात् कार्य तथा कारणमें भेद नहीं है यह, और जन-शरीर अन्न (भक्ष्य पदार्थ) से उत्पन्न है, यह (ये दोनों) कथन सत्य हैं । अमृत को खानेवाले आप लोगोंके शरीरको देखकर (मेरी) दृष्टि अमृतमें निमग्न हो रही है अर्थात् अमृतमें स्नान करनेसे जो सुख मिलता है, वह सुख आपलोगोंको देखनेसे मिल रहा है । [यहाँ अमृत कारण तथा उन इन्द्रादिका शरीर अमृत—भक्षण करके उत्पन्न होनेसे कार्य है, अतः उस अमृतभक्षी शरीरके देखनेसे अमृतदर्शनके समान आनन्द होना स्वाभाविक ही है । अथवा अन्नजन्य जन-देह जन्य-जनक भेदसे रहित है] ॥ ९४ ॥

मत्तपः क्व नु तनु क्व फलं [1]वा यूयमीक्षणपथं व्रजथेति ।
[2]ईदृशान्यपि दधन्ति पुनर्नः पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति ॥ ९५ ॥

मदिति । तनु स्वल्पं मत्तपः क्व ? । यूयमीक्षणपथं व्रजथेति फलं युष्मद्दर्शनरूपं महाफलं वा क्व ? वैरूप्यादिति भावः । अत एव विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः । अथवा ईदृशानि ईदृङ्महाफलान्यपि दधन्ति पुष्णन्ति । 'वा नपुंसकस्य' इति नुमागमः । पुनःशब्दो वाक्यालङ्कारे । नोऽस्माकं पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति तानीदानीं फलन्तीत्यर्थः ॥ ९५ ॥

मेरा थोड़ा-सा तप कहाँ ? (महापुण्यसे प्राप्त होनेयोग्य) आप लोग जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं, यह फल कहाँ ? (थोड़ेसे पुण्यके द्वारा अधिक पुण्यके मिलने योग्य आपलोगोंका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है) । ऐसे (आपसे दर्शनरूप फलको उत्पन्न करनेवाले । अथवा—ऐसे फलरूपमें परिणत हुए), हमारे पूर्वजोंके पुण्य ही सर्वोत्कृष्ट हो रहे हैं (जिनके प्रभावसे आपलोगोंके दर्शनका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है) । अथवा—सर्वोत्कृष्ट, हमारे पूर्वजोंके पुण्य ऐसे (आप लोगोंके दर्शनरूप फलमें) परिणत हो रहे हैं । ['ईदृशान्यपि फलानि ददन्ति'

---

१. 'यत्' इति पाठान्तरम् । २. 'ईदृशान्यपि फलानि ददन्ति' इति 'ईदृशं परिणमन्ति फलं नः' इति पाठान्तरे ।

पाठान्तरमें ऐसे (दुर्लभ आपलोगोंके दर्शनरूप) फलोंको देते हुए, मेरे पूर्वजोंके पुण्य उत्कृष्ट हो रहे हैं 'परिणमन्ति फलं नः' पाठान्तरमें—ऐसे फलको परिणत होते हुए......] ॥ ९५ ॥

प्रत्यतिष्ठिपदिलां खलु देवीं कर्म सर्वसहनव्रतजन्म ।
यूयमप्यहह पूजनमस्या यन्निजैः सृजथ पादपयोजैः ॥ ९६ ॥

प्रतीति । इलां देवीं भूदेवतां, सर्वसहनं विश्वावमानसहनमेव व्रतं येन सा सर्वसहेति ख्यायते । तस्माज्जन्म यस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः । कियत इति कर्म सुकृतं (कर्तृ) प्रत्यतिष्ठिपत् प्रतिष्ठापयामास खलु । 'तिष्ठतेरित्' इति णौ चङ्युपधाया इकारः । यद्यस्माद्यूयमपि निजैः पादैरेव पयोजैरिति रूपकम् । अस्या इलायाः पूजनं पूजां सृजथ कुरुध्वमित्यर्थः । अहहेत्यद्भुते ॥ ९६ ॥

सबके भारको सहन करनेके व्रतसे उत्पन्न कर्म (पुण्य) ने इस (पृथ्वी) देवीको निश्चय ही प्रतिष्ठायुक्त कर दिया, यह आश्चर्य है ! क्योंकि (पृथ्वीको कभी भी स्पर्श नहीं करनेवाले दिक्पालरूप) आपलोग भी अपने चरण–कमलोंसे इस (पृथ्वी देवी) का पूजन कर रहे हैं । [पृथ्वीने सबके भारको सहन करनेका व्रत ग्रहणकर उससे उत्पन्न पुण्यसे देवी पदको प्राप्त किया, इसी कारण चरणसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं करनेवाले आपलोग आज अपने चरण–कमलसे देवीपदपर प्रतिष्ठित पृथ्वीकी पूजा कर रहे हैं । [अन्य भी व्यक्ति किसी देवीका पूजन कमलोंसे करता है इस वाक्यसे आपलोगोंको इस भूलोकमें आनेका क्या उद्देश्य है ? यह प्रश्न ध्वनित होता है] ॥ ९६ ॥

जीवितावधि किमप्यधिकं यन्मनीषितमितो नरडिम्भात् ।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक् ॥ ९७ ॥

जीवितेति । इतो नरडिम्भान्मानुषशिशोः जीवितावधि प्राणान्तं ततोऽधिकं वा किमपि मनीषितमीप्सितं यद्वस्तु सोऽयं नरडिम्भः, तेन वस्तुना, वश्चरणमर्चतु पूजयतु । ईदृगलभ्यं वस्तु पुनः किमस्तु किं स्याद्, ब्रूत ॥ ९७ ॥

इस मानव-बालकसे प्राणोंतक या इससे भी अधिक जो अभिलषित (आपलोगोंका) हो, उस (अभिलषित वस्तु) से यह मानव-बालक आपलोगोंके चरण का पूजन करे, किन्तु ऐसी वह वस्तु कौन-सी है ? कहिये । [प्राणों तक या प्राणाधिक भी कोई वस्तु इस मानव-बालक अर्थात् मुझसे जो वस्तु आपलोगोंको अभिलषित हो, निःसङ्कोच होकर माँगें, मैं साधारण मानव-बालक होकर भी उस वस्तुको आपलोगोंके चरणमें समर्पित करूँगा । आपलोग मुझसे क्या चाहते हैं ? यह बतलाइये, मैं उसे अवश्य दूँगा] ॥ ९७ ॥

एवमुक्तवति मुक्तविशङ्के वीरसेनतनये विनयेन ।
वक्रभावविषमामथ शक्रः कार्यकैतवगुरुर्गिरमूचे ॥ ९८ ॥

एवमिति । एवं वीरसेनतनये नले, विनयेन अकपटेन, मुक्तविशङ्के विस्रब्धमुक्तवति सति । अथ कार्येषु कर्तव्यार्थेषु यानि कैतवानि कपटानि तेषां गुरुरुपदेष्टा शक्रः । वक्रभावः प्रतिकूलाभिप्रायः, तेन विषमां प्रतिकूलां गिरमूचे उवाच ॥ ९८ ॥

इस प्रकार वीरतनय नलके निर्भय होकर विनय के साथ कहनेपर काममें कपटाचार्य (अथवा—कार्यमें कपट करनेमें गुरुरूप) इन्द्रने कुटिलतासे विषम (विषतुल्य) वचन कहा ॥ ९८ ॥

पाणिपीडनमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांशो ! ।
दूत्यमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जितस्मर ! चिरस्य निरस्य ॥ ९९ ॥

पाणीति । हे महीमिहिकांशो भूतलहिमांशो ! 'प्रालेयं मिहिका च' इत्यमरः । वयं दमयन्त्याः पाणिपीडनमहं विवाहोत्सवं कामयेमहि अभिलषेमहि । हे निर्जितस्मर ! अत एव स्मरभीतिं चिरस्य निरस्य दूरतो निरस्येत्यर्थः । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । अत्रोद्वाहकृत्ये नोऽस्माकं दूत्यं दूतकर्म । 'दूतस्य भागकर्मणी' इति यत्प्रत्ययः । कुरु ॥ ९९ ॥

हे पृथ्वीचन्द्र नल ! हमलोग दमयन्तीका विवाहोत्सव चाहते हैं । (देहसौन्दर्य और जितेन्द्रिय होनेसे) कामको जीतनेवाले ! बहुत कालसे काम-भय (कामजन्य विरहपीड़ा) को छोड़कर इस दमयन्तीके विवाहोत्सवरूप कार्यमें हमलोगोंका दूत-कर्म करो । [जितेन्द्रिय एवं सुन्दरतम होनेसे तुमने काम-विजय कर लिया है, अतः तुम्हें दमयन्ती विरह-सम्बन्धी कामपीड़ा नहीं होनी चाहिए, तथा उक्त गुणके कारण काम-विजय होनेसे तथा काम-भयका त्याग कर देनेसे दूत कर्मके समय दमयन्तीको देखकर भी तुम्हारे मनमें कोई कामज विकार नहीं होगा और न तो कामजन्य पीडाका ही कोई भय रहेगा । अतः दमयन्तीके यहाँ हमलोगोंका दूत कर्म करनेके योग्य हो और पृथ्वीचन्द्र होनेसे तुम हमलोगोंका दूत-कर्म करके हमारे सन्तापका नाश करो । पक्षान्तरमें—इन्द्र अपने साथी यम आदि तीनों देवोंसे भी कपटकर केवल अपना दूत-कर्म करनेके लिए नलसे कह रहे हैं, यथा—हे पृथ्वीचन्द्र (नल) ! मैं उत्सववाले दमयन्तीके विवाहको चाहता हूँ, हमलोगोंमें से (मेरा) दूत-कर्म करो, हे काम-विजयिन् ! इस विषयमें भयको छोड़ो (अथवा—विलम्बको छोड़ो अर्थात् दूत-कर्म करनेमें विलम्ब मत करो), मुझसे भयको स्मरण करो अर्थात् दूत-कर्म नहीं करनेपर या इस कार्यमें विलम्ब करनेपर मैं तुम्हें शाप दूँगा, इस भयको तुम स्मरण रखो] ॥ ९९ ॥

आसते शतमधिक्षिति भूपास्तोयराशिरसि ते खलु कूपाः ।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते भास्वतस्तु कतमस्तुलयाऽस्ते ॥१००॥

आसत इति । अधिक्षिति क्षितौ । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । शतं भूपाः आसते

अपरिमिताः सन्तीत्यर्थः। अत्र त्वं तोयराशिरसि। ते भूपाः कूपाः खलु, भूपत्वसाम्येऽपि तेषां तव च समुद्रकूपयोरिव महदन्तरमित्यर्थः। तथा हि—दिव्याकाशे। ते ते ग्रहाश्चन्द्रादयो न जाग्रति न प्रकाशन्ते किम्? किंतु कतमो ग्रहो भास्वतस्तुल्यां साम्येनास्ते। कोऽपीत्यर्थः। तद्वत्त्वयापि न कोऽपि भूपस्तुल्य इति दृष्टान्तालङ्कारः॥

भूतलपर सैकड़ों राजा हैं, किन्तु (गाम्भीर्य; औदार्य आदि गुणोंके कारण) तुम समुद्र हो, तथा वे (अन्य राजा) कूप हैं। स्वर्गमें क्या वे-वे ग्रह नहीं चमकते हैं, किन्तु सूर्यके समान कौन ग्रह है? अर्थात् कोई भी नहीं है। [जिस प्रकार समुद्रकी अपेक्षा कूप अत्यन्त तुच्छ है, उसी प्रकार गाम्भीर्य और औदार्य आदि गुणोंसे युक्त तुम्हारी अपेक्षा अन्य सैकड़ों राजा अत्यन्त तुच्छ हैं तथा जिस प्रकार स्वर्गमें सूर्यके समान कोई ग्रह नहीं, उसी प्रकार भूलोकमें तुम्हारे समान कोई राजा भी नहीं। यही करण है कि अन्य सैकड़ों राजाओंको छोड़कर 'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा' (गुणी दातामें निष्फल भी याचना अच्छी है, किन्तु गुणहीन दातामें सफल भी याचना अच्छी नहीं) इस नीतिके अनुसार हमलोग तुम्हींसे याचना कर रहे हैं]॥ १००॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेमः।
त्वामिहैव[1] विनिवेश्य रहस्ये निर्वृतिं न हि लभेमहि सर्वे?॥ १०१॥

विश्वेति। विश्वं पश्यन्तीति विश्वदृश्वानि, सर्वदर्शीनि। दृशेर्ण्यन्तात् क्वनिप्। तानि नयनानि येषां ते वयमेवागाधं गम्भीरम्, तव गुणाः दयादाक्षिण्यवशित्वसत्यसन्धत्वादयः, तानेवाम्बुधिमवेमः अवगच्छामः। इणो लटो मस्। हि यस्मात्, इहास्मिन्, रहस्ये रहस्यकृत्ये, त्वामेव विनिवेश्य नियोज्य, सर्वे वयं निर्वृतिं सुखं न लभेमहीति काकुः। लभेमह्येव, प्रागुक्तगुणाढ्यत्वादिति भावः॥ १०१॥

विश्वदर्शी नेत्रवाले अर्थात् सर्वज्ञ हमलोग ही तुम्हारे अथाह (औदार्य आदि) गुणरूप समुद्रको जानते हैं। हम सब तुमको इस (दमयन्तीके पास दूत-कर्मरूप) गुप्त कार्यमें नियुक्तकर सुख नहीं पायेंगे क्या? अर्थात् अवश्य सुख पायेंगे)। (पाठभेदसे—हम सब तुमको इस गुप्त कार्यमें इस प्रकार बिना नियुक्त किये सुख नहीं पायेंगे)। [अतः तुम हमारे दूत-कर्मको करके हमें सुखी करो, अन्यथा यदि तुम दूत-कर्म नहीं करोगे तो हमें कष्ट होगा और उस अवस्थामें हम तुम्हें शाप दे देंगे। 'पूर्वोक्त कपटपूर्ण इन्द्रके वचनको अन्य यमादि देवता समझ न लें' इस कारण यहाँपर कपटाचार्य इन्द्रने 'सर्वे' (हम सब) पद कहा है]॥ १०१॥

शुद्धवंशजनितोऽपि गुणस्य स्थानतामनुभवन्नपि वक्रः।
क्षिप्नुरेनमृजुमाशु सपक्षं सायकं धनुरिवाजनि वक्रः॥ १०२॥

1. 'त्वामिहैक—' इति पाठान्तरम्।

शुद्धेति। शुद्धे अव्रणे, वंशे कुले, वेणौ च। जनितोऽपि। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे, इति विश्वः। गुणस्य शौर्यादेः मौर्व्याश्च। 'सत्त्वादौ रूपादौ शौर्यादौ तन्तुषु प्रयोगज्ञाः। गुणशब्दः शिञ्जिन्याम्' इति हलायुधः। स्थानतामाश्रयत्वमनुभवन्नपि शक्रः ऋजुमकुटिलबुद्धिम्, अवक्रश्च। सपक्षं सुहृदं सपत्रं च, एनं नलं, सायकं धनुश्चाप इव। 'अथास्त्रियौ धनुश्चापौ—' इत्यमरसिंहाभिधानात्पुँल्लिङ्गप्रयोगः। अथवायं-शब्द उकारान्तीति उणादौ भ्रमशक्यादिसूत्रेण धनधातोः सौत्रे उप्रत्ययविधानात्। आशु। क्षिप्नुः क्षेप्ता सन्, क्षिपेः क्नुः। 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीयैव। वक्रो जिह्मोऽजनि। श्लिष्टविशेषणेयमुपमेति केचित्। प्रकृताप्रकृतश्लेष इत्यन्ये ॥ १०२ ॥

उत्तम कुल (कश्यप मुनिके वंश) में उत्पन्न भी, गुण (दया, दाक्षिण्य आदि) की आश्रयताको जानते हुये (नल गुणी है, अतः इनके साथ निष्कपट व्यवहार करना चाहिए, यह बात समझते हुए) भी, (शुद्ध अन्तःकरण होनेसे) सरल तथा आठों दिक्पालोंके अंशभूत होनेसे (या यज्ञ आदि द्वारा सर्वदा देवोंको सन्तुष्ट करनेसे) अपने पक्षको अर्थात मित्र इस (नल) को (अपने दूत-कर्मके लिए दमयन्ती के पास) भेजते हुए इन्द्र धनुषके समान कुटिल (कपटी) हो गये। धनुषपक्ष में—जैसे-दृढ बाँससे बना हुआ भी, डोरी (प्रत्यञ्चा) के स्थानको प्राप्त किया हुआ भी सीधे तथा पंखों सहित बाणको फेंकनेवाला धनुष टेढ़ा हो जाता है, (वैसे इन्द्र भी टेढ़े अर्थात् कपटयुक्त हो गये)। [नलको दमयन्तीके स्वयंवरमें स्वयं सम्मिलित होते हुए जानकर भी इन्द्र ने उन्हें अपना दूतकार्य करनेके लिए दमयन्तीके पास भेजते हुए महाकपटपूर्ण कार्य करना चाहा] ॥ १०२ ॥

तेन तेन वचसैव मघोनः स स्म वेद कपटं पटुरुच्चैः।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ॥ १०३ ॥

तेनेति। उच्चैः पटुरतिकुशलः, स नलः, तेन तेन वचसैव मघोनः इंद्रस्य कपटं वेद स्म विवेद। अथ वेदानन्तरं, तदुचितां तस्य कपटस्योचितामनुरूपां वाणीमाचरत्। स्वयमपि कपटोक्तिमेवाकरोदित्यर्थः। तथा हि—कुटिलेषु, विषये, आर्जवमकौटिल्यं नीतिर्न हि। ततः कुटिलेनैव भवितव्यम्। अन्यथा महान्तमनर्थमृच्छेदिति भावः ॥ १०३ ॥

(श्लेषोक्ति तथा वक्रोक्तिको समझनेमें) अत्यन्त चतुर उस नलने इन्द्रकी उन-उन बातों (श्लो० ९९-१०१) से ही कपटको जान लिया। (अथवा—चतुर नलने उन-उन बातोंसे ही इन्द्रके कपट अर्थात् धूर्तताको जान लिया) इसके बाद उस (कपटव्यवहार) के योग्य वचन कहा; क्योंकि कुटिलोंमें सरलता रखना नीति नहीं है। ['शठे शाठ्यं समाचरेत्' (शठमें शठता करनी चाहिए)' नीतिके अनुसार नल भी कपटी इन्द्रसे उपयुक्त वचन बोले—] ॥ १०३ ॥

सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि मयैव कृतानाम् ।
युष्मदीयमपि या महिमानं जेतुमिच्छति कथापथपारम् ॥ १०४ ॥

सेयमिति । सेयमन्यजन्मनि जन्मान्तरे, मयैव कृतानां दुरितानामुच्चतरता महत्ता । तथा किमपराद्धं, तदाह–या पापमहत्ता कथापथस्य वाग्वृत्तेः, पारं दूरमवाच्यमित्यर्थः । युष्मदीयमपि महिमानं प्रभावमाज्ञारूपं जेतुमुल्लङ्घितुमिच्छति । पापातिरेकाद्युष्मदाज्ञोल्लङ्घनेच्छा मे जायते इति विनयोक्तिः । सर्वथा युष्मन्नियोगो न क्रियत इति परमार्थः ॥ १०४ ॥

दूसरे जन्ममें मेरे ही (पूर्वजोंके नहीं) द्वारा किये गये पापोंकी यह अधिकता है, जो (मेरे जन्मान्तरीय पापोंकी अधिकता) अत्यधिक एवं सर्वपूजित होनेसे (पक्षान्तरमें—अतिनिन्दनीय होनेसे) कहनेमें भी अशक्य आपलोगोंकी महिमा (पक्षान्तरमें—उत्साहपूर्ण दमयन्तीकी प्राप्ति करनेके अभिमान) को जीतना चाहती है । [आप जैसे श्रेष्ठ दिक्पालों एवं देवेन्द्रकी आज्ञाके पालनका सुअवसर यद्यपि बड़े भाग्यसे मनुष्यको प्राप्त होता है, किन्तु मैं पूर्वजन्मकृत अपने ही पापाधिक्यके कारण उसका पालन नहीं कर सकता हूँ । पक्षान्तरमें—यह मेरा पूर्वजन्मकृत पापाधिक्य है कि आप जैसे श्रेष्ठ दिक्पाल तथा देवराज इन्द्रतक भी ऐसे कपटपूर्ण बातोंको कह रहे हैं, अतः उन्हें समझ जानेके कारण मैं उनका पालन नहीं करूँगा, एवं दमयन्तीको पानेका जो उत्साहपूर्ण अभिमान आपलोगोंका है, उसे मैं नष्ट करूँगा । पहले (श्लो० ९५) नलने देवोंको याचनारूप सत्फल प्राप्त करनेमें अपने पूर्वजोंके तपको कारण बतलाया, और यहाँ उसके सर्वथा विपरीत देवोंकी बात न मानना रूप असत्कार्यमें अपने ही पूर्वजन्मकृत पापोंको कारण बतलाया, इससे नलका श्रेष्ठ विवेक सूचित होता है] ॥ १०४ ॥

वित्त चित्तमखिलस्य न कुर्यां धुर्यकार्यपरिपन्थि तु मौनम् ।
ह्रीगिरास्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता ॥ १०५ ॥

ननु कुटिलोक्तेर्वरं मौनमत आह—वित्तेति । हे देवाः, अखिलस्य जनस्य, चित्तं वित्त विदित्वा ब्रूतेत्यर्थः । तर्हि, कीदृक् चित्तं तदाह–धुर्येति । धुर्यस्य इष्टसाधनसमर्थस्य, कार्यस्योपायप्रयोगस्य, परिपन्थि विरोधि, मौनं तु कुर्याम् । किंतु गिरा परिहारोक्त्या ह्रीरस्तु । वरम्, कार्यविरोधिनो मौनाल्लज्जावहमपि परिहारवचनमेव साध्वित्यर्थः । तर्हि मौनादेव परिहारे किं प्रतिषेधरौक्ष्येण तत्राह—परेति । परस्य वाक् प्रार्थनोक्तिरपरास्ता अप्रतिषिद्धा सती, स्वीकृतैव पुनः । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति न्यायादङ्गीकृतैव तु मास्तु ॥ १०५ ॥

(यद्यपि आपलोग) सबके मन (मनोगत भाव) को जानते हैं, (तथापि मैं) अभिलषित या श्रेष्ठ कार्य (दमयन्तीकी प्राप्तिरूप) का बाधक मौन-धारण नहीं करूँगा ।

(मेरे निषेध) वचनसे लज्जा भले ही हो, (किन्तु) निषेध नहीं किया गया दूसरों (आप लोगों) का वचन स्वीकृत न होने पाये । [यदि मैं निषेध नहीं करूँगा, तब 'मौनं स्वीकार-लक्षणम्' सिद्धान्तके अनुसार आपलोगोंके कहे हुए दमयन्तीके पास जाकर दूतकार्य करनेका वचन स्वीकृत समझा जायगा, अतः निषेध करना मेरे लिए लज्जानक भले ही हो; किन्तु दमयन्तीकी प्राप्तिमें बाधक मौन-धारण नहीं करूँगा] ॥ १०५ ॥

यन्मतौ विमलदर्पणिकायां सम्मुखस्थमखिलं खलु तत्त्वम् ।
तेऽपि किं वितरथेदृशमाज्ञां या न यस्य सदृशी वितरीतुम् ॥ १०६ ॥

तत्र तावत्तानुपालभते—यदिति । येषां वो मतावेव विमलदर्पणिकायां निर्मलादर्शे, अखिलं तत्त्वं वस्तु सम्मुखस्थं प्रत्यक्षं खलु । ते सर्वज्ञा अपि यूयमीदृशमुक्तप्रकाराम् । 'त्यदादिषु—' इत्यादिना दृशेः कञ्प्रत्ययः । आज्ञां किं वितरथ दत्त । कीदृश्यत आह—येति । या यस्य मे वितरीतुं, दातुं, सदृशी योग्या न । तस्माद्यूयं ममोपालभ्या इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

निर्मल दर्पणरूप, जिन आपलोगोंकी बुद्धिमें सम्पूर्ण तत्त्व (कर्तव्य तथा अकर्तव्य कार्य) प्रत्यक्ष है, वे आपलोग, जिसे जो आज्ञा देना ठीक नहीं है, उसे (मुझे) वह आज्ञा क्यों देते हैं ? [सुन्दर, युवा तथा दमयन्तीका कामुक मेरे लिए दमयन्तीके पास आपलोगोंका दूत-कर्म करनेकी आज्ञाका पालन करना अयोग्य होनेपर भी उक्त आज्ञा आपलोग क्यों मुझे दे रहे हैं ? यह आज्ञा मुझे देना आपलोगों को उचित नहीं है ।] ॥ १०६ ॥

यामि यामिह वरीतुमहो तद्दूततां तु करवाणि कथं वः ।
ईदृशां न महतां बत जाता वञ्चने मम तृणस्य घृणापि ॥ १०७ ॥

अथाष्टभिरयोग्यतामेवाह—यामीत्यादि । इहास्मिन् समये, यां भैमीं वरीतुम् । 'वृतो वा' इति दीर्घः । यामि गच्छामि । तद्दूततां तु तस्यामेव विषये दूत्यं तु कथं वा करवाणि । अहो ईदृशां महतां वः तृणस्य । तृणकल्पस्य, मम वञ्चने प्रतारणे, घृणा कृपा जुगुप्सा वापि, न जाता । बतेति खेदे ॥ १०७ ॥

जिस दमयन्तीका वरण करनेके लिए मैं जा रहा हूँ, वह मैं उस दमयन्ती का दूत-कर्म कैसे करूँगा ? अर्थात् कभी नहीं करूँगा, अहो (आपलोगोंका ऐसा कहना आश्चर्य है) । ऐसे (सर्वज्ञ एवं दिक्पाल होनेसे विश्वपूज्य) बड़े आपलोगोंको तृण (रूप मुझ नल) को ठगनेमें दया (या घृणा) नहीं हुई ? खेद ? । [बड़े लोगोंको पहले तो उचित है कि वे किसीको ठगनेका विचार हो न करें, यदि करें भी तो उन्हें बड़े लोगोंको ही ठगना चाहिए । मनुष्य होनेसे देवताओंकी अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ मुझे ठगनेमें तो आप जैसे देवताओंको दया होनी चाहिए 'ऐसा तुच्छ काम मैं क्यों करूँ' इस विषय में घृणा होनी चाहिए । अथवा—कपटका उत्तर कपटसे हा नल दे रहे है कि—बड़े लोगोंके समुदायमें

ऐसे (दूसरोंको ठगनेवाले) आपलोगोंकी पूजा करनेमें तृणवत् तुच्छ मुझे घृणा नहीं आती ? अर्थात् अवश्य आती है (ऐसे निन्दित कर्म करनेवाले आपलोगोंकी बड़ोंके साथमें पूजा कैसे करेंगे ? अर्थात् कदापि नहीं करेंगे) । अथवा—ऐसे परवञ्चक अतएव असाधु आपलोगोंकी पूजा तृणकी जाति (तुच्छोंके बीच) में भी करते मुझे घृणा होती है आपलोग तृणके समान भी पूज्य नहीं है अर्थात् दूसरेको ठगनेके कारण अमहान् (तुच्छ) आपलोगोंसे तृण अधिक पूज्य हैं, परन्तु आपलोग नहीं] ॥ १०७ ॥

उद्भ्रमाभि विरहान्मुहुरस्या मोहमेमि च मुहूर्तमहं यः ।
ब्रूत वः प्रभवितास्मि रहस्यं रक्षितुं स कथमीदृगवस्थः ॥ १०८ ॥

उद्भ्रमामीति । किञ्च, योऽहमस्या भैम्याः विरहान्मुहुरुद्भ्रमामि उन्माद्यामि मुहूर्तमीषत्कालं, मोहं मूर्च्छां च एमि प्राप्नोमि । ईदृगवस्थः सोऽहं वो युष्माकं, रहस्यं रक्षितुं गोप्तुं, कथं प्रभवितास्मि प्रभविष्यामि, न शक्ष्यामीत्यर्थः । ब्रूत । ब्रुवो लोट् ।

जो (मैं) इस (दमयन्ती) के विरहसे उन्मादयुक्त अर्थात् पागल और दो घड़ी तक मूर्च्छित हो जाता हूँ, ऐसी अवस्थावाला मैं आपलोगोंके गुप्त सन्देशको छिपानेके लिए कैसे समर्थ होऊँगा ? कहिये । [जैसे कोई पागल व्यक्ति किसीकी गुप्त बातको भी सबके समक्ष प्रकाशित कर देता है तथा मूर्च्छित व्यक्ति किसी आवश्यक बातको भी होशमें नहीं रहनेसे भूल जाता है; वैसे ही मैं भी आपलोगोंका रहस्य (दमयन्तीको वरण करने की इच्छा) को नहीं छिपा सकूँगा या भूल जाऊँगा, अतः मुझे दूत बनाकर वहाँ भेजनेसे आपलोगोंका कार्य सिद्ध होना तो दूर रहा, पहले ही सबको विदित होनेसे बिगड़ जायगा] ॥ १०८ ॥

यां मनोरथमयीं हृदि कृत्वा यः श्वसिम्यथ कथं स तदग्रे ।
भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे दुर्जया हि विषया विदुषापि ॥ १०९ ॥

यामिति । योऽहं मनोरथमयीं सङ्कल्परूपां, यां भैमीं, हृदि कृत्वा श्वसिमि प्राणिमि । अथ सोऽहं तदग्रे तस्याः भैम्याः पुरः, भावगुप्तिं कामविकारगोपनमवलम्बितुं, कथमीशे शक्नोमि । तथा हि, विदुषा विवेकिनापि विषयाः शब्दादयो दुर्जया इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ १०९ ॥

जो (मैं) सङ्कल्परूप जिस दमयन्तीको हृदयमें करके जीता हूँ, वह मैं उस दमयन्तीके आगे (अपने रोमाञ्च, स्वेद, स्तम्भ, स्वरभङ्ग, शरीरकम्पन, विवर्णता और रोदनरूप सात्त्विक) भावोंको कैसे छिपा सकूँगा ? अर्थात् कदापि नहीं छिपा सकूँगा, क्योंकि विद्वान् भी विषयोंको दुःखसे जीतते हैं । [अत एव मैं आपलोगोंका कार्य करनेके योग्य कदापि नहीं हूँ] ॥ १०९ ॥

यामिकाननुपमृद्य च मादृक् तां निरीक्षितुमपि क्षमते कः ।
रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिति कुत्र कुमारी ॥ ११० ॥

यामिकानिति । किञ्चेति चार्थः । मादृक् मद्विधः, क्षत्रिय इत्यर्थः । कः यामान् रक्षन्तीति यामिकाः प्रहररक्षकाः 'रक्षती'ति ठक् । ताननुपमृद्य अहत्वा । तां भैमीं, निरीक्षितुमपि क्षमते । किं पुनराभाषितुमिति भावः । तथैव क्रियतां तत्राह—रक्षीति । रक्षिणां लक्षाणि तेषां जयेन मर्दनेन चण्डचरित्रे क्रूरकर्मणि, पुंसि कुमारी कन्या, कुत्र विश्वसिति, न कुत्रापीत्यर्थः । क्वोद्वाहप्रसङ्गः । क्व चान्तःपुरमर्दनमिति भावः ॥ ११० ॥

मेरे—जैसा (सुन्दर यह क्षत्रिय) कौन पुरुष, पहरेदारोंको बिना मारे (अन्तःपुरमें रहनेवाली) उस (दमयन्ती) को देख भी सकेगा ? (बिना पहरेदारोंको मारे सुरक्षित अन्तःपुरमें रहनेवाली दमयन्तीको देखना भी असम्भव है, उससे बात करनेको कौन कहे ?) । लाखों पहरेदारों या रक्षक पुरुषोंको जीतनेसे प्रचण्ड आचरणवाले पुरुषमें कुमारी (कोमल हृदयवाली दमयन्ती) विश्वास कैसे करेगी ? अर्थात् कदापि ऐसे दारुण पुरुषमें विश्वास नहीं करेगी । [अथवा—""""आचरणवाले किस पुरुषमें कुमारी दमयन्ती विश्वास करेगी ? अर्थात् किसी भी पुरुषमें विश्वास नहीं करेगी, अतः मुझसे दूत-कर्म कराना आपलोगोंकी स्वार्थहानि करनेवाला है] ॥ ११० ॥

आदधीचि किल दातृकृतार्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत् ।
आददे कथमहं प्रियया तत प्राणतः शतगुणेन पणेन ॥ १११ ॥

आदधीचीति । प्राणमात्रं जीवितमेव, पणसीमा मूल्यावधिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । 'पणो मूल्ये ग्लहे माने' इति वैजयन्ती । आदधीचि दधीचिमारभ्य अभिविधावव्ययीभावः । किलेति प्रसिद्धौ । दातृभिर्वदान्यैः कृतार्घं निश्चित मूल्यम् । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः । यद्यशः तद्यशः प्राणतो जीवाच्छतगुणेन प्रिययैव, पणेन मूल्येन, अहं कथमाददे स्वीकरिष्यामि । हीनक्रयस्य परावर्त्यत्वादिति भावः । अत्र परिवृत्तिरलङ्कारः । 'समन्यूनाधिकानाञ्च यथा विनिमयो भवेत् । साकं समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता ॥' इति लक्षणात् । तत्र प्राणैर्यशसो न्यूनपरिवृत्तिः, हीनमूल्यत्वात् । प्रियया यशसोऽधिकपरिवृत्तिरधिकमूल्यत्वादिति भावः ॥ १११ ॥

दधीचितक दाताओंने जिस यशका मूल्य—प्राणमात्र-दानस्वरूप सीमा निश्चित की है, उस यशको मैं प्राणोंके चौगुने मूल्यसे अर्थात् दमयन्तीके दान करनेसे क्यों लूँ ? । [दधीचितक दातालोगोंने भी अधिकसे अधिक अपना प्राण दान करके जो महादानी होनेका यश पाया है, उसे प्राणोंसे सैकड़ोंगुनी प्रिय दमयन्तीको (उसके यहाँ आपके दूतकर्मद्वारा) देकर नहीं लेना चाहता । कोई भी चतुर व्यक्ति किसी वस्तुको उसके नियत मूल्यसे सौगुना

मूल्य देकर उसे कदापि नहीं लेता है। अतः मैं आपका दूत-कर्म नहीं करूँगा। और याचक होकर आपने ब्राह्मण दधीचिके भी प्राण ले लिये अर्थात् ब्रह्महत्या करनेमें भी कुछ सङ्कोच नहीं किया, तब मुझ क्षत्रियकी बात ही क्या है ?] ॥ १११ ॥

अर्थना मयि भवद्भिरिवास्यै कर्तुमर्हति मयापि भवत्सु।
भीमजार्थपरयाचनचाटौ यूयमेव गुरवः करणीयाः॥ ११२ ॥

अर्थनेति। अस्यै दमयन्त्यै। तादर्थ्ये चतुर्थी। मयि विषये, भवद्भिरिव मयापि भवत्सु विषये अर्थना प्रार्थना कर्तुमर्हति कर्तव्येत्यर्थः। अथ कथं कामुकमुख्यः कामिनीलिप्सेति चेद्यथा भवता तथेत्याह—भीमजेति। भीमजार्था या परयाचनचाटुः परप्रार्थनारूपा प्रियोक्तिस्तस्यां यूयमेव गुरवः उपदेष्टारः करणीयाः। करोमि चेति भावः॥ ११२ ॥

इस दमयन्तीके लिए जिस प्रकार आपलोगोंने मुझसे याचना की है, उसी प्रकार मैं आपलोगोंसे याचना करता हूँ। भीमकुमारी (दमयन्ती) के दूसरेसे याचना एवं दीन वचन कहनेमें (दीन वचन कहकर दमयन्तीकी याचना करनेमें) आपलोग ही गुरु बनानेके योग्य है। [यदि आपलोग देवता होकर भी मुझ जैसे एक सामान्य मनुष्यसे भी दमयन्तीके लिए याचना करते हैं, तब मैं एक साधारण मानव होकर दिक्पाल एवं देवाधिपति होनेके कारण श्रेष्ठ आपलोगोंसे ही दमयन्ती की याचना करता हूँ, क्योंकि नीति भी कहती है—'महाजनो येन गतः स पन्थाः'] ॥ ११२ ॥

अर्थिताः प्रथमतो दमयन्तीं यूयमन्वहमुपास्य मया यत्।
ह्रीर्न चेद्व्यतियतामपि तद्वः सा ममापि सुतरां न तदस्तु॥ ११३ ॥

अथ प्रथमप्रार्थकत्वाभिमानः, तर्हि स्वयमेव प्रथम इत्याह—अर्थिता इति। मया अन्वहमनुदिनम्। 'अनश्च' इत्यव्ययीभावः, समासान्तष्टच्। यूयमुपास्य प्रथमतो दमयन्तीमर्थिताः। अर्थयतेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः इति यत् तत्, प्रथमप्रार्थनं व्यतियतां व्यतिक्रमतामपि। इणो लटः शत्रादेशः वः ह्रीर्न चेत्तर्हि सा ह्रीर्ममापि सुतरां नास्तु मा भूत्॥ ११३ ॥

(यदि आपलोग यह कहें कि हमने दूत-कर्मके लिए पहले याचना की है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि) पहले प्रतिदिन पूजा करके आपलोगोंसे मैंने दमयन्तीकी याचना की है, उस (दमयन्तीके लिए मेरी याचना) उल्लंघन करनेवाले आपलोगोंको यदि लज्जा नहीं है तो वह (लज्जा) मुझे भी स्वतः नहीं हो [यदि आप जैसे महान् दिक्पालोंको भी मेरी याचनाको पूर्ण न करनेमें लज्जा नहीं आती है तो भक्त होनेके कारण आपलोगोंसे छोटे मुझको भी लज्जा आना उचित नहीं क्योंकि गीतामें भी भगवान् कृष्णने कहा है—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'] ॥ ११३ ॥

कुण्डिनेन्द्रसुतया किल पूर्वं मां वरीतुमुररीकृतमास्ते ।
व्रीडमेष्यति परं मयि दृष्टे स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान् ॥११४॥

कुण्डिनेति । कुण्डिनेन्द्रसुतया दमयन्त्या । 'न लोक–' इत्यादिना निष्ठायोगे षष्ठीप्रतिषेधात् कर्तरि तृतीया । पूर्वमेव मां वरीतुमुररीकृतमङ्गीकृतमास्ते । तया मद्वरणमङ्गीकृतं किलेत्यर्थः । किलेति वार्तायाम् । कर्मणि क्तः । अङ्गीकारस्य कथञ्चिदिच्छार्थत्वमङ्गीकृत्य, 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' इति तुमुन्प्रत्ययः । ततो मयि दृष्टे परं व्रीडमेष्यति । एवं च सा युष्मान्न स्वीकरिष्यति खलु ॥ ११४ ॥

'कुण्डिनपुराधीशकी कन्या दमयंतीने पहलेसे ही मुझे वरण कर लिया है' ऐसा निश्चित है । (अतः सहसा) मुझे देखनेपर वह (सात्त्विक भावोंके उदय होनेसे) लज्जित हो जायेगी और निश्चय है कि आपलोगोंको वरण नहीं करेगी । (जब दमयन्तीने पहलेसे ही मुझे वरण कर लिया है, तब मेरा साक्षात्कार होनेपर आपलोगोंको वरण करना तो दूर रहा, आपलोगोंके वरण करनेके प्रस्तावको भी नहीं सुनना चाहेगी; अतः उसके लिए आपलोगोंकी इच्छा करना व्यर्थ ही है] ॥ ११४ ॥

तत्प्रसीदत विधत्त न खेदं दूत्यमत्यसदृशं हि ममेदम् ।
हास्यतैव सुलभा न तु साध्यं तद्विधित्सुभिरनौपयिकेन ॥ ११५ ॥

तदिति । तत्तस्मात् , प्रसीदत प्रसन्नाः स्थ, खेदं क्लेशं, न विधत्त न कुरुत । ममेदं दूत्यमत्यसदृशमत्यन्तायोग्यं हि । कुतः ? अनौपयिकेन, अनुपायेन, उपायं विनेत्यर्थः । 'उपायाद्ध्रस्वत्वञ्च' इति स्वार्थे ठक् ह्रस्वत्वं च । तद् दूत्यं विधित्सुभिश्चिकीर्षुभिर्हास्यतैव सुलभा, साध्यं प्रयोजनन्तु न सुलभम् । अनुचितकर्मारम्भोऽनर्थाय भवेन्न फलायेत्यर्थः ॥ ११५ ॥

इस कारण आपलोग (मेरे ऊपर) प्रसन्न होवें, ('इस नलने हमारा दूत-कर्म नहीं किया' इस कारण अपने मनमें) खेद न करें । क्योंकि यह (दूत-कर्म) मेरे लिए अत्यन्त अनुचित है । अनुचित उस (दूत-कर्मरूपी कार्य) को करनेकी इच्छा करनेवाले आप लोगोंका (जन समाजमें) उपहास ही सुलभ होगा (दमयन्तीकी प्राप्तिरूप), कार्य सुलभ नहीं होगा ॥ ११५ ॥

ईदृशानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नलस्य बलारिः ।
शंसति स्म किमपि स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोलः ॥ ११६ ॥

ईदृशानीति । स बलारिः इन्द्रः, तदानीं नलस्येदृशानि गदितानि वाक्यानि, आकलय्य आकर्ण्य । स्मयमानो मन्दं हसन् । स्वानुगानां यमादीनाम्, आनन-

विलोकने लोलो लोलुपस्सन् । स्ववाक्यानुमोदनार्थमिति भावः । किमपि किञ्चिद्वाक्यं शंसति स्म शशंस ॥ ११६ ॥

उस समय नलके ऐसे (श्लो० १०४–११५) कथनोंको सुनकर अपने अनुगामियों (यमादि तीनों दिक्पालों) का मुख देखते हुए (देखिये, यह नल मनुष्य होकर भी तथा पहले हमलोगोंकी याचना स्वीकार करके भी अब उसे पूरी नहीं कर रहा है, अतः अब आपलोगोंकी इस विषयमें क्या इच्छा है ?, अथवा—यह नल इतनी चतुरतासे बोल रहा है, इस अभिप्रायसे अपने साथियोंका मुख देखते हुए) तथा कुछ मुस्कुराते हुए इंद्र बोले (अथवा मुस्कुराते हुए कुछ बोले)—॥ ११६ ॥

नाभ्यधायि नृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभयेन ।
लज्जते न रसना तव वाम्यादर्थिषु स्वयमुरीकृतकाम्या ॥ ११७ ॥

नेति । हे नृपते ? भवता इदम् । सेयमुच्चतरेत्यादि प्रतिषेधवाक्यम् । रोहिणीरमणवंशभवेन सोमवंश्येनेव नाभ्यधायि । किं त्वसोमवंश्येनेवाभिहितमित्यर्थः । प्रतिश्रुतपरित्यागादिति भावः । कुतः, अर्थिषु विषये स्वयमुरीकृतकाम्या अङ्गीकृतमनोरथपूरणा तव रसना, वाक्यात् प्रातिकूल्यान्न लज्जते । ततो न सोमवंश्य इव प्रतिभासीत्यर्थः ॥ ११७ ॥

हे राजन् ! चन्द्रवंशोत्पन्न आपने यह (श्लो० १०४–११४) नहीं कहा ? अर्थात् अवश्य कहा । स्वयं (हमलोगोंकी) कामना अर्थात् याचनाको स्वीकार करनेवाली आपकी जिह्वा आपके (हमलोगों) से प्रतिकूल होने (पहले स्वीकार कर फिर बदल जाने) से नहीं लज्जित होती ? अर्थात् उसे अवश्य ही लज्जित होना चाहिए । [चंद्रवंशोत्पन्न व्यक्ति किसीकी याचनाको अस्वीकार नहीं करता और उसे स्वीकार कर यथावत् पालन भी करता है आपने तो मानो 'आप चंद्रवंशोत्पन्न ही नहीं हैं' ऐसी बात कही । अथवा—रोहिणीरमण अर्थात् बैलके वंशमें उत्पन्न (पशु) आपने यह नहीं कहा ? आप पहले स्वीकारकर अब जो अस्वीकार कर रहे हैं, यह पशुके समान कार्य है, पशु भी पहले खाये हुए घास आदिको फिर जुगाली करनेके लिए पेटसे बाहर वमन करता (निकालता) हुआ लज्जित नहीं होता, वैसे ही आप कर रहे हैं । अथवा—रोहिणीरमण (मद्य पीनेवाले बलराम)के वंशमें उत्पन्न आपने यह नहीं कहा ? ठीक है जो मद्य पीनेवालेके वंशमें उत्पन्न व्यक्ति है, पहले वह किसी बातको स्वीकार कर बादमें अस्वीकार करनेमें लज्जित नहीं होता । अतः शुद्ध चंद्रवंशोत्पन्न आपको ऐसा करना उचित नहीं है] ११७ ॥

भङ्गुरं च वितथं न कथं वा जीवलोकमवलोकयसीमम् ।
येन धर्मयशसी परिहातुं धीरहो चलति धीर ! तवापि ॥ ११८ ॥

भङ्गुरमिति । हे धीर विद्वन् ! इमं जीवलोकं प्राणिजातम् । भङ्गुरं विनश्वरं,

'भञ्जभासमिदो घुरत्र्' । वितथं दुःखमयस्वाद्विफलञ्च । कथं वः नावलोकयसि न पश्यसि, न जानासीत्यर्थः । येनाज्ञानेन तवापि धीर्धर्मयशसी । अभंगुरावितथे अपीति भावः । परिहातुं चलति । अहो अस्थिरविषयलौल्यात् स्थिरसुकृतपरित्यागो भवादृशामनुचित इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

हे धीर नल ! तुम इस प्राणि–समूहको विनाशशील (स्वप्नके समान) निष्फल क्यों नहीं देखते हो ? जिससे धर्म और यश (दोनों) को छोड़नेके लिये तुम्हारी बुद्धि चलायमान हो रही हैं, अहो ! आश्चर्य है । [संसारको विनश्वर एवं स्वप्नके समान असत्य जाननेवाले आपको, धर्म तथा यश दोनोंको तिलाञ्जलि देनेका विचार करना कदापि शोभा नहीं देता । अतः आपको हमारा दूत–कर्म अवश्य करना चाहिए] ॥ ११८ ॥

कः कुलेऽजनि जगन्मुकुटे वः प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन ।
इन्दुरादिरजनिष्ट कलङ्की कष्टमत्र स भवानपि मा भूत् ॥ ११९ ॥

क इति । जगन्मुकुटे जगद्भूषणे, वः कुले प्रार्थकेप्सितमर्थिमनोरथः येन नापूरि न पूरितम् । कोऽजनि जातः, न कोऽपीत्यर्थः । 'दीपजन—' इत्यादिना कर्तरि लुङि चिण् । आदिर्युष्माकं कूटस्थ इन्दुः कलङ्की अजनिष्ट जातः । कष्टं ! अत्र लोके भवानपि सकलङ्को मा भूत् । अपकीर्तिं मा कुरुष्वेत्यर्थः ॥ ११९ ॥

आपके, संसारमें मुकुटरूप वंशमें कौन पैदा हुआ, जिसने याचककी अभिलाषा पूरी नहीं की ? अर्थात् सभी ने याचकोंकी अभिलाषा पूरी की है । सर्वप्रथम चन्द्र ही कलङ्की (कलङ्कवाला, पक्षा०—मृगचिह्नित) हुआ, कष्ट है ! अत्र आप भी वह (कलङ्कयुक्त) न होइये । [आपके जिस कार्यसे कुलमें कलङ्क न लगे, ऐसा काम कीजिये । अथवा—आपके कुलमें आदि पुरुष अर्थात् केवल चन्द्रमा ही कलङ्की हुआ दूसरा नहीं, अतः आप हमलोगोंकी याचनाको अस्वीकारकर कलङ्की मत बनिये । अथवा—जब आपके कुलका आदि पुरुष ही कलङ्की है, तब आपको भी हमारी याचनाको पहले स्वीकार करनेके बाद फिर अस्वीकार करनेसे कलङ्की बनाना आश्चर्य नहीं हैं । आप हमारी याचनाको अस्वीकृत न करें] ॥ ११९ ॥

यापदृष्टिरपि या मुखमुद्रा याचमानमनु या च न तुष्टिः ।
त्वादृशस्य सकलः स कलङ्कः शीतभासि शशकः परमङ्कः ॥ १२० ॥

अथ विचार्यमाणे त्वमेव कलङ्की न शशाङ्क इत्याह—येति । त्वादृशस्य याचमानमनु अर्थिनं प्रति, याप्यपदृष्टिर्विकृतदर्शनं, या च मुखमुद्रा मौनं, या न तुष्टिरसन्तोषश्च, स सकलो विकारः कलङ्कः । शीतभासि चन्द्रे, शशकः परं केवलमङ्कः श्रीवत्सादिवत् चिह्नं, न तु कलङ्क इत्यर्थः ॥ १२० ॥

याचकको देखकर जो दुर्दृष्टि (बुरी निगाहसे देखना), जो मौन और जो सन्तोषाभाव है; वही तुम्हारे जैसे (धर्मात्मा एवं धैर्यशाली पुण्यश्लोक) व्यक्तिके लिए सम्पूर्ण कलङ्क है ।

(वस्तुतः) चन्द्रमा (तुम्हारे वंशका आदि प्रवर्तक) में भी कोई कलङ्क नहीं है, (किन्तु यह) केवल शशक (का चिह्न) है। [तुम्हारा वंशप्रवर्तक चन्द्रमा कलङ्की नहीं, किन्तु याचकोंको देखकर जो तुम प्रसन्न दृष्टिसे नहीं देखते, याचना पूरा करनेके लिए स्वीकार करके भी फिर उसे पूरा नहीं करते और जो सन्तुष्ट नहीं होते, यह सब तुम्हारे जैसे व्यक्ति के लिये कलङ्क है, अतः तुम्हें हमलोगोंके प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए] ॥१२०॥

नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथ वा पठितोऽपि ।
इत्थमर्थिघनसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः ॥ १२१ ॥

किञ्चेदमर्थिषु ते नास्ति वाद इत्याह—नेति। अक्षराणि पठता शैशवे मातृकाक्षराण्यभ्यस्यता भवता, नकारो निषेधवाची नशब्दो नापाठि किम्। अथवा, पठितोऽपि प्रस्मृतो विस्मृतः इत्थमर्थिजनस्य संशय एव दोला तया खेलनं क्रीडाम्। नकारश्चकार। अत्रार्थिनामीदृक्संशयासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। स चोक्तसंशयोत्थापित इति सङ्करः ॥ १२१ ॥

अक्षरों (वर्णमाला) को पढ़ते हुए तुमने 'न' अक्षरको नहीं पढ़ा क्या ? अथवा पढ़कर भी भूल गये। इस प्रकार 'न'करने याचक लोगोंके सन्देहरूपी झूलेकी क्रीड़ा कर दी। [झूलेमें दोनों ओर दो रस्सियाँ रहती हैं, पर यहाँ आपने 'न' अक्षरको नहीं पढ़ा या पढ़कर उसे भूल गये ?' ये दो संदेह ही दो रस्सियाँ हैं, उस प्रकार झूलेपर 'न'कार मानों क्रीडा कर रहा है। आपने अब तक किसीकी याचना करनेपर 'नहीं' नहीं कहा, अतः अब भी हमलोगोंको 'नहीं' मत कीजिये] ॥ १२१ ॥

अब्रवीतमनलः क्व नलेदं लब्धमुज्झसि यशः शशिकल्पम् ।
कल्पवृक्षपतिमर्थिनमेनं नाप कोऽपि शतमन्युमिहान्यः ॥ १२२ ॥

अब्रवीदिति। अथानलोऽग्निस्तं नलमब्रवीत्। हे नल ! इदं वक्ष्यमाणं, लब्धं हस्तप्राप्तं शशिकल्पं चन्द्रप्रतिमं, यशः, क्वोज्झसि कुत्र त्यजसि। किं तद्यशस्तदाह इह लोके, अन्यस्त्वद्व्यतिरिक्तः, कोऽपि कल्पवृक्षपतिमनन्यार्थिनमित्यर्थः। एनं शतमन्युमिन्द्रं, अर्थिनं नाप। तदेतद्धस्तगतमिन्द्रवाच्यस्वयशो वृथा मा विनाशयेत्यर्थः ॥ १२२ ॥

अग्नि उस नलसे बोले—'हे नल ! चन्द्रमाके समान (अत्यन्त निर्मल) प्राप्त यशको कहाँ छोड़ रहे हो ? इस लोकमें दूसरे किसीने (व्यक्तिने) भी कल्पवृक्षके स्वामी इस इन्द्रको याचक रूपमें नहीं पाया है। [यदि तुम इन्द्रकी याचना पूरी नहीं करोगे तो ये दूसरे किसीसे याचनाकर दमयन्तीके यहाँ दूत-कर्मके लिए भेजेंगे, इस अवस्थामें 'कल्पवृक्षका स्वामी अर्थात् कल्पनामात्रसे दूसरेकी इच्छा पूर्ण करनेवालेका स्वामी तथा सौ यज्ञोंको करनेवाले, अतः सत्पात्र इन्द्र भी नलसे याचना किये थे' ऐसा निर्मल यश इस

समय जो तुम्हें प्राप्त हो रहा है, वह दूसरेको प्राप्त हो जायेगा, अतः ऐसा (मिलते हुए उत्तम यशका त्याग) करना तुम्हें उचित नहीं। और कदाचित् ये इन्द्र कल्पवृक्षसे ही दमयंती को चाहेंगे तो वह अपनी दानशीलतावश तथा अपना स्वामी होनेके कारण इनके लिए दमयन्तीको अवश्य दे देगा, इस अवस्थामें तुम्हें दमयंती नहीं मिल सकेगी, इस प्रकार तुम उक्त यशोलाभ तथा दमयंतीलाभ दोनोंसे हाथ धो बैठोगे। इस कारण भी तुम्हें इनकी याचना पूरी करनी चाहिए। और भी—यदि तुम इनकी याचना पूरी नहीं करोगे, तब शतमन्यु अर्थात् सैकड़ों क्रोधवाले होनेसे ये तुम्हें शाप भी दे देंगे, इस कारण भी इनकी याचना तुम्हें पूरी करनी चाहिये। यहाँ अग्नि भी इन्द्रके साथ कपटपूर्ण व्यवहार कर नल से कहते हैं कि— 'ये इन्द्र कल्पवृक्षके पति हैं अर्थात् कल्पवृक्षसे भी अपना, काम पूरा करा सकते हैं तथा सैकड़ों क्रोध करनेवाले हैं अतः महाक्रोधी होनेसे अपात्र हैं, अतः जिसकी याचना दूसरे भी पूरी कर सकें तथा महाक्रोधी होनेसे जो अपात्र है, उसको दान देकर जिसको कोई देनेवाला नहीं तथा जो सत्पात्र है, उसको अर्थात् मुझे दान देना चाहिये अर्थात् आप मेरा दूत कर्म करें]॥ १२२ ॥

न व्यहन्यत कदापि मुदं यः स्वःसदामुपनयन्नभिलाषः।
तत्पदे त्वदभिषेककृतां नः स त्यजत्वसमतामदमद्य ॥ १२३ ॥

नेति। स्वःसदः स्वर्वासिनः। 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप्। तेषां नः सम्बन्धी योऽभिलाषो मनोरथो मुदमुपनयन् स्वसिद्ध्या सन्तोषमावहन्, कदापि न व्यहन्यत न विहतः। अद्य, तत्पदे तद्व्यवसिते, तत्सम्पादकाधिकार इत्यर्थः। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। त्वदभिषेककृतां त्वां स्थापयतां, नः सम्बन्धी सोऽभिलाषः। असमता असाधारण्यं, स्वसिद्धावनन्यापेक्षत्वमिति यावत्। तन्मदं त्यजतु। अद्य प्रभृति स्वार्थसाधने स्वयमेव समर्थाः सुरा इत्यहङ्कारं मुञ्चाम इत्यर्थः॥ १२३ ॥

स्वर्गनिवासी हम लोगोंकी जो अभिलाषा कभी नष्ट नहीं हुई, उसके स्थानपर आपको अभिषिक्त करते हुए हमलोगोंकी वह अभिलाषा आज असमानता (मेरे समान कोई नहीं है ऐसे) के अभिमानको छोड़ दें। [हमलोगोंकी अभिलाषा आजतक यह समझती थी कि मैं स्वतः पूरी होकर स्वर्ग-निवासी देवताको हर्षित करती हूँ, अत एव मेरे समान कोई नहीं है, ऐसा उसको अभिमान हो गया, किन्तु आज आपसे याचना करनेके कारण उस अभिलाषा को अपना उक्त अभिमान छोड़ देना चाहिए। आप हमलोगोंकी अभिलाषा पूरी करें]॥ १२३ ॥

अब्रवीदथ यमस्तमहृष्टं वीरसेनकुलदीप ! तमस्त्वाम्।
यत्किमप्यभिबुभूषति तत्किं चन्द्रवंशवसतेः सदृशं ते ॥ १२४ ॥

अब्रवीदिति। अथ यमः अहृष्टमसन्तुष्टं, तं नलमब्रवीत्। हे वीरसेनकुलदीप !

किमपि यत्तमो मोहोऽन्धकारश्च त्वामभिबुभूषति अभिभवितुमिच्छति। तच्चन्द्रवंशे वसतिः स्थितिर्यस्य तस्य ते सदृशं किम्। न हि चान्द्रस्य तेजसस्तमसाभिभवो युक्त इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

इसके बाद (दमयन्तीकी प्राप्तिमें बाधा आ जानेसे) हर्षरहित उस नलसे यम बोले—"हे वीरसेन वंशके दीपक नल ! तुमको जो कुछ (थोड़ा सा अतर्कणीय) तम (अज्ञान, पक्षांतरमें—अन्धकार) पराजित करना चाहता है, वह चन्द्रवंशमें रहनेवाले अर्थात् चन्द्रवंशोत्पन्न तुम्हारे लिए योग्य है क्या ? अर्थात् कदापि नहीं। [चन्द्रवंशी राजा लोग प्राण देकर भी याचकोंकी आशा पूरी करते थे, अतः तुम्हें भी हमलोगोंको निराश नहीं करना चाहिए। तथा—दीपकके पास एवं चन्द्रमामें रहनेवालेके पास अन्धकार होना उचित नहीं है, अतः तुम्हें भी अज्ञानमें न पड़कर हमलोगोंकी याचना पूरी करनी चाहिए। अथवा—चन्द्रको तम अर्थात् राहुसे पराजित होनेके समान तुम्हारा ऐसा करना उचित हो है] ॥ १२४ ॥

रोहणः किमपि यः कठिनानां कामधेनुरपि या पशुरेव।
नैनयोरपि वृथा भवदर्थी हा विधित्सुरसि वत्स ! किमेतत् ॥ १२५ ॥

रोहण इति। यो रोहणो मणीनामाकरोऽद्रिः, सोऽपि कठिनानां मध्ये किमपि कठिनः। या कामधेनुः सापि पशुरेव। एनयोः पशुपाषाणयोरपि सम्बन्धी। 'द्वितीयाटौस्वेनः' इतीदंशब्दस्य एतच्छब्दस्य वा अन्वादेशविषये इनादेशः। अर्थी वृथा विफलो नाभवत्। हे वत्स, किमेतद्विधित्सुर्विधातुमिच्छुरसि। हेति विषादे। हा कष्टं पशुपाषाणाभ्यामपि तुच्छवृत्तिरसीत्यर्थः ॥ १२५ ॥

जो कठिनों (पक्षान्तरमें—निष्ठुरों) में रोहण (रोहण नामक पर्वत, सुमेरु अथवा रत्नोंका उत्पत्तिस्थान वैदूर्य पर्वत) है, वह कुछ (अत्यन्त कठोर या अत्यन्त निष्ठुर या अत्यन्त कृपण) है, तथा जो कामधेनु है, वह पशु (ज्ञानशून्य, पक्षांतरमें— मूर्ख ही) है। इन दोनोंके यहाँ भी कोई याचक निराश नहीं हुआ तो हा ! हे वत्स ! तुम यह क्या करना चाहते हो ? [अत्यन्त निष्ठुर तथा कृपण वैदूर्य या मेरु पर्वत और पशु एवं मूर्ख कामधेनु भी यदि अर्थियोंको निराश नहीं करते तो अत्यन्त कोमल स्वभाववाले तथा विद्वान् तुमको ऐसा करनेकी (याचना पूरी न करनेकी) इच्छा करना उचित नहीं है, 'चूँकि तुम बच्चे हो और बच्चेको सावधान कर देना बड़ोंका धर्म है; अतः हम तुम्हें सावधान कर रहे हैं', यह 'वत्स' शब्दसे ध्वनित होता है] ॥ १२५ ॥

याचितश्चिरयति क्व नु धीरः प्राणने क्षणमपि प्रतिभूः कः।
शंसति द्विनयनी दृढनिद्रां द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा ॥ १२६ ॥

याचित इति। क्व नु कुत्र, धीरः सुधीर्याचितः सन् चिरयति विलम्बते। न कुत्रापि विलम्बत इत्यर्थः। कुतः, क्षणमपि प्राणने जीवने, प्रतिभूर्लग्नकः कः, न

कोऽपीत्यर्थः। द्राङ्निमेषमिषेण शीघ्रपक्ष्मपातव्याजेन, घूर्णनेन कनीनिकाभ्रमणेन पूर्णा द्विनयनी नयनद्वन्द्वमेव, दृढनिद्रां मरणं, शंसति। नयनघूर्णनवत्क्षणिकं जीवनमित्यर्थः॥ १२६॥

याचना करनेपर धीर दाता कहाँ विलम्ब करता है? अर्थात् कहींपर कोई धीर दाता विलम्ब नहीं करता, किन्तु याचना करते ही तुरन्त दे देता है। क्षणमात्र भी जीनेमें कौन मध्यस्थ (जिम्मेदार) है? अर्थात् किसी व्यक्तिके क्षणमात्र जीनेकी जिम्मेदारी कोई नहीं उठा सकता। शीघ्र निमेष (पलक गिरना) के व्याजसे घूरनेसे परिपूर्ण दोनों नेत्र महानिद्रा अर्थात् मरणको कह रहे हैं। [जितने समयमें निमेष होता है, उतने ही समयमें मरण हो जाता है, अत एव बुद्धिमान्को बिना विलम्ब किये याचककी अभिलाषा पूरी करनी चाहिए]॥ १२६।

अभ्रपुष्पमपि दित्सति शीतं सार्थिना विमुखता यदभाजि।
स्तोककस्य खलु चञ्चुपुटेन ग्लानिरुल्लसति तद्घनसङ्घे॥ १२७॥

अभ्रपुष्पमिति। शीतं शीतलमभ्रपुष्पमुदकम्। 'मेघपुष्पं घनरस' इत्यमरः। तद् घनपुष्पं, तद्वद्दुर्लभं वस्त्विति च गम्यते। दित्सति दातुमिच्छत्यपि। न तु परिजिहीर्षतीत्यर्थः, घनसङ्घे मेघवृन्दे, अर्थिना याचकेन, स्तोककस्य चातकस्य। 'अथ सारङ्गः स्तोककश्चातकः समौ' इत्यमरः चञ्चुपुटेन सा प्रसिद्धा विमुखता। पक्षिमुखत्वं पराङ्मुखत्वञ्च। अभाजीति यत्। तत्तस्माद्वैमुख्यभजनात्। ग्लानिर्जलभरमन्थरत्वं वैवर्ण्यं चोल्लसति स्फुरति। अत्रार्थिन एव वैमुख्ये दातुरियं ग्लानिः किमुत दातृवैमुख्ये। तस्मात्तादृशस्य तवेदमर्थिवैमुख्यमनुचितमिति भावः॥१२७॥

चातकके याचक मुखमें (विलम्ब होनेसे) जो विमुखता (पक्षीके मुखका भाव) हुई, उस कारण ठंडा जल देनेवाले मेघ-समूहमें मलिनता दिखलाई पड़ती है। पक्षान्तरमें—उसके याचकने जो विमुखता (निराशता) धारण की, इस कारणसे दुर्लभ आकाश-पुष्प (वर्षाजल) देनेकी इच्छा करते हुए मेघ-समूहमें कालिमा अर्थात् जन्मभरके लिए कलङ्क हो गया है। [तुच्छ तिर्यक् योनिमें उत्पन्न चातकके याचना करनेपर थोड़ा विलम्बकर दुर्लभ आकाश-पुष्प (पक्षा० ठंडा जल) देनेके इच्छुक मेघ-समूहमें भी जब कालिमारूप कलङ्क हो गया, तब हमलोग—जैसे सत्पात्रोंको पहले देनेको कहकर फिर निराश करनेपर तुम्हें बड़ा कलङ्क लगेगा, अतः शीघ्र ही हमलोगोंकी याचना तुम्हें पूरी कर देनी चाहिए]॥ १२७॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेनं पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य।
कीर्तिरेव भवतां प्रियदारा दाननीरझरमौक्तिकहारा॥ १२८॥

ऊचिवानिति। पाशपाणिर्वरुणोऽपि, पाणिमुदस्य, उद्यम्य, एनं नलम्, उचितं युक्तम्, अक्षरं वाक्यम्, ऊचिवान् उक्तवान्। यदुक्तं तदाह—कीर्तिरिति। दाननी-

राणां झरः दानजलप्रवाहः, स एव मौक्तिकहारो यस्यास्तथोक्ता कीर्तिरेव भवतां युष्माकं प्रियदाराः प्रियकलत्रम्। 'पुं भूम्नि दाराः' इत्यमरः। एतेन भार्याया अपि कीर्तिः प्रियतमेति भावः। अतो दमयन्तीलोभान्न कीर्तिं जहीत्यर्थः। अत्र रूपकालङ्कारः ॥ १२८ ॥

हाथमें पाश धारण करनेवाले अर्थात् वरुण भी हाथ उठाकर इस नलसे उचित बात कहे—'आप (—जैसे राजा, पाठान्तरमें—राजाओं) को दानमें दिये जानेवाले सङ्कल्पजलप्रवाहरूपी मुक्ताहारयुक्त कीर्त्ति ही प्रिय स्त्री है। [अतः तुम्हें दमयन्तीको वरण करनेकी अभिलाषा छोड़कर हमलोगोंका दूत-कर्म करके कीर्त्ति (—रूपा उत्तम स्त्री) को प्राप्त करना चाहिए]॥ १२८॥

चर्म वर्म किल यस्य नभेद्यं यस्य वज्रमयमस्थि च तौ चेत्।
स्थायिनाविह न कर्णदधाची तन्न धर्ममवधीरय धीर ! ॥ १२९ ॥

चर्मेति। यस्य कर्णस्य चर्म त्वक् नभेद्यमभेद्यम्। नञर्थस्य न-शब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः। वर्म कवचं किल। यस्य दधीचेरस्थि च वज्रमयं किल। किलेति प्रसिद्धौ। तौ महासत्त्वशालिनौ कर्णदधीची। इह जगति, स्थायिनौ न चेत्। तर्हि, हे धीर धीमन्! धर्मं नावधीरय नावमन्यस्व! कर्णादीनामस्थिरत्वम् तद्धर्मस्य च स्थैर्यं दृष्ट्वा त्वमपि तथैवाचरेत्यर्थः ॥ १२९ ॥

जिस (कर्ण) का चमड़ा अभेद्य कवच होगा तथा जिस (दधीचि) की अभेद्य हड्डी वज्रमय थी, वे कर्ण तथा दधीचि इस संसारमें स्थिर (क्रमशः होंगे और हुए), इस कारणसे हे धीर! (बुद्धिमान् नल!) धर्मका त्याग मत करो। [द्वापर युगमें होनेवाले राजा कर्ण अभेद्य कवच बनानेके लिए अपने शरीरका चमड़ा इन्द्रको दे देंगे, तथा सत्ययुगमें हुए महर्षि दधीचिने वृत्रासुरको मारनेके लिए इन्द्रके याचना करनेपर वज्र बनानेके लिये अपना हड्डा दे दी थी, वे दोनों (कर्ण तथा दधीचि) इस संसारमें क्रमशः स्थिर नहीं रहेंगे और न रहे। यहाँ कर्ण तथा दधीचिको क्रमशः द्वापर तथा सत्ययुगमें होना मानकर उक्त व्याख्या की गयी है। किसी-किसी व्याख्याकर्ताका कल्प—भेद मानकर कर्ण तथा दधीचि—दोनोंको ह भूतकालके अभिप्रायसे ही एक साथ वर्णन करना विरुद्ध नहीं है। इस व्याख्यामें दोनोंको मृत्युने नहीं छोड़ा, अतः तुम्हें भी हमलोगोंको याचना पूरी कर धर्मार्जन करना चाहिए। यह अर्थ समझना चाहिए] ॥ १२९ ॥

अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ।
आश्रुताऽवितथतागुणपाशस्त्वादृशेन विदुषा दुरपासः ॥ १३० ॥

अद्येति। येन सत्यसन्धत्वपाशेन, निबद्धौ बलिर्वैरोचनिः स च विन्ध्यश्च तौ। अद्य यावदेतद्दिनपर्यन्तं, विचलितुमपि प्रभू समर्थौ न स्तः। आश्रुतस्य प्रतिज्ञा

तार्थस्य अवितथता सत्यता, सैव गुणः, उत्कृष्टधर्मः सः एव पाशो बन्धः, त्वादृशेन विदुषा स दुरपासः दुरुच्छेदः। बलिविन्ध्यादिदृष्टान्तेन यावज्जीवनिर्बन्धेनापि प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहः कार्य इत्यर्थः ॥ १३० ॥

दैत्यराजा बलि तथा विन्ध्य पर्वत जिस (सत्यप्रतिज्ञारूप गुणपाश) से बँधे हुए आज तक भी विचलित होने (अपनी स्वीकृत बातको झूठा करने) में समर्थ नहीं हुए अर्थात् जिस बातको स्वीकृत किये, उसका आजतक पालन कर रहे हैं, तब तुम्हारे--जैसे ('आस्थित' पाठमें- वैसे सुप्रसिद्ध) विद्वान्‌को उस सत्यप्रतिज्ञत्व-गुण-पाशका त्याग नहीं करना चाहिये। [जब अत्यन्त उच्छृङ्खल स्वभाववाले दैत्योंका राजा बलि तथा जड एवं कठोरतम विन्ध्य पर्वत भी स्वीकार की हुई अपनी बातपर आजतक डटे हुए हैं (उसे झूठा नहीं करते) तब आप भी हमलोगोंके दूत-कमको स्वीकृतकर 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' नीतिको समरणकर अब उससे पराङ्मुख मत होइये। पहले राजा बलि वामन भगवानको तीन पैर भूमि दानकर उनसे वचनबद्ध होकर आजतक पाताललोकमें रहते हैं, तथा सुमेरु-को जीतनेकी इच्छासे बढ़ते हुए विन्ध्य पर्वतको सूर्य-मार्ग रुकने की आशङ्कासे युक्त देवोंकी प्रार्थनासे दक्षिण दिशाको जाते हुए अपने गुरु अगस्त्य मुनिको साष्टाङ्ग दण्डवत् करनेवाला विन्ध्यपर्वत उनके कहनेसे आजतक वैसे ही पड़ा हुआ है, ये दोनों पौराणिकी कथायें जाननी चाहिये] ॥ १३० ॥

प्रेयसी जितसुधांशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगतापि।
भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम् ॥ १३१ ॥

प्रेयसीति। प्रेयसी प्रियतमा, जिता सुधांशुमुखानां चन्द्रादीनां श्रीर्यया सा। अन्यत्र, जितसुधांशुर्मुखश्रीर्यस्याः सा तथोक्ता। या कीर्तिर्दिगन्तगतापि देशान्तरगतापि, न मुञ्चति। तामपि कीर्तिं भङ्गिसङ्गमः भंगुरसङ्गतिर्यस्यास्तस्याः कुरङ्गदृशोऽर्थे तदर्थम्। तादर्थ्येऽव्ययीभावः। कुत्सितोऽर्थः कदर्थः। 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः, तं करोति कदर्थयति व्यर्थयतीत्यर्थः। को नामास्थिरार्थे स्थिरं जह्यादिति भावः ॥ १३१ ॥

चन्द्रमा आदिकी शोभाको जीतनेवाली (पक्षान्तरमें—चन्द्रमुखी अर्थात् चन्द्रमाके समान शोभायुक्त मुखवाली स्त्रीकी शोभाको जीतनेवाली) जो परमप्रिया (कीर्तिरूपिणी स्त्री) दिशाओंके अन्त अर्थात् बहुत दूरतक जाकर भी (पतिको) नहीं छोड़ती, उस कीर्ति (रूपिणी स्त्री) को मधुर (विनाशशील) सहवासवाली मृगनयनी (पक्षान्तरमें—भंगुर साथवाली लोकमोहिनी होनेसे निन्दित दृष्टिवाली ऐसी स्त्री) के लिये कौन (पुरुष) पीडित करेगा ? अर्थात् कोई नहीं। [कीर्तिरूपिणी स्त्री श्वेत होनेसे चन्द्र, तारा आदिको,

प्रक्षा०—चन्द्रमुखी स्त्रीको भी जीतनेवाली है तथा दूरतम स्थानमें जाकर भी पतिका सह-वास नहीं छोड़ती, अतः परमसाध्वी है। इसके विपरीत चन्द्रमुखी मृगनयनी स्त्री थोड़ी दूर जानेपर साथ छोड़ देती है। अथवा—कीर्ति-भिन्न स्त्रीकी दृष्टि अन्यजनमोहिनी होनेसे निन्दनीय है, अतः यह स्त्री वैसी साध्वी नहीं है, इस कारण परमसाध्वी स्त्रीको सामान्य एवं अनित्य सङ्गवाली सपत्नीके लिये कोई नहीं छोड़ता। साथ ही—त्रिकालदर्शी यम भविष्यमें कलिके प्रभावसे दमयन्तीका साथ छूटनेकी ओर भी संकेतकर कह रहे हैं कि वियुक्त होनेवाली दमयन्तीके लिये स्थायी रूपसे मिलनेवाली कीर्तिका त्याग मत करो]॥२२१॥

यान् [1]वरं प्रति परेऽर्थयितार-
स्तेऽपि यं वयमहो स पुनस्त्वाम्।
नैव नः खलु मनोरथमात्रं
शूर! पूरय दिशोऽपि यशोभिः ॥ १३२ ॥

यानिति। परे अन्ये जनाः, वरं प्रति इष्टलाभमुद्दिश्य, यानस्मानर्थयितारः। ताच्छील्ये तृन्। 'न लोक'—इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया। ते वयमपि यं त्वामर्थयितारः स्मः। अहो, स त्वं पुनर्नोऽस्माकं, मनोरथमात्रं मनोरथमेव नैव पूरय। किंतु, हे शूर! यशोभिर्दिशोऽपि पूरय खलु। तस्मादस्मन्मनोरथपूरणेन ते दिगन्तविश्रान्ता कीर्तिर्भविष्यति। अन्यथा, अपकीर्तिरपि तादृशी भविष्यतीति भावः॥ १३२॥

दूसरे लोग भी जिन (हमलोगों) से अभीष्ट वरकी याचना करते हैं (पाठभेदसे—दूसरे लोग जिनसे केवल याचना करते हैं अर्थात् देते कुछ भी नहीं), वे हमलोग तुमसे याचना करते हैं, यह आश्चर्य है। फिर वह तुम हे (दान-) शूर! केवल हमलोगोंके मनोरथको ही पूर्ण मत करो, किन्तु (सबलोगोंको वर देनेवाले इन्द्रादि दिक्पाल भी नलके यहाँ याचक बने, ऐसे) यशसे दिशाओं को पूर्ण कर दो। [हमलोगोंकी याचना पूर्ण करनेसे तुम्हारा यश सब दिशाओंमें फैल जायेगा, अतः तुम्हें ऐसा अवसर नहीं चूकना चाहिए]॥ १३२॥

अर्थितां त्वयि गतेषु सुरेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः।
अद्य पाण्डु गगनं सुरशाखी केवलेन कुसुमेन विधत्ताम्॥ १३३॥

अर्थितामिति। अद्य सुरशाखी कल्पवृक्षः सुरेष्वस्मासु त्वयि विषये, अर्थितां गतेषु सत्सु म्लाना अर्थ्यभावक्षीणा, दानजा दानजन्या, निजा उरुर्महती यशःश्रीः

1. 'परम्' इति पाठान्तरम्।

कीर्तिमण्डपस्य सः, तथा सन्, केवलेन कुसुमेन गगनं पाण्डु शुभ्रं, विधत्ताम् । नतु वितरणेन यशसा। स्वार्थिनामन्यार्थित्वेन तन्निदानदानकथास्तमियादिति भावः ॥ १३३ ॥

हमलोगोंके तुम्हारे यहाँ याचक होनेपर, मलिन हो गयी है दानजन्य विशालकीर्ति शोभा जिसकी, ऐसा कल्पवृक्ष आकाशको केवल पुष्पोंसे ही श्वेत करे। [पहले सब लोगोंकी याचना पूरी करनेसे कल्पवृक्षने यश तथा पुष्प दोनोंसे ही आकाशमण्डल श्वेत होता था, किन्तु अब दिक्पाल हमलोगोंके तुम्हारे यहाँ याचक हो जानेपर कल्पवृक्षकी दानजन्य कीर्ति आजसे नहीं रह जायेगी, अतः वह केवल अपने पुष्पोंसे ही आकाश-मण्डलको श्वेत करेगी याचना पूरी करके आजसे तुम कल्पवृक्षसे भी बड़ा दानी बन जावोगे] ॥ १३० ॥

प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत्
स्मृतिधृतोऽपि नल ! त्वमभीष्टदः।
स्वगमनाफलतां यदि शङ्कसे
तदफलं निखिलं खलु मङ्गलम् ॥ १३४ ॥

अत्र यात्रावैफल्यशङ्कया ते सङ्कोचस्तावदनाशङ्कनीय एवेत्याह—प्रवसत इति। हे नल ! प्रवसते प्रयाणं कुर्वते भरतः शाकुन्तलेयः, अर्जुनो हैहयः, वैन्यः पृथुः, तैस्तुल्यं तद्वत्। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'। स्मृत्या धृतः स्मृतिधृतः, स्मर्यमाणोऽप्यभीष्टदः इष्टार्थप्रदस्त्वं स्वगमनस्य स्वयात्रायाः अफलतां वैफल्यं शङ्कसे यदि, तत्तर्हि, लोके निखिलं सर्वमपि मङ्गलं यात्राकालिकं स्वस्मरणलक्षणं मङ्गलाचरणमफलं खलु। यथा च—'वैन्यं पृथुं हैहयमर्जुनञ्च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च। एतान्नृपान्यः स्मरति प्रयाणे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च ॥' इति शास्त्रमप्रमाणं स्यादित्यर्थः। तथा च मत्स्मरणादन्येषामर्थसिद्धिस्तस्य तथाऽर्थसिद्धौ कः सन्देह इति भावः ॥ १३४ ॥

हे नल ! भरत (दुष्यन्तपुत्र), अर्जुन (सहस्रार्जुन) और वैन्य (राजा पृथु)] के समान स्मरण करनेपर यात्रा करते हुए व्यक्तिके अभीष्टको देनेवाले तुम यदि अपने जाने-की निष्फलताका सन्देह करते हो, तब तो वह सम्पूर्ण मङ्गल निश्चित हो निष्फल हो जायेगा। [यात्रा करते समय भरत आदिके समान तुम्हारे नामके स्मरणमात्र करनेसे यात्रा करनेवाले व्यक्तिका मनोरथ पूर्ण हो जाता है, अतः साक्षात् मङ्गलस्वरूप तुम्हारी ही यात्रा यदि निष्फल हो जायेगी तब तो अन्य लोगोंके लिये उक्त मङ्गलकारक वचन भी निष्फल हो जायेगा; अतः तुम्हें हमलोगोंके दूत-कर्म करनेमे निष्फल होनेकी शङ्का कदापि नहीं करनी चाहिये] ॥ १३४ ॥

इष्टं नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्याद्य स्वराह्लादिनी
धर्मार्थां सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्विताख्यापदाम्।
त्वत्कीर्तिः पुनती पुनस्त्रिभुवनं शुभ्राद्वयादेशनाद्
द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु ॥१३५॥

इष्टमिति। अद्य नोऽस्माकम्, इष्टमिच्छां, यागञ्च प्रति। 'इष्टिर्यागेच्छयोः' इत्यमरपदे यजेरिषेश्च स्त्रियां क्तिन्। 'वचि स्वपि—'इत्यादिना यजेः सम्प्रसारणम्। 'व्रश्च—' इत्यादिना षत्वम्। इषेः क्तिन्प्रत्ययापवाद इति काशिकायाम्। तथा प्रयोगप्राबल्यात् साधुत्वं द्रष्टव्यम्। स्वः स्वर्गम्, अन्यत्र स्वरैरुदात्तादिभिराह्लादिनी धर्मोऽर्थः प्रयोजनमभिधेयं च यस्याः सा धर्मार्था या प्रतिश्रुतिः। 'जीवितावधि किमप्यधिकं वे'ति श्लोकोक्तास्मन्मनोरथपूरणप्रतिज्ञा अभूत्, तां प्रतिश्रुतिं श्रुतिप्रतिभटीकृत्य वेदप्रतिनिधीकृत्य, सत्यापयित्वेत्यर्थः। अन्विताख्यापदां सृज। सत्यत्वेन श्रुतिप्रतिनिधीकृत्य प्रतिश्रुतिरित्यन्वर्थनामाक्षरां कुरु। सत्यप्रतिज्ञो भवेत्यर्थः। अस्य फलमाशीर्मुखेनाह—त्वत्कीर्तिरिति। त्वत्कीर्तिः पुनस्त्वद्यशस्तु, त्रिभुवनं भुवनत्रयं, समाहारे द्विगुरेकवचनम्, पात्रादित्वान्नपुंसकत्वम्। पुनती पावयन्ती। पुनातेः शतरि ङीप्। द्रव्याणां नीलपीतादिद्रव्याणां, शुभ्रः शुक्लगुणः। 'गुणे शुक्लादयः पुंसि', इत्यमरः। तेनाद्वयादेशनादभेदापादनाच्छितिपीतादिनामभिर्वाचकपदैरन्वयं वाच्यत्वलक्षणं सम्बन्धं, लुम्पतु निवर्तयतु। अर्थिमनोरथपूर्त्या कीर्तिं सम्पादयेत्यर्थः। अत्र नीलादीनां वस्तूनां स्वगुणत्यागेन कीर्तिगुणग्रहणात्तद्गुणालङ्कारः। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः' इति लक्षणात्॥ १३५॥

हमलोगोंके मनोरथ (पक्षान्तरमें—यज्ञ) के प्रति मधुर स्वरसे आह्लादित करनेवाली (अथवा—स्वर्गके समान आह्लादित करनेवाली, अथवा—अकारादिरूप स्वरवर्ण (अ इ उ ऋ लृ······) आह्लादित करनेवाली, (पक्षान्तरमें—उदात्त आदि स्वरों से आह्लादित करनेवाली, पाठभेदसे—देवताओंको आह्लादित करनेवाली) जो धर्मार्थ तुम्हारी प्रतिश्रुति (प्रत्युत्तर, पक्षान्तरमें—श्रुति अर्थात् वेदकी प्रतिनिधि वाणी) हुई, उसे श्रुति (वेद) का प्रतिभट अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी (वेदतुल्य) बनाकर सार्थक करो। तुम्हारी कही हुई वेदान्त का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति, (श्रवण–मनन–आचरणादि द्वारा) तीनों लोकों पक्षान्तरमें-त्रिभु+वन अर्थात् सत्त्व आदि तीनों गुणोंसे उत्पन्न+अत्यन्त गहन=संसार की निवृत्तिके

---

१. 'इष्टिम्' इति पाठान्तरम्। 'तिलक–जीवात्वोस्तु 'इष्टम्' इत्येव पाठोऽङ्गीकृतः' इति म. म. शिवदत्तोक्तिश्चिन्त्या, जीवातौ 'इष्टम्' इत्येव पाठमङ्गीकृत्य व्याख्यानदर्शनात्।

द्वारा पवित्र करती हुई निर्मलता (पक्षान्तरमें—दो-हीन अद्वैत ब्रह्म) के विस्तार (पक्षान्तरके—उपदेश) से द्रव्यों (सांसरिक पदार्थों) के मेचक (कपोतकण्ठवत् वर्णविशेष), पीला, लाल तथा हरा इनके सम्बन्ध या नामको नष्ट करो। [हमलोगोंके मनोरथके प्रति कहे हुए मधुर स्वरसे आह्लादित करनेवाले धमार्थं अपने प्रत्युत्तरको वेदतुल्य सार्थक कीजिये तथा इससे संसारको पवित्र करनेवाली फैलती हुई एकमात्र निर्मल कीर्तिसे समस्त वस्तुओंके कर्बुर, पीला, लाल और हरा—इन रंगोंको नष्ट कीजिये अर्थात् अपनी कीर्तिसे संसारकी सभी वस्तुओंको श्वेत वर्णकी बनाइये। जो आपकी प्रतिश्रुति है, उसे श्रुति (वेद-वाक्य) का प्रतिभट करना उचित ही है। वेदवाक्य भी यज्ञके उद्देश्यसे कहे जाते हैं, उस यज्ञके द्वारा वे देवोंको आह्लादित करनेवाले होते है, अथवा—उदात्तादि स्वरोंसे देवताओं तथा श्रोताओंको आह्लादित करनेवाले होते हैं। वह श्रुति (वेद) सत्त्वादि गुणोंसे उत्पन्न एवं वनके समान अतिगहन संसारको पवित्र करती है तथा सर्वदोषवर्जित अद्वैत ब्रह्मका 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त वाक्योंका प्रतिपादन करती हुई 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां……' इत्यादि श्रुत्युक्त मायाका नाश करती है। तुमने पहले हमलोगोंसे याचना पूरी करनेका जो वचन कहा है, उसे वेदवाक्यके समान सत्यकर अपनी शुभ्र कीर्तिको संसारमें फैलाओ] ॥ १३५ ॥

यं प्रासूत सहस्रपादुदभवत्पादेन खञ्जः कथं
स च्छायातनयः सुतः किल पितुः सादृश्यमन्विष्यति ।
एतस्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसां लङ्घने
साहस्रैरपि पंगुरंघ्रिभिरभिव्यक्तीभवन्भानुमान् ॥१३६॥

यमिति । यं शनैश्चरं, सहस्रं पादाः रश्मयोऽङ्घ्रयश्च यस्य सः, सहस्रपात् सूर्यः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' इति समासन्तलोपः । प्रासूत प्रसूतवान् , सः छायातनयः शनैश्चरः । 'मन्दश्छायासुतः शनिः' इत्यमरशेषः । कथं पादेन खञ्जो विकलः सन् । 'येनाङ्गविकार' इति तृतीया । उद्भवदुत्पन्नः सुतः पितुः सादृश्यमन्विष्यति किल प्राप्नोति खलु । एतस्य प्रश्नस्याद्य त्वत्तेजसां लङ्घने साहस्रैः सहस्रसङ्ख्यैरपि । 'अण् च' इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः । अङ्घ्रिभिः पङ्गुः खञ्जः, पूर्ववत्तृतीया । अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् सूर्यः नोऽस्माकमुत्तरं समजनि सञ्जातः । जनेः कर्तरि लुङ् । 'दीपजन—' इत्यादिना जनेश्चिण् । चिणो लुक् । अत्रार्कस्यापङ्गोः पङ्गुत्वोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । तद्धेतुत्वञ्च शनैश्चरपङ्गुत्वस्येत्युत्प्रेक्षा इति तयोः सङ्करः ॥ १३६ ॥

जिसको सहस्रपाद (सहस्र पैरोंवाला, पक्षान्तरमें—सहस्र किरणोंवाला सूर्य) ने

उत्पन्न किया, वह छाया-पुत्र (शनैश्चर) पैरसे लँगड़ा कैसे हुआ? क्योंकि पुत्र पिताके सदृश होता है। हमलोगोंको इस (सन्देह) का उत्तर आज मिला कि तुम्हारे तेजोंको सहस्र पैरों (पक्षान्तरमें—किरणों) से भी लाँघनेमें सूर्य पङ्गु (लँगड़ा अर्थात् असमर्थ) हो गया है। [तुम्हारे तेजोंको सहस्र पैरों (पक्षा०—किरणों) से लाँघनेके लिये प्रतिज्ञा करके भी सूर्य अपनी प्रतिज्ञाको पूरी नहीं कर सकता, परन्तु आपने अपनी प्रतिज्ञाको पूर्ण किया, अतः सूर्यके तेजसे भी आपका तेज अधिक है]'॥ १३६॥

इत्याकर्ण्य क्षितीशस्त्रिदशपरिषदस्ता गिरश्चाटुगर्भा
वैदर्भीकामुकोऽपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार।
अङ्गीकारं गतेऽस्मिन्नमरपरिवृढः संभृतानन्दमूचे
भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितभवच्चित्तता यत्र तत्र॥ १३७॥

इतीति। क्षितीशो नलः, त्रिदशपरिषदः सुरसङ्घस्य इत्येवंरूपाश्चाटुगर्भाः प्रियप्रायास्ता गिर आकर्ण्य वैदर्भीकामुकः सन्नपि 'लषपत-' इत्यादिना कमेरुकञ् प्रत्ययः। अत एव 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् मधुपिपासुवद् द्वितीयासमासः। प्रसभविनिहितं बलादारोपितं दूत्यमेव भारं बभार। अस्मिन्नले, अङ्गीकारं गते सत्यमरपरिवृढो देवेन्द्रः। हे नरेन्द्र! यत्र कुत्रापि, अन्तर्धिसिद्धेः अन्तर्धानशक्तेरनुविहितभवच्चित्तता अनुसृतत्वन्मनस्कता, भूयात् भवच्चित्तानुसारेण सर्वत्र तवान्तर्भावशक्तिरस्तु इति सम्भृतानन्दं सहर्षमूचे। तिरस्करिणीविद्यां प्रादादित्यर्थः॥ १२७॥

भूमिपति नल दमयन्तीका कामुक होते हुए भी इस प्रकार (श्लो० ११७—१३६) चाटु (प्रिय भाषण अर्थात् खुशामदी) से युक्त, देव-समूहके उन वचनोंको सुनकर बलात् रखे हुए दूत-कर्मरूप भारको ग्रहण किया (देवोंके दूत्यकर्मको दुःखसे स्वीकृत किया)। इसे नलके स्वीकार करनेपर देवराज इन्द्रने अत्यन्त आनन्दपूर्वक कहा कि—'अन्तर्धान होनेकी सिद्धि जहाँ-तहाँ तुम्हारी इच्छाके अनुसार होवे अर्थात् तुम जहाँ अन्तर्धान होना चाहो वहाँ अन्तर्धान हो जावो और जहाँ प्रत्यक्ष होना चाहो वहाँ प्रत्यक्ष हो जावो'॥ १३७॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः॥ १३८॥

श्रीहर्षमित्यादि। सुगमम्। श्रीमत्याः विजयप्रशस्तेः ग्रन्थविशेषस्य रचना-त्तातस्य निर्माणकर्तुरित्यर्थः ॥ १३८ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥ ५ ॥



कवीश्वरसमूहके……किया, उसके रचित 'विजयप्रशस्ति' नामक ग्रन्थका सहोदर ………यह पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ। शेष अर्थ चतुर्थ सर्गवत् जानें ॥ २३८ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥



इति साहित्य-व्याकरणाचार्य-साहित्यरत्न-रिसर्चस्कॉलर-मिश्रोप-नामक-पण्डित-श्रीहरगोविन्दशास्त्रिकृत'मणिप्रभा' व्याख्यायां चतुर्थपञ्चमसर्गौ समाप्तौ।



. बेन कटिंग 2-0-12-1

सहित 12 एथलीटों
टॉप्स से हटाया गया
गगन नारंग
में हिस्सा लिया था
थे। सीमा पूनिया के अलावा, भारोत्तोलक राखी
युवा धावक हिमा दास, चक्का फेंक एथलीट
एलवेनिल वालेरिवन को इस स्कीम में शामिल
हरवीन सराओ, पूजा घाटकर, मेघना सज्जनर,
ननजप्पा, भारोत्तोलक रागला वेंकट राहुल, पून
एवं फील्ड एथलीट ललिता बाबर और गणपति



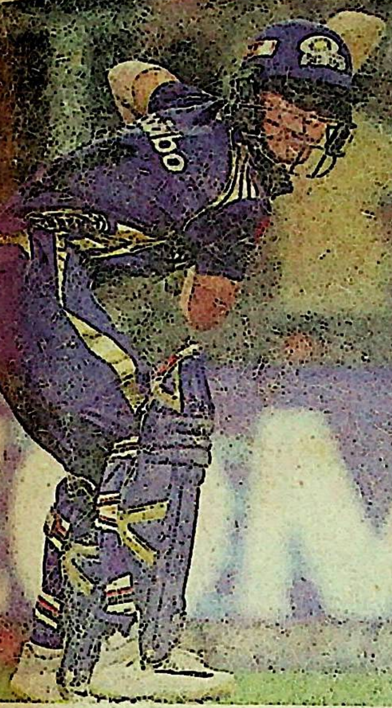
ोस्ट



हम राजस्थान रॉयल्स के खिला
करते हुए अपनी पकड़ को और
थे। मेरा ऊपर आना एक प्रयोग
में भी इस बारे में सोच रहे थे। एक
हमें अपनी कमी पता है और हम
कोशिश कर रहे हैं।
रविचंद्रन अश्विन, कप्तान, कि

गहरा जख्म

...शन ने 17 गेंदों पर जड़ा अर्धशतक



मुंबई इंडियंस के इशान किशन कोलकाता के खिलाफ मैच के दौरान शॉट लगाते हुए ● एपी

आइपीएल अंक तालिका

	खेले	जीते	हारे	रन रेट	प्वाइंट
...राइजर्स हैदराबाद	10	08	02	+0.448	16
...नई सुपर किंग्स	10	07	03	+0.421	14
...स इलेवन पंजाब	10	06	04	+0.097	12
...ई इंडियंस	11	05	06	+0.529	10
...लकाता नाइटराइडर्स	11	05	06	-0.359	10
...जस्थान रॉयल्स	10	04	06	-0.552	08
...यल चैलेंजर्स बेंगलूर	10	03	07	-0.361	06
...ल्ली डेयरडेविल्स	10	03	07	-0.411	06

कॉमनवेल्थ स्वर्ण पदक...

अभिषेक त्रिपाठी ● नई दिल्ली

ऑस्ट्रेलिया के गोल्ड कोस्ट में हुए कॉमनवेल्थ गेम्स में 69 किग्रा भार वर्ग में स्वर्ण पदक जीतने वाली भारतीय भारोत्तोलक पूनम यादव पिछले 20 दिनों से पटियाला में लगे राष्ट्रीय शिविर में भाग नही ले रही हैं और इसके लिए भारतीय भारोत्तोलन संघ (आइडब्ल्यूएफ) ने उन्हें दो बार कारण बताओ नोटिस भी भेजा है। उन्हें भारत सरकार की टारगेट ओलंपिक पोडियम स्कीम (टॉप्स) से भी बाहर कर दिया गया है। आइडब्ल्यूएफ के पदाधिकारी ने कहा कि ऐसा लगता है कि पूनम डोप टेस्ट से बचना चाह रही हैं।

इस मामले में आइडब्ल्यूएफ के महासचिव सहदेव यादवने कहा कि 15 अप्रैल को कॉमनवेल्थ गेम्स खत्म हो गए थे और उसके बाद से ही पटियाला में भारोत्तोलकों का कैंप लगाया गया था। इसमें सभी फिट भारोत्तोलक भाग ले रहे हैं लेकिन पूनम बिना किसी जानकारी के कैंप में अब तक शामिल नहीं हुईं। उन्हें दो बार कारण बताओ नोटिस भेजा गया, उन्होंने उसका भी जवाब नहीं दिया। इसी कारण उन्हें टॉप्स से बाहर कर दिया गया है। जब उनसे पूछा गया कि क्या डोप टेस्ट से बचने के कारण वह ऐसा कर रही हैं तो उन्होंने कहा, हो सकता है। उन्होंने कहा कि इस कारण फिलहाल पूनम

छह एथलीट टॉप्स में,

नई दिल्ली : ट्रैक एंड फील्ड, निशानेबाजी अ... मंत्रालय ने बुधवा... निशानेबाज गगन... जबकि महिला च... में जगह दी गई।